दलावण्यम्

सम्पादकः
डा० सुधीर - कुमार - गुप्तः



भारती मन्दिरम् अनुसन्धान शाला
आर–२, विश्वविद्यालयपुरी, जयपुरम्–४

वेदलावण्यम्

डा० सुधीर कुमार गुप्त

इस में पारस्करगृह्यसूत्र के उपनयनसूत्रों, ऋग्वेद के विष्णु, इन्द्र, पुरुष, प्रजापति और वाक्सूक्तों का मूलपाठ, हिन्दी अनुवाद, विस्तृत आलोचनात्मक और व्याख्यात्मक टिप्पणियों सहित सम्पादन है। टिप्पणियों और अनुवाद में लेखक की दृष्टि बहुशः प्रस्फुरित हुई है। अन्य विद्वानों के मतों के सार भी दिए गए हैं। ऋग्वेदीय मन्त्रों का सायणभाष्य भी दिया गया है। पुरुष सूक्त में यजुर्वेद का सम्पूर्ण पाठ और उस के अर्थ आदि भी दिए गए हैं।

तीन परिशिष्टों में वैदिक स्वर, पदपाठ और व्याकरण का भी आवश्यक प्रारम्भिक परिचय दिया गया है।

मूल्य सजिल्द १२–५०

भारती मन्दिर अनुसन्धान शाला
आर–२, विश्वविद्यालयपुरी, जयपुर–४



विस्तुतभूमिका-मूलपाठ-पाठभेद-पदपाठ-सायणमहीधर-भाष्य-शाब्दिक-हिन्दी-रूपान्तर-सुकाशिनीटिप्पणी-वैदिक-स्वर-व्याकरण-पदानुक्रमणिकादिभिः समन्वितम्

वेदलावण्यम्



(ऋ० १।१५४;२,१२;१०।९० सूक्तानि, य० ३१, पारस्करीयोपनयनसूत्राणि च)

लेखक, सम्पादक तथा अनुवादक

डा० सुधीर कुमार गुप्त, एम० ए०, (पं० रघुबर दयाल गोल्डमैडलिस्ट)
पी० एच्डी०, बी० ए० ऑनर्स, शास्त्री, प्रभाकर,
केरल कोयल वर्मा वलिया थम्पूरन स्वर्णपदकी

आचार्य, संस्कृत विभाग
गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

भारती



मन्दिर

४ हीरापुरी, गोरखपुर

प्रकाशक—
भारती मन्दिर
अनुसन्धान शाला
४ हीरापुरी, गोरखपुर।

मूल्य रु० ८/२५ न.पै.

मुद्रक

गोरखपुर :—

१. भारत प्रेस, हांसुपुर—कोष, मुखपृष्ठ, विषयसूची, उपनयन सूत्रों की टिप्पणियाँ आदि पृ० १—६०।

२. नेशनल प्रिंटिंग प्रेस, गोलघर—उपनयनसूत्राणि पृ० १—२८; ऋक्सूक्तानि—भूमिका पृ० १—२६

वाराणसी :—

३. ज्योतिष प्रकाश प्रेस, काल भैरव मार्ग—विष्णु और पुरुष सूक्त, आदि पृ० १ अ से अन्त तक।

४. मास्टर प्रिंटिंग वर्क्स, ६१।३४ बुलानाला—इन्द्र सूक्त

५. भार्गव भूषण प्रेस, त्रिलोचन—उपोद्घात, उपनयनसूत्रों की भूमिका, ऋक्सूक्तों की भूमिका, पृ० २७ से ७३।

विषयसूची



[आगे दाहिनी ओर छोटे कोष्ठकों में पृष्ठसंख्या दी गई है। कोष्ठकों से बाहर मन्त्रप्रतीक से पूर्व बांई ओर मन्त्रों की क्रमशः क्रमिक और सूक्त में की संख्याएं दी गई हैं।]

(तीनों परिशिष्टों की इस सूची में दाहिनी ओर कोष्ठकों में संदर्भसंख्या दी गई है।)



ॐ ॥ यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते ।
तया मामद्य मेधयाऽग्ने मेधाविनं कुरु ॥ ॐ

उपोद्धात

प्रस्तुत ग्रन्थ के दो भाग हैं :—

१—पारस्करगृह्यसूत्रे उपनयनसूत्राणि २. ऋक्सूक्तानि (य० ३१ च) । दोनों भागों की भूमिकाएँ, टिप्पणियाँ और अनुक्रमणिकाएँ पृथक्-पृथक् रक्खी गई हैं । उपनयन सूत्रों की भूमिका में ऋक्सूक्तों की टिप्पणियों के निर्देश किए गए हैं और ऋक्सूक्तों की भूमिका और टिप्पणियों में उपनयन सूत्रों की टिप्पणियों की ओर अनेक बार निर्देश किया है । अतः दोनों भाग स्वतन्त्र प्रतीत होने पर भी एक दूसरे से सम्बद्ध हैं ।

२—इस संस्करण में पारस्करगृह्यसूत्र के दो संस्करणों का उपयोग किया गया है :—

(अ) पारस्करगृह्यसूत्रम्—श्री वेदाचार्यविजयचन्द्रशर्मकृतटिप्पणिभिः समलंकृतम्—श्रीवेंकटेश्वर स्टीम्यन्त्रालय, बम्बई सं० १९८५ वि० ।

(आ) पारस्करगृह्यसूत्रं पञ्चभाष्योपेतं महादेवशर्मणा संस्कृतम्—गुजराती प्रेस, बम्बई, १९७३ वि० ।

३—दोनों संस्करणों में कुछ भेद है जो इस प्रकार है :—

(१) आ में अधिकांश स्थलों पर ँ के स्थान पर 'ꣳ' का प्रयोग किया गया है । प्रकृत मूल में ऐसे स्थल पर * चिह्न दिया गया है ।

(२) कुछ स्थलों पर ँ को आ में ꣳ पढ़ा है । ये स्थल † चिह्न से चिह्नित हैं ।

(३) सूसं० १४, १०८, से १२४ आ में नहीं है ।

(४) आ में ८९ और ९० की संख्या क्रमशः ९० और ८९ है।

४—इस संस्करण में 'अ' के पाठ को ही ग्रहण किया गया है। कोष्ठकों में रक्खे हुए पाठ दोनों संस्करणों में पाये जाते हैं, परन्तु उन को सब भाष्यकार सूत्रकार को अनभिमत मानते हैं। सूसं० १०८–१२४ भी इसी श्रेणी में है। छापे में उन में कोष्ठक रह गए हैं।

५—अ और आ में कण्डिकाओं की संख्या के अंकन में भी अन्तर है। **अ में यह प्रकरण ३–७ कण्डिकाओं में है, और 'आ' में २–५ में।** इस संस्करण में दोनों की संख्या दी गई है।

६—अ में सूत्रों पर अंक नहीं हैं। कण्डिका ३–६ में आ के अंक दाईं ओर हैं। कण्डिका ७ में भी अंकन कर दिया गया है। **इस संस्करण में बाईं ओर प्रत्येक सूत्र और मन्त्र पर अविकल संख्या दी गई है।** अनुवाद, टिप्पणियों, भूमिका आदि में सर्वत्र इस अविकल संख्या का प्रयोग सौकर्य की दृष्टि से किया गया है।

७—अनुवाद और टिप्पणियों में पं० सुखदेव वर्मा के हिन्दी अनुवाद, हरिहर आदि के पाँच प्राचीन भाष्यों, संस्कारचन्द्रिका तथा संस्कारविधि से पुष्कल सहायता ली है।

८—दोनों भागों—उपनयन सूत्रों और ऋक्सूक्तों की भूमिकाओं में दोनों से सम्बन्धित सभी विषयों का प्रामाणिक अनतिविस्तृत वर्णन किया गया है। अपने विचारों के लिए पादटिप्पणियों में पुष्कल प्रमाण भी दिए हैं। इन विचारों में अपनी नई खोजों को समाविष्ट कर दिया है।* यहाँ वर्णित विषयों का ज्ञान विषयसूची पर दृष्टि डालने से हो सकेगा।

---

*परमपूज्यगुरुजी श्रीयुत डा० नरेन्द्रनाथ चौधरी का आदेश है कि अपनी विचारधाराओं का समावेश करते हुए वैदिक साहित्य का एक इतिहास लिखूं। वेदविषयक यह भूमिका उसी आदेशपालन का एक अंश है।

९––उपनयन सूत्रों के इस संस्करण की टिप्पणियों और अनुवाद में वेदमन्त्रों के अर्थ यावदद्य ज्ञात भाष्यकारों से अनुभूति लेते हुए भी उनसे पर्याप्त भिन्न हैं। इस में मेरा प्रयास वेंकट माधव के समान कोई नया सम्प्रदाय चालू करने का नहीं है। मैं ने केवल क्रिया और उस में विनियुक्त मन्त्र के अर्थ में समन्वय के प्राचीन नियम को चरितार्थ करने का प्रयास किया है। कर्मकाण्ड के ग्रन्थों के भाष्यकार वहुधा इस नियम का पालन करने में सफल नहीं हो पाए हैं। इस में मैं न तो सफलता की उद्घोषणा करता हूँ, न अर्थों की इयत्ता की। हाँ, एवंविधता का विश्वास अवश्य है। कर्मकाण्ड में प्रयुक्त मन्त्रों के अर्थ यदि इस प्रकार न किए जाएँ तो क्रियाएँ और मन्त्रों के अर्थ असम्बद्ध रह कर अभीष्ट फल देने से ही वञ्चित नहीं रहते, प्रत्युत अनिष्ट के कारण भी वन जाते हैं। अतः भाष्यकारों के विभिन्न दृष्टियों से कर्मकाण्ड के प्रकरण में असंगत अर्थ यहाँ अवाञ्छनीय और अप्रासंगिक हैं।

१०––उपनयन सूत्रों की टिप्पणियों में अपने अनुवाद के आधारों को देने के साथ ही भाष्यकारों के मतों का निदश भी किया है। यथास्थल उन की आलोचना भी की है। **संस्कार की क्रियाओं आदि के मूल भाव को खोलने का प्रयत्न भी किया है। दण्ड, वस्त्र, अजिन आदि पर नई दृष्टि से सप्रमाण नए विचार प्रस्तुत किए हैं।** उपनयन के सांस्कृतिक महत्त्व को समझने में ये टिप्पणियाँ उपयोगी हो सकें इसी भावना से इन्हें सुविस्तृत बनाया है। अन्त में पदों और विषयों की एक अनुक्रमणिका भी दी है।

११––इस ग्रंथ में संकलित ऋग्वेद के सूक्तों के **मन्त्रों का हिन्दी अनुवाद प्रायः सायण और आधुनिक सम्प्रदाय के विद्वानों की शैली पर दिया है।** बहुधा आधुनिक विद्वानों के अर्थों की अपेक्षा सायण के अर्थ अधिक स्पष्ट, संगत और बोधगम्य हैं। ऐसे स्थलों पर सायणीय व्याख्यान को अपनाया है। **अनुवाद में हिन्दी के शब्दों का चुनाव टिप्पणियों में दिए**

गए अपने सुझावों के अनुरूप करने का प्रयास भी किया है । अपने विचारों को टिप्पणियों में व्यक्त किया है, सामान्यतः उन्हें हिन्दी अनुवाद में समाविष्ट नहीं किया है। इस के दो लक्ष्य हैं :—

१. विद्यार्थियों को परीक्षा की दृष्टि से मन्त्र का विवादहीन ग्राह्य अनुवाद मिल जाए। २. सामान्य पाठकों को सायणीय और आधुनिक शैली के अनुवादों का साक्षात् परिचय हो जाए। टिप्पणियों में आधुनिक विद्वानों के विचारों को समाविष्ट करते हुए नैरुक्त शैली पर ब्राह्मण ग्रन्थों और वैदिक संस्कृति के आधार पर प्रमुख पदों और पदसमूहों की व्याख्या की है। समस्त मन्त्रों का अर्थ पाठक स्वयं कर सकेंगे । टिप्पणियों में प्रदत्त ये व्याख्यान वैदिक विद्वानों के विचार के लिए अनेकविध सामग्री प्रस्तुत करते हैं। इन में अनेकों वेदविषयक मान्यताओं के स्थान पर नए और युक्ति-प्रमाण-संगत सुझाव प्रस्तुत किए गए हैं। इसी कारण इस संकलन का नाम 'वेदलावण्यम्' (√लु से) रक्खा गया है। यह संस्करण इस दृष्टि से अन्य संस्करणों से विलक्षण और शोधभूयिष्ठ है। विद्यार्थी इन टिप्पणियों को समझ कर परीक्षा में दे कर अधिक अंक प्राप्त कर सकेंगे ।

१२—देवताओं पर लिखी गई टिप्पणियों में प्रकरणोचित अर्थ का विवेचन करने के लिए जितनी सामग्री आवश्यक थी उतनी ही दी गई है। उन के अन्य स्वरूपों और व्युत्पत्ति आदि का विवेचन सामान्यतः छोड़ दिया गया है। उन के दार्शनिक स्वरूप का परिचय डा० फतहसिंह के वैदिक दर्शन में बड़ी उत्तम रीति से दिया गया है। देवताओं के स्वरूप और व्युत्पत्ति का ज्ञान उन के ग्रंथ दी वैदिक ऐटिमौलौजी से प्राप्त किया जा सकता है।

१३—सामान्यतः आजकल के अधिकांश विद्वान् ऋषि दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रवृत्त की हुई वेदभाष्यशैली की उसे अवैज्ञानिक कह कर उपेक्षा करते हैं और उन के वेदभाष्यों तथा उन की भूमिका को साम्प्रदायिक कह कर उस से दूर रहते हैं। परन्तु दयानन्दभाष्य के प्रति उन के उपरोक्त उद्गार उन के

अपने ज्ञान, मस्तिष्क और हृदय का चित्र उपस्थित करते हैं, दयानन्द-भाष्य के दोषों का नहीं। यद्यपि वेदाध्ययन के ह्रसित युग में सायण और उवट-महीधर आदि ने वेदज्ञान के दीपक को प्रज्वलित रख कर हम पर महान् उपकार किया है तथापि उन के भाष्य और शैली वैदिक ज्ञान की गरिमा को पूर्ण रूप से व्यक्त करने में समर्थ नहीं हैं। यह वात विशेष रूप से कर्मकाण्ड में प्रयुक्त मन्त्रों पर लागू होती है। इन मन्त्रों के अर्थों और उन के विनियोग की तुलना से उन में वहुधा कोई सम्बन्ध पता नहीं चलता है। ब्राह्मणों का मत है कि मन्त्र और क्रिया का साक्षात् सम्बन्ध है। ऐसी स्थिति, में या तो मन्त्र के अर्थ में परिवर्तन किया जाए या क्रिया को वदला जाए तव ही ब्राह्मण का लेख सार्थक होगा। क्रिया परम्परा से चली आ रही है। उस में परिवर्तन से महान् अव्यवस्था आ जाती है। अतः मन्त्र के अर्थों को ही क्रिया के अनुसार करना आवश्यक हो जाता है। यह अर्थान्तर केवल स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रदर्शित वेदभाष्यशैली से सम्भव है। अन्य किसी शैली से नहीं। इस तथ्य का क्रियात्मक रूप उपनयनसंस्कार में विनियुक्त मन्त्रों के इस ग्रंथ में दिए गए अनुवाद और टिप्पणियों में स्पष्टतया दिखाई पड़ेगा।

१४—अतः इस संस्करण के उपनयन में विनियुक्त मन्त्रों के अनुवाद और टिप्पणियों से यह सरलता से ज्ञात हो जायगा कि **ऋषि दयानन्द का वेदार्थ और वेदार्थशैली** भयावह और अस्पृश्य नहीं है, प्रत्युत **वे प्रयोज्य अनुकरणीय, मननीय और लाभकारी हैं। इस वेदभाष्य से अनेकों वैदिक-गुत्थियाँ सुलझ जाती हैं** और वेद का प्राचीन गौरव दृष्टिपथ में आने लगता है।

१५. यह ग्रन्थ आर्यसमाज आदि धार्मिक संस्थाओं के क्षेत्र में कार्य करने वाले वैदिक पण्डितों को भी कार्य करने की एक नई प्रणाली और क्षेत्र का दिग्दर्शन कराने वाला होगा। आर्यसमाज की संस्थाओं में गम्भीर वैदिक

साहित्य के सृजन की मात्रा पर्याप्त अल्प है और उस की शैली भी कुछ परिवर्तन की अपेक्षा रखती है।

१६. टिप्पणियों में पद-पद पर अनेकों ग्रन्थों के प्रमाण और उद्धरण दिए हैं। बहुत से ग्रन्थों के स्थलों को देखने का सुझाव दिया गया है। **परीक्षार्थी प्रश्नपत्रों के उत्तरों में इन सब को छोड़ दें।** इन प्रमाणों का याद करना अनावश्यक है। यदि इस ग्रन्थ से उन में वेदाध्ययन के लिए रुचि जागृत हो गई तो ये प्रमाण उन को सहायक होंगे। यही स्थिति ब्राह्मण ग्रन्थों से उद्धृत पदों के अनेकविध अर्थों की है। उन सब को याद करना आवश्यक नहीं। यह सब सामग्री विद्वानों के विवेचन, विषय को सप्रमाण करने और आगे अध्ययन में रुचि उत्पन्न करने के लिए है।

१७. **इस ग्रन्थ में मेरे दीर्घव्यापी अध्ययन और खोजों की छाप बहुधा दिखाई पड़ेगी।** विद्वानों को इस की अनेकों पंक्तियों के पूर्ण महत्त्व को समझने के लिए मेरे पुराने लेखों और रचनाओं के ज्ञान की आवश्यकता अनुभव होगी। ऐसे स्थलों पर बहुधा अपने विचारों को कुछ विस्तार से वर्णन करने और पाटि० या कोष्ठकों में अपनी रचनाओं के सम्बन्धित स्थलों का निर्देश करने का प्रयास किया है।

१८. **ऋग्वेद के सूक्तों में बाईं ओर मन्त्रों की अविकल क्रमिक संख्या और दाईं ओर सूक्त में मन्त्र की संख्या दी है।** यजुर्वेद की संख्या जहाँ भिन्न है वहाँ मन्त्र के नीचे लिख दी है। **ग्रन्थ में प्रमाणों में बहुधा और अनुक्रमणिकाओं में सर्वत्र अविकल संख्या का ही प्रयोग किया गया है।**

१९. उपनयन सूत्रों के इस संस्करण में मन्त्रों पर स्वर चिह्न नहीं लगाए जा सके हैं। पारस्कर गृह्यसूत्र के संस्करणों में मन्त्रों पर स्वरचिह्न दिए भी नहीं गए हैं।

२०. सूक्तों में मन्त्रपाठ, पदपाठ और टिप्पणियों के पदों में स्वर दिए

गए हैं। **बी० ए० और एम० ए० दोनों ही श्रेणियों में पदपाठ पूछा जाता है।** अतः स्वरों के चिह्नों का परिज्ञान भी नितरां आवश्यक है। **वैदिक व्याकरण पर भी प्रश्न पूछे जाते हैं।** वैसे भी मन्त्रों की भाषा को समझने के लिए वैदिक व्याकरण का ज्ञान परम वांछनीय है। अतः इन दोनों विषयों का संक्षिप्त, संसक्त, स्पष्ट और आवश्यक परिचय यहाँ संकलित मन्त्रों से उदाहरणों के साथ ऋग्वेद के सूक्तों के अन्त में दिया गया है।

२१. इस प्रकार **इस ग्रन्थ को सर्वांगपूर्ण और सभी विश्वविद्यालयों में प्रयोग किए जाने योग्य बनाया है।** यदि यह संस्करण विश्वविद्यालयों में आदृत हुआ तो और अधिक मन्त्रों और सूक्तों पर लिखने का साहस करना संभव हो सकता है।

२२. स्वतन्त्रता से पूर्व वैदिक और संस्कृत के विद्वानों में एक विशेष गुण या परिपाटी थी––दूसरों के लेखों और ग्रन्थों आदि का गम्भीर अध्ययन कर उन पर अपने-अपने विचार प्रकाशित करना और ऐसे विचारों की आलोचना प्रत्यालोचना। सद्भावनापूर्ण यह शैली अध्ययन और ज्ञान को विस्तृत करने का अत्युत्तम उपाय थी। परन्तु आज इस शैली का प्रचलन पर्याप्त कम हो गया है। इस में सद्भावना के ह्रास के साथ अहंभाव भी बहुत बढ़ गया है। **यदि कोई देव इस रचना की एवंविध सद्भावनापूर्ण आलोचना करें तो उस की एक प्रति विचारार्थ प्राप्त कर उन का परम अनुगृहीत रहूँगा।**

२३. भारत के कुछ विश्वविद्यालयों में बी० ए० में वेद पढ़ाने की परिपाटी अंग्रेजों के काल से चली आ रही हैं। यद्यपि अंग्रेज़ों का लक्ष्य निर्व्याज रूप से भारतीय साहित्य और संस्कृति से न्याय करना नहीं था तथापि उन्हों ने वेदाध्ययन का क्रम चालू किया जो उन के शासनकाल में उत्तरोत्तर बढ़ता गया।

२४. परन्तु स्थितियाँ बदलीं। अंग्रेज़ चले गए। स्वतन्त्रता आई।

देश ने अनेक क्षेत्रों में उन्नति प्रारम्भ की। शिक्षा का क्षेत्र भी अपवाद न रह सका। परन्तु इस उन्नति में भी वेदाध्ययन का ह्रास-सा लक्षित होता है। कई स्थानों पर बी० ए० स्तर पर वेद का पठनपाठन नहीं होता है। कई विश्वविद्यालयों में वेदप्रेमी विद्वानों के कार्यवाहक होने पर भी वेद का वर्ग नहीं है। कई स्थानों पर पाठ्य-प्रणाली में वेद का वर्ग होने पर भी अध्यापन की व्यवस्था नहीं है। परिणामतः आज वेद से सुपरिचित विद्यार्थी विश्वविद्यालयों से अपेक्षाकृत कम निकलते हैं।

२५. आज का विद्यार्थी हिन्दी माध्यम से पढ़ना चाहता है। इस माध्यम में वेद पर ग्रन्थों की संख्या अत्यल्प है। इस कारण भी विद्यार्थी वेदाध्ययन से घबराते हैं। **उन के लिए उपयुक्त सामग्री हिन्दी माध्यम से प्रस्तुत करना आधुनिक अध्यापक का पवित्र कर्त्तव्य है।**

२६. गोरखपुर विश्वविद्यालय के प्रारम्भिक संचालकों ने पिछले वर्ष का पाठ्यक्रम इलाहाबाद विश्वविद्यालय के अनुसार निर्धारित किया था। इलाहाबाद विश्वविद्यालय में बी० ए० में वेद का पर्याप्त अंश पढ़ाया जाता है। परन्तु वहाँ के किसी अध्यापक ने अथवा अन्य किसी ने उस भाग को हिन्दी या अंग्रेजी के माध्यम से विद्यार्थियों और जनता तक पहुँचाने का प्रयास नहीं किया। श्री रघुवर मिट्ठूलाल शास्त्री और डा० चण्डिका प्रसाद शुक्ल ने उपरोक्त वेदभाग को सायण और उव्वट आदि के भाष्यों और एक भूमिका के साथ प्रकाशित कर पर्याप्त उपकार किया है, परन्तु उस से अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति पर्याप्त दूर रही है।

२७. इधर गोरखपुर विश्वविद्यालय ने इस वर्ष अपने पाठ्यक्रम में पर्याप्त परिवर्तन किया है। इस परिवर्तन के फलस्वरूप वेद का पाठ्यक्रम बहुत बदल गया है। इस में अब केवल ऋग्वेद के तीन सूक्त १।१५४, २।१२ और १०।९० रह गए हैं। साथ ही इस में पारस्कर गृह्यसूत्र के उपनयन सूत्रों को भी नियत किया गया है। **यह पाठ्यसामग्री पूर्व की अपेक्षा**

किञ्चित् कम होते हुए भी बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इस से विद्यार्थियों को वेद के ईश्वर और सृष्टिविषयक दार्शनिक विचारों, प्राचीन मध्यकालीन और आधुनिक सम्प्रदायों और शिक्षा-क्षेत्र में भारतीय वैदिक संस्कृति की पर्याप्त झाँकी मिल जाती है। वैसे भी थोड़े पाठ का गम्भीर और विस्तृत अध्ययन लम्बे पाठ के चलते अध्ययन से कोटिशः उत्तम है। अतः पाठ्यक्रम का यह परिवर्तन अवाञ्छनीय नहीं है।

२८. जैसा ऊपर लिखा जा चुका है इस समय तक कोई ऐसी पुस्तक उपलब्ध नहीं है जो विद्यार्थियों को रोचक और गम्भीर शैली में वेद के विषय में विद्वानों के विचारों को पहुँचा सके। पिछले वर्ष के पाठ्यक्रम के परिवर्तन के फलस्वरूप भी एक नए संग्रह की आवश्यकता हो गई है। इस रचना में इन दोनों ही लक्ष्यों को पूरा किया गया है। यदि विद्यार्थियों को इस से अभीष्ट सहायता मिल सकी और उन में वेदाध्ययन की प्रवृत्ति जागृत हो सकी, तथा वैदिक विद्वानों और जनता को अपने-अपने अनुरूप सामग्री मिल सकी तो मैं अपने प्रयास को सफल समझूँगा।

२९. इस संस्करण के तैय्यार होने में पर्याप्त समय लगा है। शीघ्रता के लिए कई प्रेसों में छपाई का प्रबन्ध कराने पर भी इस के प्रकाशन में विलम्ब होना स्वाभाविक था। मेरी अपनी व्यस्तताएँ और अध्यापनकार्य भी इस देरी में सहायक रहे हैं। इस बीच में इस ग्रन्थ में संकलित अंशों के अन्य सस्ते संस्करण भी निकले हैं। **इस संस्करण की उन से तुलना ही इस की उपादेयता को हृदयंगम कर देगी। साथ ही मूल्य के अन्तर का भी समाधान कर देगी।**

३०. इस ग्रन्थ के मुद्रण में भारत प्रेस, ज्योतिष प्रकाश प्रेस और भार्गव-भूषण प्रेस ने बड़ी तत्परता से कार्य किया है। अन्तिम दो प्रेसों ने इस पुस्तक में उन के यहाँ छपे भाग के लिए नियमित दरों पर कागज़ भी दिया है। इस के लिए उन का परम अनुगृहीत हूँ।

३१. स्थानीय गीता प्रेस की दुकान से इस पुस्तक के लिए कागज़ लेने का प्रयास किया गया। परन्तु उन्हों ने असमर्थता प्रकाशित की। श्री करम-चन्द थापर के कर्मचारी से सदा कागज़ न होने का उत्तर मिला। अतः इस में बहुत-सा कागज़ पर्याप्त अधिक दामों पर ले कर लगाया गया है। विभिन्न स्थानों से विभिन्न मिलों का कागज़ होने से उन में अन्तर होना स्वाभाविक था।

३२. नैशनल प्रेस और मास्टर प्रेस का भी परम आभारी हूँ। उन के सहयोग के विना पुस्तक इतनी शीघ्र छपनी संभव नहीं थी।

३३. वेदभाग की पदानुक्रमणिका की परचियाँ मेरे प्रिय विद्यार्थियों—श्री अभयनन्दन पाण्डेय, श्री उमाशंकर शुक्ल और श्री रामसुरेश पाण्डेय ने बनाईं।

३४. ग्रन्थरचना-काल में रोगग्रस्त मेरी यज्ञमय पत्नी श्री शकुन्तला गुप्ता ने अपनी उपेक्षा को सहर्ष स्वीकार कर मेरी परम सहायता की है। उन्हों ने ही इस ग्रन्थ के मुद्रण आदि की व्यवस्था की देखभाल भी की है। प्रेस से प्रूफ लाने ले जाने में मेरे पुत्र चि० सुबोधकुमार गुप्त और मेरी पुत्री चि० सुकेशीकुमारी गुप्ता ने बहुत सहायता की है।

३५. जैसा पहले संकेत किया गया है इस रूप में इस ग्रन्थ की रचना की प्रेरणा अपने गुरु डा० नरेन्द्रनाथ चौधरी के आदेश से मिली और अनुभूति डा० फतहसिंह की रचनाओं से। इन्हीं प्रेरणाओं के कारण यह पुस्तक रची गई अन्यथा सर्वत्र मात्सर्य के वातावरण में ईर्ष्या और द्वेष मोल लेने और आर्थिक लाभ की मृगमरीचिका में भटकने आदि के अतिरिक्त सांसारिक दृष्टि से ऐसे ग्रन्थों की रचना से और कोई लाभ होता है यह संशयास्पद है। श्री भैरवनाथ झा उप कुलपति गोरखपुर विश्वविद्यालय की गुणग्राहकता नें भी मुझे इस धारा में गतिशील किया है।

३६. इस ग्रन्थ के प्रणयन में मैं ने अनेकों ग्रन्थों से सहायता ली है। अधिकांश ग्रन्थों का निर्देश पाद-टिप्पणियों और संक्षेपसूची में कर दिया गया है। फिर भी बहुत-से ग्रन्थों का नाम नहीं दिया गया है।

३७. इन सब का हृदय से परम आभारी हूँ।

३८. स्खलन मानव स्वभाव है। अतः इस में अनेकों भूलें रही होंगी। उन के उत्तरोत्तर परिष्कार का प्रयास करना मेरा कर्त्तव्य और लक्ष्य है। शेष ईश्वराधीन है। जो विज्ञ गुणग्राही जन उन पर दृष्टिपात कर सुधार का मार्ग दिखाएँगे उन का परम ऋणी रहूँगा।

३९. अन्त में परम पिता परमात्मा का कोटिशः धन्यवाद है। उन की कृपा से ही तो ये सब विचार मिले हैं—

'उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचम्,
उत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे,
जायेव पत्य उशती सुवासाः॥'

४ हीरापुरी, गोरखपुर
२३।२।५९

सुधीरकुमार गुप्त



वेदलावण्ये

पारस्करगृह्यसूत्रे उपनयनसूत्राणि

भूमिका

संस्कार

१—संस्कार पद सम् + कृ करना से बनता है—सँवारना, शुद्ध करना, निखारना, अपने अनुरूप करना, अतः प्रभावित करना। प्राणी जो कुछ भी करता, सुनता, देखता और अनुभव करता है उस का प्रभाव उस के मस्तिष्क में रह जाता है। शनैःशनैः यह प्रभाव जमा होते-होते एक दृढ़ रूप प्राप्त कर लेता है और प्राणी को अपने वश में कर कठपुतली के समान अपनी धारा में चलाने लग जाता है। प्राणी उस कर्म से बचना चाहता हुआ भी अज्ञात रूप में उसे करता जाता है। ये अज्ञात शक्तियाँ ही संस्कार कहलाती हैं।

२—अतः संस्कार मानव की वे प्रवृत्तियाँ हैं जो अनेक परिस्थितियों में उत्पन्न होती हैं। मानव अकेला न विचरण करता है न सोचता है। वह सामाजिक प्राणी है। अन्यों से प्रभावित होता है और उन को प्रभावित करता है। इस प्रकार एक जैसी प्रवृत्तियों और विचारधारा वाले व्यक्तियों को एक समान समाज का अंग समझा जाता है और इन प्रवृत्तियों और विचारों को ही उस समाज और उन-उन व्यक्तियों की संस्कृति कहते हैं। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि मनुष्य के संस्कार ही उस की और उस के समाज की संस्कृति हैं।

३—वैदिक संस्कारों के समय कुछ क्रियाएँ की जाती हैं, मंत्र बोले जाते हैं और संस्क्रियमाण व्यक्ति के मस्तिष्क पर उन बातों का प्रभाव डाला जाता है जिन से वह संस्क्रियमाण व्यक्ति अब तक अपरिचित था। संस्कृत व्यक्ति उस अपरिचित कर्म के प्रभाव को तो ग्रहण करता ही है, साथ ही वह यह भी अनुभव करता है कि वह समाज के अन्य व्यक्तियों से पृथक् नहीं

है, उन के सदृश ही है। संस्कार-काल में प्राप्त सम्मान उस में उत्साह और स्फूर्ति उत्पन्न कर देते हैं और वह अपने को किसी कर्मविशेष के योग्य और उस के लिए अधिकृत समझने लगता है। उपस्थित जन भी संस्कार की क्रिया से प्रभावित होते हैं और उन्हें अपने समय में किए गये संस्कार की क्रियाएँ याद आ जाती हैं।

४—प्रत्येक संस्कार में अन्य विशिष्ट कर्मों के साथ यज्ञ भी किया जाता है। यज्ञ का एक प्रत्यक्ष कार्य है—अग्नि में पड़ी हुई वस्तु जिस प्रकार सूक्ष्म परमाणुओं में विभक्त हो कर सर्वत्र फैल जाती है और सब का कल्याण करती है उस प्रकार संस्कृत और उपस्थित जन भी अपने को जनहित में लगाने की प्रेरणा ग्रहण करते हैं।

५—कुमारावस्था में बालक में शारीरिक और मानसिक परिवर्तन होते हैं। उसमें शनैः शनैः कामविकारों का उदय भी होता है। ये परिवर्तन और विकार पूर्वजों द्वारा संयमित किए जाने परम आवश्यक हैं अन्यथा इस अवस्था में बालकों में उच्छृंखलता के प्रवेश कर जाने से समाज की व्यवस्था को महान् क्षति पहुँचती है। अतः उसे आत्मसंयम के साथ अपने प्रति और समाज के प्रति कर्त्तव्यों की शिक्षा और उन पर आचरण कराने का अभ्यास डालना परम आवश्यक है। यह अभ्याससम्पादन उपनथन से प्रारम्भ हो कर शिक्षाकाल में सम्पादित किया जाता था।

६—पारस्कर का अभिमत उपनयन संस्कार[1] की विधियों का संक्षेप आगे दिया जायगा। इन का जो व्याख्यान टिप्पणियों में दिया गया है उस से

---

१. गृह्यसूत्रों में विद्यारम्भ संस्कार का कोई उल्लेख नहीं है। प्राचीन-काल में सम्भवतः इस की आवश्यकता नहीं थी। वहाँ माता-पिता की जागरूकता से खेल-खेल में बालक अक्षर-लिपिज्ञान आदि प्राप्त करते रहे होंगे। अतः उपनयन से ही उन की शिक्षा प्रारम्भ की जाती थी। जैसा

यह अनायास ही समझा जा सकता है कि उपनयन की समस्त क्रियाओं में गूढ़ भाव निहित हैं। ब्रह्मचारियों को उन सब भावों को हृदयंगम कराने से वे न केवल आत्मसंयमी और कुल के दीपक सिद्ध हो सकते हैं, प्रत्युत राष्ट्र और मानवता के परम हितकारक बन सकते हैं। उन में लघुता और क्षुद्र आत्मीयता, साम्प्रदायिकता और स्वार्थपरता की भावनाएँ[1] समाप्त हो कर उदात्त भावनाओं में परिवर्तित हो जाती हैं। आजकल उपनयन संस्कार तो किए जाते हैं, परन्तु उस काल में उपनयन की विधियों का भाव और उन का गम्भीर सन्देश बालकों को हृदयंगम नहीं कराया जाता है। 'आगे की शिक्षा में भी आधुनिक शिक्षा-प्रणाली में उदात्त भावों के व्याख्यान और आचरण के लिए गौणातिगौण स्थान होने से युवकों की प्रवृत्तियाँ बहुधा अवांछनीय धाराओं में बहती हुई दिखाई पड़ती हैं।[2] उपनयन का ठीक प्रकार से सम्पादन और उस के उत्तर काल में बालकों के चरित्र-निर्माण और कर्त्तव्य-परायणता पर ध्यान देने से देश के सामने उपस्थित अनेकों समस्याएँ सुविधा से हल हो सकेंगी।

टिप्पणियों में लिखा गया है, आयु का विधान धीरे-धीरे पाँच वर्ष से आगे बढ़ता गया। कालान्तर में घरेलू शिक्षा सम्पन्न न होने पर विद्यारम्भ संस्कार भी चालू हो गया—हिन्दू-संस्कार, राजबली पाण्डेय, पृ० १३७-१४० भी देखें।

१. ऐसे व्यक्ति वेद की परिभाषा में परमातिपरम पापी होते हैं—केवलाघो भवति केवलादी। अतः ये महापातकियों से भी निकृष्ट होते हैं।

२. डा० राजबली पाण्डेय लिखते हैं कि पहले उपनयन संस्कार सब के लिए अनिवार्य नहीं था। (पृ० १५७)। इस का धार्मिक महत्त्व था, सामाजिक नहीं। उन का यह लेख विचारणीय है। आगे दिए संहिताओं में उपनयन विषयक विवेचन से और ब्राह्मणों के विवरण की दृष्टि में इसे मानना संभव नहीं। डा० पाण्डेय का यह भी कहना है कि कालान्तर में

अन्य जातियों में संस्कारों की सत्ता

७—संसार की समस्त जातियों में संस्कारों का विशेष महत्त्व पाया जाता है। अविकसित सरल संस्कृति वाली जातियों में कुमारों का अपनी संस्कृति में संस्कार सार्वत्रिक है। इस से वे अपनी सामाजिक एकता को अक्षुण्ण बनाए रखते हैं। जब उन की संस्कृति या हितों पर अन्यों के सम्पर्क आदि से आघात पहुँचता है, तब वे इस उपनयन संस्कार को परम कट्टरता से सम्पादित करते हैं। वहाँ उपनयन संस्कार न कराने वाले व्यक्तियों और बालकों का तिरस्कार होता है। इन जातियों में यह विश्वास है कि सभ्यता का विकास बालक में एकदम होता है और उपनयन से बालक का भूत समाप्त हो कर उस का नया सामाजिक जीवन आरम्भ होता है। अब वह अपने से पहली और आगे आनेवाली पीढ़ियों के बीच एक कड़ी बन जाता है और अपनी समाज के हित का साधक। उन के दो प्रमुख लक्ष्य होते हैं—आत्म-रक्षा और अन्न का संग्रह। इसके लिए ही वे प्रमुख रूप से शिक्षा ग्रहण करते हैं। इन जातियों में शिक्षाकाल में चरित्रनिर्माण, परम्परा, स्वास्थ्य और क्रिया-कलाप पर बहुत बल दिया जाता है।

८—इन जातियों में उपनयन की विधियों में कुमारों की भावनाओं को जागृत करने के लिए अनेक प्रकार के साधनों का प्रयोग किया जाता है—उन्हें सताया जाता है, सोने, कपड़े पहनने आदि से वञ्चित कर दिया जाता है और उन से समाज और मुखिया की रक्षा की प्रतिज्ञा कराई जाती

उपनयन को अनिवार्य बनाने से अनेकों दोष उत्पन्न हो गए। यहाँ तक कि वृक्षों आदि का भी उपनयन किया जाने लगा (पृ० १५८-१६०)। परन्तु यह अनिवार्यता का परिणाम नहीं, प्रत्युत उपनयन के सत्य स्वरूप को न जानने, अश्वत्थ आदि में अभिमानी देवता और धार्मिकता की कल्पना आदि अज्ञान-जन्य अन्धविश्वास का परिणाम था।

है। इस परीक्षा में असफल वालकों का वध कर दिया जाता है अथवा समाज में निम्न वना दिया जाता है।

९—सभ्य और विकसित जातियों में भी उपनयन को बड़ा महत्त्व दिया जाता है। ईसाइयों, यहूदियों, मुसलमानों और अन्य सभी हिन्दुओं से भिन्न जातियों में अपने-अपने ढंग से उपनयन कर के उन्हें अपने धर्म का ज्ञान कराया जाता है। शिक्षा के साधनों के कारण इन जातियों की उपनयन-विधियाँ अविकसित जातियों के समान उग्र नहीं होतीं, परन्तु कहीं-कहीं खतना (=अंगच्छेदन) आदि की विधियों में उन का अवशेष पाया जाता है।[1]

उपनयन संस्कार की प्राचीनता

१०. आर्यसमाज में उपनयन संस्कार प्राचीनतम काल से चला आ रहा है। इस का विस्तृत वर्णन गृह्यसूत्रों में उपलब्ध होता है। परम्परागत आचार का ग्रन्थ होने के कारण इन में अपनी विधियों और विनियोगों के लिए कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं किए गए हैं।

११. डा० राजवली पाण्डेय लिखते हैं कि यद्यपि आर्यों के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में सूक्तों का संकलन कर्मकाण्ड की दृष्टि से यथाविधि नहीं है तथापि वहाँ ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कुछ धार्मिक विधिविधानों से सम्बद्ध सूक्त मिलते हैं जिन में गर्भाधान, विवाह और अन्त्येष्टि का वर्णन है।

---

१. विस्तार के लिए ऐनसाइक्लोपीडिया औफ सोशल साइन्सिज़, ऐनसाइक्लोपीडिया औफ रिलीजन ऐण्ड एथिक्स में इनिश्येशन, सोश्यल औरगेनाइज़ेशन, एडोलैसैंस, एड्यूकेशन आदि पर लेख, एन मिलर का चाइल्ड इन प्रिमिटिव सोसाइटी (अध्याय १०) और एच० वेब्स्टर, प्रिमिटिव सीक्रेट सोसाइटीज़ आदि देखें।

वहाँ धार्मिक विधिविधानों में विनियोज्य कुछ मन्त्र भी पाए जाते हैं। वहाँ प्रासंगिक रूप से समाविष्ट अनेक संदर्भों से संस्कारों पर प्रकाश पड़ता है।

१२. ऋग्वेद में उप + √ नी के रूपों का प्रयोग पाँच बार हुआ है। एक मन्त्र[१] में यह वनस्पति के सम्बन्ध में एक आप्रीसूक्त में आया है। इस मन्त्र के भाष्यकारों के अर्थों से उपनयन पर कोई प्रकाश प्राप्त नहीं होता है। परन्तु इस से पहले दो मन्त्रों[२] को साथ ले कर विचार करने से इन में उपनयन और उस के परिणामस्वरूप शिक्षा का वर्णन स्पष्ट मालूम पड़ता है। एक[३] अन्य मन्त्र में उपनीता-पद ब्रह्मजाया का विशेषण है। उस से अगले मन्त्र में देवों का एक अंग ब्रह्मचारी बृहस्पति ब्रह्मजाया को पत्नी रूप में प्राप्त करता है।[४] इस वर्णन से यह स्पष्ट है कि यदि सायण के द्वारा उद्धृत आख्यान के विना इन मन्त्रों को पढ़ें तो यहाँ पर बालक और बालिकाओं के उपनयन, ब्रह्मचर्य-पालन और अध्ययन का उल्लेख मिलता[५] है। इस अध्ययनयज्ञ में देव, मनुष्य और राजा—सभी सहयोग देते हैं। स्वा० दयानन्द सरस्वती ने अनेकों मन्त्रों में वसु, रुद्र और आदित्य को एतत्संज्ञक ब्रह्मचारी के अर्थ में लिया है। इन के भाष्य से वेद में अनेक स्थलों पर शिक्षासम्बन्धी लेख मिलते हैं।

१३. अथर्ववेद में एक पूरा सूक्त[६] ही ब्रह्मचर्य पर मिलता है। वहाँ एक सूक्त[७] मेखलाबन्धन पर भी है। ब्रह्मचर्य सूक्त में उपनयन, उपनयन से

---

१. ऋ० २।३।१०। २. ऋ० २।३।८-९। ३. ऋ० १०।१०९।४। ४. वही, म० ५। ५. वही, म० ६। इस में राजानः सत्यं कृण्वानाः को देवाः और मनुष्याः का विशेषण लेना अनुचित न होगा क्यों कि अनेक बार दैवी और मानुषी विशों का ही युगपत् वर्णन मन्त्रों में प्राप्त होता है। इस मन्त्र में पुनः तीन बार आया है और एक बार उत (जिस का अर्थ भी पुनः हो सकता है)। इस दृष्टि से चार देव, मनुष्य, राजन् और सत्यकारी (क्रमशः—ब्राह्मण, वैश्य, क्षत्रिय और शूद्र—?) का निर्देश भी माना जा सकता है। ६. अवे० ११।७। ७. अवे० ६।१३३।

दूसरे जन्म की प्राप्ति, पृथिवी द्युलोक और अन्तरिक्ष रूपी तीन समिधाओं, मेखला, कृष्ण वस्त्रों, दीर्घ श्मश्रुओं, भिक्षा, अग्नि सूर्य चन्द्रमा, मातरिश्वा और जलों में समिधादान, वनस्पति संवत्सर और ऋतुओं के ब्रह्मचारी से सम्बन्ध और स्नातक का वर्णन किया गया है। मेखलासूक्त में मेखला की विशेषताओं, गुरु से दान और ब्रह्मचारी से बन्धन का वर्णन है।

१४. गोपथ ब्राह्मण में[१] उपनयन का थोड़ा सा विवरण मिलता है और शतपथ ब्राह्मण[२] में भी। दोनों में कुछ भेद लक्षित होता है। डा० राजबली पाण्डेय ने शतपथ ब्राह्मण में अजिन या मृगचर्म का उल्लेख[३] बताया है, परन्तु यह विचारणीय है। उन के निर्दिष्ट स्थल पर अजर्षभ के अजिन को बिछाने का वर्णन है। वहीं आगे चल कर इस अजर्षभ का प्रजापति से तादात्म्य बताया गया है।[४] अतः यह अजिन चर्म नहीं रहा होगा। इसी प्रकरण में औदुम्बरी होने का वर्णन है। यह उदुम्बर अन्न रूप ऊर्ज् ही है।[५] गृह्यसूत्रों में औदुम्बर दण्ड वैश्य का बताया गया है[६] जो अन्नोत्पादन का उत्तरदायी था। इस ब्राह्मण में वाजपेय यज्ञ में यूपारोहण का विधान है। यह क्रिया ब्रह्मचर्यव्रत समाप्त कर के विवाह कर गृहस्थ बनना ही है। यह सब वर्णों पर चरितार्थ होती है, किसी एक वर्ण के लिए नहीं है। ताण्ड्य महाब्राह्मण में व्रात्यों और व्रात्यस्तोम का वर्णन है। इस व्रात्यस्तोम से पतितसावित्रिकों को शुद्ध कर के पुनः आर्यसमाज में ग्रहण कर लिया जाता था।

१५. उपनिषदों में ब्रह्मचर्याश्रम की अनेकों झांकियाँ मिलती हैं। यहाँ पर शतपथब्राह्मण के समान उपनयनविधि का वर्णन नहीं है, प्रत्युत ब्रह्मचारी के गुरुकुल में वास,[७] गोपालन, गुरु की सेवा, गुरुकुल में प्रवेश,

---

१. गो० १।२।१-८। २. श० ११।३।३।१। ३. श० ५।२।१।२१। ४. श० ५।२।१।२४—प्रजापतिर्वा एष यदजर्षभः। ५. श० ५।२।१।२३। ६. पा० सूसं० ९०। ७. आगे सूसं० १ (vii) में सुकाशिनी टिप्पणियाँ देखें। इस से सुकाशिनी टिप्पणियों में प्रकाशित भाव—समस्त प्रजा—विश् वैश्य हैं—की पुष्टि होती है।

अध्ययन और अध्यापन विषयक प्रतिबन्ध, शिष्य के गुण, ब्रह्मचर्य की अवधियों, गायत्री के उपदेश की रीति और उपदेश तथा गुरुकुल छोड़ते समय उपदेश आदि का वर्णन पाया जाता है।

१६. गृह्यसूत्रों में मानव के जीवन में होनेवाले—गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, उपनयन, समावर्तन, विवाह और अन्त्येष्टि—संस्कारों का विस्तृत विधान किया गया है। पीछे के साहित्य में भी बहुत-सी पद्धतियाँ, प्रयोग और कारिकाएँ आदि लिखी गई हैं। इन में भी संस्कारों की विधियों का सविस्तार वर्णन है, परन्तु मन्त्रों और विनियोगों में समन्वय और विधियों के सांस्कृतिक महत्त्वों आदि पर प्रकाश डालने का कोई प्रयास नहीं किया गया है। ऐसा प्रयास स्वा० दयानन्द सरस्वती की संस्कार-विधि में वीज रूप में और पं० आत्माराम की संस्कारचन्द्रिका में सविस्तार लक्षित होता है। स्मृतियों में सामान्यतः संस्कारविषयक विनियोगों के बिना ही विधियों का वर्णन है। पुराण आदि पिछले साहित्य में भी संस्कारों का परिचय उपलब्ध होता है। कुछ सामग्री परम्परा से प्रचलित आचारों से भी मिलती है।

पारस्कर गृह्यसूत्र के उपनयन सूत्र

१७. उपनयन संस्कार का रूप ऋग्वैदिक काल में ही विकसित हो गया प्रतीत होता है। अथर्ववेद के वर्णनों में यह पूर्ण विकसित रूप में पाया जाता है। इन दोनों ही ग्रन्थों में उपनयन समस्त प्रजाओं के लिए बताया गया है। वस्तुतः इन वर्णनों में समस्त मानव जाति को एक माना है। उस में कोई भेद नहीं समझा गया है।

१८. शतपथब्राह्मण में उपनयन संस्कार की विधियाँ वैदिक वर्णनों से साम्य रखती हैं। यहाँ समस्त मानवजाति को ब्राह्मण मान कर उपनयन के धर्म बताए गए हैं।

१९. पारस्कर गृह्यसूत्र ने प्रमुखतया शतपथब्राह्मण की विधियों को ही अपनाया है। दोनों की पदावली में घनिष्ट साम्य है। कुछ उदाहरण ये हैं—

सूसं०	पारस्करीय पदावली	शतपथब्राह्मण की पदावली
७	ब्रह्मचर्यमागामिति वाचयति	ब्रह्मचर्यमागामित्याह।
२८	अथास्य दक्षिणं हस्तं गृहीत्वाह-को नामासीति।	अथैनमाहको नामासीति।.... अथास्य हस्तं गृह्णाति।
३१.	इन्द्रस्यब्रह्मचार्यस्यग्निराचार्यस्त-वाहमाचार्यस्तवासाविति।	इन्द्रस्य ब्रह्मचार्यस्यग्निराचार्य-स्तवाहमाचार्यस्तवासाविति।
३२.	अथैनं भूतेभ्यः परिददाति।	अथैनं भूतेभ्यः परिददाति।
३३.	प्रजापतये त्वा परिददामि देवाय त्वा सवित्रे परिददाम्यद्भ्यस्त्वौ-षधीभ्यः परिददामि द्यावापृथिवी-भ्यां त्वा परिददामि विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः परिददामि सर्वेभ्यस्त्वा भूतेभ्यः परिददाम्यरिष्ट्या इति।	प्रजापतये त्वा परिददामि देवाय त्वा सवित्रे परिददामि..... अद्भ्यस्त्वौषधीभ्यः परिददा-मीति ।...द्यावापृथिवीभ्यान्त्वा परिददामीति...विश्वेभ्यस्त्वा भूतेभ्यः परिददाम्यरिष्टया इति।
३६-३८.	ब्रह्मचार्यसि। अपोऽशान। कर्म कुरु।	ब्रह्मचार्यसीत्याह।..अपोऽशान। ...कर्म कुरु।...
४१.	समिधमाधेहि।	समिधमाधेहीति।
३९,४२.	मा दिवा सुषुप्था। अपोऽशान। इति।	एनन्तदाह—मा सुषुप्था इति।... अपोऽशानेति।

२०. इसी प्रकार पारस्कर के बहुत से अन्य सूत्र शतपथब्राह्मण की पदावली ही हैं। शतपथब्राह्मण ने कतिपय विधियों का भाव या महत्त्व वर्णित किया है। पारस्कर ने इन स्थलों को निकाल दिया है। साथ ही कुछ विधियों को छोड़ भी दिया है। जो विधियाँ अपनाई हैं, उन के क्रम में भी कुछ आगा-पीछा कर दिया है।

२१. पारस्कर ने कुछ ऐसे विधान भी दिए हैं जो ब्राह्मण ग्रन्थ में नहीं हैं जैसे विभिन्न वर्णों के आयु, दण्ड, वस्त्र, मेखला आदि में भेद। शतपथ-ब्राह्मण ने सावित्री के उपदेश के लिए विभिन्न अवधियों (वर्ष, छै मास आदि–सूसं० ४६-४७) का विधान सभी ब्रह्मचारियों के लिए किया है, जब कि भाष्यकारो के अनुसार पारस्करीय विधान ब्राह्मणेतर ब्रह्मचारियों के लिए है। पारस्कर के गृह्यसूत्र में भी कतिपय ऐसे सूत्र और विधान हैं जो पारस्कर ने स्वीकार नहीं किए हैं, परन्तु पीछे के लोगों ने अन्य सूत्रों से ले कर इन में जोड़ दिए हैं। इन में से कुछ स्थल तो सर्वसम्मति से प्रक्षिप्त माने गए हैं। हो सकता है शेष में भी कुछ प्रक्षिप्त अंश हों। प्रक्षिप्त स्वीस्कृत अंश इस संस्करण में कोष्ठकों में दिखाए गए हैं।[1]

पारस्करीय उपनयन विधि

२. ब्राह्मण के गुणों के अभिलाषी बालक का उपनयन संस्कार आठ वर्ष की अवस्था में, क्षत्रिय गुणों के अभिलाषियों का ग्यारह वर्ष की अवस्था में और वैश्य गुणों के अभिलाषियों का बारह वर्ष की आयु में होना चाहिए। यदि इन आयुओं पर उपनयन सम्भव न हो तो सुविधानुसार कराया जा सकता है, परन्तु इस की चरम अवधि ब्राह्मण गुणाभिलाषी के लिए सोलह वर्ष, क्षत्रिय गुणाभिलाषी के लिए बाईस वर्ष और वैश्य गुणाभिलाषी के लिए चौबीस वर्ष की आयु है। इस के पश्चात् वे सावित्री से वञ्चित हो कर गायत्री के उपदेश और अन्य सामाजिक सम्पर्कों से बहिष्कृत कर दिए जाएँ। प्रायश्चित्त कर के वे उपनयन करा सकते हैं। जिस की तीन पीढ़ियों तक उपनयन न हुआ हो उन्हें व्रात्यस्तोम करना पड़ता है।

२३. ब्राह्मणों को भोजन कराने के पश्चात्, सिर मुण्डवा कर अलंकृत

---

१. इन में अन्तिम कण्डिका सारी प्रक्षिप्त है। मुद्रण में कोष्ठक लगने रह गए हैं।

बालक को यज्ञवेदी पर लाते हैं। वह बालक पश्चिम की ओर बैठ कर कहता है—मैं ब्रह्मचर्य को प्राप्त हुआ हूँ। मैं ब्रह्मचारी हो जाऊँ। आचार्य 'येनेन्द्राय' मन्त्र से वस्त्र-परिधान, 'इयं दुरुक्तं' अथवा 'युवा सुवासाः' मन्त्र से अथवा चुप-चाप मेखलाबन्धन, (यज्ञोपवीतं मन्त्रों से) यज्ञोपवीतपरिधान, 'मित्रस्य चक्षुः' से अजिनग्रहण, 'यो मे दण्डः' मन्त्र से दण्डधारण कराते हैं। 'आपो हि ष्ठा' आदि तीन मन्त्रों से जल से अपनी अंजलि द्वारा बालक की अञ्जलि को भरता है। 'तच्चक्षुः' मन्त्र से सूर्य को दिखाता है। 'मम व्रते' मन्त्र से दाहिने कन्धे और हृदय को छू कर अनुकूलता की भावना कर के दाहिना हाथ पकड़ कर पूछता है—तुम्हारा नाम क्या है। ब्रह्मचारी नाम बताता है। आचार्य कहता है कि तुम इन्द्र, अग्नि और मेरे ब्रह्मचारी हो। अब 'प्रजापतये त्वा' आदि से भूतों से कुशलक्षेम की प्राप्ति की कामना कर के अग्नि की प्रदक्षिणा कराता है। अब बालक को कुछ खिला कर ब्रह्मचर्यपालन, आचमन और कर्म करने, दिन में न सोने, प्रश्न का उत्तर देने और हवन करने का उपदेश देता है।

२४. अब आचार्य बालक को अपने सामने वेदी के उत्तर अथवा दक्षिण की ओर बिठा कर सावित्री का उपदेश करता है। ब्राह्मणगुणाभिलाषी को गायत्री छन्द वाली सावित्री, क्षत्रियगुणाभिलाषी को त्रिष्टुभ् छन्द वाली सावित्री और वैश्यगुणाभिलाषी को जगती छन्द वाली सावित्री का अथवा सब को ही गायत्री छन्द वाली सावित्री का उपदेश किया जाता है। गायत्री के उपदेश के पश्चात् अग्नि को समिधादान, 'अग्नेसुश्रवः' मन्त्र से परिसमूहन, अग्नि की प्रदक्षिणा, खड़े हो कर 'अग्नये समिधमाहार्षम्' मन्त्र से समिधाधान कर के फिर पहले के समान परिसमूहन और पर्युक्षण करे। अब हाथ तपा कर 'तनूपा अग्नेऽसि' और 'मेधां मे देवः सविता' मन्त्रों से मुख को मले। अपने-अपने के वर्ण अनुसार सम्बोधन पूर्वक पहले माता से फिर अन्य इन्कार न करनेवाली स्त्रियों से भिक्षा माँगे। उसे गुरु को दे कर दिन भर मौन रहे। सायंकाल जंगल से गिरी हुई सूखी समिधाएँ ला कर अग्नि में डाल कर ही बोले।

२५. ब्रह्मचारी पृथिवी पर सोए। अधिक खार और नमक न खाए। सदा दण्ड रक्खे, गुरु की सेवा, हवन और भिक्षावृत्ति किया करे। शराब, मांस, हानिकारक स्नान, ऊँचा वैठना, मैथुन, झूठ और चोरी—इन से बचे। यदि आचार्य लेटे हुए, वैठे हुए, खड़े हुए अथवा चलते हुए को बुलाएँ तो क्रम-से बैठ कर, उठ कर, चल कर और दौड़ कर उन की बात सुने। ऐसा व्यव-हार करने पर ब्रह्मचारी की ख्याति दूर-दूर तक फैल जाती है।

२६. विभिन्न वर्णों के दण्ड आदि इस प्रकार हैं :—

	ब्राह्मण के लिए	क्षत्रिय के लिए	वैश्य के लिए	सब के लिए (वैकल्पिक)
वासस् (वस्त्र)	सन के	रेशम के	भेड़ की (ऊन) के।	
उत्तरीय अजिन	एणी की	रुरु की	अजा या गो की।	गो की
रशना	मूंज की अथवा कुश, अश्मन्तक बल्व की	धनुष् की	मूर्वा की	
दण्ड	पलाश का	बिल्व का	उदुम्बर का	सब ही लक-ड़ियाँ

२६अ. वेदाध्ययन के लिए अड़तालीस वर्ष की आयु पर्यन्त ब्रह्मचारी रहे। यदि यह सम्भव न हो तो प्रत्येक वेद का अध्ययन बारह-बारह वर्ष तक ब्रह्मचारी रह कर करे। यदि ऐसा भी न हो सके तो जब तक वेद को पूरा न पढ़ ले ब्रह्मचारी रहे।[1]

२७. अध्ययन समाप्त कर चुकने वाला स्नातक होता है। ये तीन प्रकार के होते हैं—१. विद्यास्नातक–केवल वेद को पढ़ कर संसार में प्रवेश करने वाला २. व्रतस्नातक—ब्रह्मचर्य की अवधि तो पूरी कर लेता है परन्तु

---

१. यावद्ग्रहणम् का यह अर्थ भी हो सकता है—ग्रहण तक, समझने तक। अर्थात् जब तक पढ़ सके तब तक पढ़े। जब न पढ़ सके, तो छोड़ दे।

वेदाध्ययन पूरा नहीं होता। ३. विद्याव्रतस्नातक—जो वेदाध्ययन और ब्रह्मचर्य की अवधि—दोनों को पूरा कर लेता है।

२८. ब्राह्मण १६ वर्ष की आयु तक, क्षत्रिय २२ वर्ष की आयु तक और वैश्य २४ वर्ष की आयु तक उपनयन न कराने पर गायत्री के उपदेश से वञ्चित हो जाते हैं। यही नहीं। इन के साथ न व्यवहार किया जा सकता है, न इन का उपनयन। इन का अध्यापन भी बन्द कर दिया जाता है। ऐसे व्यक्तियों की तीन पीढ़ी तक यह स्थिति बनी रहने पर चौथी पीढ़ी के उपनयन आदि निषिद्ध हैं, परन्तु व्रात्यस्तोम कर के ये पुनः उपनयन और अध्यापन के पात्र हो जाते हैं।

पारस्करीय विधियों में प्रक्षेप

२९. उपरोक्त विधि में कुछ ऐसी बातें भी मिला दी गई हैं जो पारस्कर ने नहीं लिखी हैं। ये इस प्रकार हैं—

१. यज्ञोपवीत-परिधान के लिए यज्ञोपवीतं परमं पवित्रम् आदि मन्त्र।

२. मित्रस्य चक्षुः आदि मन्त्र से अजिनदान।

३. अंगालम्भन और त्रिपुण्ड तिलक लगाना।

४. उपनीत ब्रह्मचारी के लिए चोटियों, सावित्र व्रत—छै और तीन रात तक या तुरन्त ही सम्पन्न होने वाला—तीन बार मीठे की आहुति दे कर पाँच सांवत्सरिक वेदव्रत—आग्नेय, शुक्रिय, औपनिषद, शौलभ और गोदान का आचरण और व्रतों की समाप्ति पर अवगुण्ठनी का विसर्जन और गोदान।

पारस्कर और आश्वलायन की विधियों में भेद

३०. ऋग्वेद के गृह्यसूत्रकार आश्वलायन की उपनयन विधि मुख्यतः पारस्कराचार्य की विधि से मिलती-जुलती है। दोनों के सूत्रों में शब्दावली भी समान-सी है। दोनों में कुछ भेद भी हैं, जो इस प्रकार हैं :—

(१) आश्वलायन लिखते हैं कि उपनयन के लिए बालक अपने-अपने वर्णों के लिए विहित रंग[1] के कोरे वस्त्र अथवा अपने-अपने वर्ण के लिए विहित अजिन पहन कर यज्ञवेदी पर आए।

(२) आश्वलायन ने वैश्य की मेखला आवी=भेड़ के बालों की बताई है। पारस्कर मूर्वा की बताते हैं।[2]

(३) आश्वलायन ने दण्डों के माप का विधान किया है। यहाँ पर क्षत्रिय का दण्ड औदुम्बर और वैश्य का वैल्व बताया है।[3] यह पारस्कर के विधान के विपरीत है।[4]

(४) अञ्जलिपूरण में आश्वलायन ने 'तत्सवितुर्वृणीमहे' का विनियोग बताया है। अञ्जलि को खाली कर के आचार्य 'देवस्य त्वा सवितुः प्रसवे' मन्त्र से ब्रह्मचारी के हाथ को पकड़ता है। सविता को बालक का दूसरा और अग्नि को तीसरा आचार्य बताया है। आचार्य सूर्य को दिखा कर ब्रह्मचारी के दीर्घायुष्य की कामना करता है। यहाँ 'तच्चक्षुः' आदि मन्त्र का उच्चारण नहीं किया जाता है।[5]

(५) आचार्य बालक को प्राण का ब्रह्मचारी बता कर उसे प्रजापति को देता है। 'युवा सुवासाः' मन्त्र से आचार्य बालक से अग्नि की प्रदक्षिणा कराता है, पारस्कर मेखलाबन्धन। हृदय और कन्धे के स्पर्श में आश्वलायन ने किसी मन्त्र का विनियोग नहीं किया है।[6]

(६) आश्वलायन समिधाधान को चुपचाप चाहते हैं, परन्तु कुछ तत्कालीन आचार्य 'अग्नये समिधमाहार्षम्' मन्त्र से। इस मन्त्र का पाठ—

---

१. आश्व०गृ०१।१९। ८–९। ये रंग ब्राह्मण का काषाय, क्षत्रिय का माञ्जिष्ठ और वैश्य का हारिद्र हैं। भाष्यकार ने रंगे वस्त्रों का परिधान वैकल्पिक माना है। २. वही, सू० ११। ३. वही, सू० १३। ४. पाउ., सूसं० ८९-९०। ५. आश्व० गृ० १।२०।४-६। ६. वही, सू० ७।

'अग्नये समिधमाहार्षं वृहते जातवेदसे। तया त्वमग्ने वर्धस्व समिधा ब्रह्मणा वयं स्वाहा'—पारस्कर के पाठ से भिन्न हैं (देखो सूसं० ५५)।[1]

(७) आश्वलायन 'तेजसा मा समनज्मि' से तीन बार मुख का मार्जन वताते हैं। 'मयि मेधाम्' आदि मन्त्र से उपस्थान कर के दायाँ घुटना टेक कर आचार्य के पैर छू कर बालक सावित्री के उपदेश के लिए प्रार्थना करता है। आचार्य बालक के हाथ को वस्त्रसहित पकड़ कर गायत्री का उपदेश करता है और ब्रह्मचारी की योग्यता के अनुसार उस से मन्त्र का उच्चारण कराता है और उसे एकाग्र होकर सुनने[2] तथा आचार्य के अधीन हो कर वेद पढ़ने का उपदेश देता है।[3]

(८) आश्वलायन के मत में वेदब्रह्मचर्य का काल केवल बारह वर्ष अथवा वेद पूरा पढ़ लेने तक होता है।[4] भिक्षा पुरुष या स्त्री से माँगी जा सकती है। यहाँ भिक्षा को आचार्य के समर्पण करने के पश्चात् शेष दिन में खड़े रहने का (?) विधान है। सायंकाल ब्रह्मौदन और अनुप्रवचनीय पका कर आचार्य को वताए। आचार्य ब्रह्मचारी द्वारा प्रारम्भ किए हुए हवन में 'सदसस्पतिमद्भुतम्' और गायत्री मन्त्र से दो, ऋषियों के लिए और सौविष्ट आहुतियाँ दे। ब्रह्मभोज के पश्चात् ब्रह्मचारी पूर्ण वेद पढ़ाने के लिए आचार्य से प्रार्थना करे और तीन रात, बारह रात या एक वर्ष तक क्षार और लवण का प्रयोग न करे।[5]

(९) आश्वलायन गव्य अजिन का विधान नहीं करते हैं।

---

१. वही, १।२०।१०; २१।१ २. वही, १।२१।२-७। ३. वही, १।२२।२।। ४. वही, सू० ३-४। भाष्यकार ने इस वर्णन में विद्या, व्रत और विद्याव्रत स्नातकों को उल्लेख माना है। यह पारस्कर की अवधियों से भिन्न है। ५. वही, सू० ९-१७।

आपस्तम्ब गृह्यसूत्र के विशेष विधान

३१. आस्तम्ब उपनयन काल में ही केशवपनसंस्कार चाहते हैं।[1] ये उपनयन के लिए वर्णों के लिए क्रम से वसन्त, ग्रीष्म और शरद्ऋतु का विधान करते हैं।[2] ये क्षत्रिय का दण्ड न्यग्रोध का, स्कन्ध का या अवाचीन अग्रभाग वाला और वैश्य का बेर या गूलर का बताते हैं।[3] सावित्री के उपदेश के पश्चात् ब्रह्मचारी ऊपर के होंठ और कानों का स्पर्श करता है।[4]

३२. केशवपन के पश्चात् समिधाधान, पत्थर पर सीधे पैर का स्थापन और सद्योनिर्मित वस्त्र का परिधान किया जाता है।[5]

३३. आपस्तम्ब ने विभिन्न वर्णों के लिए वस्त्रों, अजिन, मेखला, दण्डों के माप आदि का कोई विधान नहीं किया है। गव्य अजिन का विधान भी नहीं है। इन के मन्त्रों में भी भेद है। विधि अपेक्षाकृत संक्षिप्त है।

गोभिल गृह्यसूत्र की विधि में अन्तर

३४. यहाँ गव्य अजिन का विधान नहीं है।[6] परिधान के लिए क्षौम या शाण, कार्पास और ऊन के वस्त्र बताए हैं, मेखला मूंज, काश और तम्बल (=शण) की, दण्ड पलाश, बिल्व और पीपल के।[7] बालक 'अग्ने व्रतपते' आदि मन्त्रों से पाँच आहुति देता है।[8] अभिवादन के लिए नया या पुराना नाम कल्पित किया जाता है।[9] आचार्य बालक के दक्षिण स्कन्ध, नाभि, हृदय और बाएँ कन्धे का स्पर्श करता है।[10] तीन रात के सावित्र व्रत के पश्चात् उस का चरु करे और दक्षिणा में गौ दान दे।[11]

---

१. आपस्तम्ब गृह्यसूत्र, १०।५-८। २. वही, सू० ४। ३. वही, ११।१५। ४. वही, ११।१०-१३। ५. वही, १०।९-१०। ६. गोभिल गृह्यसूत्र, २।१०।८। ७. वही, सू० ७-१२। ८. वही, सू० १५। ९. वही, सू. २१। १०. वही. सू. २४-२८। ११. वही, सू. ४३-४५।

३५. अन्य विधियों में और मन्त्रों के विनियोग आदि में गोभिल गृह्यसूत्र और पारस्कर गृह्यसूत्र एक दूसरे के बहुत समीप हैं। यह भी ध्यातव्य है कि विभिन्न वर्णों के लिए पृथक्-पृथक् छन्द की सावित्री का उपदेश केवल पारस्कर ही कराते हैं, अन्य सूत्रकार नहीं।

पारस्कर के उपनयनसूत्रों में विनियुक्त मन्त्रों की तालिका

३६.

क्रमसंख्या	मन्त्रप्रतीक	सूसं०	विनियोग
(१)	अग्नये समिधमाहार्षम्	५५	सावित्री के उपदेश के पश्चात् समिधाधान में।
(२)	अग्ने सुश्रवः	५३	सावित्री के उपदेश के पश्चात् हाथ से अग्नि के परिसमूहन में।
(३)	(अंगानि च म आप्यायन्ताम्)	६२	अंगालम्भन में जप।
(४)	(अदृश्रमस्य)	११९	सूर्योदय पर जप में।
(५)	(अप्स्वन्तर्)	११०	मेखला और यज्ञोपवीत का जल में स्थापन (हि० अ० में पाटि० १ भी देखें)।
(६)	(आ नो भद्राः)	११५	वेदशिरस् से अवगुण्ठन में
(७)	आपो हि ष्ठ	२३	जलों से अंजलिपूरण में।
(८)	(आ ब्रह्मन्)	११५	वेदशिरस् से अवगुण्ठन में।
(९)	(आशुः शिशान)	११५	वही।
(१०)	इन्द्रस्य ब्रह्मचारी	३१	ब्रह्मचारी को 'आप का शिष्य हूँ' कहने पर आचार्य का अपनी भावना का प्रकाश।

(११) (इमा नुकम्)	११५	वेदशिरस् से अवगुण्ठन में।
(१२) इयं दुरुक्तम्	११	मेखलाबन्धन में।
(१३) (उदीरतामवर)	११५	वेदशिरस् से अवगुण्ठन में।
(१४) (उदु त्यम्)	११९	सूर्योदय पर जप में।
(१५) एषा ते	५७	सावित्री के उपदेश के पश्चात् समिधाधान में वैकल्पिक मन्त्र।
(१६) गायत्री मन्त्र (भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुः)	४७	ब्राह्मण को सावित्री के उपदेश में।
	५०	सब वर्णों को सावित्री के उपदेश में वैकल्पिक मन्त्र।
(१७) (चित्रं देवानाम्)	११९	सूर्योदय पर जप में।
(१८) जगती सावित्री (i) युञ्जते मनः। य० ५।१४) (ii) विश्वा रूपाणि। य० १२।३)	४९	वैश्य को सावित्री के उपदेश में।
(१९) तच्चक्षुः	२५	सूर्यदर्शन में।
(२०) तनूपा अग्नेऽसि	६०	हाथ तपा कर मुख को मलने में।
(२१) तस्मा अरंगमाम	२३ पाटि० १	जलों से अंजलिपूरण में।
(२२) त्रिष्टुभ् सावित्री (i) तां सवितुः। य. १७।७४।) (ii) देव सवितः प्रसुव। य० ९।१)	४८	क्षत्रिय को सावित्री के उपदेश में।
(२३) त्र्यायुषं जमदग्नेः	६३	राख से त्र्यायुष (तिलक) लगाने में।
(२४) (द्यौः शान्तिः)	१२०	वर्षा होने पर शान्ति (जप) में।

(२५) (नमो वरुणाय)	११०	तीन बार मीठा देने में।
(२६) प्रजापतये त्वा परिददामि	३३	ब्रह्मचारी को भूतों को समर्पित करने में।
(२७) मम व्रते ते हृदयम्	२७	अधिहृदय दक्षिणांस के आलम्भन में।
(२८) (मित्रस्य चक्षुर्धरुणम्)	१७	अजिनप्रदान में।
(२९) मेधां मे देवः सविता	६१	हाथ तपा कर मुख को मलने में।
(३०) (यज्ञोपवीतमसि) } (३१) यज्ञोपवीतं परमम्) }	१५	यज्ञोपवीतपरिधान में।
(३२) युवा सुवासाः	१२	मेखलाबन्धन में वकल्पिक मन्त्र।
(३३) येनेन्द्राय बृहस्पतिः	९	वासःपरिधापन में।
(३४) यो मे दण्डः परापतत्	२०	दण्डग्रहण में।
(३५) यो वः शिवतमः	२३पाटि०१	जलों से अंजलिपूरण में।

इस प्रकार इस गृह्यसूत्र में १६ मन्त्रों का विनियोग प्रक्षिप्त भाग में है, और १९ का प्रामाणिक भाग में है।

कन्याओं का उपनयन

३७—संस्कृतभाषा की शैली है कि जहाँ स्त्री और पुरुष दोनों का वर्णन अभिप्रेत होता है वहाँ भी पुल्लिग से ही निर्देश किया जाता है। अतः यदि साहित्य में स्त्रियों के उपनयन का विधान स्पष्ट, साक्षात् और सविस्तार नहीं मिलता तो कोई आश्चर्य नहीं। ब्राह्मण और ब्राह्मणी का, राजन्य और राजन्या का, वैश्य और वैश्या का समास क्रमशः ब्राह्मण, राजन्य और वैश्य ही होता है। अतः ब्राह्मण आदि पुल्लिग के प्रयोगों से ब्राह्मण कन्या आदि का भी बोध होता है। इस प्रकार उन का उपनयन विहित है।

३८—इसी शैली का अवलम्बन करते हुए स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने वेदभाष्यों में पुरुषों की शिक्षा के साथ-साथ स्त्रियों की शिक्षा का भी वर्णन किया है।[१] एक मन्त्र के भावार्थ में लिखा है कि 'विद्वानों को अपनी (सु–) शिक्षा से कुमार और कुमारी ब्रह्मचारिणियों को परमेश्वर से ले कर पृथिवीपर्यन्त पदार्थों का बोध कराना चाहिये...।[२] उन्हों ने सत्यार्थ-प्रकाश के तीसरे समुल्लास में लड़कियों के अध्ययन और ब्रह्मचर्य का विवे-चन भी किया है।

३९—ऋग्वेद में देवियों की कल्पना, वाक् अपाला घोषा लोपामुद्रा आदि ऋषिकाओं की सत्ता की मान्यता से तथा वैदिक साहित्य में विदुषी नारियों और ब्रह्मवादिनियों के वर्णन से वैदिक काल में लड़कियों के उप-नयन और उच्चतम शिक्षा प्राप्त करने की स्थिति का अनुमान सुकर है।

४०—अथर्ववेद के ब्रह्मचारी-सूक्त में ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणियों का युगपत् वर्णन हुआ है :—

'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् ।
अनड्वान् ब्रह्मचर्येणाश्वो घासं जिगीषति ।'[३]

इस मन्त्र से उस काल में लड़के और लड़कियों के उपनयन की सत्ता सुस्पष्ट है। इस की पुष्टि ब्रह्मचारिणी, आचार्या आदि पदों, 'पुरा नारीणा-मपि मौञ्जीबन्धनमिष्यते' आदि स्मृतिवाक्यों, स्मृतियों में स्त्रियों के मन्त्र-

---

१—उदाहरण के लिये य० ६।२४, २५ आदि का दयानन्दभाष्य देखें।

२—य० ६।८ का भाष्य।

३—अवे० ११।७।१८। यहाँ अनड्वान्-पद कामसूत्र में वर्णित वृष-पुरुष का द्योतक है, बैल का नहीं। इसी प्रकार 'अश्व' अश्वजाति के पुरुष और 'घास' रतिसुख के द्योतक हैं।

हीन संस्कारों[1] के विधान रूप ऐतिहासिक अवशेषों, रामायण में कौशल्या के यज्ञ करने के वर्णन, शेष साहित्य में स्त्रियों की शिक्षा और आश्रमों में निवास और यज्ञोपवीतिनी आदि पदों से होती है।

शूद्रों की स्थिति और उन का उपनयन

४१——इस विषय पर कई विद्वानों ने अधिकृत रूप से लिखा है।[2] डा. अम्बेदकर के 'हू वर ही शूद्राज' और डा. शर्मा के 'शूद्राज़ इन एन्शियेण्ट इण्डिया' में इस विषय का विस्तृत विवेचन किया गया है। शूद्रों के विषय में जितने अध्ययन अब तक हुए हैं उन में दो दृष्टियाँ काम करती हैं :——१. शूद्र श्रमिक और समाज में नीचतम वर्ण हैं २. इस भावना की प्रतिक्रिया रूप शूद्रों को उच्च वर्ण का सिद्ध करना। किसी भी अध्ययन में शुद्ध साहित्यिक और भाषा की दृष्टि से विवेचन प्रस्तुत नहीं किया गया है। यह विवेचन बहुत विस्तृत है। अतः यहाँ कतिपय विचार परम संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किए जाते हैं।

४२——वैदिक मन्त्रों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वहाँ मानव जाति के एक, दो, तीन, चार और पाँच विभागों का बहुधा उल्लेख पाया जाता है। समान संख्या के विभागों का वर्णन भी सर्वत्र समान नहीं है। उन के मूल में विभिन्न दृष्टियाँ रही प्रतीत होती हैं। तो भी थोड़े से व्याख्यान से उन में सामञ्जस्य स्थापित किया जा सकता है।

४३——ऋग्वेद के एक मन्त्र में **मनुओं की समस्त प्रजाओं** को अग्नि द्वारा सृष्ट बताया गया है :——

---

१. यथा मनु० २।६६ देखें।

२. देखो डा. शर्मा का शूद्राज़ इन एन्शिएण्ट इण्डिया में प्रदत्त विवरण।

'स पूर्वया निविदा कव्यतायोरिमाः प्रजा अजनयन्मनूनाम् ।
विवस्वता चक्षसा द्यामपश्च देवा अग्निं धारयन् द्रविणोदाम् ॥'[१]

इस मन्त्र में प्रजा के अन्य कोई विभाग नहीं बताए हैं। ये प्रजाएँ आर्य ही हैं :—'उरु ज्योतिश्चक्रथुरार्याय'।[२] इसी मन्त्र में 'दुहन्ता मनुषाय दस्रा' तथा पुनरुक्त अंश 'ज्योतिर्जनाय चक्रथुः[३]' में आर्य, मनुष और जन को समानार्थक माना है।

४४—पं० अखिलानन्द ने लिखा है कि 'वेद के संबंध में जहाँ कहीं पर किसी जाति का नाम मिलता है तो **ब्राह्मण जाति** का ही मिलता है अन्य का नहीं, वेद और ब्राह्मण का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है।'[४] वस्तुस्थिति यह मालूम पड़ती है कि वैदिक काल में मानव मात्र को ब्राह्मण कहा जाता था।[५]

४५—अन्यत्र प्रजाओं के दो विभाग किए गए हैं। इन के नाम भिन्न-भिन्न हैं—

(१) आर्य और दस्यु

'विजानीह्यार्यान् ये च दस्यवो बर्हिष्मते रन्धया शासदव्रतान्'।[६]

दस्युओं को धनिन् बताया है।[७] ये व्रत और यज्ञ से हीन कहे गये हैं—

'अन्यव्रतममानुषमयज्वानमदेवयुम् ।
अव स्वः सखा दुधुवीत पर्वतः सुघ्नाय पर्वतः' ॥[८]

मनु के अनुसार चारों वर्णों से बहिर्भूत आर्य और म्लेच्छ भाषा बोलने वाले सब दस्यु हैं :—

---

१. ऋ० १।९६।२. २. ऋ. १।११७।२१. ३. ऋ. १।९२।१७। ४. वेदत्रयीसमालोचन पृ० १८२। ५. आगे मंसं० ४२।५ तथा ऊपर संदर्भ १७–१८ देखें। ६. ऋ. १।५१।८। ७. ऋ. १।३३।४ ८. ऋ. ८।७०।११.

'मुखबाहूरुपज्जानां या लोके जातयो बहिः ।
म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः ॥[१]

स्वामी दयानन्द ने ये विभाग चारों वर्णों के व्यक्तियों के माने हैं।[१]

(२) दास और आर्यः—

'अन्तर्यच्छ जिघांसतो वज्रमिन्द्राभिदासतः ।
दासस्य वा मघवन्नार्यस्य वा सनुतर्यवया वधम्' ॥[२]

इस वर्णन में दासों और आर्यों को सम स्तर पर रक्खा गया है। क्रम में पहले दास का उल्लेख है, फिर आर्य का।

(३) ब्रह्म और क्षत्रः—

'यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह ।
तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना' ॥[३]

प्रजा के ये विभाग राष्ट्र की शक्तियों के द्योतक हैं। समस्त शक्तियाँ इन के अन्तर्गत ही हैं। ये दोनों अगले मन्त्र के इन्द्र और वायु के अनुरूप माने जा सकते हैं।[४]

(४) मानुषी क्षिति और दैवी विश्

'मखस्य ते तविषस्य प्र जूतिमिर्यमि वाचममृताय भूषन् ।
इन्द्र क्षितिनामसि मानुषीणां विशां दैवीनामुत पूर्वयावा' ॥[५]

---

१. मनु १०।४५. १. ऋभाभू० पृ० २९९—वेदरीति से इन के दो भेद हैं, एक आर्य और दूसरा दस्यु। २. ऋ. १०।१०२।३. ३. य० २०।२५। य० १८। ३८–४४ और १९।५ आदि में भी ये ही दो विभाग माने गए हैं। ४. य० २०।२६—यत्रेन्द्रश्च वायुश्च सम्यञ्चौ चरतः सह। तं लोकं प्रज्ञेषं यत्र सेदिर्न विद्यते॥ ५. ऋ. ३।३४।२.

मानुषी क्षिति मानुषी विश् ही है—'विशां कविं विश्पतिं मानुषीणाम्'।[१] यहाँ 'स देवेषु वनते वार्याणि' में दैवी विश् का निर्देश माना जा सकता है। इस वर्णन में दैवी विश् मानुषी विश् के अन्तर्गत ही मानी जा सकती है, उस से पृथक् नहीं।

(५) अयज्वन् और यज्वन्

'अयज्वानो यज्वभिः स्पर्धमानाः।'[२]

अगले मन्त्र में यज्वानः को 'क्षितयो नवग्वाः' कहा है।[३] ये ऊपर वर्णित दस्यु और आर्य माने जा सकते हैं। 'स निरुध्या नहुषो यह्वो अग्निर्विश्चक्रे वलिहृतः सहोभिः'[४] में इन्हें नहुष् और विश् से वर्णित किया है। सायण-भाष्य की योजना अस्वाभाविक है।

(६) ब्राह्मण और देव

'तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम्'।[५] अन्यत्र ब्रह्म को ब्रह्मचारियों से[६] और देवों को अमृत से[७] गतिमान् बताया है। संभवतः ऋग्वेद ने 'अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः'[८] में इन विभागों को मानुष और देव कहा है।

(७) शूद्र और अर्य

'यद् ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां, यदिन्द्रिये।
यच्छूद्रे यदर्ये यदेनश्चकृमा वयम्'॥[९]

---

१. ऋ. ५।४३। श० ११। ५।४।१७ में दैवी प्रजा को मुख से उत्पन्न छन्द और मानुष प्रजा को प्रजनन से उत्पन्न कहा है। २. ऋ. १।३३।५. ३. ऋ. १।३३।६. ४. ऋ. ७।६।५. ५. अवे. ११।७।२३. ६. अवे० ११।११।१८. ७. वही, मं० १०। ८. ऋ. १९।१२५।५। आगे मंसं० ४२।५ की टिप्पणी भी देखें। ९. य० २०।१७.

इस में मानवों के ये ही दो विभाग किये गये हैं। इन में शूद्र का उल्लेख पहले किया गया है। वर्णन की शैली से शूद्र का पूज्यत्व सुस्पष्ट है। इस में ब्रह्म और राजन्य का उल्लेख नहीं है। इन का अन्तर्भाव शूद्र और अर्य में अभिप्रेत है। यजुर्वेद में अर्य पद आद्युदात्त भी है और अन्तोदात्त भी। 'शूद्रा यदर्यजारा न पोषाय धनायति'[१] और 'शूद्रो यदर्यायै जारो न पोषमनु' मन्यते'[२] में 'अर्यजारा' पद शूद्रा का और अर्यायै जारः 'शूद्र' का विशेषण है। इन दोनों मन्त्रों में 'न' सर्वत्र ही उपमावाचक है। इस योजना से इन मन्त्रों में भी मानव जाति के शूद्र और अर्य विभागों का ही वर्णन उपलब्ध होता है।

(८) शूद्र और आर्य

'तां मे सहस्राक्षो देवो दक्षिणे हस्त आ दधत्।
तयाहं सर्वं पश्यामि यश्च शूद्र उतार्यः'॥[३]
'उदग्रभं परिपाणाद् यातुधानं किमीदिनम्।
तेनाहं सर्वं पश्याम्युत शूद्रमुतार्यम्'॥[४]
'प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्रे उतार्ये'॥[५]

अथर्ववेद की पदानुक्रमणीकार ने यहाँ सर्वत्र 'उत' और 'आर्य' की सन्धि मानी है। अथर्ववेद में 'अर्य' पद अन्तोदात्त है। अतः यहाँ 'उत' और 'अर्य' की सन्धि नहीं है। इन मन्त्रों में भी शूद्र को आर्य से पहले वर्णित किया है। ऋग्वेद में आर्यों को तीन प्रजाएँ बताया गया है :—'त्रयः कृण्वन्ति भुवनेषु रेतस्तिस्रः प्रजा आर्या ज्योतिरग्राः।'[६] पं०अखिलानन्द लिखते हैं

---

१. य० २३।३०. २. य० २३।३१. ३. अवे० ४।२०।४. ४. वही मं० ८। ५. अवे० १९।६२।१. ६. ऋ० ७।३३।७.

कि 'वेद में द्विजों को आर्य कहा है, शूद्रादि को नहीं।'[१] सामान्यतः ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को ही द्विज माना जाता है। यदि प्रकृत विभाग में 'आर्य' को इन तीनों वर्णों का द्योतक मान लें, तो शूद्र चौथे वर्ण का वाचक बन जाता है। शतपथब्राह्मण में पशुओं को पूषा[२] कहा है। साथ ही पुष्टिकारक होने से पृथिवी को पूषा=शौद्रवर्ण माना है। वहाँ पशुओं को पुष्टि[३] और 'दैव्यो विशः'[४] कहा गया है। ऐसी स्थिति में समस्त पोषक गुण सम्पन्न प्राण, पदार्थ, भाव और स्थितियाँ पूषा=शौद्रवर्ण=शूद्र हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर मानवों में परोपकार, ज्ञान और सेवा आदि द्वारा पोषण करने वाले व्यक्ति ही 'शूद्र' ठहरते हैं। ऐसे व्यक्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों वर्णों के हो सकते हैं। निरुक्त में आर्य—का अर्थ ईश्वरः पुत्र[५], अष्टाध्यायी में स्वामी और वैश्य[६] तथा निघण्टु में ईश्वर[७] दिया गया है। इस अर्थ की पुष्टि में शूद्र का अर्थ 'जो ईश्वरपुत्र नहीं है=असमृद्ध.= त्यागी, संन्यासी (?)' होगा। यजुर्वेद में एक स्थल पर इस विभाग को शूद्र और ब्राह्मण बताया है—'अशूद्रा अब्राह्मणास्ते प्राजापत्याः।'[८]

४६—कई बार मानव जाति के तीन विभाग भी किये गये हैं :—

(१) देव, असुर और मनुष्य

'यथा चक्रुर्देवासुरा यथा मनुष्या उत।
एवा सहस्रपोषाय कृणुतं लक्ष्माश्विना'॥[९]

---

१. वेदत्रयीसमालोचन, पृ० २१७. २. श० ३।१।४।९. ३. वही. ४. श० ३।७।३।९। ५. नि०. ६. पा० ३।१।१०३. ७. निघं २।२२।२. ८. य० ३०।२२। यहाँ यह पदावली दो बार प्रयुक्त हुई है। पहली बार अतिदीर्घ, अतिह्रस्व, अतिस्थूल, अतिकृश, अतिशुक्ल, अतिकृष्ण, अतिकुल्व और अतिलोमश को और दूसरी बार मागध, पुंश्चली, कितव और क्लीव को अशूद्र और अब्राह्मण में विभक्त किया है। ९. अवे० ६।१४१।३.

यहाँ पर 'देवा' अश्विना का विशेषण हैं। यदि इसे मानव जाति से भिन्न माना जाये तो यहाँ दस्यु और आर्य के समान दो ही विभाग रह जायेंगे।

(२) ऋभु, असुर और ऋषि

'यां मेधामृभवो विदुर्यां मेधामसुरा विदुः।
ऋषयो भद्रां मेधां यां विदुस्तां मय्या वेशयामसि'॥[१]

इन तीनों विभागों को एक समान भाव से वर्णित किया गया है।

(३) ब्रह्म, सोम, राधस्

'यः सुन्वन्तमवति यः पचन्तं यः शंसन्तं यः शशमानमूती।
यस्य ब्रह्म वर्धनं यस्य सोमो यस्येदं राधः स जनास इन्द्रः'॥[२]

इस के पूर्वार्द्ध में चार विभाग किये गये हैं, उन की दृष्टि में उत्तरार्द्ध में तीन विभाग माने जा सकते हैं।

(४) ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य

'ब्राह्मण एव पतिर्न राजन्यो न वैश्यः।
तत्सूर्यः प्रब्रुवन्नेति पञ्चभ्यो मानवेभ्यः॥[३]

यहाँ पर समस्त मानव जाति को पंच मानव कह कर उस के तीन ही विभाग किये हैं। इन में शूद्र का वर्णन नहीं है। उन का अन्तर्भाव इन्हीं तीन में अभिप्रेत है।

(५) देव, मनुष्य, राजन्य

'पुनर्वै देवा अददुः पुनर्मनुष्या अददुः।
राजानः सत्यं गृह्णाना ब्रह्मजायां पुनर्ददुः'॥[४]

---

१. अवे० ६।१०८।३. २. ऋ. २।१२।१४. ३. अवे० ५।१७।९.
४. अवे० ५।१७।१०।

इस में देव और मनुष्य को पूर्ववर्णित विभाग के ब्राह्मण और वैश्य कहा जा सकता है। वहाँ राजन्य और वैश्य को ब्रह्मजाया का पति नहीं माना है, यहाँ उन्हें ब्रह्मजाया से सम्पन्न मान कर उस का दाता वर्णित किया है। इस प्रकरण में ब्राह्मणपद परमेश्वर के वाचक ब्राह्मणपद[1] से भिन्न है।

४७—अन्यत्र चार विभागों का उल्लेख है :—

(१) सुन्वत्, पचत्, शंसत् और शशमान

'यः सुन्वन्तमवति यः पचन्तं यः शंसन्तं यः शशमानमूती।'[2]

सुन्वत्—यज्ञनिष्पादक वैश्य है, पचत्—पुष्टिकर्त्ता शूद्र है। शंसत्—स्तोता ब्राह्मण है और शशमान को क्षत्रिय[3] कहा जा सकता है।

(२) उग्र, ब्रह्मन्, ऋषि और सुमेधा

'यं यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्।'[4] स्वभाव के कारण उग्र क्षत्रिय है,[4अ] ब्रह्मन् ब्राह्मण है। शतपथ ब्राह्मण[5] में तप के कारण ऋषि को ऋषि माना है। ऋग्वेद में भी ऋषियों को तपस्वी कहा है—'पूर्वे सप्त ऋषयस्तपसे ये निषेदुः।'[6] अग्नि तप से उग्र होती है।[7] ब्रह्मचारी भी तप करता है।[8] यजुर्वेद में शूद्र को[9] और कौलाल को[10] तप से सम्बद्ध किया है। अतः ऋषि को शूद्र का द्योतक

---

१. अवे० १०।८।३७–३८। २. ऋ. २।१२।१४। ३. आगे मं० २०।५ की टिप्पणी देखें। ४. ऋ. १०।१२५।५। ४अ. 'उग्र' रुद्र का एक रूप है। श० ६।१।३।१८। रुद्र घोर है—कौ० १६।७। ५ श० ६।१।१।१। ६. ऋ. १०।१०९।४। ७. ऋ. १०।१०९।१ पर साभा० देखें। ८. अवे० ११।७।१। ९. य० ३०।५। १०. वही, मं० ७।

माना जा सकता है। योगदर्शन में तप को क्रियायोग[1], नियम[2] और अशुद्धियों को क्षीण कर के कायेन्द्रिय को शुद्ध करने वाला[3] कहा है। शेष सुमेधा वर्णों के नामों में 'वैश्य' का द्योतक हो जाता है।

(३) रध्र, कृश, नाधमान ब्रह्मन् कीरि और युक्तग्रावन् सुतसोम

'यो रध्रस्य चोदिता यः कृशस्य यो ब्रह्मणो नाधमानस्य कीरेः ।
युक्तग्राव्णो योऽविता सुशिप्रः सुतसोमस्य स जनास इन्द्रः' ।।[4]

आगे मन्त्र १२ में की गई व्याख्या के अनुसार ये पद क्रमशः क्षत्रिय, शूद्र, ब्राह्मण और वैश्य के द्योतक माने जा सकते हैं।

(४) ब्रह्म और राजन्य; शूद्र और आर्य

'प्रियं मा दर्भ कृणु ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्रायचार्याय च ।
यस्मै च कामयामहे सर्वस्मै च विपश्यते' ।।[5]

यहाँ पर शूद्र को आर्य से पहले वर्णित किया गया है। अथर्ववेद में 'अर्यः' पद अन्तोदात्त है, और 'आर्यः' पद आद्युदात्त । मन्त्र में 'चार्याय' में 'र्या' पर स्वरित है। अतः 'चार्याय' में 'च' और 'आर्याय' की सन्धि है। आर्य पद सामान्यतः आर्यजाति का और पहले लिखे वर्णन के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वश्य का द्योतक माना जाता है। ऐसी स्थिति में यहाँ दो विभागों १. ब्रह्म और राजन्य तथा २. शूद्र और आर्य को इकट्ठा वर्णित किया है । यदि ऐसा मान लें तो ये पद वर्णों के द्योतक न रह कर कर्म या शक्ति विशेषों के द्योतक बन जायेंगे।

---

१. योगदर्शन २।१। २. वही, २।३२। ३. वही, २।४३।
४. ऋ. २।१२।६। ५. अवे० १९।३२।८।

(५) ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य, शूद्र

'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥'[५अ]

यह मन्त्र यजुर्वेद और अथर्ववेद में भी आया है। चारों वर्णों का इस क्रम से उल्लेख केवल इसी मन्त्र में मिलता है। पीछे के काल में चातुर्वर्ण्य के लिए इसी मन्त्र को आधार बनाया गया है।

४८—पांच जनों–कृष्टियों–चर्षणियों का बहुधा वर्णन पाया जाता है। यथा 'अञ्जन्ति सुप्रयसं पञ्च जनाः';[१] 'यः पञ्च चर्षणीरभि निषसाद दमे दमे।'[२] स्तोता पंचकृष्टि के अन्तर्गत हैं—'अस्माकं द्युम्नमधि पञ्च कृष्टिषु।'[३] प्रार्थनायें पाँचों कृष्टियों के लिए की गयी हैं—'यद् वा पंच क्षितीनां द्युम्नमाभर।'[४] यहाँ पर उन में पारस्परिक भेद नहीं है। ये पंच जन कौन हैं, इस पर विद्वानों ने पर्याप्त विचार किया है। ऋग्वेद में एक स्थान पर इन्हें यदु, तुर्वश, द्रुह्यु, अनु, पुरु कहा है—'यदिन्द्राग्नी यदुषु तुर्वशेषु यद् द्रुह्युष्वनुषु पुरुषु स्थः।'[५] ऐतरेय ब्राह्मण[६] में ये देव, मनुष्य, गन्धर्वाप्सरस्, सर्प और पितृ, निरुक्त में[७] गन्धर्व, पितर, देव, असुर और राक्षस, औपमन्यव के[८] मत में चारों वर्ण और निषाद और पं० अखिलानन्द[९] के विचार में होता, अध्वर्यु, उद्गाता, ब्रह्मा और यजमान हैं। इनका परिगणन कुछ भी किया जाये वेद मन्त्रों में इन में ऊँच-नीच का कोई भेद नहीं है।

४९—यजुर्वेद में छै विभागों का भी उल्लेख है —

---

५ अ. ऋ. १०।९०।१२। १. ऋ. ६।११।४.। २. ऋ. ७।१५।२। ३. ऋ. २।२।१०। ४. ऋ. ६।४६।७। ५ ऋ. १।१०८।८। ६. ऐ० ३।३१। ७. नि० ३।७। ८. वही। ९. वेदत्रयीसमालोचन, पृ० २०५।

ब्रह्म, राजन्य, शूद्र, अर्य (या आर्य ?), स्व और अरण

'यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः ।
ब्रह्मराजन्याभ्या ँ शूद्रायचार्याय च स्वाय चारणाय ।
प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह भूयासमयं मे कामः समृध्यतामुप
मादो नमतु ॥'[1]

यदि ऊपर लिखे विभागों पर सामूहिक रूप से दृष्टि डाली जाये तो यहाँ पर मानव जाति के तीन दृष्टियों से दो-दो विभाग स्पष्ट ज्ञात हो जायेंगे—१. ब्रह्मन् और राजन्य २. शूद्र और अर्य (या आर्य) ३. स्व और अरण (अपने और पराये)।

५०—वेदमन्त्रों में उपलब्ध मानव जाति के कतिपय विभागों का निर्देश किया जा चुका है। शूद्रों की स्थिति के निर्णय में अधोदत्त बातें विचारणीय हैं।

(१) वेद में मानव जाति के एक या अनेक विभाग विभिन्न दृष्टियों से किये गये हैं। यजुर्वेद के नीचे दिए गए मन्त्रों से इस प्रकार की कुछ दृष्टियों का आभास मिलता है :—

'एकयास्तुवत प्रजा अधीयन्त प्रजापतिरधिपतिरासीत् ।
तिसृभिरस्तुवत ब्रह्मासृज्यत ब्रह्मणस्पतिरधिपतिरासीत् ।
पञ्चभिरस्तुवत भूतान्यसृज्यन्त भूतानां पतिरधिपतिरासीत् ।
सप्तभिरस्तुवत सप्त ऋषयोऽसृज्यन्त धाताधिपतिरासीत् ॥
नवभिरस्तुवत पितरोऽसृज्यन्तादितिरधिपत्न्यासीत् ।
एकादशभिरस्तुवत ऋतवोऽसृज्यन्तार्त्तवा अधिपतय आसन् ।
त्रयोदशभिरस्तुवत मासा असृज्यन्त संवत्सरोऽधिपतिरासीत् ।
पञ्चदशभिरस्तुवत क्षत्रमसृज्यतेन्द्रोऽधिपतिरासीत् ।

---

१. य० २६।२।

सप्तदशभिरस्तुवत ग्राम्याः पशवोऽसृज्यन्त बृहस्पतिरधिपतिरासीत् ॥
नवदशभिरस्तुवत शूद्रार्यावसृज्येतामहोरात्रे अधिपत्नी आस्ताम् ।
एकवि ँ् शत्यास्तुवतैकशफाः पशवोऽसृज्यन्त वरुणोऽधिपतिरासीत् ।
त्रयोवि ँ् शत्यास्तुवत क्षुद्राः पशवोऽसृज्यन्त पूषाधिपतिरासीत् ।
पञ्चवि ँ् शत्यास्तुवताऽऽरण्याः पशवोऽसृजन्त वायुरधिपतिरासीत् ।
सप्तवि ँ् शत्यास्तुवत द्यावापृथिवी व्यैतां वसवो रुद्रा आदित्या अनुव्या-
यँस्त एवाधिपतय आसन् ॥
नववि ँ् शत्यास्तुवत वनस्पतयोऽसृज्यन्त सोमोऽधिपतिरासीत् ।
एकत्रि ँ् शतास्तुवत प्रजा असृज्यन्त यवाश्चायवाश्चाधिपतय आसन् ।
त्रयस्त्रि ँ् शतास्तुवत भूतान्यशाम्यन् प्रजापतिः परमेष्ठ्यधिपति-
रासीत् ॥"[1]

इस वर्णन में ब्रह्म, ऋषि और क्षत्र की उत्पत्ति पृथक्-पृथक् बतायी हैं, परन्तु शूद्र और आर्य (अर्य) की एक साथ ।

(२) उपरोक्त वर्णनों में समस्त विभागों को एक स्तर पर रक्खा गया है, केवल दस्युओं को हिंसक बता कर उन्हें हीन माना गया है ।

(३) शूद्र को आर्य से पहले वर्णित किया गया है ।

(४) ऊपर दी गई व्याख्या के अनुसार ऋषि और शूद्र पद को समानार्थक माना जा सकता है । वैदिक साहित्य में ऋषि की स्थिति सुविदित है ।

(५) वेदमन्त्रों में चारों वर्णों का युगपत् आधुनिक क्रम से वर्णन

---

१ य० १४।२८–३१ । इन में मन्त्र ३० में 'शूद्रार्यौ' में 'राजदन्तादिषु परम्' (पा० २।२।३१) से शुद्र का पूर्वनिपात माना गया है । परन्तु राजदन्तादिगण में 'शूद्रार्यम्' पाठ है, 'शूद्रार्यौ' नहीं है । अपि च । वेद मन्त्रों में अधिकांश स्थलों पर समास के अभाव में शूद्र और आर्य का क्रम ही मिलता है । अतः यहाँ राजदन्तादि सूत्र लगाना अनावश्यक है ।

केवल एक मन्त्र[1] में पाया जाता है। आगे मंसं० ३३ की व्याख्या के अनुसार ये ब्राह्मण आदि पद पुरुष के नाम माने जा सकते हैं।

(६) अथर्ववेद के 'शूद्रकृता राजकृता स्त्रीकृता ब्रह्मभिः कृता। जायापत्या नुत्तेव कर्त्तारं वन्ध्वृच्छतु ॥'[2] में शूद्रकृता का सर्वप्रथम वर्णन साभिप्राय है। इस में शूद्र, राजन् और ब्रह्मन् का ही निर्देश है, वैश्य का नहीं।

(७) तैत्तिरीय ब्राह्मण में वैश्यों को ऋचाओं से, क्षत्रों को यजुषों से और ब्राह्मणों को सामनों से उत्पन्न बताया गया है। साथ ही सब कुछ को ऋचाओं से उत्पन्न बताया है।[3] शेष अथर्ववेद और शूद्र रह जाते हैं। इन दोनों का सम्बन्ध अनुमानगम्य है।

(८) शतपथ ब्राह्मण में यज्ञ से उत्पन्न को ब्राह्मण कहा है। इसी लिए वहाँ दीक्षित राजन्य और वैश्य को ब्राह्मण माना है।[4]

(९) शतपथ ब्राह्मण में वर्णों की उत्पत्ति का क्रम विश्, शूद्र, क्षत्र दिया है। पहले ब्रह्म (ब्राह्मण) ही था। उस से शेष वर्णों की उत्पत्ति हुई। यहाँ पर चारों वर्णों को एक स्तर का माना है। यहाँ पूषा को शूद्र कहा है और पृथिवी को पूषा।[5] ब्राह्मणों में अनेक पदों के अर्थ एक ही साथ ब्रह्म, क्षत्र, विश् और पृथिवी (शूद्र भी ?) दिये गये हैं।[6]

(१०) ऐतरेय ब्राह्मण में[7] सोम को ब्राह्मणों का, दधि को वैश्यों का और अपस् को शूद्रों का भक्ष बताया है। जल कल्याण और सिद्धि के प्रतीक हैं। तु. क.—'शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। शंयोरभि स्रवन्तु नः ॥'[8] एक स्थान पर इन्हें गतिशील करने वाला भी कहा है।[9]

---

१. ऋ. १०।९०।१२। २. अवे० १०।१।३. ३. तै० ३।१२।९।१–४। ४. श० ३।२।१।४०। ५. श० १४।४।२।२४–२७। ६. वैको० में वाक्, गौः आदि पद देखें। ७. ऐ० ७।२९। ८. य० ३६।१२। य० ११।५०–५१ भी देखें। ९. य० ११।५२। पाउ० में पृ० २७ पर २३ (iv–v) देखें।

(११) ऊपर दासों को आर्यों का समकक्ष बताया है। 'यथावश नयति दासमार्यः'[१] में यथावशम् का अर्थ 'वशमिव' करने पर 'इन्द्र दासों का नेतृत्व करता है' भाव निकलता है। ऋग्वेद में दास नमुचि पद[२] एक शाश्वतिक दृश्य का द्योतक है, दासों के नीचत्व का द्योतक नहीं है।

(१२) अथर्ववेद के 'शूद्रामिच्छ प्रफर्व्यम्'[३] में शूद्रा पद किसी स्थान विशेष का नाम प्रतीत होता है, जातिविशेष का नाम नहीं है, क्योंकि इस का प्रयोग मूजवत और बाल्हीकान् के साथ हुआ है।

(१३) ऋग्वेद के पुनरुक्त अंशों में 'वर्णं शुक्रम्'[४] के लिए 'आर्यं वर्णम्'[५] का प्रयोग हुआ है। 'वधेन दस्युं प्र हि चातयस्व वयः. कृण्वानस्तन्वे स्वायै'[६] की पुष्टि में 'आर्यं वर्णम्' का अर्थ 'आरोग्य और स्वास्थ्य' भी समझा जा सकता है।

(१४) छान्दोग्य उपनिषद् में[७] श्रद्धादेय, बहुदायी, बहुपाक्य और आवसथ निर्मापक जानश्रुति पौत्रायण को शूद्र कहा गया है। स्वामी शंकराचार्य का समाधान सन्तोषजनक नहीं। वहाँ पर श्रेष्ठ और विद्या के लिए इच्छा प्रकट करने के कारण ही राजा को शूद्र कहा गया है।

(१५) महाभाष्यकार के लेखानुसार[८] तप करने से विश्वामित्र ऋषि हो गये। उन के तप से ही उन के पिता और पितामह भी ऋषि हो गये। पुत्र या पौत्र के तप से पिता या दादा का ऋषि मन्त्रार्थद्रष्टा होना बुद्धिगम्य नहीं, ऋषि-श्रेष्ठ—शूद्र होना बुद्धिगम्य है।

(१६) यजुर्वेद के पुरुषमेध में अपने-अपने कर्मों के अनुरूप ही मनुष्यों

---

१. ऋ. ५।३४।६। २. ऋ. ५।३०।७–८। ३. अवे० ५।२२।७. ४. ऋ. ३।३४।५. ५. ऋ. ३।३४।९। ६. ऋ. ५।४।६। ७. छा-उ० ४।२।३; ५। ८. वेदत्रयीसमालोचन, पृ० २२७ पर पा० ४।१। १०४—अनृष्यानन्तर्ये विदादिभ्योऽञ् पर पतञ्जलि मनि का लेख देखें।

को विभिन्न गुणों और शक्तियों आदि से सम्बद्ध किया गया है। वहाँ ब्राह्मण को ब्रह्म से, राजन्य को क्षत्र से, वैश्य को मरुतों से और शूद्र तथा कौलाल को तप से सम्बद्ध किया है।[१] मनु ने[२] समस्त वर्णों का तप पृथक्-पृथक् बताया है। उस में शूद्र का तप सेवा बताया है। पूर्वोक्त वैदिक वर्णनों से इस की पुष्टि नहीं होती है। अतः शूद्र के तप से सम्बन्ध के कारण 'पद्भ्यां शूद्रो अजायत'[३] में पद्भ्याम्' का अर्थ 'तप, श्रम' करना युक्ति-संगत मालूम पड़ता है। शतपथ ब्राह्मण ने[४] पादः' को प्रतिष्ठा कहा भी है। षड्विंश ब्राह्मण[५] ने पादौ को अनुष्टुप् कहा है। अनुस्तोभन, मित्र की पत्नी, गायत्री, वाक्, ज्यैष्ठ्य, पृथिवी, प्रजापति, राजन्य, अश्व, आपः, सत्यानृत आदि को अनुष्टुप् कहा गया है।[६] पृथिवी शूद्रवर्ण है क्यों कि वह पूषा है।[७] अतः 'पद्भ्याम्' पोषक भाव का भी द्योतक माना जा सकता है।

(१७) शतपथ ब्राह्मण में तप को शूद्र कहा है—'तपो वै शूद्रः।[८]

(१८) ऋग्वेद में अग्नि और विश्वे देवाः को द्विजन्मा या द्विज कहा है, ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य को नहीं।[९]

(१९) मनु ने द्विजों के तीन जन्म माने हैं—माता से, उपनयन से

---

१. य० ३०।५; ७। २. मनु ११।२३५। ३. ऋ० १०।९०।१२। आगे मंसं० ३३।४ की टिप्पणी भी देखें। ४. श० १३।८।३८। ५. षड्विंश ब्राह्मण, २।३। ६. देखो वैको० पृ० २५–२६। ७. श० १४।४।२।२५। ८. श० १३।६।२।१०. ९. देखो ऋ. १।६०।९; १४०।२; १४९।४–५; ६।५०।२; १०।६१।१९। यहाँ पर सा० ने द्विजाः को पृथक् मान कर विप्र अर्थ किया है। सायणीय योजना में भी वर्णभाव नहीं आता। ऋ. ३।२७।८ में विप्र को यज्ञ का साधन और ऋ. ८।६।२८ में धी (कर्म,बुद्धि) से उत्पन्न बताया है। ऋषि भी विप्र हैं। अतः इस अर्थ में द्विजपद मानव मात्र का द्योतक है।

और यज्ञदीक्षा से।[1] शतपथ ब्राह्मण ने प्रत्येक यज्ञ में दीक्षित पुरुष को ब्राह्मण कहा है।[2] महाभारत के अनुसार शूद्र भी यज्ञ में दीक्षा लेते हैं और यज्ञसमाप्ति पर 'पूर्ण पत्र' नामक दक्षिणा देते हैं।[3]

(२०) ज्योतिष शास्त्र में शूद्रों का स्वामी बुध बताया गया है— 'विप्रादितः शुक्रगुरू कुजार्कौ शशी बुधश्चेत्यसितोऽन्त्यजानाम्।'[4] वहाँ बुध को श्लिष्टवाक्, हास्य में रुचि रखनेवाला और विद्वान् बताया है— 'श्लिष्टवाक् सततहास्यरुचिर्ज्ञः।'[5]

(२१) ऋग्वेद के कुछ सूक्तों[6] के ऋषि कवष ऐलूष को दासीपुत्र, कितव और आचारभ्रष्ट माना जाता है।[7] कवष को ऋग्वेद में आपस् से सम्बन्धित और इन्द्र से रक्षित बताया है।[8] इस के एक सूक्त[9] का देवता 'आपः' और एक सूक्त[10] का इन्द्र है। दो सूक्तों[11] के देवता विश्वेदेवाः, इन्द्र आदि हैं। शिष्ट सूक्त[12] के ग्यारहवें मन्त्र में 'वृषलः' का प्रयोग है। संभवतः इस वर्णन को ऋषि की आपबीती मान कर ऐतरेय ब्राह्मण की कथा गढ ली गयी। यहाँ पर वृषल पद द्व्यर्थक प्रतीत होता है—धर्म का धारक (—वृषं धर्मं लाति गृह्णाति धारयतीति वा) होता हुआ भी आचार से धर्म का नाशक (—वृषं धर्मं लुनाति छिनत्ति)। अतः कवष अपने जन्म के कारण नीच नहीं था, प्रत्युत अपने श्रैष्ठ्य के कारण

---

१. मनु० २।१६९। २. श० ३।२।१।४०। ३. डॉ० अम्बेदकर द्वारा श्री राय के कलकत्तासंस्करण के महाभारत शान्ति पर्व, अध्याय ६० से उद्धृत श्लोक ३८–४० और उन पर डॉ० अम्बेदकर का लेख—हू वर दी शूद्राज, पृ० १२१। ४. बृहज्जातक २–७। ५. वही। ६. ऋ. १०।३०–३४। ७. एतद्विषयक सामग्री आचार्य शिवपूजन सिंह कुशवाहा ने वैदिक धर्म, सितम्बर १९५७ के अंक में 'उपनयन (यज्ञोपवीत) संस्कार विमर्श' में एकत्रित की है। ८. ऋ ७।१८।१२। ९. ऋ. १०।३०। १०. ऋ. १०।३२। ११. ऋ. १०।३१; ३३। १२. ऋ. १०।३४।

और उपरोक्त मन्त्र में वृषल पद को प्रयुक्त करने के कारण 'वृषल' कहलाया होगा। कक्षीवान् आदि ऋषियों की स्थिति पर इस दृष्टि से पुनः विचार की आवश्यकता है। वैसे भी मन्त्रों से सम्बद्ध ऋषि उन के रचयिता नहीं हैं। वे उन के अर्थों के द्योतक पद हैं। तत्सम्बन्धी आख्यान आलंकारिक मात्र हैं। [१२अ]

(२२) श्री मोनियर विलियम्ज़ ने अपने कोष[१] में लिखा है कि बौद्ध-साहित्य में 'शूद्र' पद ब्राह्मण का नाम है। यह नाम ईर्ष्यावश भी प्राप्त हो सकता है, और प्राचीन स्थितियों का अवशेष भी। वीरचरित में शूद्रिक एक पुरुष का नाम है। हरिवंश में शूद्रा रौद्राश्व की पुत्री का नाम है।[२]

(२३) मनु ने शूद्रों को धर्म का विवेचक बताया है :—

'यस्य शूद्रस्तु कुरुते राज्ञो धर्मविवेचनम् ।
तस्य सीदति तद्राष्ट्रं पंके गौरिव पश्यतः ॥'[३]

बहुश्रुत और सदाचारी व्यक्ति को ही धर्मविवेचन का अधिकार प्राप्त होता है। तु. क. कुल्लुक का व्याख्यान—'धार्मिकोऽपि व्यवहारज्ञोऽपि शूद्रः।' [३अ]

(२४) मनुस्मृति से ज्ञात होता है कि उस के काल में शूद्र राजा भी होते थे। वहाँ पर नृपतिमात्र को क्षत्रिय कहा है।[४] अतः शूद्र राजा क्षत्रिय ही रहे होंगे।

---

१२ अ—देखो सुधीर कुमार गुप्त, सीयर्स औफ दी ऋग्वेद, देअर मसेज एण्ड फिलौसौफी; ऋक्सूक्तों की भूमिका, संदर्भ ३९–४५ भी देखें। १. विको० पृ० १०८५, कालम ३। २. वही। ३. मनु० ८।२१; श्लोक २० भी देखें। ३अ. वही, श्लोक २०। ४. मनु० १०।१०.

(२५) 'कर्मोपकरणाः शूद्राः कारवः शिल्पिनस्तथा'[१] कह कर मनुस्मृति ने शूद्र आदि को करमुक्त किया है। वेद में कारु और तक्षा आदि शिल्पियों का बड़ा सम्मान है। वृबु तक्षा वहाँ एक ऋषि है, ऋभवः और त्वष्टा देवता हैं।[२] अतः इन को उन की श्रेष्ठता, कलाकौशल और यज्ञमय जीवन के लिए करों से मुक्त किया गया होगा।

(२६) कभी-कभी ब्राह्मण भी शूद्रों की सेवा करते थे। परन्तु उन्हें इस सेवा के कारण पतित माना जाता था।[३] आपत्काल में वैश्य भी शूद्रवृत्ति कर सकता था।[४]

(२७) शूद्र की हत्या करने पर मनुस्मृति ने प्रायश्चित्त का विधान किया है।[५]

(२८) अमरकोष में आभीरी को महाशूद्री कहा है।[६] मनु के मत में ब्राह्मण से अम्वष्ठ कन्या में उत्पन्न स्त्री आभीरी होती है।[७] बीज की प्रधानता के कारण आभीरी ब्राह्मणी ही है। उसे महाशूद्री कहना प्राचीन इतिहास का अवशेष है।

(२९) अत्रिस्मृति में विप्रों के दस प्रकार बताये हैं जिन में शूद्र विप्र भी हैं :—

'देवो मुनिर्द्विजो राजा वैश्यः शूद्रो निषादकः ।
पशुर्म्लेच्छोऽपि चाण्डालो दशविधाः स्मृताः ।।'[८]

इस में वदिक और पीछे के काल के मानव जाति के भागों को एकत्र कर दिया गया है।

---

१. मनु० १०।१२०। २. देखो ऋषियों और देवताओं की अनुक्रमणिकाएँ। ३. मनु० ११।६९। ४. मनु० १०।९८। ५. मनु० ११।१३०; १३१; १४०। ६. अको० २।६।१३। ७. मनु० १०।१५। ८. स्मृति संदर्भ, भाग १, पृ० ३८६।

(३०) डा. अम्बेदकर ने लिखा है कि महाभारत के हस्तलेखों में से छै में पैजवन सुदास को 'शुद्रः', एक में शूद्रः के स्थान पर 'शुद्धः' कहा गया है। दो में 'शूद्रः-शुद्धः' के स्थान पर 'पुरा' का पाठ है।[१] शूद्रः' के स्थान पर 'शुद्धः' का प्रयोग इन दोनों को समानार्थक वता रहा है।[१अ] पुराणों में और ऐतिहासिकों की दृष्टि में ऋग्वेद में पैजवन सुदास क्षत्रिय है। अतः क्षत्रिय शुद्ध-शूद्र सिद्ध होते हैं।

(३१) यजुर्वेद में ब्राह्मण आदि के साथ शूद्रों में भी रुच के आधान की प्रार्थना की गयी है।[१आ]

(३२) सर एम. मोनियर विलियम्ज़ के कोष में संगृहीत शूद्रविषयक अर्वाचीन पदों में गूढ़ इतिहास लक्षित होता है—शूद्रप्रिय (प्याज), शूद्रभिक्षित (शूद्र से प्राप्त भिक्षा), शूद्रयाजक, शूद्रप्रायश्चित्त, शूद्रशासन, शूद्रसंस्कार और शूद्रीभू।[२] उन्हों ने शूद्रों से सम्बन्धित अर्वाचीन १९ पुस्तकों का भी नाम दिया है। इन के अध्ययन से भी शूद्रों की स्थिति पर प्रकाश मिलने की सम्भावना है :—१. शूद्रकमलाकर २. शूद्रकुलदीपक ३. शूद्रकृत्य ४. शूद्रविचारण ५. शूद्रविचारणतत्त्व ६. शूद्रविचारतत्त्व ७. शूद्रजपविधान ८. शूद्रतत्त्व ९. शूद्रबोधिनी १०. शूद्रपंचसंस्कारविधि ११. शूद्रपद्धति १२. शूद्रविवेक १३. शूद्रस्मृति १४. शूद्रचिन्तामणि १५. शूद्रशिरोमणि १६. शूद्राह्निक १७. शूद्राह्निकाचार तत्त्व १८. शूद्रोत्पत्ति १९. शूद्रोद्योत।[३] इन में से कुछ तो आपाततः ही नितान्त अर्वाचीन प्रतीत होती हैं। शूद्रप्रेष्य—शूद्र के सेवक ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य से भी शूद्रों के सर्वोपरि भाव का परिचय मिलता है।

---

१. डा. अम्बेदकर, हू वर दी शूद्राज़, पृ० १२१। १अ. इस प्रकार अर्थ-ग्रहण की शैली को विद्वानों न अनेक बार ग्रहण किया है। वैदिक रीडर में ऋ. १।१५४।३ पर मै० की टिप्पणियाँ देखें। वेभाप० ४ भी देखें। १आ. य० १८।४८। २. विको० पृ० १०८५। ३. वही।

(३३) मनु ने शूद्रराज में निवास का निषेध किया है।[1] शूद्र-राज्य शूद्रों की दलितावस्था में कल्पनातीत है। वह तभी सम्भव है जब वे शक्तिशाली, सुसंगठित हों और क्षत्रियों की श्रेणी में आयें। ब्राह्मणों का उन से द्वेष उन के ब्राह्मणों के समान ज्ञानवान् और सम्मानित होने से हो सकता है। आधुनिक युग में भी कहीं-कहीं ऐसी परिस्थिति देखी जाती है। यथा डा० मंगल देव शास्त्री के बनारस संस्कृत कालिज का प्रिंसिपल बनाए जाने पर कतिपय ब्राह्मणों ने उन के विरुद्ध आन्दोलन किया था। दक्षिण में भी ब्राह्मणों और अब्राह्मणों का संघर्ष बहुधा सुनने में आता रहा है। परतन्त्रता के काल में कतिपय अनुदार ब्राह्मण अब्राह्मणों को संस्कृत पढ़ाने में संकोच करते थे। हरिजनों=शूद्रों को वेद पढ़ाने के लिए तो संभवतः आज भी कम ब्राह्मण तैयार होंगे। शूद्रभूयिष्ठ राज्य के नाश की अवश्यम्भाविता[2] के मूल में भी यही भाव लक्षित होता है। संभवतः शूद्रों की सन्निधि में अध्ययन के निषेध[3] में निग्रह का भय और अपने ज्ञान को शूद्रों से गुप्त रखने की भावना लक्षित होती है। मनुस्मृति के शूद्रों से दान न लेने, उन को न पढ़ाने और यज्ञ न कराने आदि के विधान भी शूद्रों के उत्कर्ष के परिचायक हैं।

(३४) कश्यपसंहिता में कश्यप ने सब वर्णों को आयुर्वेद पढ़ने का अधिकार दिया है—ब्राह्मण अर्थपरिज्ञान, पुण्य और परोपकार के लिए, क्षत्रिय प्रजाओं की रक्षा के लिए, वैश्य वृत्ति के लिए और शूद्र सेवा के लिए आयुर्वेद पढ़े। आयुर्वेद पढ़ लेने पर वैद्य की तीसरी जाति भिषक् हो जाती है और वह 'त्रिज' हो जाता है।[4] शूद्रों की त्रिज संज्ञा तब ही सार्थक

---

१. मनु० ४।६१। २. मनु० ८।२२। ३. वही, ४।९९। ४. संस्कारविधि विमर्श पृ० ८८। 'त्रिज' के स्थान पर 'द्विज' पाठ पीछे का ही माना जा सकता है। यह किसी ऐसे व्यक्ति द्वारा किया गया होगा जो शूद्रों के त्रिजत्व को समझने में असमर्थ रहा, अथवा उसे यह स्थिति रुचिकर नहीं थी।

हो सकती है जब उन्हें द्विज माना जाए। द्विजों में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य का ही ग्रहण होता है, शूद्रों का नहीं। उन को द्विज मानने पर उन को इन तीन वर्णों का मानना आवश्यक हो जायगा।

(३५) श्री शैरिंग शूद्रों को आर्येतर जाति मानते हैं जो आर्यों के तीनों वर्णों के साथ पारस्परिक विवाह आदि सम्बन्ध के द्वारा इतने अधिक आर्य हो गये हैं कि उन में से कुछ जातियाँ तो वास्तव में ब्राह्मण और क्षत्रिय ही हैं।[१]

(३६) तैत्तिरीय ब्राह्मण में ब्राह्मणों को देवों से और शूद्रों को असुरों और असत् से[२] उत्पन्न बताया है।

(३७) ऋग्वेद के एक वर्णन में एक ही वंश में विभिन्न व्यवसायों के व्यक्तियों का वर्णन है :—

'कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना।
नानाधियो वसूयवोऽनु गा इव तस्थिमेन्द्रायेन्दो परि स्रव॥'[३]

कारु–स्तोता–ब्राह्मण, भिषक्–वृत्त्यर्थं वैद्य-वैश्य और उपलप्रक्षिणी–शूद्र (?) हो सकते हैं।

(३८) शूद्रपद की व्युत्पत्तियाँ इस प्रकार हैं :—

(१) √शद्+रक् से—शद्लृ शातने भौ०। शीयत इति शूद्रः-वर्णान्तः।[४] कर्त्ता।[५]

(२) √शुच् से—शोचयतीति शूद्रः। सेवको वा।[६]

---

१. डा. अम्बेदकर द्वारा हू वर दी शूद्राज़, उपोद्घात पृ० ii पर शैरिंग, हिन्दू ट्राइब्ज़ ऐण्ड कास्ट्स, भाग १ भूमिका पृ० XXI से उद्धृत। २. वही, पृ० २७। तथा तै० १।२।६।७ और ३।२।३।९। ३. ऋ. ९।११२।३। ४. खकोषे 'वर्णः' इति पाठः। ५. दपाउ० ८।३४। ६. पपाउ० (दस०) २।१९।

(३) इसे 'श्वयति गच्छति वर्धते' से भी लिया जा सकता है। ऋग्वेद के 'महसा शूक्रतस्य'[१] और यजुर्वेद के शूकार (=क्षिप्रकारी) और शूक्रत (=क्षिप्रकृत)[२] में भी यही भाव है। यद्यपि यहाँ 'शूद्र' पद का कोई आभास नहीं मिलता तो भी अर्थ और रूप में शूद्र की शूकृत से समानता के आधार पर शूद्र को शूक्रत का रूप माना जा सकता है।

(३९) व्याकरण में शूद्रीपद शूद्रपत्नी का और शूद्रापद शूद्रजाति की स्त्री का द्योतक हैं। हो सकता है 'आचार्या' पद के समान यह पद उस काल में शूद्रगुणयुक्त=पोषक, परोपकारपरायण स्त्री को कहता हो।

(४०) वृषल पद शूद्र का ही वाचक नहीं है, घोड़ा और गाजर का भी द्योतक है और वृषली पद केवल शूद्रा या शूद्री का द्योतक नहीं, प्रत्युत अविवाहित रजस्वला कन्या, रजस्वला, वाँझ, मृतसन्तान उत्पन्न करने वाली स्त्री भी वृषली है। ऐसी कन्या और स्त्रियाँ सभी वर्णों में होती हैं, शूद्रों में ही नहीं।[३] मौर्यों को बौद्ध साहित्य में क्षत्रिय कहा है, परन्तु पुराणों आदि हिन्दू साहित्य में वृषल और शूद्र।[३अ] ये पद उन के श्रेष्ठत्व के कारण उन्हें मिले होंगे जिन को कालान्तर में आधुनिक अर्थों में समझा जाने लगा।

(४१) लोक में महतर (=महत्+तर) और चूहड़ा (चतुर्धुरीण=चौधड़=चौहड़) पद भी इन के प्राचीन काल में उच्च स्तर के द्योतक हैं।

(४२) ऋग्वेद में विप्रों में ऋषि को सर्वश्रेष्ठ माना है :—

'ब्रह्मा देवानां पदवीः कवीनाम् ऋषिर्विप्राणां महिषो मृगाणाम्।

---

१. ऋ. १।१६२।१७। २. य० २२।८; २५।४०। ३. अको० और अन्य कोषों में इन पदों के अर्थ देखें। ३.अ. देखो डा० हेमचन्द्र राय चौधरी, पोलिटिकल हिस्ट्री आफ एन्शियेराण्ट इण्डिया, चतुर्थ संस्करण (१९३८), पृ० २९४–२९६।

श्येनो गृध्राणां स्वधितिर्वनानां सोमः पवित्रमत्येति रेभन् ॥"[१]
मानवमात्र विप्र हैं और ऋषि शूद्र।

(४३) वसिष्ठ धर्मसूत्र के मत में ऋचाओं के ज्ञान से हीन व्यक्ति शूद्रों का स्वामी नहीं हो सकता है।[२]

५९——उपरोक्त विवेचन से ये परिणाम निकलते हैं :——

(१) आरम्भ में आधुनिक रूप में वर्ण-व्यवस्था की कोई कल्पना नहीं थी।

(२) वैदिक काल में गुण और कर्म का प्राधान्य था। जैसा गुण और कर्म जिस व्यक्ति में देखा वैसा ही उस का नाम हो जाता था।

(३) समाज में परोपकार, ज्ञान, श्रम, तप, गतिशीलता आदि गुणों को वहुत महत्त्व दिया गया था। इन गुणों से युक्त व्यक्ति को ऋषि और शूद्र कहते थे। ऋषि सब में श्रेष्ठ थे। अतः शूद्र सब में श्रेष्ठ थे। ऋषि सव वर्णों से निकलते थे। इस लिए उन का——शूद्रों का पृथक् वर्ण नहीं था।

(४) इसी कारण शूद्रों का पृथक् यज्ञोपवीत संस्कार नहीं बताया गया है। जिस प्रकार त्रयी से चारों वेदों का अवबोध होता है, उसी प्रकार द्विज, आर्य और तीनों वर्णों के कथन में शूद्र वर्ण का भी अन्तर्भाव हो जाता है।

(५) कालान्तर में ब्राह्मणों का और इतरवर्णों के शूद्रों का संघर्ष चला जिस में ब्राह्मण अपनी एकता और समाज में बौद्धिक कार्य के सम्पादक होने के कारण विजयी हुए और अन्य वर्णों के शूद्र पददलित हुए। जहाँ कहीं मिल सके वहाँ उन की गोत्रपरम्परा इस विषय में पर्याप्त प्रकाश डालने वाली होगी।

---

१. ऋ. ९।९६।६। २. वसिष्ठधर्मसूत्र ३।३। वेभाप० १।१३।

अथ

पारस्करगृह्यसूत्रे

उपनयनसूत्राणि

(द्वितीयकाण्डे कण्डिकाः ३—७)

१-अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयेद् गर्भाष्टमे वा ॥१॥

२-एकादशवर्षं राजन्यम् ॥२॥

३-द्वादशवर्षं वैश्यम् ॥३॥

४-यथामङ्गलं वा सर्वेषाम् ॥४॥

पारस्करगृह्यसूत्र के उपनयन सम्बन्धी सूत्रों का शाब्दिक हिन्दी अनुवाद

(काण्ड २, कण्डिका ३—७)

१—ब्राह्मण बनने के योग्य और इच्छुक (बालक) को आठ वर्ष के को अथवा (उस के) गर्भ (में आने के दिन से) आठवें (वर्ष) में (आचार्य के पास) लाए (अर्थात्—उस का यज्ञोपवीत संस्कार कराए)।

२—क्षत्रिय बनने के योग्य और इच्छुक (बालक) का ग्यारह वर्ष के का (यज्ञोपवीत संस्कार कराए)।

३—वैश्य बनने के योग्य और इच्छुक (बालक) का बारह वर्ष के का (यज्ञोपवीत संस्कार कराए)।

४—अथवा सब का शुभ परिस्थितियों में (उपनयन कराया जा सकता है)।

५-ब्राह्मणान् भोजयेत् ।

६-तं च पर्युप्तशिरसमलंकृतमानयन्ति ॥५॥

७-पश्चादग्नेरवस्थाप्य ब्रह्मचर्यमागामिति वाचयति—
ब्रह्मचार्यसानीति च ॥६॥

८-अथैनं वासः परिधापयति—

९-येनेन्द्राय बृहस्पतिर्वासः पर्यदधादमृतम् ।
तेन त्वा परिदधाम्यायुषे दीर्घायुत्वाय बलाय वर्चस इति ॥७॥

५—(उस अवसर पर गुरुकुलस्थ आचार्य आदि) ब्राह्मण (वृत्ति के लोगों) को भोजन कराए ।

६—और (अब) उस (ब्रह्मचारी) को सिर मुँडवा कर और आभूषण पहना कर (शब्दार्थ—मुण्डे हुए शिर वाले और सजे हुए को) (यज्ञवेदी पर) लाते हैं ।

७—अग्नि के पश्चिम में (आचार्य के दाहिनी ओर पूर्व को मुख कर के) बिठा कर (आचार्य उस से) कहलाता है—'(मैं) ब्रह्मचर्य व्रत को प्राप्त हुआ हूँ' तथा '(मैं) ब्रह्मचारी हो जाऊँ ।'

८—अब (आचार्य) उस (ब्रह्मचारी) को वस्त्र पहनवाता है—

९—(बृहस्पतिः) वेदवाणी के अधिकृत विद्वान् आचार्य [पूर्व काल से] (इन्द्राय) परम तेजस्वी बलवान् ब्रह्मचारियों को (येन) जिस प्रकार (अमृतम्) वेद और उस की अध्यात्म-विद्या के अध्ययन के लिए नियत (वासः) वस्त्र (पर्यदधात्) धारण कराते आए हैं (तेन) उसी प्रकार (आयुषे) प्राण-शक्ति (आयुत्वाय) [यज्ञमय] दीर्घ जीवन (बलाय) बल [और] (वर्चसे) ब्रह्मतेज [की प्राप्ति] के लिए (त्वा) तुम्हें [इस व्रत के लिए नियत वस्त्र] (परिदधामि) धारण कराता हूँ ।

१०-मेखलां बध्नीते ।

११-इयं दुरुक्तं परिबाधमाना
वर्णं पवित्रं पुनती म आगात् ।
प्राणापानाभ्यां बलमादधाना
स्वसा देवी सुभगा मेखलेयमिति ॥८॥

१२-युवा सुवासाः परिवीत आगात्
स उ श्रेयान् भवति जायमानः ।
तं धीरासः कवय उन्नयन्ति
स्वाध्यो मनसा देवयन्तः ॥
इति वा ॥६॥

१०—(अब आचार्य के कहने पर ब्रह्मचारी इन मन्त्रों को पढ़ कर) मेखला (= तगड़ी) बाँधता है ।—

११—[दुरुक्तम्] (मेरे) दुष्ट वचनों को [परिबाधमाना] नष्ट करती हुई (और) [मे] मेरे [पवित्रम्] पावन [वर्णम्] (ब्रह्मचर्यव्रत पालन रूपी) यश को [पुनती] पवित्र करती हुई, [प्राणापानाभ्याम्] प्राण और अपान (के नियमन) द्वारा [बलम्] बल [आदधाना] देती हुई [स्वसा] (शैथिल्य को) दूर भगाने वाली (अथवा-बहन के सदृश) [देवी] द्योतनशील (=चमकती हुई) [सुभगा] सुन्दर ऐश्वर्य या कर्मफल (=भाग्य) (देने) वाली [इयम्] यह [मेखला] तगड़ी (आज से मुझे) [आगात्] प्राप्त हो गई है ।

१२—[इति वा] अथवा इस (मन्त्र) को (पढ़े)-[सुवासाः]

१३-तूष्णीं वा ॥१०॥

१४-×अत्र यज्ञोपवीतपरिधानम्—

१५-[यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं
प्रजापतेर्यत् सहजं पुरस्तात् ।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं
यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः ॥
यज्ञोपवीतमसि यज्ञस्य त्वा यज्ञोपवीतेनोपनह्यामि ॥इति॥

सुन्दर वस्त्र धारण किए हुए [परिवीतः] (विद्याप्राप्ति की भावना से) भरा हुआ (वा—आचार्य से संगत हुआ) [युवा] नया ब्रह्मचारी [आगात्] (ब्रह्मचर्य व्रत के पालन के लिए गुरु के पास) आया है । [उ] निःसन्देह [स] वह [जायमानः] (आचार्य से तीन रातों में तप से) उत्पन्न होता हुआ [श्रेयान्] श्रेय (के ज्ञान का अधिकारी) (शब्दार्थ—श्रेष्ठ) [भवति] होता है । [धीरासः] गम्भीर बुद्धिमान् [स्वाध्यः] सुन्दर विद्याओं का आधान करने वाले [मनसा] मन में [देवयन्त.] (ब्रह्मचारी को) वेदार्थवेत्ता विद्वान् बनाने की इच्छा करते हुए [कवयः] विद्वान् आचार्य (उस को) [उन्नयन्ति] (सद्गुणयुक्त शिक्षा प्रदान आदि द्वारा) उन्नत करते हैं ।

१३—अथवा चुप-चाप (=मौन हो कर बिना मन्त्र बोले ही) (मेखला बाँधे) ।

१४—यहाँ यज्ञोपवीत पहना जाता है—

१५—[यत्] जो [पुरस्तात्] पहले [प्रजापतेः] यज्ञ के [सहजम्] साथ उत्पन्न हुआ [परमम्] परमात्मा (के ज्ञान

१६-अथाजिनं प्रयच्छति ।

१७-मित्रस्य चक्षुर्द्धरुणं बलीयस्तेजो
यशस्वि स्थविरꣳ समिद्धम् ।
अनाहनस्यं वसनं जरिष्णु परीदं
वाज्यजिनं दधेऽहमिति ॥]

१८-दण्डं प्रयच्छति ॥११॥

के अधिकारी होने) का परिचायक अथवा परम [पवित्रम्] पावन [यज्ञोपवीतम्] (ब्रह्मचर्यव्रत रूप) यज्ञ का ज्ञापक (जनेऊ) [अग्र्यम्] अत्युत्तम [आयुष्यम्] आयु [प्रतिमुञ्च] प्रदान करे। (यह) [शुभ्रम्] सफेद रङ्ग का [यज्ञोपवीतम्] जनेऊ [बलम्, तेजः] बल और तेज [अस्तु] देने वाला हो॥ [यज्ञस्य] (तुम) यज्ञ के [यज्ञोपवीतम्] जनेऊ [असि] हो । (मैं) [त्वा] तुम को [यज्ञोपवीतेन] जनेऊ [उपनह्यामि] पहनाता हूँ ॥

१६—अब (आचार्य ब्रह्मचारी को) काले मृग का चर्म देता है ।

१७—[मित्रस्य] मित्र (—दुःख से बचाने वाले) की [चक्षुः] आँख के सदृश, [धरुणम्] धारक, [बलीयः] दृढ़, [तेजः] तेजस्वी [यशस्वि] (और) यशस्वी [स्थविरम्] पुरानी, [समिद्धम्] चमकीली (=साफ-सुथरी), [अनाहनस्यम्] पवित्र (करने वाली), [जरिष्णु] चिरकाल में फटने वाली (अर्थात्—पक्की) [इदम] इस [वाजि] ज्ञान और शक्ति की प्रतीक [अजिनम्] काले मृग की खाल (रूप) [वसनम्] वस्त्र को [अहम्] मैं (तुम्हें) [परिदधे] पहनाता हूँ ।

१८—(अब आचार्य ब्रह्मचारी को) डण्डा देता है ।

१६-तं प्रतिगृह्णाति ।

२०-यो मे दण्डः परापतद्वैहायसोऽधि भूम्याम् ।

तमहं पुनराददे आयुषे ब्रह्मणे ब्रह्मवर्चसायेति ॥१२॥

२१-दीक्षावदेके दीर्घसत्रमुपैतीति वचनात् ॥१३॥[1]

२२-अथास्याद्भिरञ्जलिनाऽञ्जलिं पूरयति –

१६—(ब्रह्मचारी) उस डण्डे को ग्रहण करता है।

२०—[यः] (यह) जो [मे] मेरे [परापतत्] सामने आया हुआ है, [भूम्याम् अधि] सब पदार्थों आदि के मध्य [वैहायसः] निरन्तर गति करने वाला, [दण्डः] (अनुशासन करने वाला) डण्डा (है), [तम्] उस को [अहम्] मैं (ब्रह्मचारी) [आयुषे] (प्रगतिशील) जीवन, [ब्रह्मणे] वेदाध्ययन (और) [ब्रह्मवर्चसे] ब्रह्मतेज (की प्राप्ति) के लिए [पुनः] (अपने से) पहले के (ब्रह्मचारियों के) समान [आ ददे] धारण करता हूँ।

२१—(दीर्घ काल तक चलने वाले ब्रह्मचर्य व्रत में दीक्षा लेने वाला बालक) लम्बे सोमसत्र में (दीक्षा) लेता है ऐसा (शास्त्र का) वचन होने के कारण कुछ (आचार्य सोमसत्र की) दीक्षा (में दण्डग्रहण) के समान (यहाँ भी 'उच्छ्रयस्व वनस्पते' इत्यादि मन्त्र से दण्डधारण मानते हैं) ॥

२२—अब जल से (भरी हुई अपनी) अञ्जलि से (पानी छोड़ कर) उस (ब्रह्मचारी) की अञ्जलि को (जल से) भरता है।

१—एतत्सूत्रे कात्यायनश्रौतसूत्रपठितो मन्त्रः—'उच्छ्रयस्व वनस्पत ऊर्ध्वो मा पाह्यँ हस आस्य यज्ञस्योदृचः' अभिप्रेतः।

२३-आपो हि ष्ठेति तिसृभिः ॥१४॥

२४-अथैनँ सूर्यमुदीक्षयति—

२५ तच्चक्षुरिति ॥१५॥

२६-अथास्य दक्षिणाँ † समधिहृदयमालभते—

२७-मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनु चित्तं ते अस्तु। मम वाचमेकमना जुषस्व बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम् ॥ इति ॥१६॥

२३—(आचार्य बालक की अञ्जलि को) 'आपो हि ष्ठा' आदि तीन (मन्त्रों) से (भरता है)।

२४—अब उस (ब्रह्मचारी) को सूर्य का दर्शन कराता है।

२५—(आचार्य की प्रेरणा पर ब्रह्मचारी) 'तच्चक्षुः' आदि (मन्त्र) को बोलता हुआ सूर्य को देखता है।

२६—अब (आचार्य) उस (बालक) के दाहिने कन्धे और हृदय को छूता है।

२७—[मम] अपने (=आचार्य के) [व्रते] अनुशासन में [ते] तुम्हारे [हृदयम्] हृदय को [दधामि] व्याप्त करता हूँ।

१—आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन। महे रणाय चक्षसे ॥१॥ यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः। उशतीरिव मातरः ॥२॥ तस्मा अरङ्गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ। आपो जनयथा च नः ॥ ३ ॥

२—तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥

२८ अथास्य[1] दक्षिणं हस्तं गृहीत्वाऽऽह–को नामासीति ॥१७॥

२९-असावहं भो३इति प्रत्याह ॥१८॥

३०-अथैनमाह[2]–कस्य ब्रह्मचार्यसीति ॥१९॥

३१-भवत इत्युच्यमान इन्द्रस्य ब्रह्मचार्यस्यग्निराचार्यस्तवाह-माचार्यस्तवासाविति ॥२०॥

[ते] तुम्हारा [चित्तम्] ज्ञान [मम] मेरे [चित्तम्] ज्ञान [अनु] के समान [अस्तु] हो। [मम] मेरी [वाचम्] वाणी को [एकमनाः] एकाग्र मन से [जुषस्व] सुना करना। [बृहस्पतिः] वेदाधिपति परमात्मा [त्वा] तुम्हें [मह्यम्] मेरे लिए (अर्थात्—मेरे से शिक्षा प्राप्त करने के लिए) [नियुनक्तु] नियुक्त करते रहें।

२८—अब उस के सांधे हाथ को पकड़ कर (आचार्य) कहता है—तुम्हारा क्या नाम है [श० तुम किस (सुखद) नाम वाले हो]।

२९—वह (बालक) उत्तर देता है—हे (श्रीमन्) यह मैं—हूँ।

३०—अब (आचार्य) उस से पूछता है—[कस्य] तुम (सुखदायक) किस के ब्रह्मचारी हो।

३१—'आप का' यह कहे जाने पर (आचार्य कहे कि) तुम [इन्द्र] परमैश्वर्यशाली और शक्तिमान् परमेश्वर के ब्रह्मचारी हो। [अग्निः] अज्ञान और पाप आदि को अग्नि के समान जला देने वाला परमेश्वर या वेदज्ञान तुम्हारा आचार्य है। वह मैं भी तुम्हारा आचार्य हूँ।

१—अथास्य। २—अथै०

३२-अथैनं भूतेभ्यः परिददाति-

३३-प्रजापतये त्वा परिददामि देवाय त्वा सवित्रे परिददाम्यद्भ्यस्त्वौषधीभ्यः परिददामि द्यावापृथिवीभ्यां त्वा परिददामि विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः परिददामि सर्वेभ्यस्त्वा भूतेभ्यः परिददाम्यरिष्ट्या इति ॥२१॥२।३॥

३२—अब उस (ब्रह्मचारी) को [भूतेभ्यः] समस्त उत्पन्न पदार्थों से (उचित उपयोग लेने के लिए) करता है (शब्दार्थ—देता है)।

३३—[अरिष्ट्यै] सुरक्षा के लिए (मैं) [त्वा] तुम्हें [प्रजापतये] प्राणियों के रक्षक परमात्मा को [परिददामि] समर्पित करता हूँ। [देवाय] दीप्तिमान् [सवित्रे] सकल जगत् के उत्पादक परमेश्वर को [त्वा] तुम्हें [परिददामि] समर्पित करता हूँ। (मैं तुम्हें) [अद्भ्यः] जलों को (और) [ओषधीभ्यः] औषधियों को [परिददामि] देता हूँ। (मैं) [त्वा] तुम्हें [द्यावापृथिवीभ्याम्] द्युलोक और पृथिवी लोक (अथवा प्राण और उदान) को [परिददामि] देता हूँ। (मैं तुम्हें) [विश्वेभ्यः देवेभ्यः] सम्पूर्ण तेजस्वी पदार्थों को [परिददामि] सौंपता हूँ। [त्वा] तुम को [सर्वेभ्यः] सम्पूर्ण [देवेभ्यः] (वसु, रुद्र, और आदित्य आदि) दिव्य पदार्थों (या विद्वानों) को [परिददामि] देता हूँ, (और) [त्वा] तुम को [सर्वेभ्यः] समस्त [भूतेभ्यः] भूतों (पृथिवी, अपस्, तेजः, वायु और आकाश रूप या प्राणीमात्र) को [परिददामि] देता हूँ।

३४-प्रदक्षिणमग्निं परीत्योपविशति ॥१॥

३५-अन्वारब्ध आज्याहुतीर्हुत्वा प्राशनान्तेऽथैनँ ॐ सँ ॐ शास्ति-

३६-ब्रह्मचार्यसि ।

३७-अपोऽशान ।

३८-कर्म कुरु ।

३९-मा दिवा सुषुप्था ।

४०-वाचं यच्छ ।

४१-समिधमाधेहि ।

४२-अपोऽशान ॥इति॥२॥

३४—अग्नि की प्रदक्षिणा कर के (आचार्य के बाईं ओर) बैठता है।

३५—पुनः (यज्ञ के) आरम्भ होने पर घृत की (१४) आहुतियाँ दे कर, (यज्ञशेष के) खा लेने पर अब उस (ब्रह्मचारी) को शिक्षा देता है—

३६—(अब) तुम ब्रह्मचारी हो।

३७—(सब कर्मों अथवा-सन्ध्योपासन और भोजन के आरम्भ में) पानी पिया करो (अर्थात्-आचमन किया करो)।

३८—(सदा) काम करते रहना।

३९—दिन में न सोना।

४०—(पूछे जाने पर) उत्तर देना।

४१—समिधाओं से यज्ञ किया करो (शब्दार्थ—समिधा को आग में रक्खा कर।)

४२—(अब फिर यज्ञ आदि कर्मों की समाप्ति पर) आचमन किया करो।

४३-अथास्मै सावित्रीमन्वाहोत्तरतोऽग्नेः प्रत्यङ्मुखायोपविष्टायोपसन्नाय समीक्षमाणाय समीक्षिताय ।।३।।

४४-दक्षिणतस्तिष्ठत आसीनाय वैके ।।४।।

४५-पच्छोऽर्द्धर्चशः सर्वां च तृतीयेन सहानुवर्तयन् ।।५।।

४६-संवत्सरे *षाण्मास्ये चतुर्विंशत्यहे द्वादशाहे षडहे त्र्यहे वा ।।६।।

४७-सद्यस्त्वेव गायत्रीं ब्राह्मणायानुब्रूयादाग्नेयो वै ब्राह्मण इति श्रुतेः ।।७।।

४३—अब अग्नि के उत्तर की ओर, पश्चिम की ओर मुख वाले, बैठे हुए, (प्रणाम और श्रद्धाभाव से शिक्षा प्राप्त करने के लिए) उपस्थित हुए, (गुरु को शान्त चित्त से) देखते हुए और (गुरु द्वारा शान्त चित्त) निश्चित किए गए इस (ब्रह्मचारी) को गायत्री का उपदेश करे।

४४—कुछ (आचार्य कहते हैं) कि (अग्नि के) दक्षिण की ओर खड़े हुए या बैठे हुए को (गायत्री का उपदेश करे)।

४५—(पहले) एक-एक पाद को, (फिर) आधी-आधी ऋचा को और तीसरी बार सम्पूर्ण मन्त्र को (ब्रह्मचारी के) साथ-साथ पढ़ता हुआ (आचार्य उपदेश करे)।

४६—(इस गायत्री पाठ को) एक वर्ष में (या) छै मास में, (या) चौबीस दिन में (या) बारह दिन में, (या) छै दिन में अथवा तीन दिन में (पूरा कराए)।

४७—निःसन्देह ब्राह्मण अग्निपुत्र होता है—इस श्रुति के कारण ब्राह्मण बनने के इच्छुक और योग्य (ब्रह्मचारी) को तो गायत्री तुरन्त ही सिखा सकता है।

४८-त्रिष्टुभँ * राजन्यस्य ॥८॥

४९-जगतीं वैश्यस्य ॥९॥

५०-सर्वेषां वा गायत्रीम् ॥१०॥३।४॥

५१-अत्र समिदाधानम् ॥१॥

५२-पाणिनाऽग्निं परिसमूहति—

५३-अग्ने सुश्रवः सुश्रवसं मा कुरु ।
यथा त्वमग्ने सुश्रवः सुश्रवा अस्येवं माँ † सुश्रवः सौश्रवसं कुरु ।
यथा त्वमग्ने देवानां यज्ञस्य निधिपा अस्येवमहं मनुष्याणां वेदस्य निधिपो भूयासमिति ॥२॥

४८—क्षत्रिय को त्रिष्टुभ् (छन्द वाली) (सावित्री ऋचा (सिखाए)।

४९—वैश्य को जगती (छन्द वाली सावित्री ऋचा सिखाए) ।

५०—अथवा सब को गायत्री (छन्द वाली ऋचा सिखाए) ।

५१—(अब ब्रह्मचारी) यहाँ (अग्नि) में समिधाओं का प्रक्षेप (करे)।

५२—(ब्रह्मचारी) हाथ से आग को (इकट्ठा कर के) तेज करे ।

५३—[सुश्रवः] हे शोभन यश वाले [अग्ने] परमात्मन्, [मा] मुझे [सुश्रवसम्] शुभ्र यश वाला [कुरु] बना दो। [सुश्रवः] हे उत्तम कीर्ति वाले [अग्ने] परमेश्वर [यथा] जिस प्रकार [त्वम्] आप [सुश्रवाः] परम विश्रुत हैं, [सुश्रवः]हे यशस्वी [माम्] मुझे [सौश्रवसम्] उत्तम यश वाला [कुरु] कर दे। [अग्ने] हे परमेश्वर [यथा] जिस प्रकार[त्वम्] आप [देवानाम्] (सूर्यादि भौतिक) दिव्य पदार्थों के [यज्ञस्य] (कर्मों में प्राप्त) यज्ञभाव के [निधिपाः

५४-प्रदक्षिणमग्निं पर्युक्ष्योत्तिष्ठन्त्समिधमादधाति ।

५५-अग्नये समिधमाहार्षं बृहते जातवेदसे ।

यथा त्वमग्ने समिधा समिध्यस एवमहमायुषा मेधया वर्चसा प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन समिन्धे, जीवपुत्रो ममाचार्यो मेधाव्यहमसान्यनिराकरिष्णुर्यशस्वी तेजस्वी ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भूयासं स्वाहेति ॥३॥

रक्षक (=धारक) [असि] हो, [एवम्] उसी प्रकार [अहम्] मैं (भी) [मनुष्याणाम्] मनुष्यों में [वेदस्य] वेद के [निधिपः] कोष का रक्षक [भूयासम्] बन जाऊँ ।

५४—प्रदक्षिणा की हुई अग्नि को (जल से) छिड़क कर खड़े हुए (ही) (अग्नि) में समिधा डालता है ।

५५—(मैं ने) [बृहते] महान् [जातवेदसे] (समस्त) उत्पन्न (पदार्थ आदि) को ज्ञात [अग्नये] अग्नि को [समिधम्] समिधा [अहार्षम्] दी है । [अग्ने] हे आग [यथा] जैसे [त्वम्] तुम [समिधा] समिधा से [समिध्यसे] प्रदीप्त होती हो [एवम] उसी प्रकार [अहम्] मैं [आयुषा] आयु [मेधया] धारणवती बुद्धि [वर्चसा] तेज [प्रजया] विश्व ज्योति (या अन्न), [पशुभिः] शान्ति और कल्याण (और) [ब्रह्मवर्चसेन] वेदाध्ययन की सम्पत्ति से [समिन्धे] प्रदीप्त हो जाऊँ । [मम] मेरे [आचार्यः] आचार्य [जीवपुत्रः] दीर्घजीवी पुत्रों वाले (हों अथवा—परम गति-शील, बुद्धिमान् और यशस्वी हैं) । [अहम्] मैं [मेधावी] बुद्धिमान् [असानि] हो जाऊँ, [अनिराकरिष्णुः] (गुरु

५६-एवं द्वितीयां तथा तृतीयाम् ॥४॥

५७-*एषा त इति वा समुच्चयो वा ॥५॥

५८-पूर्ववत् परिसमूहनपर्युक्षणे ॥६॥

५९-पाणी प्रतप्य मुखं विमृष्टे—

६०-तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाह्यायुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि, वर्चोदा अग्नेऽसि वर्चो मे देहि।
अग्ने यन्म तन्वा ऊनं तन्म आपृण ॥७॥

के उपदेश को) न भूलने (या–ठुकराने) वाला, [यशस्वी] कीर्तिमान् (=प्रसिद्ध) [तेजस्वी] तेजस्वी [ब्रह्मवर्चसी] वेद ज्ञान के तेज से युक्त, [अन्नादः] (और) समस्त भोग्य पदार्थों का भोग करने वाला [भूयासम्] रहूँ। [इति] (मेरी) यह [स्वाहा] (वाणी) सिद्ध हो।

५६—इसी प्रकार (इस मन्त्र को पढ़ कर) दूसरी और तीसरी (समिधा) डाले।

५७—अथवा 'एषा ते'–(मन्त्र से समिधा डाले।) अथवा ('अग्नये समिधम्' और 'एषा ते'—इन दोनों मन्त्रों को) मिला कर (समिधा डाले)।

५८—पहले के समान ही (अग्नि को) एकत्र कर के प्रदीप्त करने और जल छिड़कने को (क्रियाएँ करे) ॥६॥

५९—दोनों हाथ तपा कर (उन से) मुख को मलता है।

---

* एषा ते अग्ने समित्तया वर्द्धस्व चा च प्यायस्व। वर्धिषीमहि च वयमा च प्यासिषीमहि॥ अग्ने वाजजिद्वाजन्त्वा ससृवाँ सं वाजजितँ सम्मार्ज्मि॥"— य० २।१४॥

६१-मेधां मे देवः सविता आदधातु, मेधां मे देवी सरस्वती आदधातु, मेधामश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजाविति॥८१॥

६०--(अग्ने) हे (प्राण और रेतस् के प्रतीक) अग्नि, (तनूपाः असि) (तुम) शरीर के रक्षक हो (मे) मेरे [तन्वम्] शरीर की [पाहि] रक्षा करो। [अग्ने] हे अग्नि [आयुर्दा असि] तुम जीवन के देने वाले हो, [मे] मुझे [आयुः] (यज्ञमय गतिशील) जीवन [देहि] प्रदान करो। [अग्ने] हे अग्नि, [वर्चोदा असि] तुम तेज के देने वाले हो [मे] मुझे [वर्चः] तेज [देहि] दो। [अग्ने] हे अग्नि [मे] मेरे [तन्वाः] शरीर में [यत्] जो कुछ [ऊनम्] कमी हो [तत्] उसे [मे] मेरे (शरीर) में [अ पृण] पूरा कर दो ॥७॥

६१—[देवः सविता] दिव्य गुण युक्त सर्वोत्पादक परमेश्वर [मे] मुझे [मेधाम्] मेधा [आदधातु] दें। [दिव्य] अलौकिक स्वरूप वाले [सरस्वती] ज्ञान-रूप परमेश्वर [मे] मुझे [मेधाम्] मेधा [आदधातु] प्रदान करें। [पुष्करस्रजौ] वाक् और प्रतिष्ठा रूपी कमल की माला पहनने वाले [देवौ] दिव्य गुणों वाले [अश्विनौ] अध्यापक और उपदेशक विद्वान् (अथवा, प्राण और अपान)[मे] मुझे] [मेधाम्] मेधा [आधत्ताम्] दें।

१—गुजरातीप्रेससंस्करणे कण्डिकासमाप्तिद्योतकोऽकः— ४ इति अत्रापि प्रदर्शितः।

६२-(अङ्गान्यालभ्य जपत्यङ्गानि च म आप्यायन्तां वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रं यशो बलमिति ।

६३-त्र्यायुषाणि करोति भस्मना ललाटे ग्रीवायां दक्षिणेंऽसे हृदि च-त्र्यायुषमिति प्रतिमन्त्रम्) ॥४।५ ॥

६४-अत्र भिक्षाचर्यचरणम् ॥१॥

६५-भवत्पूर्वां ब्राह्मणो भिक्षेत ॥२॥

६६-भवन्मध्यां राजन्यः ॥३॥

६७-भवदन्त्यां वैश्यः ॥४॥

६२—[अङ्गों को छू कर (मन-मन में उच्चारण करते हुए) भावना करता है (कि)—मेरे (शरीर के) अङ्ग, वाणी, प्राण, दर्शन और श्रवण शक्तियाँ यश और बल बढ़ते रहें ।

६३—'त्र्यायुषम्'—इन (तीन मन्त्रों में से) प्रत्येक से राख से मस्तक, गरदन, दाहिने कन्धे और हृदय पर त्र्यायुष (-त्रिपुण्ड्र नाम का तिलक) बनाए] ॥४।५॥

६४—अब भिक्षा माँगने की वृत्ति की जाती है ।

६५—ब्राह्मण गुणों का इच्छुक (वाक्य के) आरम्भ में 'भवत्' का उच्चारण कर के भिक्षा माँगे ।

६६—क्षत्रिय गुणों का इच्छुक 'भवत्' का बीच में (प्रयोग कर के भिक्षा माँगे) ।

६७—वैश्य गुणों का इच्छुक 'भवत्' का अन्त में (प्रयोग कर के भिक्षा माँगे ।)

१—त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम् ।
यद् देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम् ॥ य० ३।६२॥

६८-तिस्रोऽप्रत्याख्यायिन्यः ॥५॥

६९-षड् द्वादशापरिमिता वा ॥६॥

७०-मातरं प्रथमामेके ॥७॥

७१-आचार्याय भैक्षं निवेदयित्वा वाग्यतोऽहःशेषं तिष्ठेदित्येके ॥८॥

७२-अहिंसन्नरण्यात् समिधमाहृत्य[1] तस्मिन्नग्नौ पूर्ववदाधाय वाचं विसृजते ॥९॥

७३-अधःशाय्यक्षारालवणाशी स्यात् ॥१०॥

७४-दण्डधारणमग्निपरिचरणं गुरुशुश्रूषा भिक्षाचर्या ॥११॥

६८—तीन (भिक्षा देने में) इन्कार करने वाली नहीं होतीं।

६९—छै, बारह अथवा असंख्य (इन्कार न करने वाली होती हैं)।

७०—कुछ (आचार्य कहते हैं कि) पहले माता से (भिक्षा माँगे)।

७१—कुछ (आचार्य कहते हैं) कि भिक्षा से प्राप्त सामग्री को आचार्य के अर्पण कर के (अथवा बता कर) शेष दिन में संयत वाणी वाला रहे।

७२—अहिंसक रहते हुए (अथवा बिना स्वयं काटे स्वतः गिरी हुई) समिधाएँ ला कर उस (संस्कार के समय प्रज्वलित की गई) अग्नि में पहले के समान डाल कर (मन्त्र आदि) वाणी को बोले (श०—छोड़े)।

७३—नीचे सोने वाला, खारा और नमक न खाने वाला हो।

७४—डण्डा रखना, अग्नि की (हवन द्वारा) सेवा, गुरु की सेवा और भिक्षावृत्ति (करे)।

१—गुजरातीसंस्करणे—समिध आहृत्य—इति पाठः।

७५-मधुमांसमज्जनोपर्यासनस्त्रीगमनानृतादत्तादानानि वर्जयेत् ॥१२॥

७६-अष्टचत्वारिंशद् वर्षाणि वेदब्रह्मचर्यं चरेत् ॥१३॥

७७-द्वादश द्वादश वा प्रतिवेदम् ॥१४॥

७८-यावद्ग्रहणं वा ॥१५॥

७९-वासांसि शाणक्षौमाविकानि ॥१६॥

८०-ऐणेयमजिनमुत्तरीयं ब्राह्मणस्य ॥१७॥

८१-रौरवं राजन्यस्य ॥१८॥

८२-आजं गव्यं वा वैश्यस्य ॥१९

७५—शराब, मांस, (गोते लगा-लगा कर अतिशय) स्नान (अथवा—मालिश), ऊँचे आसन पर बैठना, स्त्रियों से संसर्ग, झूठ बोलना और न दी हुई वस्तु को लेना छोड़ दे।

७६—अड़तालीस वर्ष तक वेदाध्ययन के लिए ब्रह्मचर्य का सेवन करे।

७७—अथवा प्रत्येक वेद के लिए बारह-बारह वर्ष (ब्रह्मचारी रहे)।

७८—अथवा पूरी प्रकार (वेद) पढ़ लेने तक (ब्रह्मचारी रहे)।

७९—(ब्रह्मचारियों के) वस्त्र सन, रेशम और भेड़ की ऊन के (होते हैं)।

८०—ब्राह्मण का ऊपर का वस्त्र एण (=काला बारह सींघा) नामक हरिण का काला चर्म (हो)।

८१—क्षत्रिय का (उत्तरीय) रुरु नामक हरिण (की खाल हो)।

८२—वैश्य का (उत्तरीय) बकरे या गाय का (चर्म हो)।

८३-सर्वेषां वा गव्यमसति प्रधानत्वात् ॥२०॥
८४-मौञ्जी रशना ब्राह्मणस्य ॥२१॥
८५-धनुर्ज्या राजन्यस्य ॥२२॥
८६-मौर्वी वैश्यस्य ॥२३॥
८७-मुञ्जाभावे कुशाश्मन्तकबल्वजानाम् ॥२४॥
८८-पलाशो ब्राह्मणस्य दण्डः ॥२५॥
८९-बैल्वो राजन्यस्य ॥२६॥
९०-औदुम्बरो वैश्यस्य ॥२७॥
९१-सर्वे वा सर्वेषाम् ॥२८॥

८३—अथवा, न मिलने पर प्रमुख होने के कारण सब का ही (उत्तरीय) गाय (के चर्म) का हो।

८४—ब्राह्मण की तगड़ी मूँज की हो।

८५—क्षत्रिय की (तगड़ी) धनुष नामक घास (या धनुष की डोरी) की (हो)।

८६—वैश्य की (तगड़ी) मूर्वा घास की (हो)।

८७—मूँज न मिलने पर डाभ, अश्मन्तक (या) बल्व नामक घास की बनी हुई (हो)।

८८—ब्राह्मण का डण्डा ढाक का हो।

८९—क्षत्रिय का (डण्डा) बेल का हो।

९०—वैश्य का (डण्डा) गूलर का हो।

९१—अथवा सब के ही (डण्डे) सब ही (लकड़ियाँ) हो (सकती हैं)।

९२-(केशसंमितो ब्राह्मणस्य दण्डो ललाटसंमितः क्षत्रियस्य घ्राणसंमितो वैश्यस्य ।)

९३-आचार्येणाहूत उत्थाय प्रतिशृणुयात् ॥२९॥

९४-शयानं चेदासीन आसीनं चेत्तिष्ठँस्तिष्ठन्तं चेदभिक्रामन्नभिक्रामन्तं चेदभिधावन् ॥३०॥

९५-स एवं वर्तमानोऽमुत्राद्य वसत्यमुत्राद्य वसतीति तस्य स्नातकस्य कीर्त्तिर्भवति ॥३१॥

९६-त्रयः स्नातका भवन्ति—विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्याव्रतस्नातक इति ॥३२॥

९२—(ब्राह्मण का डण्डा बालों तक लम्बा, क्षत्रिय का माथे तक लम्बा और वैश्य का कान तक लम्बा हो) ।

९३—आचार्य से बुलाया जाने पर उठ कर सुने ।

९४—यदि (आचार्य) लेटे हुए को (बुलाएँ तो) बैठ कर, यदि बैठे हुए को (बुलाएँ तो) खड़ा हो कर, यदि खड़े हुए को (बुलाएँ) तो पास जा कर और यदि चलते हुए को (बुलाएँ) तो दौड़ कर (सुने) ।

९५—वह (ब्रह्मचारी) इस प्रकार रहता हुआ आज वहाँ स्वर्ग में रहता है, आज वहाँ स्वर्ग में रहता है, इस प्रकार उस स्नातक का यश फैल जाता है ।

९६—तीन प्रकार के स्नातक होते हैं—विद्यास्नातक, व्रतस्नातक और विद्याव्रतस्नातक ।

९७-समाप्य वेदमसमाप्य व्रतं यः समावर्तते स विद्यास्नातकः ॥३३॥

९८-समाप्य व्रतमसमाप्य वेदं यः समावर्तते स व्रतस्नातकः॥३४॥

९९-उभयं समाप्य यः समावर्तते स विद्याव्रतस्नातक इति॥३५॥

१००-आषोडशाद्[१] ब्राह्मणस्यानतीतः कालो भवति ॥३६॥

१०१-आ द्वाविंशाद् राजन्यस्य ॥३७॥

१०२-आ चतुर्विंशाद् वैश्यस्य ॥३८॥

१०३-अत ऊर्ध्वं पतितसावित्रीका भवन्ति ॥३९॥

९७—जो वेद को (पूरा पढ़ कर) और (ब्रह्मचर्य) व्रत को पूरा समाप्त किए बिना (आचार्य कुल से संसार में) लौट आता है वह विद्यास्नातक (कहलाता) है ।

९८—जो ब्रह्मचर्य व्रत को समाप्त कर के और वेद को पूरा न (पढ़) कर (संसार में) लौट आता है वह व्रतस्नातक (होता है)।

९९—जो (वेद और ब्रह्मचर्य व्रत) दोनों को पूरा कर के (आचार्य कुल से पितृकुल में) लौटता है वह विद्याव्रतस्नातक (कहलाता) है ।

१००—सोलहवें वर्ष तक ब्राह्मण का (उपनयन) काल है (शब्दार्थ—बीता हुआ नहीं है)।

१०१—क्षत्रिय का (उपनयन काल) २२ वें वर्ष तक है ।

१०२—वैश्य का (उपनयन काल) २४ वर्ष तक है ।

१०३—इस (ऊपर के सूत्रों में वर्णित अवधि) के ऊपर (सब) गायत्रीमन्त्र के उपदेश से च्युत हो जाते हैं ।

१—ब्राह्मणस्य नातीतः ।

९२-(केशसंमितो ब्राह्मणस्य दण्डो ललाटसंमितः क्षत्रियस्य घ्राणसंमितो वैश्यस्य ।)

९३-आचार्येणाहूत उत्थाय प्रतिशृणुयात् ॥२९॥

९४-शयानं चेदासीन आसीनं चेत्तिष्ठँस्तिष्ठन्तं चेदभिक्रामन्नभिक्रामन्तं चेदभिधावन् ॥३०॥

९५-स एवं वर्तमानोऽमुत्राद्य वसत्यमुत्राद्य वसतीति तस्य स्नातकस्य कीर्तिर्भवति ॥३१॥

९६-त्रयः स्नातका भवन्ति—विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्याव्रतस्नातक इति ॥३२॥

९२—(ब्राह्मण का डण्डा बालों तक लम्बा, क्षत्रिय का माथे तक लम्बा और वैश्य का कान तक लम्बा हो)।

९३—आचार्य से बुलाया जाने पर उठ कर सुने ।

९४—यदि (आचार्य) लेटे हुए को (बुलाएँ तो) बैठ कर, यदि बैठे हुए को (बुलाएँ तो) खड़ा हो कर, यदि खड़े हुए को (बुलाएँ) तो पास जा कर और यदि चलते हुए को (बुलाएँ) तो दौड़ कर (सुने)।

९५—वह (ब्रह्मचारी) इस प्रकार रहता हुआ आज वहाँ स्वर्ग में रहता है, आज वहाँ स्वर्ग में रहता है, इस प्रकार उस स्नातक का यश फैल जाता है ।

९६—तीन प्रकार के स्नातक होते हैं—विद्यास्नातक, व्रतस्नातक और विद्याव्रतस्नातक ।

९७-समाप्य वेदमसमाप्य व्रतं यः समावर्तते स विद्यास्नातकः ॥३३॥

९८-समाप्य व्रतमसमाप्य वेदं यः समावर्तते स व्रतस्नातकः॥३४॥

९९-उभयँ * समाप्य यः समावर्तते स विद्याव्रतस्नातक इति॥३५॥

१००-आषोडशाद् * [१]ब्राह्मणस्यानतीतः कालो भवति ॥३६॥

१०१-आ द्वाविँ *शाद् राजन्यस्य ॥३७॥

१०२-आ चतुर्विँ *शाद् वैश्यस्य ॥३८॥

१०३-अत ऊर्ध्वं पतितसावित्रीका भवन्ति ॥३९॥

९७—जो वेद को (पूरा पढ़ कर) और (ब्रह्मचर्य) व्रत को पूरा समाप्त किए विना (आचार्य कुल से संसार में) लौट आता है वह विद्यास्नातक (कहलाता) है ।

९८—जो ब्रह्मचर्य व्रत को समाप्त कर के और वेद को पूरा न (पढ़) कर (संसार में) लौट आता है वह व्रतस्नातक (होता है)।

९९—जो (वेद और ब्रह्मचर्य व्रत) दोनों को पूरा कर के (आचार्य कुल से पितृकुल में) लौटता है वह विद्याव्रतस्नातक (कहलाता) है ।

१००—सोलहवें वर्ष तक ब्राह्मण का (उपनयन) काल है (शब्दार्थ—बीता हुआ नहीं है) ।

१०१—क्षत्रिय का (उपनयन काल) २२ वें वर्ष तक है ।

१०२—वैश्य का (उपनयन काल) २४ वर्ष तक है ।

१०३—इस (ऊपर के सूत्रों में वर्णित अवधि) के ऊपर (सब) गायत्रीमन्त्र के उपदेश से च्युत हो जाते हैं ।

१—ब्राह्मणस्य नातीतः ।

१०४-नैनानुपनयेयुर्नाध्यापयेयुर्न याजयेयुर्न चैभिर्व्यवहरेयुः ॥४०॥

१०५-कालातिक्रमे नियतवत् ॥४१॥

१०६-त्रिपुरुषं पतितसावित्रीकाणामपत्ये संस्कारो नाध्यापनं च ॥४२॥

१०७-तेषां [ ] संस्कारेप्सुर्व्रात्यस्तोमेनेष्ट्वा काममधीयीरन् व्यवहार्या भवन्तीति वचनात् ॥४३॥५।६॥

१०८-अथोपनीतो ब्राह्मणस्त्रिशिखः शिखी जटिलो मुण्डो वाऽक्षारालवणाशी स्यात् ॥१॥

१०४—(विद्वान्) न इन का उपनयन संस्कार कराएँ, न (इन्हें) पढ़ाएँ, न इन से यज्ञ कराएँ, न इन से व्यवहार करें।

१०५—(ऊपर निर्धारित) काल के बीत जाने पर नित्य कर्मों को न करने वाले व्यक्ति के (साथ किए जाने वाले व्यवहार के) समान (इन से व्यवहार करें)।

१०६—तीन पीढ़ियों (पिता, पुत्र और पौत्र) तक गायत्री के उपदेश से वञ्चित हुए पुरुषों के पुत्र का (न) संस्कार (होता है) और न अध्यापन।

१०७—उन (तीन पुरुषों में से) (जो) उपनयन संस्कार के इच्छुक हों वे व्रात्यस्तोम से यज्ञ कर के व्यवहार के योग्य बन जाते हैं-इस विधान के आधार पर इच्छानुसार पढ़ सकते हैं।

१०८—उपनयन संस्कार किया हुआ ब्राह्मण बालक तीन चोटियों (या) एक चोटी या जटाओं वाला या मुंडे (हुए सिर) वाला खारी और नमकीन न खाने वाला रहे।

१०९-सावित्रँ षड्रात्रं त्रिरात्रँ सद्यःकालं वा चरेत् ॥२॥

११०-तदेव व्रतम् उदीक्ष्य दण्डमपो निधाय मेखलां यज्ञोपवीतं चाप्स्वन्तरिति[1] प्रत्यृचं नमो[2] वरुणायेति

१०९—सविता के (व्रत का वह) छै रात (या) तीन रात या उसी समय (=उपनयन के समय) पालन करे।

११०—उसी सविता के व्रत (के पालन) को देख कर डण्डे को (और) 'अप्स्वन्तर्'[1] (और 'देवीरापो'[1]—इन दो मन्त्रों में से) एक-एक मन्त्र से (क्रमशः) मेखला (=तगड़ी) और यज्ञोपवीत को जल में रख कर (और) 'नमो[2] वरुणाय'

*१—अप्स्वन्तर् मन्त्रो विजयचन्द्रशर्मवेदाचार्येणैवं प्रत्तः—अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजमपामुत प्रशस्तिष्वश्वा भवत वाजिनः। देवीरापो यो व ऊर्मिः प्रतूर्त्तिः ककुन्मान् वाजसास्तेनायं वाजँ सेत् ॥ य० ९।६ परं ॥ सूत्रकाराय चतस्र ऋचो अभिप्रेताः प्रतीयन्ते या एवं सन्ति—

अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजमपामुत प्रशस्तये।
देवा भवत वाजिनः ॥१॥

अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा।
अग्निं च विश्वशम्भुवमापश्च विश्वभेषजीः ॥२॥

आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे मम।
ज्योक् च सूर्यं दृशे ॥३॥

इदमापः प्र वहत यत्किं च दुरितं मयि।
यद् वाहमभिदुद्रोह यद् वा शेप उतानृतम् ॥४॥ ऋ० १।२३।१९-२२॥

२—तैस० ७।४।१६।२। मन्त्र का इतना भाग ही अभिप्रेत है।

त्रिसंधुरं[1] दत्त्वा ततोऽस्याग्नेयं प्रथमं वेदव्रतमादिशेत् ॥३॥

१११-ब्राह्मणक्षत्रियविशां पञ्च सांवत्सरिकाणि वेदव्रतानि भवन्ति ॥४॥

११२-आग्नेयँ शुक्रियमौपनिषदँ शौलभं गोदानमिति पञ्च सांवत्सरिकाणि वेदव्रतानि चरित्वा स्नात्वोपव्रतं चरेत् ॥५॥

११३-त्रिष्ववगुण्ठनँ शुक्रियादिषु शुक्रियँ शुक्रेभिः श्रावयेत् ॥६॥

११४-औपनिषदमौपनिषद्भिः शौलभँ शौलभिनीभिः ॥७॥

(मन्त्र भाग) से तीन बार मीठा (=दही, शहद और चीनी) दे कर फिर पहले (अग्नि सम्बन्धी (=आग्नेय) वेद के व्रत का उपदेश करे।

१११—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के एक वर्ष की अवधि वाले पाँच वेदव्रत होते हैं।

११२—आग्नेय, शुक्रिय, औपनिषद, शौलभ और गोदान—'एक साल की अवधि' में समाप्त होने वाले इन पाँच वेद व्रतों का पालन करे और स्नान कर के 'उपव्रत' का पालन करे।

११३—(शुक्रिय आदि) तीन व्रतों में परदा (=अवगुण्ठन ?) होता है जो इस प्रकार है)–शुक्रिय व्रत को शुक्रों से सुनवाए।

११४—औपनिषद व्रत को औपनिषदों से और शौलभ व्रत को शौलभनियों से (सुनवाए)।

१—त्रिमधुरमिति मुद्रितः पाठः।

११५-अथवाऽविद्यमान आ[१] ब्रह्मन्, उदीरताम्[२], आ[३] नो भद्रा, आशु[४] शिशान, इमा[५] नु कम् इति च वेदशिरसाऽव-गुण्ठयेत् ॥८॥

११५—अथवा उपस्थित हो कर "आ ब्रह्मन्[१]", "उदीरताम्[२]", "आ नो भद्रा[३]", "आशु शिशान[४]", और "इमा नु कम्[५]" इन मन्त्रों रूपी वेद के उत्तमाँग (=सिर) से परदा करे।

१—आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥ य० २२।२२ ॥

२—उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः। असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु ॥ य० १९।४९॥

३—आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासो अपरीतास उद्भिदः। देवा नो यथा सदमिद्वृधे असन्नप्रायुवो रक्षितारो दिवे दिवे ॥ य० २५।१४ ॥

४—आशुः शिशानो वृषभो न भीमो घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनाम्। संक्रन्दनोऽनिमिष एकवीरः शतँ सेना अजयत् साकमिन्द्रः ॥ य० १७।३३ ॥

५—इमा नु कं भुवना सीषधामेन्द्रश्च विश्वे च देवाः। आदित्यैरिन्द्रः सगणो मरुद्भिरस्मभ्यं भेषजा करत्। यज्ञं च नस्तन्वं च प्रजां चादित्यैरिन्द्रः सह सीषधाति ॥ य० २५।४६ ॥

११६-अवगुण्ठनीं त्रिवलिं पञ्चवलिं वा नाभिदेशात् प्रच्छाद्य
वाग्यतोऽरण्येऽधः शयीत ॥९॥

११७-ग्रामे गोष्ठे देवायतने वा ॥१०॥

११८-व्युष्टायामवगुण्ठनीमरण्ये विसृजेत् ॥११॥

११९-अदृश्रमस्य,[1] उदु त्यं,[2] चित्रं[3] देवानामित्युदितेऽर्के
जपति ॥१२॥

११६—तीन वलियों या पाँच वलियों वाले परदे को नाभि प्रदेश तक ढ़क कर और वाणी को संयम में रख कर वन में नीचे (भूमि पर ही) लेटे (या सोए)।

११७—अथवा गाँव में या सभास्थान या देवमन्दिर में (सोए)।

११८—उषाकाल होने पर परदे को जंगल में छोड़ दे।

११९—सूर्य के उदय होने पर 'अदृश्रमस्य'[1], 'उदु त्यं'[2], और 'चित्रं देवानाम्'[3] इन मन्त्रों का जप करे (श० करता है)।

१—अदृश्रमस्य केतवो वि रश्मयो जनाँ अनु । भ्राजन्तो अग्नयो यथा । उपयामगृहीतोऽसि सूर्याय त्वा भ्राजायैष ते योनिः सूर्याय त्वा भ्राजाय । सूर्याय भ्राजिष्ठ भ्राजिष्ठस्त्वं देवेष्वसि भ्राजिष्ठोऽहं मनुष्येषु भूयासम् ॥ य० ८।४० ॥

२—उदु त्य जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः । दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥ य० ३३।३१ ॥

३—चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः । आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षँ सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा ॥ य० ७।४२

१२०-वर्षति द्यौः शान्तिरिति शान्तिं करोति ॥१३॥
१२१-शान्तिभाजनं गुरवे दद्यात् ॥१४॥
१२२-एवमेवाव्रगुण्ठनीं च ॥१५॥
१२३-गोदाने गोमिथुनम् ॥१६॥
१२४-तस्माद् गोदानमिति तस्माद् गोदानमिति ॥१७॥७॥

इति पारस्करगृह्यसूत्र उपनयनसूत्राणि ।

१२०—(द्युलोक के) बरसने पर 'द्यौः 'शान्तिः'[1] (मन्त्र का उच्चारण) कर के शान्ति (की कामना) करता है ।
१२१—शान्तिपात्र को गुरु को दे देवे ।
१२२—इसी प्रकार परदे को (गुरु को दे दे) ।
१२३—गोदान (व्रत) में गौओं का जोड़ा (गुरु को देवें) ।
१२४—(गो दी जाती है) इसी लिए इस व्रत को गोदान कहते हैं, इसी लिए यह गोदान है ।

पारस्कर गृह्यसूत्र के उपनयन सूत्रों का डा० सुधीर कुमार गुप्त, एम० ए०, पीएच० डी०, शास्त्री, प्रभाकर द्वारा रचित शाब्दिक हिन्दी रूपान्तर समाप्त हुआ ।

१—द्यौः शान्तिरन्तरिक्षँ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः । वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वँ शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि ॥
य० ३६।१७।

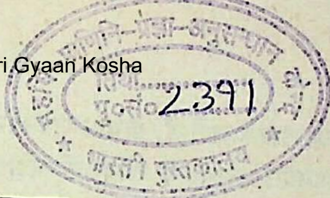


वेदलावण्ये

पारस्करीयोपनयनसूत्रेषु

टिप्पण्यः

पदानुक्रमणिका च ।



पारस्करीयोपनयनसूत्र
परिशिष्ट १
सुकाशिनी टिप्पणियां

उपनयनसंस्कार—आचार्यस्य आचार्याया वा उप समीपे बालकस्य बालिकायाः वा नयनमुपनयनम् । आचार्य/आचार्या के पास लड़के/लड़की को विद्याग्रहण के लिए पहुंचाना उपनयन संस्कार कहलाता है। इस में गृह्यसूत्रों में वर्णित विधि के अनुसार बालक/बालिका को आचार्य/आचार्या के पास लाना, अग्नि के पास बिठाना, गायत्री का उच्चारण कराना और अन्य विहित कर्म किए जाते हैं।

(ii) उपनेता—उपनयन कराने का अधिकार पिता आदि को है—

"पिता पितामहो भ्राता ज्ञातयो गोत्रजाग्रजाः ।
उपायनेऽधिकारी स्यात् पूर्वाभावे परः परः ॥"

पिता, दादा, चाचा, सम्बन्धी, गोत्रोत्पन्न बड़े भाई क्रमशः उपनयन करा सकते हैं। गदाधर के मत में यह विधि ब्राह्मण बालक के लिए है, शेष का उपनयन पुरोहित ही करा सकता है। भाव यह है कि जो भी बालक के अध्यापन के लिए नियुक्त हो वही उपनयन कराए, जो न पढ़ावे वह उपनयन न कराए, चाहे वह कुलपुरोहित ही क्यों न हो। जिस बालक के पिता आदि में से कोई सम्बन्धी वेद का अध्यापक हो, वह बालक चाहे जिस वर्ण की योग्यता का इच्छुक हो उस सम्बन्धी से उपनयन करवा सकता है क्यों कि उपनयन वेदाध्ययन के निमित्त होता है। यदि पिता आदि

वेदाध्यापक नहीं हैं, अथवा उपनयनोपरान्त वे बालक को वेद न पढ़ाएं तो वे उपनयन कराने के अधिकारी नहीं हैं।

उपनयन का काल

(i) **अष्टवर्षमिति**—अष्टौ वर्षाणि अतीतानि यस्य असौ, तम्। जिस के जन्म को आठ वर्ष बीत चुके हैं। **गर्भाष्टमे**—गर्भः गर्भसहचरितो वर्षः अष्टमो येषां तानि गर्भाष्टमानि तेषु अतीतेषु। बहुवचन के स्थान पर एक वचन का प्रयोग हुआ है। हरिहराचार्य के मत में इस का भाव नवमे या आठवें वर्ष में है। इसी प्रकार वे और गदाधर क्षत्रिय का उपनयन जन्म से १२ वें वर्ष में और वैश्य का १३ वें वर्ष में मानते हैं।

विभिन्न वर्णों के उपनयन में आयु की भिन्नता का कारण

(ii) उपनयन की आयु का विधान प्रायः सर्वत्र यही है। इस का आधार बालक की योग्यता और अध्ययन के लिए आपेक्षिक प्रौढ़ता है। ब्राह्मण आदि के लक्षण इस प्रकार हैं*। ब्राह्मण का लक्षण यह है—

"अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहञ्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥" मनु० १/८८

"शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥" गी० १८/४२

(iii) इन लक्षणों के अनुसार ब्राह्मण बनने के योग्य और इच्छुक बालक को सरलहृदय, सुख से निरपेक्ष और दान लेने के संस्कार वाला बनाना आवश्यक है। उसे बहुत कुछ रटना भी पड़ता है। कर्मकाण्ड सीखना और करना पड़ता है। खोज की प्रवृत्ति भी उस को धारण करनी पड़ती है।

---

*यह विषय संवि पृ० २२८—२३१ में सविस्तार हिन्दी में दिया गया है। वहाँ देखा जा सकता है।

अतः उस के अध्ययन का काल अन्यों से अधिक और सुकुमारावस्था में प्रारम्भ होना आवश्यक है। आठ वर्ष के बालक में परिपक्वता कुछ अल्प होती है। अतः उस के इस प्रकार के संस्कार डाले जा सकते हैं।

(iv) स्वामी दयानन्द सरस्वती ने संवि० पृ० २२८ पर मनु० १०/१०६ के प्रमाण से ब्राह्मण के लिए दान लेना निकृष्ट माना है। परन्तु मनु का यह श्लोक ब्राह्मण के प्रमुख कर्मों—याजन और अध्यापन को भी निकृष्ट बताता है। वैसे भी यह वर्णन शूद्रों से दान लेने से सम्बन्धित है। अतः यह श्लोक उस काल में मनुस्मृति में डाला गया जब समाज में शूद्रों का सम्मान आज के समान घट गया। अतः इस से उपरोक्त स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आता है।

(v) क्षत्रिय के लक्षण ये हैं—

"प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥" मनु० १/८६

"शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरस्वभावश्च क्षात्रकर्म स्वभावजम्॥" गी० १८/४३

(vi) ग्यारह वर्ष की आयु में बालक का शारीरिक विकास प्रारम्भ हो चुकता है। इस समय तक उस की क्षत्रियोचित प्रवृत्तियों का परिचय मिल जाता है। वह शारीरिक व्यायाम और शस्त्रविद्या आदि सीखने योग्य हो जाता है। ऐसे बालक की ब्रह्मविद्या के प्रति बुद्धि कुछ देर में विकसित होती है। अतः उस के लिए इस आयु का निर्धारण किया गया होगा।

(vii) वैश्य के लक्षण ये हैं—

"पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च॥" मनु० १/९०

(viii) इस शिक्षा के लिए अधिक प्रौढ़ और व्यवहारकुशल बुद्धि की आवश्यकता है। ऐसे बालकों की बुद्धि वेदादि की ओर भी कम प्रवृत्ति रखती है। अतः इन के लिए १२ वर्ष की आयु में यज्ञोपवीत का विधान किया गया है।

ब्राह्मणं, राजन्यं, वैश्यम्—जन्म से सब बालक समान होते हैं। उन की प्रवृत्तियों का विकास शनैः शनैः होता है। प्रत्येक बालक अपने माता-पिता के गुणों वाला नहीं होता। वैसे भी प्राचीन काल में वर्णव्यवस्था गुण, कर्म और स्वभाव के अनुसार होती थी। गुणादि सहज भी होते हैं और अभ्यासप्राप्य भी। अतः यज्ञोपवीत के समय बालक की प्रवृत्ति और कामना के आधार पर उस की श्रेणी नियत की जाती थी। इसी आधार पर हिन्दी अनुवाद किया गया है।

४. यथामङ्गलमिति—मंगलमनुसृत्येति यथामङ्गलम्। जैसा बालक के हित में हो। अभिप्राय यह है कि उपरोक्त उपनयन की आयु का विधान नितान्त नियमित नहीं है। उस में आवश्यकतानुसार उलट-फेर किया जा सकता है।

(ii) इस सूत्र में प्राचीनकाल के इतिहास का अवशेष मिलता है। उस समय सब बालकों की आठ वर्ष या उस से पूर्व ही शिक्षा प्रारम्भ हो जाती होगी क्योंकि प्राचीन भारत जैसे उन्नत देश में कुछ बालकों का ११ और १२ वर्ष तक गुरुकुल में पढ़ने न जाने देना बुद्धिगम्य नहीं। हो सकता है बालकों की प्रवृत्तियों का अध्ययन करने के उपरान्त उन को विशिष्ट विद्यालयों में भेजने के लिए आयु के ये स्तर निर्णीत किए गए हों और कालान्तर में संस्कृति और वेदज्ञान के ह्रास होने पर इन स्तरों को उपनयन से सम्बद्ध कर दिया गया हो। आज की परिस्थिति में आयु के ये स्तर उपयुक्त प्रतीत नहीं होते।

(ii अ) कर्क आदि आचार्यों ने यहाँ पर मंगल का अर्थ दूसरे आचार्यों के शास्त्रों के विधान किया है, जिन में ब्राह्मणादि का उपनयन क्रमशः ५ वें, ६ ठे और ९ वें वर्ष में बताया गया है। तु० क० मनु० २/३७

"ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पंचमे ।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्यार्थार्थिनोऽष्टमे ॥"

आपस्तम्ब के विकल्प भी विचारणीय हैं--"अथ काम्यानि। सप्तमे ब्रह्मवर्चसकाममष्टमे आयुष्कामं नवमे तेजस्कामं दशमे अन्नाद्यकाममेकादशे इन्द्रियकामं द्वादशे पशुकाममुपनयेत् ।"

(iii) श्री शुकदेव के विचार में 'यथामंगलम्' के दो व्याख्यान हैं—१. आठ, ग्यारह और बारह वर्ष—इन में से जिस वर्ण को जिस आयु में सुविधा हो उसी आयु में। २. पारस्कर और अन्य आचार्यों के आयु-विधानों में से प्रत्येक वर्ण अपने-अपने वर्ण की वैकल्पिक आयुओं में से छांटी हुई किसी एक आयु में। इस प्रकार ब्राह्मण ५वें या ८वें में, क्षत्रिय छठे और ग्यारहवें में और वैश्य ८वें और १२वें वर्ष में उपनयन करा सकते हैं।

(iv) कुछ आचार्यों ने इस आयुमान के साथ ऋतु का भी विधान किया है—ब्राह्मण का वसन्त में, क्षत्रिय का ग्रीष्म में और वैश्य का वर्षा (=शरद्) में उपनयन किया जाए। अन्य आचार्यों ने इस का और भी विस्तार किया है और पक्ष, नक्षत्र, राशि आदि का भी विधान माना है। निषिद्ध कालों की कल्पना भी की गई है। देखो गदाधर का भाष्य।

शूद्रों के उपनयन के विधान के अभाव का कारण

(v) यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि शूद्रों का उपनयन क्यों नहीं बताया गया है। इस पर ये विचार उपलब्ध होते हैं—

१. पौराणिक सम्प्रदाय का विचार है कि शूद्रों की उत्पत्ति पैर से होने के कारण वे निकृष्ट हैं। अतः उन्हें पढ़ने का अधिकार नहीं है।

२. आर्यसमाज और उस के प्रवर्तक ऋषि दयानन्द का विचार है कि जो व्यक्ति मूर्ख हो, पढ़ने में असमर्थ हो वह शूद्र होता है। ऐसे व्यक्ति के उपनयन का प्रश्न ही नहीं उठता।

३. सं० चं० के लेखक मानते हैं कि स्मृतिकारों के मत में शूद्र का कर्म अन्य वर्णों की सेवा करना है। इस के लिए किसी विशेष शिक्षा की आवश्यकता नहीं है। भाव यह है कि राष्ट्र के समस्त बालकों को ब्राह्मण आदि तीन श्रेणियों में विभक्त करने के पश्चात् जो शेष रहें वे शूद्र होंगे।

४. डा० अम्बेदकर* का मत है कि पहले शूद्र वर्ण नहीं था। आधुनिक शूद्र पहले क्षत्रिय थे। ब्राह्मणों से संघर्ष में वे हारे और समाज में पददलित और उपनयन आदि से वञ्चित किए गए।

५. परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं मालूम पड़ती। जैसा कुछ विस्तार से इस ग्रन्थ की भूमिका में लिखा है वैदिक काल में समाज के अनेक दृष्टियों से विभाग किए गए थे। उन में एक विभाग शूद्र और आर्य था। वेद में इन दोनों का प्रयोग सर्वत्र इसी क्रम से आने और.य० २६।२ के ब्रह्मराजन्य के क्रम से तुलना करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि शूद्र आर्यों से श्रेष्ठ होते थे। वे उसी जाति के थे जिस के आर्य। आर्यों के तीन विभाग किए गए— ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य। इन में जो श्रेष्ठ व्यक्ति होते थे वे शूद्र कहलाए जाते रहे होंगे। कालान्तर में ब्राह्मण आदि के समान उन का भी एक पृथक् वर्ग बन कर चतुर्थ वर्ण के रूप में आर्यसमाज में परिगणित हुआ। साथ ही अब कल्पना की विषय परिस्थितियों में ये अपने मध्यकालीन और आधुनिक रूप को प्राप्त हुए।

(vi) अतः प्राचीनतम काल में शूद्रों के पृथक् वर्ण न होने के कारण उन के लिए यज्ञोपवीत संस्कार का विधान नहीं किया गया है। उन के पृथक् वर्ण बनने के समय से ही अथवा उस के शीघ्र बाद ही ये समाज में पददलित हो गये होंगे। अतः उस अवस्था में विजयी ब्राह्मण उन को उपनयन का अधिकार देने के लिए कैसे तैयार होते। जो शूद्र ब्राह्मणों के आचार के अनुकूल होते थे उन का उपनयन होता था। आपस्तम्ब के लेख—'शूद्रा-

* देखो डा० अम्बेदकर, हू आर दी शूद्राज़, बम्बई १९४७

णामदुष्टकर्मणामुपनयनम्' का भी यही अभिप्राय है। होते-होते सब शूद्रों को उपनयन से वञ्चित कर दिया गया।

ब्रह्मभोज

५. **ब्राह्मणानिति**—पूर्वोक्त ब्राह्मण के लक्षणों से स्पष्ट है कि उन के पास आजीविका का कोई साधन नहीं था। समाज को उन के निर्वाह का प्रबन्ध करना आवश्यक था। अतः सब विशिष्ट अवसरों पर उन के लिए भोजन और दानादि की व्यवस्था की गई। इस से यह समझा जा सकता है कि वैश्य के कर्म और वृत्ति—वाणिज्य, कृषि, वेतनग्रहण आदि करने वाले ब्राह्मणों के लिए भोजन और दान वैदिक संस्कृति को अभिप्रेत नहीं है। हिंदी अनुवाद इसी दृष्टि से किया गया है।

(ii) श्री कर्काचार्य के मत में यहां 'श्राद्ध न खाने वाले ब्राह्मण' अभिप्रेत हैं। परन्तु पारस्कर गृह्यसूत्र में श्राद्ध का विधान नहीं है। सम्पादकों ने परिशिष्ट रूप में श्राद्ध की विधि अन्य आचार्यों के अनुसार दी है। यदि उस में दिये गये श्राद्ध में खिलाने योग्य ब्राह्मणों के गुणों पर दृष्टि डालें तो कोई ऐसा ब्राह्मण शायद ही बचे जो श्राद्धभोजी न हो सके। अतः गुण रहने पर भी जो श्राद्ध न खाए—यही भाव हो सकता है। जयराम इन श्राद्ध-व्यतिरिक्त ब्राह्मणों के साथ ही उपनेतव्य बालक को भी भोजन कराना मानते हैं।

(iii) इन भोज्य ब्राह्मणों की संख्या तीन बताई गई है।

६. **तञ्च**—गदाधराचार्य के विचार में 'च' के प्रयोग से 'भोजनकर्म' का भाव इस सूत्र में पहले सूत्र से आ जाता है।

ब्रह्मचारी का वेष

६. **पर्युप्त**—परि + वप् + क्त। परि सर्वत उप्तं मुण्डितं शिरो यस्य स पर्युप्तशिराः, तम्। मुंडा हुआ, बाल कटाया हुआ। प्राचीनकाल में सिर मुंडवाना शौच और मांगलिक कर्म समझा जाता था। आज भी विशेष उत्सवों पर

लोग बाल छटवाते हैं। **अलंकृतम्**—अरम् √कृ + क्त। आभूषणों से युक्त। कर्क – स्रक् माला आदि से अलंकृत। रमणीयता के बिना मन किसी विषय में नहीं जमता है। अतः बालक के मन पर संस्कार का प्रभाव डालने के लिए उसे अलंकृत किया जाता था। परन्तु ब्रह्मचर्य काल में ब्रह्मचारी धातुनिर्मित आभूषण नहीं पहन सकता था। वेशादि का संस्कार भी निषिद्ध था। अतः यहाँ पर अलंकरण स्नान और धौत वस्त्र धारण करने का द्योतक प्रतीत होता है। यही भाव—अवे० ११।७।२६ के—स स्नातो बभ्रुः पिंगलः पृथिव्यां बहु रोचते—में है। ऋषि दयानन्द ने संवि० पृ० ८० पर 'प्रातःकाल बालक का क्षौर करा शुद्ध जल से स्नान करा के उत्तम वस्त्र पहिना········मिष्टान्न आदि का भोजन करा के' लिख कर यही भाव लिया है। पारस्कर ने भोजन का विधान नहीं किया है। परन्तु कर्काचार्य ने अपने भाष्य में 'शिरसश्च परिवपनं भोजनात् पूर्वमेव' कह कर इस० का समर्थन किया है। डा० राजबली पाण्डेय ने लिखा है कि सामान्यतः मुण्डन और उपनयन संस्कार साथ-साथ होते थे। यहां पर पर्युप्तशिरसम् में इस तथ्य का संकेत भी माना जा सकता है। **आनयन्ति**—आचार्य द्वारा पहले से नियत व्यक्ति अथवा, पितृकुल के व्यक्ति आचार्य के पास लाते हैं। आजकल भी विद्यालय में प्रवेश कराने के लिए और उपनयन के समय पिता आदि अभिभावक उपस्थित होते हैं।

ब्रह्मचारी को पश्चिम में बिठाने का रहस्य

७. **पश्चादग्नेः**—प्रत्येक शुभ कर्म और संस्कार के प्रारम्भ में प्रार्थना के आठ मन्त्र, स्वस्तिवाचन, शान्ति-प्रकरण का पाठ, आचमन, अंगस्पर्श, अग्न्याधान और समिधादान के साथ हवन या यज्ञ किया जाता था। इस सूत्र का कार्य संवि० में पृ० २९ तक लिखी हवन की विधि के सदृश हवन समाप्त हो जाने पर प्रारम्भ होता है।

(ii) ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार पश्चिम दिशा का राजा वरुण है,[1] देवता सोम[2]। वरुण नियम और व्रत का प्रतीक है[3]। सोम[4] शान्ति मनः

संयम और इन्द्रियसंयम—शम, दम) का द्योतक है। यह दिशा सर्पों[५] (= देवों[६] = विद्वानों[७]) की है। इस दिशा में मानव वायु के समान पवित्र करने वाला हो कर गतिशील होता है[८]। ज्ञान-विज्ञान का ज्ञाता सविता प्रतीची दिशा को जानता है[९]। स्वाराज्य की प्राप्ति के लिए परमैश्वर्यशाली और बलवान् राजा (=इन्द्र) का अभिषेक पश्चिम दिशा में किया जाता था[१०]। अथर्वनों (=अहिंसक विद्वानों) और आंगिरसों (=प्राण-विद्याविशारदों) की दिशा भी पश्चिम है[११]। इसी दिशा में महः (=तेज) स्थित है[१२]। इधर बैठ कर यज्ञ करने वाला तेजस्वी और यशस्वी होता है[१३]। इसी लिए ब्रह्मचारी को भी अग्नि के पश्चिम में बिठाने का विधान है।

(iii) इस से यह ध्वनि भी निकलती है कि तेजस्वियों के पीछे रहने से तेज की वृद्धि होती है।

ब्रह्मचर्यम्—ब्रह्मचर्यव्रत=वेदाध्ययन के नियमों का पालन यथा वीर्यरक्षा, गुरुसेवा, वेदाध्यापन का श्रवण, मनन, निदिध्यासन और परि-प्रश्न आदि। तु० क०—ब्रह्म वेदस्तच्चरणम् (गदाधरभाष्य)।

(ii) ब्रह्म के अनेक अर्थ हैं। प्रकरणोपयोगी अर्थ ये हैं[१४]— वाक्, सत्य, ऋत, मन, हृदय, चक्षु, श्रोत्र, गायत्री, प्रणव (=ॐ का उच्चारण), ऋक्, मन्त्र, वेद, प्रजापति, बृहस्पति, चन्द्रमा, आदित्य, अग्नि, यज्ञ, प्राण

---

१. जैउ०. ३।२१।२; अवे० ३।२७।३. २. तै० ३।११।५।२। ३. वरुणः सम्राट् सम्राट्पतिः। तै० २।५।७।३। ४. वरुण और सोम के वैदिक वर्णन देखें। वरुण—√वृ से और सोम √सु से है। ५. श० ३।१।१।७। ६. तै० २।२।६।२। ७. श० ६।३।१।१६। ८. तै० २।३।६।६; ऐ० १।७। ९. श० ३।२।३।१८। १०. ऐ० ८।१४। ११. तै० ३।१२।६।१। १२. गो० १।५।१५। १३. तु० क० ऐ० ८।१४। १४. देखो वैको० में ब्रह्मपद।

आदि। वाणी, मन, हृदय आदि पर वश, सत्य और ऋत का पालन, गायत्री आदि का अध्ययन और मनन, प्रणव का सेवन, प्रजापति और बृहस्पति का ज्ञान और उस के गुणों को धारण करना, चन्द्र आदि के गुणों को धारण करते हुए उन का यथोचित उपयोग करना, अग्नि, यज्ञ और प्राण विद्याओं का अध्ययन और यज्ञमय बनना आदि ब्रह्मचर्यव्रत के अन्तर्गत आते हैं। ब्रह्मचर्य के तप से ही मृत्यु पर विजय प्राप्त होती है और विशिष्ट कर्म सम्पन्न होते हैं—(अवे० ११।७।१८।१६ आदि)। ब्रह्मचर्य की महिमा अवे० ११।७ में विस्तार से वर्णित की गई है। इस का सविस्तार अंग्रेजी व्याख्यान भूमानन्द सरस्वती रचित वैदिकी लोकव्यवस्था तथा कुछ मन्त्रों का संक्षिप्त भाव संवि० पृ० ६८, ६६ पर देखा जा सकता है। पं० सातवलेकर का अर्थ भी सुन्दर है। वैको० पृ० ३७०-३७२ में ब्रह्मचारी के सम्बन्ध में संकलित ब्राह्मणग्रन्थों के वाक्य भी देखें।

आगाम्—आ + √इ लुङ् उत्तम पु० एक व०। **असानि**—√अस् (होना), लोट् उत्तम पु० एक व०। हो जाऊँ, बन जाऊँ। भाव यह है कि आचार्य बालक से कहे—'ओ३म्, ब्रह्मचर्यमागामिति ब्रू३हि।' इस के उत्तर पर बालक कहे—'ओ३म् ब्रह्मचर्यमागाम्'। अब आचार्य कहे—'ओ३म् ब्रह्मचार्यसानीति ब्रू३हि'। और बालक कहे—'ओ३म् ब्रह्मचार्यसानि।' इस समय बालक यज्ञवेदी पर पश्चिम की ओर आचार्य के दाहिनी ओर पूर्व को मुख कर के बैठे।

वस्त्रपरिधान का महत्त्व

८. **वासः**—वासस् से द्वितीया एक व० (नपुं०)। भाष्यकारों ने कोरे—बिना धुले (=अहत) वस्त्रों का विधान माना है। तु० क० नित्यमनुपहतवासाः सुमनाः सुगन्धिः स्यात्। चरकसंहिता। जयराम ने 'अहत' का लक्षण यह दिया है—

"ईषद्धौतं नवं श्वेतं सदशं यन्न धारितम्।
अहतं तद् विजानीयात् सर्वकर्मसु पावनम्" इति॥

परिधापयति—परि+√धा+णिच्+लट् प्रथम पु० एक व०। संचं० के मत में वस्त्र पहिनाना बालक के मन में आचार्य के प्रति प्रीति उत्पन्न कर देता है[1]। वस्तुतः वस्त्र मानव के रूप हैं[2]। उन से वह सुशोभित होता है[3]। वे ओषधिस्वरूप हैं[4]। साथ ही वस्त्र मनुष्य के स्वरूप और स्वभाव आदि के द्योतक होते हैं। अतः आचार्य विद्यार्थी को उस के पाठ्यक्रम के लिए नियत वस्त्रों को देता है। ये ही वस्त्र उसे अपने ब्रह्मचर्यकाल में पहनने हैं। ये वस्त्र ब्राह्मण के शाण के, क्षत्रिय के क्षौम के और वैश्य के अवि के होने चाहिएं। इन का वर्णन आगे सूत्रकार स्वयं करेंगे (देखो सूसं० ७६)।

९. **इन्द्राय**—इन्द्र पद √इन्द् धातु से बनता है। समस्त वीरकर्म इन्द्र से सम्बन्धित हैं[5]। वह परमैश्वर्यशाली भी होता है[6]। कर्मकाण्ड में प्रयुक्त मन्त्र का अर्थ उस क्रिया और प्रकरण के अनुसार करना आवश्यक है जिस में वह प्रयुक्त हो[7]। अतः हिन्दी अनुवाद प्रकरणानुसार है।

(ii) पुराणों में इन्द्र नाम का देवताओं का राजा है। उस का गुरु बृहस्पति है। टीकाकारों ने इसी अर्थ को अपनाया है। यह विधि वैदिक काल[8] से चली आती है। यह कथा आख्यानिक और पौराणिक है, वास्तविक नहीं। अपि च—इस विधि का मूल अवे० ११।७।४—७ हैं। इन में ७वें मन्त्र में ब्रह्मचारीमात्र को 'इन्द्र' कहा है—'ब्रह्मचारी जनयन् ब्राह्मापो लोकं प्रजापतिं

१. संचं० पृ० ४१२। २. श० १३।४।१।१५। ३. श० ३।१।२।१६ ४. श० १।३।१।१४। ५. नि० ७।१० ६. तु० क० मघवा पद। इस का वैदिक वर्णन भी देखें। ७. देखो वेभाप० ११।३—४। तथा कात्यायन श्रौत सूत्र २।३।१३ और उस पर कर्कभाष्य। ८. यद्यपि अवे० ११।६।२४ में पुराण को वेदादि के साथ उच्छिष्ट से उत्पन्न माना है, तथापि अवे० ११।१०।७—

येत आसीद्भूमिः पूर्वा यामद्धातय इद्विदुः।
यो वै तों विद्यान्नामथा स मन्येत पुराणवित्॥

के अनुसार वहां पुराण वेद के सृष्टिविषयक सूक्तों का द्योतक है।

परमेष्ठिनं विराजम्। गर्भो भूत्वा अमृतस्य योनाविन्द्रो ह भूत्वासुरांस्ततर्द ॥' अतः इन्द्र का भाष्यकारों का अर्थ माननीय नहीं। इसी आधार पर उन का बृहस्पति-पद का अर्थ भी अमान्य है।

(iii) ब्राह्मण ग्रन्थों में **बृहस्पति** को वाणी का स्वामी[1], ब्रह्मपति[2], ब्रह्मणस्पति[3] कहा गया है। ऋग्वेद[4] में **आंगिरसों** को ऋत (=वेद) का शंसक, दिवस्पुत्र, असुर के वीर विप्र और यज्ञ का ज्ञाता कहा गया है। बृहस्पति आँगिरसों में है। अतः हिन्दी अनुवाद।

पर्यदधात्—परि+√धा+लङ् प्रथम पु० एक व०। पहनाते थे अर्थात् पहनाते आए हैं। वैसे भी वैदिक भाषा में भूतकाल की क्रियाएं सब कालों को व्यक्त करती हैं। **अमृतम्**—न मृतम् (√म्रि+क्त) अमर, मरण-रहित, अपरिवर्तित, अतः नियत, निश्चित, निर्धारित। ब्राह्मणग्रन्थों में प्राप्त इस पद के कतिपय अर्थ इस प्रकार हैं—मृत्यु का वारक,[5] सर्व आयु[6], प्राण[7], आपः[8], हिरण्य[9], आदित्य[10], अग्नि[11] और प्रजापति[12]। इन अर्थों की दृष्टि में ही हिन्दी अनुवाद किया गया है। संचं०—दृढ़, नया। भाष्यकार अहत, कोरा। त्वा—त्वाम्। **आयुषे, आयुत्वाय**—आयुपद षकारान्त भी और उकारान्त भी। दोनों पद समानार्थक हैं, परन्तु यहां दोनों का एक साथ प्रयोग बताता है कि दोनों से पृथक्-पृथक् भाव अभीष्ट हैं। अथवा आयुष्—आयु के अभीष्ट भाव को महत्त्व प्रदान करने के लिए भी यह पुनरुक्ति मानी जा सकती है।

(ii) ब्राह्मणग्रन्थों में **आयु** के अर्थ वरुण, अग्नि, संवत्सर, यज्ञ, अन्न, प्राण आदि दिए हैं[13]। वरुण नियमों और व्रतों का द्योतक है[14], अग्नि

---

१. श० १४।४।१।२२। २. तै० २।५।७।४। ३. तै० ३।११।४।२ ४. ऋ० १०।६७।२ ५. श० १०।२।६।६। ६. श० ६।५।१।१० ७. गो० २।१।१३ ८. तै० १।७।६।३ ९. तै० १।७।६।३ १०. श० १०।२।६।१६ ११. श० १०।२।६।१७ १२. श० ६।३।१।१७। १३. देखो वैको० में आयुः पद। १४. ऋ० १।२५।१०।

अग्रणीत्व, दाहकत्व आदि का, संवत्सर काल का, यज्ञ विद्याग्रहण, तपश्चरण आदि शुभ कर्मों का, अन्न और प्राण शारीरिक स्वास्थ्य और शक्ति आदि के[1]। अतः यहां ये सभी भाव अभिप्रेत हैं। **आयुत्वाय**—आयोर्भावः आयुत्वम्, तस्मै। **बलाय**—शारीरिक शक्ति। **वर्चसे**—ब्रह्मतेज। जयराम इन्द्रियशक्ति, ऐश्वर्य।

येनेन्द्राय मन्त्र का अर्थ

(iii) समस्त मन्त्र का सं० च० का अर्थ इस प्रकार है—हे बालक (येन) जिस विधि से (बृहस्पतिः) गुरु-आचार्य ने (इन्द्राय) अपने शिष्य के लिए (अमृतं वासः) जो जला, फटा, कम चलने वाला न हो ऐसे वस्त्र को (पर्यदधात्) धारण कराया है (तेन) उस विधि से ही (त्वा) तुझे (परिदधामि) मैं सुन्दर वस्त्र पहनाता हूं (आयुषे) स्वास्थ्य के लिए और (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ जीवन के लिए (बलाय) देह में शक्ति आने के लिए (वर्चसे) इन्द्रियों के तेज के लिए वा ऐश्वर्य के लिए।

(iv) श्री शुकदेव लिखते हैं कि वस्त्र पहन कर ब्रह्मचारी दो आचमन करे। पारस्कर का ऐसा विधान नहीं है।

१०. मेखलाम्—तगड़ी। जिस प्रकार आजकल धोती को धारण करने के लिए तगड़ी और पतलून आदि के धारण के लिए पेटी पहनी जाती है, उसी प्रकार प्राचीन समय में मृगचर्म और वल्कलों को धारण करने के लिए मेखला पहनी जाती थी। ब्राह्मण आदि के लिए भिन्न-भिन्न मेखलाएं बताई गई हैं। इन का वर्णन आगे आयेगा। मेखला—मीयते प्रक्षिप्यते कायमध्यभागे। √मी+खल्। **बध्नीते**—√बन्ध्+लट् आत्मनेपद, प्रथम पु०। धातुपाठ में यह धातु परस्मैपदी है। यहां मेखला ब्रह्मचारी को बांधी जानी है। यदि, जैसा भाष्यकारों ने माना है, यह मेखलाबन्धन

१. इन पदों की व्युत्पत्ति और ब्राह्मण ग्रन्थों के अर्थों के आधार पर व्याख्या।

आचार्य द्वारा किया गया माना जाये तो दो समस्याएं उपस्थित होती हैं—बध्नीते का फल कर्तृगामी नहीं है, प्रत्युत बालकगामी है। अतः यहां परस्मैपद होना चाहिये था[1]। दूसरे 'दुरुक्तम्' मन्त्र में 'मे' के स्थान पर 'ते' आना चाहिए था। भाष्यकार गदाधर लिखते हैं कि मेखलाबन्धन आचार्य करते हैं, मन्त्रपाठ यद्यपि पदप्रयोगों से ब्रह्मचारी द्वारा प्रतीत होता है तथापि पदार्थ (=क्रिया) प्रधान है, और मन्त्रपाठ गौण—प्रधानभूतश्च पदार्थः, गुणभूतश्च मन्त्रः। उन्हों ने यह कारिका भी दी है—

"बध्नीयात् त्रिगुणां श्लक्ष्णामियं दुरुक्तमुच्चरन्।
आचार्यस्यैव मन्त्रोऽयं न बटोरात्मनेपदात्॥"

परन्तु 'बध्नीते' के आत्मनेपद से भाष्यकारों के निष्कर्ष के ठीक विपरीत भाव निकलना चाहिए—मेखलाबन्धन ब्रह्मचारी करता है, प्रेरणा आचार्य देता है। ऐसी अवस्था में मन्त्र को क्रिया से गौण मानने की आवश्यकता नहीं रहेगी। सूत्रकारों को क्रिया और उस में विनियुक्त मन्त्रों के अर्थ में एकता नितान्त वाञ्छनीय है। देखो वेभाप० ११।३—४।

११. वर्णम्—उ० ३।१० में इसे √वृ से नित् न प्रत्यय लगा कर बनाया है। दस० की टीका में इस का अर्थ 'यश' भी दिया है। यही अर्थ यहां ग्रहण किया है। सं० चं० ने 'वर्णभाव' अर्थ ग्रहण किया है। इस का आशय है—जिन ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य गुणों की प्राप्ति की कामना से मैं दीक्षित हुआ हूं। मेखला उस गुणग्रहणकामना को पवित्र करती है। विश्वनाथाचार्य ने इस का भाव ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ण अर्थ किया है। मेखला इन तीनों वर्णों को पवित्र करती है। क्यों कि तीनों वर्ण व्रतधारण में मेखलाधारण करते हैं। परन्तु यह अर्थ मन्त्रकार को अभीष्ट रहा प्रतीत

१. देखो पा० १।३।७२, ७८; सिकौ० २१५८—९। पाणिनीय धातुपाठ में यह धातु परस्मैपद है।

नहीं होता क्योंकि उस की दृष्टि में प्रजाओं के वेद में वर्णित एक—विश, दो दैवी—मानुष, या, आर्य—दस्यु, या, शूद्र—आर्य आदि विभाग भी थे। उन विभागों की दृष्टि में वे ब्राह्मणादि तक ही अर्थ को सीमित न कर सके होंगे। **प्राणापानाभ्यां बलमादधाना**—शरीर में यद्यपि दस वायुओं की स्थिति मानी गई है, तो भी प्राण=श्वास से अन्दर जाने वाली और अपान शरीर से बाहर निकलने वाली वायुएं ही प्रमुख हैं। इन के ज्ञान में सम्पूर्ण प्राणविद्या निहित है। ब्राह्मणग्रन्थों में इन्हें अश्विनौ[1], अध्वर्यू[2], द्यावापृथिवी[3] आदि कहा गया है। इन दोनों के बलिष्ठ होने पर शरीर भी बलिष्ठ हो जाता है और उस के साथ बुद्धि भी। प्राण और अपान को वश में करने के हेतु ही प्राणायाम किया जाता है। **आदधाना**—अ+√धा+शानच्, स्त्री० प्र० एक व० **स्वसा**—विश्वनाथ—बहन। जयराम-स्वसृवत् हितकारी। संचं० ने इस पद में लुप्तोपमा मानकर 'बहन के तुल्य' अर्थ किया है। उ० २।६६ में इस की व्युत्पत्ति—सुष्ठु अस्यति दी गई है। अर्थात्—जो शैथिल्य, आलस्य आदि को अच्छी प्रकार दूर करती है वह 'स्वसा' है। निघं० २।५।१३ में इसे अंगुलि का पर्याय माना है। अंगुलि कर्म करती हैं, वे गतिशील हैं। इसी प्रकार के पद स्वसराणि को निघं० १।६।५ में अहर्नाम, ३।४।१० में गृहनाम और ४।२।२२ में पदनाम बताया गया है। पदनामों में संकलित पद गति, प्राप्ति और ज्ञान अर्थों के द्योतक हैं। देखो हमारा लेख दयानन्द एण्ड दी निघण्टु ऑफ यास्क। अतः वैदिक ऋषियों को 'स्वसा' का गति अर्थ अभीष्ट है। **देवी**—जयराम—दीप्तिदात्री (=प्रकाश देने वाली)। विश्वनाथ—दानादि गुणयुक्त। **सुभगा**—जयराम—सौभाग्य देने वाली। ऐश्वर्य प्रदान करने वाली, कल्याणकारिणी। भाग्य पूर्वजन्म के कर्मों का फल मात्र है। अतः अनुवाद में कर्मफल देने वाली अर्थ किया गया है। मेखला जड़ वस्तु है, उस में फल देने की शक्ति नहीं।

---

१. श० १२।६।१।१४; २. गो० १।२।१० ३. श० ४।३।१।२२। यहां पर प्राण के साथ उदान का पाठ है।

परन्तु वह कर्म की और प्रवृत्ति विशेष की सूचक है जो पूर्वजन्म के संस्कारों से प्रभावित हैं। अतः ऐसा वर्णन किया गया है।

१२. **युवा सुवासाः**—ऋ० ३।८।४। दस० ने अपने भाष्य में तथा सत्यार्थ प्रकाश पृ० ५३ में इसे समावर्तित युवक के पक्ष में लगाया है। हरदत्त ने ब्रह्मचारी के पक्ष में ही लिया है। वस्तुतः यह मन्त्र अनेक प्रकरणों में संगत हो सकता है और तदनुसार व्याख्यान में भेद किया जा सकता है। मूल पदों के अर्थ में विशेष अन्तर नहीं है। **इति वा**—यह मन्त्र पारस्कर के मत में मौञ्जीबन्धन में वैकल्पिक है। **युवा**—इस का सामान्य अर्थ 'यौवनावस्था को प्राप्त, जवान' होता है। हरदत्त ने इस की व्युत्पत्ति—√यु मिश्रणे। मिश्रणमनुष्ठानम्। अनुष्ठाता।केषाम्। सामर्थ्याद् ब्रह्मचारिधर्माणां समिदाधानभिक्षाचर्यादीनाम्। की है। अर्थात् ब्रह्मचर्य व्रत के कर्मों को करने वाला। जयराम के मत में गुणों को इकट्ठा करने वाला (यौतीति युवा)। अतः नया ब्रह्मचारी जो व्रत का पालन, गुणों और विद्या का ग्रहण करता है। संचं० दृढ़ शरीर वाला। **सुवासाः**—सु शोभनानि वासांसि यस्य सः। जयराम के मत में 'अहत=कोरा' वस्त्र ही शोभन होता है। हरदत्त के मत में शुद्ध-साफ वस्त्र। **परिवीतः**—परि+वि+√इ+क्त। चारों ओर से विशेष रूप से घिरा हुआ, व्याप्त। हरदत्त—कृष्णाजिन आदि से परिवेष्टित। जयराम—माला और आभूषण आदि से सजा हुआ। परन्तु अभी उस ने मेखला और कृष्णाजिन धारण नहीं की हैं। उस की वेशभूषा पूरी नहीं हुई है। अतः यहां पर 'विद्याप्राप्ति की भावना से भरा हुआ' अर्थ ही प्रकरणोचित प्रतीत होता है। **आगात्**—आ+√इ लुङ् प्रथम पु० एक व०। जयराम —मेखला धारण करने के लिए आचार्य के पास आया है। हरदत्त—ब्रह्मचर्य को प्राप्त हुआ है। **श्रेयान्**—हरदत्त विद्या से श्रेष्ठ। जयराम—शुद्ध। संचं०—लोगों का कल्याण करने वाला। कठोप० १।२।२ में श्रेयः और प्रेयः को पृथक्-पृथक् माना है। धीर पुरुष श्रेयः की कामना करते हैं। अभी ब्रह्मचारी न विद्या से श्रेष्ठ हो पाया है न कल्याणकर्त्ता। यद्यपि वे

भविष्य के प्रति कामना मानी जा सकती हैं तथापि कठोप० की परिभाषा में 'श्रेय के ज्ञान का अधिकारी' अर्थ प्रकरणोचित प्रतीत होता है। **जायमानः**—√जन्+शानच्। दस०—प्रसिद्ध हो कर। हरदत्त—ब्रह्मचारी के रूप में उत्पन्न हुआ, क्यों कि स्मृति का वचन है—'तेषां मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौञ्जीबन्धनम्।' अथर्ववेद के मत में उपनयन करते हुए आचार्य ब्रह्मचारी को तीन रात तक अपने गर्भ में धारण करता है। उपनयन प्रारम्भ होते ही यह गर्भ या जन्म प्रारम्भ हो जाता है। इसी को वेदमन्त्र ने शानच् प्रत्यय से व्यक्त है।—

"आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः ॥" अवे० ११।७।३

इसी से उपनीत व्यक्ति को द्विज या द्विजन्मा कहते हैं। ५वें मन्त्र में ब्रह्मचारी को तप से भी उठता हुआ कहा है—

"पूर्वो जातो ब्रह्मणो घर्मं वसानस्तपसोदतिष्ठत् ॥"

ये दोनों ही भाव प्रकरण में अभिप्रेत हैं। अतः हिन्दी अनुवाद में ग्रहण किए गए हैं। **धीरासः**—वेद में पुल्लिंग प्रथमा बहुवचन में देवाः और देवासः दो रूप होते हैं। धी+र (मतुप् के अर्थ में)। प्रज्ञावान्, बुद्धिमान्। जयराम—स्थिरप्रजाः (स्थिरप्रज्ञाः ?)। विश्वनाथ—पण्डिताः। सं॰चं०—बुद्धिपूर्वक कार्यकर्त्ता। कालिदास—विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः। ऋ० ४।३३।२ में धीर का लक्षण विद्याग्रहण, बुद्धि आदि के लिए पुष्टि धारण करने वाला किया है—धीरासः पुष्टिमवहन् मनायै (दस०—मन्तव्यायै विद्यायै—√मन् विचारना से)। ऋ० ४।३६।७ में कवि और विपश्चितों को धीर कहा है—'धीरासो हि ष्ठा कवयो विपश्चितस्तान् व एना ब्रह्मणा वेदयामसि'। अतः धीरों को वेदज्ञान की गरिमा से ही पहचाना जाता है। **कवयः**—कौति शब्दयत्युपदिशति स कविः। मेधावी विद्वान्। क्रान्तदर्शनो वा। (उ० ४।१३८ में दस० का भाष्य)। √कु+इ। तत्त्वदर्शी

विद्वान्। वेदभाष्य में दस०—अनूचानाः विद्वांसः। ब्राह्मण ग्रन्थों में कवि को वेदोपदेशक, ऋषि, बहुश्रुत विद्वान् और आदित्य (ब्रह्मचारी) कहा है। ऋ० १।१६४।६ में कवियों को जानने वाला, विशिष्ट ज्ञानवान् (=चिकितुषः) कहा है। ऋ० ६।३६।१ में कवि के गुण मन्द्र, दिव्य वह्नि (=धारक), विप्रमन्म और मधुवचन दिए गए हैं—"मन्द्रस्य कवेर्दिव्यस्य वह्नेर्विप्रमन्मनो वचनस्य मध्वः॥" **स्वाध्यः**—दस० (वेदभाष्य)—अच्छी प्रकार विद्या का आधान करने वाले (सु+आ+√धा से)। सप्र०—अच्छे प्रकार ध्यानयुक्त (सु+आ+√ध्यै से)। जयराम—शोभन चित्त की वृत्ति वाले। हरदत्त—कल्याणचित्त। ऋ० १।७२।८ में ऋत के ज्ञाताओं को स्वाध्यः कहा है। ऋ० १।१५१।१ में वाणियों में परा विद्या के जानने के इच्छुक और अध्यापन यज्ञ में कर्मों द्वारा ब्रह्मचारी के मन या प्राणों में ज्ञान उत्पन्न करने वाले 'स्वाध्यः' कहे गये हैं—'मित्रं न शिम्या गोषु गव्यवः स्वाध्यो विदथे अप्सु जीजनन्।' अतः हिन्दी अनुवाद। **मनसा**—दस०—विज्ञान या अन्तःकरण से। जयराम—मनोवृत्ति से। विश्वनाथ—मनोव्यापारों से। **देवयन्तः**—देवं ब्रह्मचारिणः इच्छन्त इति। देव से नामधातु। लौकिक संस्कृत में नामधातु आत्मेच्छा में प्रयुक्त होते हैं। वेद में परेच्छा में भी प्रयोग पाया जाता है। तु० क०—छन्दसि परेच्छायामिति वक्तव्यम्। पा० ३।१।८ पर वार्तिक। जयराम—वेदार्थ ज्ञापन करते हुए। दस० सप्र०—विद्यावृद्धि की कामना युक्त। वेभा०—कामना करते हुए। हरदत्त—देवताओं के लिए यज्ञ करने के इच्छुक अर्थात् श्रौत और स्मार्त कर्मों में लगे हुए मन वाले। संचं०—देवभाव की कामना करने वाले विद्वान्।

युवा सुवासाः का विनियोग

(ii) दस० ने संवि० में इस मन्त्र के उच्चारण के साथ ब्रह्मचारी को आचार्य द्वारा दो कौपीन, दो अंगोछे, एक उत्तरीय और एक कटिवस्त्र दिये जाने का विधान माना है। परन्तु पारस्कर का मत ऐसा नहीं है। वे इस मन्त्र को केवल मेखलाबन्धन में विकल्प रूप से उपस्थित करते हैं।

(iii) श्री शुकदेव लिखते हैं कि इन दोनों मन्त्रों को ब्रह्मचारी पढ़े। यह ठीक नहीं। अर्थ के अनुसार इयं दुरुक्तं आदि को बालक और युवा सुवासः को आचार्य पढ़े।

१३. तूष्णीं वा—उपरोक्त दोनों मन्त्रों में से किसी एक का उच्चारण किया जा सकता है। अथवा मेखलाबन्धन बिना किसी मन्त्र का उच्चारण किए ही किया जा सकता है।

१४. अत्रेति—यह सूत्र गुजराती प्रेस और पं० शुकदेव के संस्करणों में नहीं है। इस के आगे के 'यज्ञोपवीतम्' आदि मन्त्र से 'दधेऽहमिति (१५–१७) तक कोष्ठकों में उपलब्ध होता है। जयराम लिखते हैं कि पारस्कर ने इन दोनों कर्मों—यज्ञोपवीत धारण और अजिनप्रदान का विधान नहीं किया है। अतः परम्परा से प्रचलित होने से आचार के अविरोध के कारण इन दोनों कर्मों को अन्य शाखाओं के मन्त्रों से सम्पन्न करते हैं। तु० क०—

"यन्नाम्नातं स्वशाखायां परोक्तमविरोधि च।
विद्वद्भिस्तदनुष्ठेयः अग्निहोत्रादि कर्मवत् ॥" कात्याय० श्लोक ३०

यज्ञोपवीतम्—जयराम—यज्ञेन प्रजापतिना यज्ञाय वेदोक्तकर्माधिकारायेति वा उपवीतं रचितम्। यज्ञ या वैदिक कर्मों के लिए निर्मित। (√यज्+नङ्। उप+वि+√इ+क्त)। अतः यज्ञ के लिए दीक्षा का द्योतक चिह्न। वैदिक संस्कृत में **यज्ञ** का महत्त्व बड़ा भारी है। यह मानवजीवन के प्रत्येक क्षेत्र में फैला हुआ है। इसी लिए ऋग्वेद के यज्ञसूक्त में कहा है—'यो यज्ञो विश्वतस्तन्तुभिस्ततः। (ऋ० १।१३०।१) यह ही स्वर्ग है और मानव द्वारा सम्पन्न होता है। (मन्त्र २)। ब्राह्मणग्रन्थों में इस के अनेकविधि अर्थ और व्याख्यान किए गए हैं। यथा—प्राण, अध्वर (—हिंसा-रहित), नमः, भगः, ऋत की योनि, महिमा, महान् देव, बृहन् विपश्चित्। अर्यमा, वसु, स्वः, सुख, श्रेष्ठतम कर्म, विट्, ब्रह्म, त्रयी विद्या, प्रजापति, इन्द्र, विष्णु, देवों की आत्मा, अन्न, देवरथ, अग्नि, वाक्, वायु, संवत्सर, सविता, यजमान,

आत्मा, पुरुष, पशु, भुवन की नाभि, अनस्, आपस्, रेतः, विराट्, आहुति आदि। दस० ने अपने भाष्यों में इसी प्रकार के बहुविध अर्थ इस पद के किए हैं। संक्षेप में जिस उत्तम कर्म में देवपूजा (—विद्वानों की सेवा, सत्कार, उन से ज्ञानप्राप्ति आदि), संगतिकरण (—दो पदार्थों, भावों, स्थितियों आदि का सम्मिश्रण) और दान के भाव पाए जाएं वही यज्ञ है। इस दृष्टि से अध्ययन, ब्रह्मचर्यव्रत का पालन आदि यज्ञकर्म होते हैं। ये ही यहां अभिप्रेत हैं। अग्नि में आहुति डालना रूप यज्ञ उपरोक्त प्रकार के यज्ञों का क्रियात्मक ध्यान दिलाने वाली प्रतीक है जो सदैव मानव को परोपकार के लिए अपने जीवन को आहुत करने का सन्देश देती है। यजुर्वेद का अध्याय १८ भी देखें। ऐसे यज्ञ में दीक्षित हुए बिना राष्ट्र का समुचित वहन संभव नहीं। अतः प्रत्येक बालक को उस में उपनीत किया जाता था। इस युग में दस० और आर्यसमाज ने पुनः इस प्रणाली को प्रवृत्त किया है।

१५. **परमम्**—पर आत्मा मीयते ज्ञाप्यते तेन वाक्योपदेशाधिकारित्वात् (जयरामः)—जिस से परम आत्मा का परिचय मिलता है। भाव यह है कि यज्ञोपवीत धारण करने पर बालक ब्रह्मज्ञान के उपदेश का अधिकारी हो जाता है। विश्वनाथ—असाधारण, अत्यधिक। **पवित्रम्**—शोधक, पावन। क्यों कि यह मनुष्य को सत्कर्मों में प्रेरित करता है। अथवा, पवित्र कर्मों का प्रतीक होने से गौणवृत्ति से इस का पावनत्व है। **प्रजापतेः**—जयराम—ब्रह्मणः। ब्राह्मणग्रन्थों में प्रजापति को यज्ञ भी कहा है। प्रकरण में यही अर्थ सब से अधिक समीचीन जान पड़ता है। **सहजम्**—सह जायते, तम्। जयराम—स्वभावशुद्ध। इस अर्थ में प्रजापति में लुप्तोपमा मानने पर अर्थ में विशेष सौंदर्य आ जाता है। प्रजापति का अर्थ 'यज्ञ' करने पर 'सहज' का स्वाभाविक अर्थ 'साथ उत्पन्न' किया जा सकेगा। **पुरस्तात्**—जयराम—पहले से ही उत्पन्न। विश्वनाथ—ब्रह्मा की उत्पत्ति के समय से उत्पन्न। **आयुष्यम्**—आयुषे हितम् आयुष्यम्। आयु। **अग्र्यम्**—अग्रे भवम्। प्रमुख। **प्रतिमुञ्च**—प्रति+√मुच्, लेना, पहनना। उत्तम पुरुष के स्थान

पर मध्यम पु० का प्रयोग हुआ है। शुभ्रम्—निर्मल करने वाला। बल—धर्मसामर्थ्यप्रद।

यज्ञोपवीतं परमं मन्त्र का अर्थ

(ii) इस मन्त्र का संस्कारचंद्रिका का अर्थ कुछ भिन्न है, परन्तु मिलता-जुलता है। वह इस प्रकार है—

"हे बालक (यज्ञोपवीतम्) "यज्ञाय यज्ञकर्मणे—वेदोक्तकर्माधिकारायेति वा उपवीतम्—उपरिवीतम्—परिहितम्" वेदोक्त कर्म में अधिकारी बनने के लिये जो कन्धे के ऊपर रक्खा जाय इस "ब्रह्मसूत्र" को और जो (परमम्) परः आत्मा, मीयते—ज्ञायते अनेन, परमात्मा के ज्ञानप्राप्ति का सूचक है (पवित्रम्) शुद्धि के ज्ञान की सूचना करने वाला (यत्, प्रजापतेः, सहजम्) जो ईश्वर से स्वभावसिद्ध उपदिष्ट है। (पुरस्तात्) पूर्व काल से चला आता है (आयुष्यम्) आयु के लिए हितकारी (अग्र्यम्) मुख्य है, ऐसे इस "ब्रह्म सूत्र" को मैं आज (प्रतिमुञ्च) बांधता हूं (पुरुषव्यत्ययश्छान्दसः) (शुभ्रं यज्ञोपवीतम्) यह निर्मलता का बोधक यज्ञोपवीत (बलम्) बल देने वाला और (तेजः) तेज देने वाला ईश्वर करे कि (अस्तु) होवे। हे ब्रह्मसूत्र (यज्ञोपवीतम्, असि) तू यज्ञोपवीत है (त्वा) तुझे (यज्ञस्य) यज्ञकार्य के लिए ही (ग्रहण करता हूं) और मैं स्वयं आज (यज्ञोपवीतेन) यज्ञोपवीत से (उपनह्यामि) बंधता हूँ।" पृ० ३६५।

श्री शुकदेव ने यहां भी दो आचमनों का विधान किया है।

१६. **अथाजिनम्**—जैसा ऊपर लिखा जा चुका है यह विधि पारस्कर द्वारा प्रोक्त नहीं है। **अजिनम्**—अजति गच्छति क्षिपति वा तत्। उ० २।४८ दस० की टीका। 'चीता, शेर और हाथी आदि का और विशेष कर काले हिरन का रोंए दार चमड़ा।" (संशकौको०)।

(ii) अजिनदान के समय पढ़ें जाने के लिए तुरन्त आगे दिये मन्त्र के उत्तरार्द्ध—'वसनम्······अजिनं दधेहम्' से स्पष्ट है कि यह अजिन वस्त्र

रूप में प्रयोग करने के लिए दी जा रही है, पारस्कर वासःपरिधान पहले ही सूत्र ८–९ में करा चुके हैं। अतः यह अजिनदान पूर्वोक्त प्रयोजन से व्यर्थ है। विश्वनाथ के मत में यह अजिन यज्ञोपवीत के पश्चात् (अर्थात्—ऊपर) धारण की जाती है।

१७. मित्रस्येति—मिते दुःखात् त्रायते असौ मित्रः। वेद में देवतावाचक मित्रपद पुल्लिंग है। उ० ४।१६४ में इस की व्युत्पत्ति 'मिनोति मान्यं करोति' दी गई है। सुहृद्-वाचक मित्रपद नपुंसक लिङ्ग में प्रयुक्त होता है। ब्राह्मणग्रन्थों में इस के अर्थ—'सत्र का मित्र, सत्य का जनयिता और स्वामी, ब्रह्म, क्षत्रपति, अग्नि, प्राण, लोकरक्षक, वायु, संगव, दिन, जलहीन ओषधियां, अपने आप गिरी वृक्षों की शखाएं, पयः, अर्धमास, (=कृष्ण और शुक्ल पक्ष) आदि दिए हैं[1]।

(ii) यजुर्वेद २४।३६ में **एणी** का सम्बन्ध सर्पों से बताया है। सर्प के अर्थ देव[2] और लोक[3] हैं। मित्र लोकों का रक्षक है। दूसरी ओर य० २४।८ में **एनी** को मित्रसम्बन्धी बताया है। अतः अजिन को मित्र की चक्षु के समान वर्णित किया गया है। **चक्षुः**—इस को लुप्तोपमा भी लिया जा सकता है और अजिन का समानाधिकरण विशेषण भी। **धरुणम्**—धारयतीति धरुणम्। √धृ+उनन्। धारण करने वाला। वस्त्र शरीर की गर्मी-सर्दी से रक्षा करने के कारण 'धरुण' कहलाता है। **तेजः**—तेजस्वि के लिए प्रयुक्त हुआ है। अथवा इसे अतिशयोक्ति मान कर 'वसनम्' का विशेषण भी माना जा सकता है। **स्थविरम्**—तिष्ठतीति स्थविरम्। √स्था +किरच्। ठैरने वाला, दृढ़, पक्का। **समिद्धम्**—सम्+√इन्ध्+क्त। प्रदीप्त। **अनाहनस्यम्**—आ+√हन्=आहनम्, तत् आत्मन इच्छतीति आहनस्यम्। न आहनस्यम् अनाहनस्यम्। श्री म० मो० विलियम्ज़ ने इस के अर्थ पवित्र, शुद्ध, शिष्ट दिए हैं। अजिन ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य के व्रत

१. वैको० मित्रपद। २. तै० २।२।६।२ ३. श० ७।४।१।२५

का स्मरण दिलाने के कारण पवित्र मानी गई है। जरिष्णु—√जॄ+इष्णुच्। जीर्ण होने के स्वभाव वाला। अर्थात् चिरकाल स्थायी। परि दधे—वैदिक भाषा में प्रधान वाक्यों में उपसर्ग और क्रिया का प्रयोग स्वतन्त्र पदों के रूप में होता है। अतः यहां दोनों एक दूसरे से पृथक् भी हैं और बीच में दो पद भी आए हुए हैं। वाजि—√वज् (जाना)+घञ् = वाजः। वाज+इनि=वाजिन्। नपुं० द्वितीया एक व०। वाज के अर्थ[1] अन्न, वीर्य, ओषधियां, पशु, स्वर्ग लोक, ज्ञान, प्राप्ति आदि होते हैं। अतः वाजि—ज्ञान और शक्ति सम्पन्न। उस से ज्ञान और शक्ति की प्रतीक।

१८. दण्डं प्रयच्छति—दण्डदान का विधान पारस्कर ने अन्य आचार्यों के समान किया है। दण्ड—पद √दम्+ड—दाम्यन्त्युपशाम्यन्त्यनेन स दण्डः। उ० १।११४। शान्त करने वाला। इसे √दण्ड्+घञ् से भी बनाया जा सकता है। यह न्याय और अनुशासन का प्रतीक है। महाभारत में दण्डनीति का युधिष्ठिर और अर्जुन के संवाद के रूप में एक सुन्दर व्याख्यान प्रस्तुत किया गया है। धर्म, तप, व्रत, आदि सब की रक्षा दण्ड से होती है। सामान्य दृष्टि से भी आरण्य जीवन में ब्रह्मचारी को रक्षा के लिए हर समय अपने पास डण्डा रखना आवश्यक था।

(ii) दण्ड देते समय आचार्य कुछ नहीं बोलता है।

(iii) दण्ड की लकड़ी और मान के विषय में आगे सूसं० ८६—९० में पारस्कराचार्य ने स्वयं विवरण प्रस्तुत किया है।

२०. वैहायसः—विशेषण हयति गच्छति, हाययति गमयतीति वा इति विहायाः। (देखो अकोसु० १।२।२; और २।५।३२) तस्य अयमिति वैहायसः। वि+√हय्+असुन्। उस से अण्-प्रत्यय। विशेष रूप से गतिशील। डण्डा स्वयं तो गतिशील नहीं है, परन्तु प्रयोक्ता द्वारा गतिमान् कर दिया जाता है। इस में दण्ड के सब पर प्रभुत्वशाली होने का भाव लक्षित

१. देखो वैको० में वाजपद।

हो रहा है। **अधि**—सप्तमी और प्राधान्य का द्योतक है। प्रकरण में यह पद दण्ड की सब पदार्थों में श्रेष्ठता और शक्तिमत्ता का द्योतक है। **भूम्याम्**—भवति इति भूमिः। अक्रोसु० २।१।२। होने वाले, विद्यमान, सत्ताधारी पदार्थ, स्थिति, भाव आदि। **पुनः**—भाष्यकार जयराम लिखते हैं—'पुनर्ग्रहणात् सोमदीक्षायां यो दण्डो ग्राह्यः तमप्याददे इत्याशंसनम्" अर्थात्—जो डण्डा सोमदीक्षा में ग्रहण किया जाता है उस को भी ग्रहण करता हूं यह भावना 'पुनः' शब्द के प्रयोग से प्राप्त होती है। परन्तु अगले सूत्र 'दीक्षावदेके०' से यह सुव्यक्त है कि पारस्कराचार्य यहां पर ग्रहण किये जाने वाले डण्डे के सोमदीक्षा के डण्डे से सम्बन्ध को प्रशस्त नहीं मानते हैं। अतः यहां पर 'येनेन्द्राय बृहस्पतिः' आदि मन्त्र के समान पूर्व काल के ब्रह्मचारियों की परिपाटी की ओर संकेत मानना उचित प्रतीत होता है। **ब्रह्मवर्चसाय**—जयराम ने इस का अर्थ 'याजनाध्यापनोत्कर्षतेजसे' किया है।

२१. **दीक्षावदिति**—कुछ आचार्यों का विचार है कि जिस प्रकार सोमयाग में दीक्षा लेने वाला डण्डे को चुपचाप ग्रहण कर के कात्यायनश्रौतसूत्रपठित—"उच्छ्रयस्व वनस्पते ऊर्ध्वो मा पाह्यंहस आस्य यज्ञस्योद् ऋचः" (य० ४।१०; का० य० ४।१३) इस मन्त्र को पढ़ कर ऊपर उठाता है, उसी प्रकार यहां भी चुपचाप, बिना 'यो मे दण्डः' आदि मन्त्र को पढ़े दण्डा ग्रहण करे और 'उच्छ्रयस्व वनस्पते' आदि मन्त्र से ऊँचा उठाए[1]।

(ii) इन आचार्यों की युक्ति यह है कि श्रुति का कहना है कि 'दीर्घसत्रं

---

१. शुकदेव वर्मा की टीका में ओ३म् सुसस्याः कृषीस्कृधि। य० अ० ४ म० १०। इस मन्त्र को पढ़ता हुआ रेखा कर 'ओ३म् उच्छ्रयस्व वनस्पत... .. इस मन्त्र को पढ़ता हुआ रेखा पर दण्ड के मूल को खड़ा कर उसे दाहिने हाथ में ग्रहण करे।' —यह विधान दिया है। तु० क०—भूमौ चोल्लिखति सुसस्या इति मुखसम्मितमौदुम्बरं दण्डं प्रयच्छति उच्छ्रयस्वेत्येनमुच्छ्रयति। तं दक्षिणेनोपधत्ते॥ का० श्रौ० ७।६४–६७।

वा एष उपैति यो ब्रह्मचर्यमुपैति ।' अर्थात् जो ब्रह्मचर्यव्रत को धारण करता है वह दीर्घसत्र में दीक्षित होता है। भाष्यकारों का कहना है कि यहां सोमयाग और ब्रह्मचर्यव्रत दोनों में दण्डधारण किए जाने के कारण ही ब्रह्मचर्यव्रत का दीर्घसत्र से साम्य बताया गया है। अगर ऐसा ही है तो सोमयाग की दीक्षा के समान दण्ड धारण न करना चाहिए, बल्कि 'यो मे दण्डः' आदि मन्त्र के साथ ग्रहण करना चाहिए। भर्तृयज्ञ, कर्क और जयराम के मत में यहां पर दीर्घसत्र का कथन इस लिए किया है कि ब्रह्मचर्यव्रत की अवधि भी बहुत लम्बी होती है। गदाधर लिखते हैं कि दीक्षा के समान दण्डग्रहण के पक्ष में वासुदेव, कारिकाकार और हरिहर हैं।

(iii) कात्यायन श्रौतसूत्र के **'उच्छ्रयस्व' आदि मन्त्र का अर्थ** यह है—[वनस्पते] हे दण्ड, [ऊर्ध्वः] (मेरे उठाने पर तुम) ऊँचे [उच्छ्रयस्व] उठो। [मा] मुझे (आचार्य, शास्त्र आदि के दण्ड का स्मरण करा के) [अंहसः] पापों से (और दुष्टों पर प्रहार कर के) विपत्तियों से [पाहि] बचाओ। [आ] सब ओर से [अस्य] इस [यज्ञस्य] यज्ञ (के समान मुझे) [उद्दचः] तेजस्वी बना दो।

(iv) **वनस्पते**—ब्राह्मणग्रन्थों में इस के अर्थ[1] अग्नि, प्राण, पयोभाजन दिए हैं। अवे० ८।७।१६ में इसे ओषधियों का राजा कहा है। **वन**[2] √वन् से बनता है, जिस के अर्थ 'प्रतिष्ठा करना, पूजन करना, सहायता करना, काम में लगना, खोज करना, मांगना, जीतना, वश में करना, अनुग्रह करना आदि हैं। पति √पा रक्षा करना से निष्पन्न होता है। अतः वनस्पते का प्रयोग यहां साभिप्राय है। कमनीय, सहायक, सम्मानित करने वाला, विजयी आदि भाव यहां अभीष्ट हैं। वेदमन्त्रों में 'वनस्पति' के वर्णन भी ध्यान देने योग्य हैं।

१. देखो वैको० में वनस्पति-पद। २. तु० क० वानरपद—वनस्येदं वानं, तद्राति इति वानरः—कमनीय गुणों का धारक। अकोसु० २।५।२ भी देखें।

जल से अंजलि भरना और उस का रहस्य

२२. अथास्येति—जलों से अपनी अंजलि भर कर उस के जल को ब्रह्मचारी की अंजलि में छोड़ता है। ब्राह्मणों में 'आपः' के अर्थ 'सब कामनाओं के प्रापक, तप्त पुरुष से उत्पन्न, प्राण, अमृत, शान्ति, ओषधीनां रसः, सत्य में प्रतिष्ठित, श्रद्धा, मेध्य, अन्न, रक्षोघ्नी, वज्र, वीर्य, अर्क, द्यौः, यज्ञ, रेतस्, पशवः, सर्वे देवाः, देवानां प्रियं धाम, शूद्रों का भक्ष, योषा' दिए हैं। इस अञ्जलिपूरण क्रिया में इन अर्थों के अनुरूप भाव अभिप्रेत हैं। इस क्रिया द्वारा आचार्य ब्रह्मचारी को शुद्ध और सत्य भाव से ब्रह्मचारी को श्रद्धान्वित सत्य का अभिलाषी आदि समझ कर सम्पूर्ण ज्ञान दे कर उसे सब कामनाओं को प्राप्त करने में समर्थ, अमृत, शान्ति, सप्राण, रसयुक्त (तु० क० अवे० ५।१६।१—११) सत्य में प्रतिष्ठित, श्रद्धावान्, मेध्य अन्नवान्, रक्षोहा, वज्रवत्, वीर्यवान् आदि बनाने को प्रतिज्ञा करता है। वह ब्रह्मचारी को अपना समस्त ज्ञान आदि उसी प्रकार सम्पादित करेगा जिस प्रकार जल एक अञ्जलि से दूसरी में चला जाता है। इस क्रिया में 'पुत्रात् शिष्यात् वा पराजयेत' का भाव भी लक्षित होता प्रतीत होता है।

(ii) संचं० का विचार है कि यहां पर आचार्य यह भावना प्रकट करता है कि ब्रह्मचारी की अंजलि कभी भिक्षान्न से खाली न रहे और आचार्य भिक्षा में प्राप्त अन्न को सहर्ष ब्रह्मचारियों को देगा। यह भाव भी अच्छा है परन्तु सार्वकालिक और सार्वदेशिक नहीं है।

२३. आपो हि ष्ठेति—इन तीन मन्त्रों के अर्थ ये हैं—
आपो हि ष्ठा (य० ११।५०)—[हि] निश्चय से [आपः] जल [मयोभुवः] सुखकर [स्थ] हैं। [ताः] वे [नः] हमें [ऊर्जे] अन्न (और) [महे] महान् [रणाय] आनन्ददायक [चक्षसे] ज्ञान के लिए [दधातन] धारण करें ॥१॥

(ii) भाव यह है कि जल शान्ति, सत्य, पवित्रता, अन्न यज्ञ और ज्ञान आदि के प्रतीक हैं। उन से हम अन्न, ज्ञान और सुख प्राप्त करने में गतिशील होने की प्रेरणा लेते रहें।

यो वः शिवयमः (य० ११।५१) का अर्थ

(iii) [वः] (हे जलो) आप का [यः] जो [शिवतमः] परम कल्याणकारी [रसः] रस (=सार) है, [इह] यहां [नः] हम को [तस्य] उस (रस) का [उशतीः] कामना करती हुई (अर्थात्—प्रेममयी) [मातरः] माताओं के समान [भाजयत] भागी बनाओ ॥२॥

तस्मा अरं गमाम (य० ११।५२) का अर्थ—

(iv) [यस्य] जिस (अज्ञान, पाप और अभाव आदि) के [क्षयाय] नाश करने के लिए (आप हमें) [जिन्वथ] गतिशील करते हैं [तस्मै] उस (अज्ञान आदि के नाश) के लिए (हम) [वः] आप को [अरम् गमाम] पूर्ण रूप से प्राप्त होते हैं। [च] और [आपः] जल [नः] हम को [जनयथ] (ज्ञान आदि से सम्पन्न) कर दें ॥३॥

(v) **महे**—महते । महान्, भारी, पुष्कल। **रणाय**—रमणीय, आनन्ददायक। **चक्षसे**—√चक्ष्+असुन्। देखने के लिए, अतः ज्ञान के लिए। **रसः**—वस्तु का सार ही रस कहलाता है। **भाजयत**—√भज् से णिजन्त लोट् मध्यम पुरुष बहु व०। भागी बनाओ, प्राप्त कराओ, अधिकारी बनाओ। **उशतीः**—√वश्+शतृ+ङीप्+स्त्री० प्रथमा बहु व०। वैदिक रूप। चाहती हुई, अतः स्निग्ध। **क्षयाय**—निवास और नाश-दोनों अर्थों में इस की योजना की जा सकती है। दस० और संच० ने निवास अर्थ लिया है। सा० ने नाश। **जिन्वथ**—लौकिक भाषा में यह तृप्त्यर्थ में आता है। निघं० २।१४।८६ में यह गतिकर्मा है और निघं० ४।३।१०२ में पदनाम है। अतः इस के गति, ज्ञान और प्राप्ति—अर्थ होते हैं[1]। विको० भी देखें। **जनयथ**—सायण आदि ने इस का अर्थ प्रजा से समृद्ध करना

---

१. देखो हमारा लेख—दयानन्द एण्ड दी निघण्टु ऑफ यास्क, तथा वेभाप० ३०।२–४६।

लिया है। परन्तु यह प्रकरण में उतना उपयुक्त नहीं है जितना हिन्दी अनुवाद का अर्थ।

२४ सूर्यमुदीक्षयति—सूर्य का दर्शन कराता है। सूर्य को चराचर की आत्मा माना है—'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च[1]।' वह दोवों का विचित्र अनीक है, और मित्र, वरुण और अग्नि का चक्षु है। —"चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः[2]।" ब्राह्मणग्रन्थों में सूर्य के अर्थ आदित्य, बृहन्, इन्द्र, पूषा, सविता, धाता, ब्रह्मणस्पति, पिता, भर्ता, गोपा, नृषत्, यम, परोरजाः, वाजपेय आदि दिए हैं। सूर्य का दर्शन इस प्रकार के गुणों के ग्रहण करने की भावना धारण करने तथा चिरायु की कामना के लिए कराया जाता है।

तच्चक्षुर्देवहितं (य० ३६।२४) का अर्थ

२५. तच्चक्षुरिति—इस मन्त्र का अर्थ यह है—[देवहितम] विद्वानों को (आरोग्य प्रदान आदि और अनुभूति देने के कारण) हितकर [तत्] वह (मित्र, वरुण और अग्नि अथवा लोक[3] की) [शुक्रम्] स्वच्छ, तेजस्वी, शुभ्र [चक्षुः] (देखने का साधन होने से) आंख (के सदृश) [पुरस्तात्] पूर्व दिशा में [उच्चरत्] उदित है। (उस की सहायता से अथवा उस को हम) [शतम्] सौ [शरदः] वर्षों तक [पश्येम] देखते रहें [शतम्] सौ [शरदः] वर्षों तक [जीवेम] जीवित रहें, [शतम्] सौ [शरदः] वर्षों तक [शृणुयाम] सुनते रहें, [शतम्] सौ [शरदः] वर्षों तक [प्रब्रवाम] बोलते रहें, [शतम्] सौ [शरदः] वर्षों तक [अदीनाः] स्वतन्त्र और समृद्धिसम्पन्न [स्याम] रहें [च] और [शतात्] सौ [शरदः] वर्षों से भी [भूयः] अधिक (देखते, जीते, सुनते, बोलते और अदीन रहें)।

---

१. ऋ० १।११५।१ २. वही। ३. ब्राह्मणों में मित्र आदि को 'लोक' भी बताया गया है। देखो श० ६।५।४।१४, तां १४।२।४, श० १२।६।२।१२ और श० १४।६।१।१४।

(ii) सूर्य ब्रह्म की शक्ति से संचालित होने के कारण उस का प्रतीक है। सूर्य-पद स्वयं ब्रह्म का भी द्योतक है। अतः दस० ने पञ्चमहायज्ञविधि में इस का अर्थ ब्रह्मपरक किया है। सा०, उवट और महीधर ने सूर्यपरक लगाया है। उवट ने देवहितम् का अर्थ 'देवताओं द्वारा स्थापित' किया है। इस प्रकरण में इसे सूर्यपरक लगाना ही उचित है। हाँ, उस के साथ-ही-साथ ब्रह्मपरक अर्थ की योजना भी आवश्यक है। तब ही इस क्रिया का पूर्ण अभिप्राय सिद्ध होता है। अतः **दस० का अर्थ** यहां उद्धृत किया जाता है—

(iii) "जो ब्रह्म सब का द्रष्टा धार्मिक विद्वानों का परम हितकारक तथा सृष्टि के पूर्व, पश्चात् और मध्य में सत्य स्वरूप से वर्तमान रहता और सब जगत् का करने वाला है उसी ब्रह्म को हम लोग सौ वर्ष पर्यन्त देखें, जीवें, सुनें, उसी ब्रह्म का उपदेश करें, और उस की कृपा से किसी के आधीन न रहें। उसी परमेश्वर की आज्ञापालन और कृपा से सौ वर्षों के उपरान्त भी हम लोग देखें, जीवें, सुनें, सुनावें और स्वतन्त्र रहें अर्थात् आरोग्य शरीर, दृढ़ इन्द्रिय, शुद्धमन और आनन्द सहित हमारी आत्मा सदा रहे।"

२७. **मम व्रते मन्त्र का संवि० में दस० का अर्थ** यह है—"हे शिष्य बालक तेरे हृदय को मैं अपने आधीन करता हूं। तेरा चित्त मेरे चित्त के अनुकूल सदा रहे और तू मेरी वाणी को एकाग्र मन हो प्रीति से सुन कर उस के अर्थ का सेवन किया कर और आज से तेरो प्रतिज्ञा के अनुकूल बृहस्पति, परमात्मा तुझ को मुझ से युक्त करे। इसी प्रकार शिष्य भी आचार्य से प्रतिज्ञा करावे कि हे आचार्य! आप के हृदय को मैं अपने कर्म अर्थात् उत्तम शिक्षा और विद्या की उन्नति में धारण करता हूँ मेरे चित्त के अनुकूल आप का चित्त सदा रहे। आप मेरी वाणी को एकाग्र हो के सुनिये और परमात्मा मेरे लिये आप को सदा नियुक्त रक्खे।" पृ० ८५

(ii) **व्रते**—व्रत का अर्थ नियम, शासन आदि भी होता है। वही यहां अभिप्रेत है। दस० ने य० ४।११, और १६।३६ में यही अर्थ लिया है ते हृदयं दधामि—जब तक बालकों का आचार्य के नियमों के प्रति आदर

भाव न हो, तब तक वे उन का पालन सम्यक् प्रकार से नहीं करते हैं। **चित्तम्**—√चित् जानना से। इस का अर्थ 'मन, हृदय' भी किया जाता है। परन्तु यह भाव प्रथम पाद में आ चुका है। इस समस्त संस्कार में ज्ञान ही प्रधान विषय है। अतः यहां पर 'ज्ञान' अर्थ ही लिया गया है। **नियुनक्तु**—भाव यह है कि शिक्षाकाल में तुम निरन्तर मुझ से शिक्षा ग्रहण करते रहो, उस में प्रमाद और व्यवधान न हों।

२८. **आथास्य**—पा० मे०। सामान्यतः 'अथ' का प्रारम्भ में प्रयोग होता है। इस दृष्टि से यह पाठ ठीक नहीं है। इसे आ और अथ की सन्धि भी माना जा सकता है। इस पदच्छेद में 'आ' की अर्थ में कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है। इसे 'गृहीत्वा' के साथ ही लगाया जा सकता है। सूसं० ३० में भी यही स्थिति है। वहां पर 'आ' को 'आह' से सम्बद्ध करना होगा। **हस्तं गृहीत्वा**—इस से आचार्य की ब्रह्मचारी के प्रति आत्मीयता प्रकट होती है। **को नामासि**—कः नामा असि। नाम अस्य अस्तीति नामा। कौन नामवाले हो—किस नाम के हो—क्या नाम है। नाम का मानव के मस्तिष्क पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। नाम पूछने से परिचय बढ़ता है और उस नाम के अर्थ का भाव अंकित होता है। 'क' सुख का भी द्योतक है और प्रजापति का भी। दोनों ही अर्थों को संकेतित करने के लिए इस प्रकार की रचना की गई है—तुम सुखमय प्रजापति के सदृश किस नाम वाले हो।

२९. **असावहम् भो३**—इस के अन्त में ब्रह्मचारी अपने नाम का उच्चारण करे।

३१. **इन्द्रः**—जयराम इसे √इदि परमैश्वर्ये से व्युत्पन्न कर इस का अर्थ 'प्रजापति' करते हैं। ब्राह्मणग्रन्थों में इस पद के अर्थ 'सूर्य, आदित्य, वाक्, वायु, प्राण, हृदय, मन, यजमान, राजन्य, क्षत्र, अशनि, स्तनयित्नु, ब्रह्म, प्रजापति, वीर्य, वृषा, रेतः, उद्गाता, अंहोमुक्, अश्व आदि दिए हैं। यह ऋग्वेद के धर्म में प्रमुख देवता है। इसे विभिन्न प्रकार से व्युत्पन्न किया

गया है। ऋ० १।१३६।६ में इन्द्र 'अग्नि का विशेषण है। पुनरुक्त ऋगंशों में इस का तादात्म्य अग्नि, इन्दु, सोम और विष्णु से पाया जाता है। देखो वेभाप० ४।१४६-१५०, परिशिष्ट. ७।७-१०,१३। अतः यहां 'इन्द्र' का प्रजापति अर्थ समीचीन जान पड़ता है। वैए० में इन्द्रपद भी देखें।

अग्निः—भाष्यकारों को अग्नि का अर्थ करने में समस्या रही प्रतीत होती है। सम्भवतः इसी कारण उन्हों ने इस का कोई अर्थ नहीं दिया। जब इन्द्र का अर्थ प्रजापति कर दिया गया और बालक को उस का ब्रह्मचारी बताया गया तब 'अग्नि' को प्रथम आचार्य कहने से स्पष्ट कर दिया गया कि यहां अग्नि और इन्द्र का अर्थ एक ही है—प्रजापति। इन्द्र ऐश्वर्य आदि का द्योतक है, अग्नि अग्रणीत्व, अज्ञाननिरोधक, पापनाशक आदि का। इस पद के ब्राह्मणग्रन्थों के अर्थ रुद्र, अर्क, पशवः, शिर, देवों की आत्मा, आत्मा, वाजानां पतिः, प्रजाओं का प्रजनयिता, पृथिवी, संवत्सर, वाक्,तेजः, रक्षोहा, तपः, मन, प्राण, ब्रह्म, देवानां गोपाः, ऋत, भर्गः, यम, विराट् आदि दिये हैं। दस० ने इस के भौतिक और आध्यात्मिक—दो पक्ष माने हैं। दूसरे पक्ष में इस का अर्थ 'परमात्मा' किया है। इसे ऋग्वेद में 'एकं सत्' भी कहा है (ऋ० १।१६४।४६)। ब्राह्मणों में ऋग्वेद की उत्पत्ति अग्नि से बताई गई है। ऋक्, साम और यजुः को वाक् कहा गया है। अग्नि वाक् भी है। अतः यह वेदज्ञान का भी द्योतक है। वैसे भी निघं० ५।१।१ में इसे पदनामों में पढ़ कर इस का 'ज्ञान'—अर्थ यास्कमुनि ने प्रतिपादित किया है। **आचार्य**—"जो सांगोपांग वेदों के शब्द अर्थ सम्बन्ध और क्रिया को जानने हारा छलकपट रहित, अतिप्रेम से विद्या का दाता, परोपकारी, तन मन धन से सब को सुख बढ़ाने में जो तत्पर, महाशय, पक्षपात किसी का न करे और सत्योपदेष्टा सब का हितैषी धर्मात्मा जितेन्द्रिय होवे।" दस० संवि० पृ० ८० (पाटि०)। ऋभाभू० में लिखते हैं—"आचार्य उस को कहते हैं कि जो असत्याचार को छुड़ा के सत्याचार का और अनर्थों को छुड़ा के अर्थों का ग्रहण कराके ज्ञान को बढ़ा देता है।" पृ० ३०४।

भाष्यकार हरिहर ने आचार्य का यम के अनुसार यह लक्षण दिया है—

"सत्यवाक् धृतिमान् दक्षः सर्वभूतदयापरः ।
आस्तिको वेदनिरतः शुचिराचार्य उच्यते ॥
वेदाध्ययनसंपन्नो वृत्तिमान् विजितेन्द्रियः ।
न याजयेद् वृत्तिहीनं वृणुयाच्च न तं गुरुम् ॥"

मनुस्मृति में आचार्य का लक्षण यह है—

"उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः ।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥" २।१४०।

परन्तु शूद्रक और कालिदास के समय तक इस के ये अर्थ बदल चुके थे और किसी भी विषय में पारंगत व्यक्ति को आचार्य कहा जाने लगा था। यहां पर आचार्य का प्राचीन अर्थ ही अभिप्रेत है।

३२. भूतेभ्यः—√ भू होना + क्त, ४ थी बहु०। सत्ताधारियों के लिए। जो कुछ भी उत्पन्न हो चुका है—चाहे भूत काल में हो चाहे वर्तमान काल में वह सब 'भूत' कहलाता है। अतः पृथिवी आदि लोक और उन में विद्यमान समस्त पदार्थ भूत कहलाते हैं। प्रजापति, प्रजा, वायु आदि तत्त्व सब कुछ भूत हैं। इस में आधुनिक काल में प्रचलित भूतप्रेत की भावना नहीं है। इस प्रकार की भावना वैदिक साहित्य में उपलब्ध होती ज्ञात नहीं है। मृत व्यक्तियों की भूत संज्ञा तो है, परन्तु वे मनुष्य को दुःख देने वाले के रूप में नहीं है। जैसा गदाधर ने लिखा है यहां 'भूतेभ्यः' का विस्तार प्रजापति आदि आगमी मन्त्र (सूसं० ३३) में वर्णित पदार्थ आदि हैं। **परिददाति**--परि + √दा का अर्थ सम्यक् रूप से देना है। पदार्थों के लिए देने का भाव पदार्थों का उपयोग करना है।

३३. प्रजापतये—प्रजानां पतिः। प्रजाओं का पालक। ब्राह्मणग्रन्थों में इस के अर्थ अग्नि, इन्द्र, हृदय, मन, वाक्, वाचस्पति, संवत्सर, यज्ञ, अश्वमेध, विश्वजित्, सविता, प्राण, अन्न, वायु, प्रणेता, भूत, बन्धु, हिरण्यगर्भ,

ब्रह्मा, सोम, चन्द्रमा, दक्ष, मनु, वसिष्ठ, विश्वकर्मा, व्योम आदि दिए हैं। इन अर्थों में से सभी उपयुक्त अर्थ ग्रहण किए जा सकते हैं। अन्य अर्थों के लिये देखो वैको०। **देवाय**—देव शब्द √दिव् से बनता है जिस के अर्थ क्रीड़ा, विजिगीषा, व्यवहार, द्युति, स्तुति, मोद, मद, स्वप्न, कान्ति और गति हैं। जिस-जिस पदार्थ, भाव और स्थिति में इन में से एक या अनेक अर्थ संगत होते हों वह-वह पदार्थ आदि देव या देवता कहलाते हैं। विस्तार के लिये देखो वेभाप० ६।३१-४२ तथा हमारा लेख—महर्षि दयानन्द सरस्वती और देवता शब्द का अर्थ (ऋग्वेद का धर्म तथा अन्य लेख में संकलित)। **सवित्रे**—शब्दार्थ—उत्पादक। √सु+तृच्। ब्राह्मणग्रन्थों में सविता के अर्थ प्रसविता, देवानां प्रसविता, आदित्य, सूर्य, अग्नि, प्रजापति, वरुण, विद्युत्, स्तनयित्नु, वायु, चन्द्रमा, यज्ञ, अभ्र, वेदाः, अहः, पुरुष, पशु, प्राण, मन, यकृत्, राष्ट्रपति, हिरण्यपाणि आदि दिए हैं। **द्यावा-पृथिवीभ्याम्**—द्युलोक और पृथिवीलोक। ब्राह्मणग्रन्थों में इस के प्राण और उदान, देवताओं के हविर्धान अर्थ भी मिलते हैं। **विश्वेभ्यः देवेभ्यः**—जैसा 'देव' पद के ऊपर के व्याख्यान से स्पष्ट होगा इस पद का अर्थ ब्रह्माण्डस्थ समस्त पदार्थ होता है। ब्राह्मणग्रन्थों में इस के अर्थ 'समस्त विद्वान्, सूर्य की किरणें, प्राण, ऋतुएं, श्रोत्र, दिशाएं, विट्, प्रजा, पशु, अन्न, गो आदि मिलते हैं तथा वहां इन्हें अनन्त कहा है। **अरिष्ट्यै**—न रिष्टिः अरिष्टिः, तस्यै। √रिष् हिंसायाम् से। रिष्टि—हिंसाप्राप्त स्थिति, दुःख, अमंगल। अरिष्टि—सुख, कल्याण।

३४. **प्रदक्षिणम्**—प्रगतं दक्षिणम् इति। दक्षिण की ओर की हुई (अग्नि)। इसे परीत्य का क्रियाविशेषण भी माना जा सकता है। भाव यह है कि प्रदक्षिणा कर के अग्निकुण्ड के पश्चिम में और आचार्य के उत्तरपूर्व की ओर मुख कर के बैठे। आचार्य दक्षिण की ओर बैठता है। **अग्निम्**—यज्ञ कुण्ड में जलती हुई अग्नि। पवित्र वस्तुओं को दाहिनी ओर रखते हुए उन के चारों ओर घूमना (=परिक्रमा करना) कल्याणकर समझा जाता है। **परीत्य**—परि+√ई+ल्यप्।

३५. अन्वारब्ध—अनु+आ+√रभ्+क्त। भाष्यकारों ने इसे प्रथमा एक व० मान कर 'ब्रह्मा से आरम्भ कराए गए कर्म वाला आचार्य (जयराम) अथवा ब्रह्मचारी द्वारा आरम्भ कराए गए कर्म वाला (आचार्य) (विश्वनाथ), ब्रह्मा से छुए हुए घृत (की आहुतियां) (शुकदेव)' अर्थ किए गए हैं। अब तक अन्य क्रियाएं चालू थीं। यज्ञ बन्द था। आहुति देने के लिए यज्ञकर्म प्रारम्भ होना आवश्यक था। अतः इस पद को सप्तमी एक व० मान कर 'यज्ञे' का अध्याहार करने पर अर्थ प्रकरणोचित हो जाता है। **आज्याहुतीः**—दस० ने २२ आहुतियों का विधान किया है। विश्वनाथ का विवरण—'आघारावाज्यभागौ महाव्याहृतयः सर्वप्रायश्चित्तं प्रायश्चित्तं स्विष्टकृच्च' है। **प्राशनान्ते**—भाष्यकारों ने संस्रवप्राशन का वर्णन किया है। महीधर ने संस्रव का अर्थ 'विलीन आज्य' किया है। दस० ने होम में छोड़े हुए घृत आदि पदार्थ समझा है (य० २।१८)। अतः यज्ञशेष। **संशास्ति**—ब्रह्मचर्य के नियमों का उपदेश करते हैं। दस० ने संवि० पृ० ६२–६३ में इन सूत्रों के साथ कुछ अन्य सूत्र भी दिए हैं।

३७. **अशान**—√अश् से लोट् मध्यम पु० एक व०। खाओ, अर्थात् पीओ।

(ii) श्री शुकदेव ने छान्दोग्य ब्रा० उ० प्र० ५ ख० २ मं० २—'सा होवाच किं मे वासो भविष्यतीत्याप इति। होचुस्तस्माद्वा एतदशिष्यन्तः पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्चाद्भिः परिदधीत लम्भुको ह वासो भवत्यनग्नो ह भवति।' को उद्धृत करते हुए लिखा है कि आरम्भ और अन्त में भोजन को आचमन कर के वस्त्रवत् वेष्टित कर देना चाहिए क्यों कि उस के प्रश्न पर इन्द्रियों ने प्राण से कहा था कि जल ही उस के वस्त्र होंगे।

३८. **कर्म**—ब्रह्मचर्यव्रत और ज्ञानोपार्जन के लिए उपयुक्त कर्म। संचं०—दुष्ट कर्म छोड़ धर्म किया कर।

३९. **दिवा**—दिन में सोने से आयु का ह्रास, आलस्य की वृद्धि, पठन में व्यवधान आदि अनेकों दोष पाए जाते हैं।

४१. समिधम्—भाव यह है कि प्रतिदिन यज्ञ किया करो और उस से अनुभूति लो।

सावित्री का उपदेश

दस० आदि के मत में यहां से आगे वेदारम्भ संस्कार है।

४३. सावित्रीम्—सवितृ देवता है जिस का ऐसी ऋचा। सामान्यतः गुरु द्वारा शिष्य को सिखाए जाने वाले गायत्री मन्त्र को ही सावित्री' कहते हैं।

उपदेश के योग्य ब्रह्मचारी के गुण

उत्तरतोऽग्नेः—प्रारम्भ में बालक पश्चिम की ओर पूर्वाभिमुख बैठा था। अब वह उत्तर की ओर आ कर बैठा है। **प्रत्यङ्मुखाय**—अब उस का मुख पश्चिम की ओर है। **उपविष्टाय**—उप + √ विश् + क्त। सामान्यतः खड़े हुए बालक को उपदेश ग्रहण करने में पर्याप्त असुविधा होती है। फिर भी आगे सूसं० ४४ में 'खड़े हुए' को भी उपदेश देने का वर्णन है। **उपसन्नाय**—उप + √सद् + क्त + चतुर्थी एक व०। समीप आए हुए। शुकदेव—प्रसन्नचित्त। **समीक्षिताय**—सम् + √ईक्ष् + क्त + चतुर्थी एक व० पु०। परीक्षित, परखे हुए। **समीक्षमाणाय**—सम् + √ ईक्ष् + शानच् + चतुर्थी एक व० पु०। अच्छी प्रकार देखते हुए। इस के दो भाव हो सकते हैं—१. शान्त चित्त हो कर शिक्षा प्राप्त करने के लिए गुरु के मुख की ओर देखने वाले २. सुने हुए उपदेश या पाठ पर तर्क-वितर्क द्वारा विचार करने वाले। हिन्दी अनुवाद में पहला अर्थ लिया गया है, परन्तु दूसरा अर्थ प्रकरण में अधिक संगत होता है। तु० क० "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।" बृआउ०। तथा—"तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया वा।"

(ii) प्राचीन भारतीय संस्कृति में विद्यार्थी में श्रद्धा, शान्ति और ब्रह्मचर्य आदि गुणों का होना परम आवश्यक माना गया है—

१—क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः स्वयं जुह्वत एकर्षिं श्रद्धयन्तः।
तेषामेवैषां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद् यैस्तु चीर्णम्॥ मुउ० ३।२।१०

तथा—तस्मै स विद्वान् उपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय। मु० उ० १।२।१३।

२–नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्रायाशिष्याय वा पुनः।
यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥ श्वे० उ० ६।२२-२३

३–असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती यथा स्याम्।
❀ ❀ ❀ ❀ ❀
यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्।
यस्ते न द्रुह्येत् कतमच्चनाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन्॥ नि० २।४

श्री शुकदेव ने यहां गुरु के पैर छूने का विधान माना है। पारस्कर को यह विधि मान्य प्रतीत नहीं होती।

४४. दक्षिणतः—अग्नि के दक्षिण में। यह कुछ आचर्यों का मत है।

४५. पच्छः—पद्+शस्। पादं पादमिति पच्छः, पदशो वा। पहले एक-एक पाद (ॐ भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यम्) पढ़ाए। अर्द्धर्चशः—ऋचः अर्धमिति अर्धर्चम्। अर्द्धर्चम् अर्द्धर्चमिति अर्द्धर्चशः। आधी-आधी ऋचा (ॐ भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि) कर के। सर्वां च—तीसरी बार में सम्पूर्ण मन्त्र (ॐ भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥) को एक साथ आचार्य के अनुकरण पर उच्चारण करे। यहां पर प्रणव (=ओ३म्) और व्याहृतियों (भूः, भुवः स्वः) के साथ मन्त्र पढ़ा जाना अभीष्ट है। अनुवर्तयन् अनु+√वृत्+णिच्+शतृ+पु० प्रथमा एक व०।

सावित्री के उपदेश का कालपरिमाण—

४६. षाण्मास्ये—षडेव मासाः षाण्मास्यम्, तस्मिन्। षाण्मास्ये पाठ में वृद्ध्यभाव को छान्दस मानना पड़ेगा।

(ii) हरिहर भाष्यकार के विचार में काल की यह अवधि क्षत्रिय और वैश्य बालकों के लिए है। जो गुरुशुश्रुषा आदि गुणों में जितना कम होगा उतना ही समय अधिक लगेगा। परन्तु यहां पर गुरु की ज्ञानगरिमा और शिष्य की योग्यता और ग्रहणशक्ति ही इस कालविभाग का करण प्रतीत होते हैं।

(iii) पं० शुकदेव का विचार है कि इन कालों में बालक को ब्रह्मचर्य का उपदेश कर के गायत्री सिखाए। इस में वे बालक में योग्यता उत्पन्न कर के उपदेश देना चाहते हैं।

४७. **सद्यः**—ब्राह्मण बनने योग्य ब्रह्मचारी के गुण अधिक होने अनिवार्य हैं। अतः वह तीव्रबुद्धि और वेदज्ञान का पिपासु होने से गायत्री के शिक्षण को शीघ्र ग्रहण कर सकेगा। गायत्री का अध्यापन अर्थ-सहित ही अभीष्ट है। **गायत्रीम्**—ऋषि, देवता और छन्द तथा स्वरों के परिज्ञान के साथ गायत्री। वैदिक वाङ्मय में गायत्री की बड़ी महिमा है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में गायत्री के अर्थ—प्राणों का रक्षक, पृथिवी, प्राण, अग्नि, ब्रह्म, ब्रह्मवर्चस्, तेज, ज्योति, वीर्य, शिर, मुख, प्राची दिक्, यज्ञ, पुरुष आदि दिये हैं। य० २८।२४–३४ में गायत्र एक दार्शनिक परिभाषा है। य० १०।११ में गायत्री को प्राची दिशा में रक्षक बताया है। य० १४।१० में यह 'पंचाविर्वयः' का द्योतक है। ऋ० १०।१३०।४ में इस की उत्पत्ति अग्नि से मानी गई है। अतः जो वेद में वर्णित अग्नि के गुणों से सम्पन्न हो उसे गायत्री का ज्ञान तुरन्त हो सकता है। यह भाव 'आग्नेयो वै ब्राह्मणः' (तै० २।७।३।१) में व्यक्त किया गया है। अग्नि का विशेष गुण ज्ञानशीलता है। यह गुण **अग्नि के विशेषणों**—कविक्रतु, जातवेदस्, अंगिरः, विश्ववेदस्, कवि, ऋषि, कण्वतम, चिकित्वान्, चेकितान, चेतिष्ठ, प्रकेतः, प्रचेताः, प्रजानन् और बृहस्पति' आदि में परिलक्षित होता है।

गायत्री मन्त्र और उस का दस० का अर्थ

(ii) गायत्री मन्त्र यह है—ॐ भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥

(iii) इस का सविस्तार अर्थ दस० ने सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास और पञ्चमहायज्ञविधि में दिया है। ऋ० ३।६२।१०, य० ३६।३ में भी इस का अर्थ मिलता है। यहां पर संस्कारविधि का अर्थ संसक्त और सुगमतर होने से दिया जाता है।

(iv) (ओ३म्) यह मुख्य परमेश्वर का निज नाम है जिस नाम के साथ अन्य सब नाम लग जाते हैं। (भूः) जो प्राण का भी प्राण, (भुवः) सब दुखों से छुड़ाने हारा, (स्वः) स्वयं सुखस्वरूप और अपने उपासकों को सब सुख की प्राप्ति कराने हारा है उस (सवितुः) सब जगत् की उत्पत्ति करने वाले, सूर्यादि प्रकाशकों के भी प्रकाशक, समग्र ऐश्वर्य के दाता, (देवस्य) कामना करने योग्य, सर्वत्र विजय कराने हारे परमात्मा का जो (वरेण्यम्) अति श्रेष्ठ ग्रहण और ध्यान करने योग्य, (भर्गः) सब क्लेशों को भस्म करने हारा, पवित्र, शुद्ध स्वरूप है (तत्) उस को हम लोग (धीमहि) धारण करें (यः) यह जो परमात्मा (नः) हमारी (धियः) बुद्धियों को उत्तम गुण कर्म स्वभावों में (प्रचोदयात्) प्रेरणा करे।

आधुनिक शैली पर गायत्री का अर्थ

(v) अधुनिक अर्थप्रप्रणाली में एक पद का एक ही रूढ़िगत अर्थ ग्रहण किया जाता है। परन्तु वैदिक शैली इस से नितान्त भिन्न है। देखो हमारा ग्रन्थ 'वेदभाष्यपद्धति को दयानन्द सरस्वती की देन।' उपरोक्त अर्थ वैदिक शैली पर है। आधुनिक शैली पर ग्रिफिथ महोदय का अनुवाद इस प्रकार है—'हमें सवितृ देव की वह उत्तम महिमा प्राप्त हो जाए जिस से वह हमारी प्रार्थनाओं को प्रगति दे सके।'

(vi) ओ३म्—यह प्रणव भी कहलाता है। उपनिषदों और गीता में इसे ईश्वर विषयक समस्त ज्ञान का सार कहा है। यह परमात्मा का उत्कृष्ट नाम माना जाता है। इसे √अव रक्षणगतिकान्तिप्रीतितृप्त्यवगमप्रवेशश्रवणस्वाम्यर्थयाचनक्रियेच्छादीप्त्यवाप्त्यालिंगनहिंसादानभागवृद्धिषु से व्युत्पन्न किया जाता है। इस का विशेष विस्तार सप्र० १ म समुल्लास में देखें। भूः—

भूरिति वै प्राणः—यः प्राणयति चराचरं जगत् सः स्वयम्भूरीश्वरः। सब जगत् के जीवन का आधार, प्राणों से भी प्रिय ईश्वर। **भुवः**—भुवरित्यपानः—यः सर्वं दुःखमपानयति सोऽपानः। सब दुःखों से रहित, जीवों को दुःखों से छुड़ाने वाला। **स्वः**—स्वरिति व्यानः—यो विविधं जगद् व्यानयति व्याप्नोति स व्यानः। नानाविध जगत् में व्यापक। **सवितुः**—सुनोति उत्पादयति सर्वं जगत्। सु धातु प्रसव और ऐश्वर्य में आती है। यह पद सूर्य का भी द्योतक है। मध्यकालीन और आधुनिक विद्वान् इस का सूर्य ही अर्थ करते हैं। **वरेण्यम्**—वर्त्तुमर्हम्। स्वीकार्य, श्रेष्ठ। कोलब्रुक—पूजनीय। विल्सन—कमनीय। वेदार्थरत्न—परमोत्कृष्ट। लैंगलोइ—उदार। **भर्गः**—√भ्रस्ज्+घञ्। भूनने वाला, शुद्ध करने वाला। ब्राह्मण ग्रन्थों में इस के अर्थ पृथिवी, ऋग्वेद, होता, अग्नि, वसु, वाक्, वसन्त, गायत्री, प्राची, आदित्य, चन्द्रमा, वीर्य और त्रिवृत् दिये हैं। इस मन्त्र में गो० १।१।३२ में भर्गः का अर्थ 'अन्न' दिया गया है। आधुनिकों के अर्थों में कोल्ब्रुक—प्रकाश, वेदार्थरत्न—तेज, सामस्वामी—शक्ति, ग्रिफिथ—महिमा, ल्यूड्विग—चमक, प्रमुख हैं। **देवस्य**—दीव्यति दीव्यते वा स देवः। सुखदायक, कमनीय। यह √दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु से व्युत्पन्न होता है। कोल्ब्रुक ने इस का अर्थ दिव्य, शासक, वेदार्थरत्न ने जाज्वल्यमान ग्रिफिथ ने देव और ल्यूड्विग ने देवगण किया है। इस पद के अर्थों के विवेचन के लिये देखो हमारा लेख—महर्षिदयानन्द और देवता शब्द का अर्थ (ऋग्वेद का धर्म तथा अन्य लेख में संग्रहीत)। **धियः**—निघं० में इसे बुद्धि और कर्म का पर्यायवाची बताया गया है। विद्वानों ने इन दोनों ही अर्थों को अपनाया है। वेदार्थरत्न ने भावनाएं, भक्ति, लैंग्लेओ ने प्रार्थनाएं अर्थ किये हैं।

गायत्री मन्त्र का महत्त्व

(vii) इस मन्त्र में बुद्धि और कर्मों की शुद्धि और सत्य मार्ग पर गति के लिए प्रार्थना की गई है। शुद्ध बुद्धि और श्रेष्ठ कर्म ही मानव की

ऐहिक और पारलौकिक उन्नतियों—अभ्युदय और निःश्रेयस के निष्पन्न करने वाले हैं। इसी कारण इस मन्त्र की विशेष महिमा है। इस मन्त्र के ऋष्यादि विश्वामित्र, सविता और गायत्री हैं। इन पदों के अर्थों के अनुसार अन्य अर्थ भी इस मन्त्र के अभिप्रेत हैं। उन सब की कल्पना और विस्तार यहां सम्भव नहीं। उपरोक्त गायत्री के उपदेश की अवधियों के निर्धारण में इस मन्त्र के अनेकविध अर्थ भी कारण रहे हो सकते हैं।

(viii) श्रुतिः—श्रूयते इति श्रुतिः। √श्रु श्रवणे+क्तिन्। सामान्यतः इस का अर्थ परम्परा से सुन कर कण्ठ किए जाने वाले ग्रन्थ किया जाता है। इन में प्रमुख रूप से वेद और सामान्य रूप से ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् आते हैं। यदि इस का अर्थ श्रूयते ज्ञायते अनेनेति श्रुतिः किया जाए तो अर्थ अधिक संगत हो सकेगा और ब्राह्मणों पर भी ठीक-ठीक लागू हो सकेगा। यहां पर तैत्तिरीय ब्राह्मण की ओर निर्देश है।

त्रिष्टुभ् छन्द का सवितृ देवता का मन्त्र

४८. त्रिष्टुभं राजन्यस्य—जयराम के मत में यह मन्त्र इस प्रकार है—

"देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय। दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतन्नः पुनातु वाचस्पतिर्वाजं नः स्वदतु स्वाहा॥" य० ६।१

(ii) य० ५।३६ भी 'देव सवितः' से प्रारम्भ होता है, परन्तु उस का छन्द त्रिष्टुभ् न होने से वह अभिप्रेत नहीं है।

(iii) भर्तृयज्ञ इस के स्थान पर इस मन्त्र का विधान मानते हैं—

"ताँ् सवितुर्वरेण्यस्य चित्रामहं वृणे सुमतिं विश्वजन्याम्।
यामस्य कण्वो अदुहत्प्रपीनाँ् सहस्रधारां पयसा महीं गाम्[1]॥" य० १७।७४

---

१. पं० शुकदेव ने मानवगृह्यसूत्र १।२।३ दिया है जिस में त्रैष्टुभ मन्त्र आदेवो याति (यातु ?—ऋ० ७।४५।१) माना है।

देव सवितः प्रसुव मन्त्र का अर्थ

(iv) **देव सवितः**—जयराम और उवट ने इस का ऋषि बृहस्पति दिया है। महीधर और दयानन्द सरस्वती ने इन्द्राबृहस्पती। इस का देवता सविता और छन्द त्रिष्टुभ् (दस०—स्वराडार्षी त्रिष्टुभ्) है। यह मन्त्र य० ११।७ और ३०।१ में भी पाया जाता है। वहां पर 'वाजम्' के स्थान पर 'वाचम्' का प्रयोग है। पुनरुक्त अंशों से अर्थग्रहण की शैली पर यहां **वाजम्** का अर्थ वाचम् हो जाता है। तै० १।३।२।५ ने 'वाग्वै वाजस्य प्रसवः' कह कर इस अर्थ की पुष्टि की है। उपरोक्त पिछले दो मन्त्रों में स्वाहा का पाठ भी नहीं है। प्रकृत मन्त्र का अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है—

(v) 'हे (**देव**) [समस्त सुखों के] दाता प्रकाशस्वरूप (**सवितः**) सकल जगत् और ऐश्वर्य आदि के उत्पादक परमात्मन्, (**यज्ञम्**) (अध्ययन रूप मेरे) श्रेष्ठ कर्म को (**प्रसुव**) प्रगति दें। (**यज्ञपतिम्**) [अध्ययन यज्ञ के] यजमान [मुझ ब्रह्मचारी] को (**भगाय**) [क्षत्रियोचित] ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए (**प्र सुव**) गतिशील करते रहें। (**दिव्यः**) प्रकाशमान [क्षत्रगुणों को देने वाला] (**गन्धर्वः**) जगत् का धारक [और रक्षक] (**केतपूः**) [मनुष्यों के चित्तों में वर्तमान] ज्ञान का परिशोधक परमेश्वर (**केतम्**) [हमारे] ज्ञान को (**पुनातु**) पवित्र करें। (**वाचस्पतिः**) प्राणों के रक्षक प्रजापति (**नः**) हमारे (**वाजम्**) बल या वाणी को (**स्वदतु**) आनन्दकर बनाएं। (**स्वाहा**) [मेरी] वाणी शुभ हो।

(vi) **गन्धर्वः**—गां जगत् धरतीति। मेघदूत की प्रमोदिनी टिप्पणियों के पृ० १५३ की पाटि० ३ भी देखें। **केतपूः**—केतं चित्तस्थं ज्ञानं पुनाति शोधयतीति। **केतम्**—√कित् (ज्ञाने)+घञ्। ज्ञान, बुद्धि। शतपथ ब्राह्मण में केतः अन्न का वाचक भी है। **वाचस्पतिः**—ब्राह्मणों में इस के अर्थ प्राण और प्रजापति भी दिए हैं। **वाजम्**—√वज गतौ से। इस के अर्थ 'अन्न, वीर्य, पशु, स्वर्गलोक और ओषधि' आदि पाए जाते हैं। वाजिन् आदि पदों में इस का बल-अर्थ सुस्पष्ट है। **स्वदतु**—√स्वद् से। स्वाद

ले, आनन्द ले और आनन्दयुक्त करे। अन्तर्हितण्यर्थ धातु है। **स्वाहा**—सु+आह से निष्पन्न होता है। उत्तम कथन। दस० ने अपने भाष्यों में इस के अनेकविध अर्थ दिए हैं।

(vii) भर्तृयज्ञ द्वारा उद्धृत **'तां सवितुः'** मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—(**अहम्**) मैं (ब्रह्मचारी) [**वरेण्यस्य**] श्रेष्ठ पूजनीय [**सवितुः**] सकल जगत् के उत्पादक परमेश्वर की [**ताम्**] उस (सुविदित) [**चित्राम्**] विभिन्न प्रकार (के फल देने) वाली [**विश्वजन्याम्**] सब का कल्याण करने वाली [**सुमतिम्**] शोभन बुद्धि को [**आवृणे**] धारण करता हूँ [**याम्**] जिस को (पा कर) [**कण्वः**] विद्वान् (क्षत्रिय जन) [**अस्य**] इस (सविता—परमेश्वर की दी हुई) [**पयसा**] अन्न-जल आदि से [**प्रपीनाम्**] प्रवृद्ध हुई [**सहस्रधाराम्**] हज़ारों प्रकारों के (पदार्थों को) धारण करने वाली [**महीम्**] महान् विस्तृत [**गाम्**] भूमि को [**अदुहत्**] दोहते रहे हैं।

(viii) **विश्वजन्याम्**—विश्वेभ्यः सर्वेभ्यः जनेभ्यः हिताम्। विश्व+जन+यत्। **सुमतिम्**—यथार्थ विषय वाली पदार्थों का यथावत् ज्ञान कराने वाली बुद्धि। **कण्वः**—निघं० में यह मेधाविनामों में पढ़ा गया है। माधवभट्ट के भाष्य में इसे इसी अर्थ में लिया गया है। विकल्प में ऋषि-विशेष का नाम भी माना है। इसी भाष्य में इस का सम्बन्ध ऐतिहासिक व्यक्ति से आरम्भ होता है। वेभाप० ३०।५—७ में दिखाया गया है कि यह संहिताओं आदि में मेधावी' अर्थ का द्योतक है। यह गत्यर्थक या शब्दार्थक या निमीलनार्थक √कण् से अथवा √कृण्व् वध करना से बनता है। **प्रपीनाम्**—प्रकृष्टरूपेण पीनां पुष्टाम्। बढ़ी हुई। **सहस्रधाराम्**—सहस्र-संख्यानर्थान् धरति ताम्। **अदुहत्**—वेद में भूतकाल की क्रियाओं के अर्थ भी बहुधा लट् लकार में किए जाते हैं।

(ix) इसी प्रकार का भाव—भगमस्या वर्च आदिष्यधि वृक्षादिव स्रजम्। महाबुध्न इव पर्वतो ज्योक् पितृष्वास्ताम्॥ एषा ते राजन् कन्या वधूर्नि धूयतां यम। सा मातुर्बध्यतां गृहेऽथो भ्रातुरथो पितुः।, एषा ते कुलपा

राजन् तासु ते परि दद्मसि। ज्योक् पितृष्वासाता आ शीर्ष्णः शमोप्यात् ॥ अवे० १।१४।१—३ में पाया जाता है। विस्तार के लिए देखो हमारा लेख —ए न्यू इन्टरप्रैटेशन औफ अवे० १।१४।

(x) ये दोनों मन्त्र क्षत्रिय बनने के इच्छुक और योग्य बालक के लिए माने गये हैं। अतः ऐसे बालकों की भावनाओं के अनुरूप ही इन मन्त्रों के अर्थ अभीष्ट हैं और ऊपर दिए भी गए हैं।

जगती छन्द वाला सविता देवता का मन्त्र

४६. **जगतीं वैश्यस्य**—जयराम के मत में यह मन्त्र अधोदत्त है—

"विश्वा रूपाणि प्रति मुञ्चते कविः प्रासावीद् भद्रं द्विपदे चतुष्पदे।
वि नाकमख्यत् सविता वरेण्योऽनु प्रयाणमुषसो विराजति ॥"

ऋ० ५।८१।२; य० १२।३

(ii) भर्तृयज्ञ ने यह मन्त्र माना है—

"युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ॥"

य० ५।१४; ऋ० ५।८१।१

(iii) **विश्वा रूपाणि मन्त्र का अर्थ** इस प्रकार किया जा सकता है—[**कविः**] क्रान्तदर्शन, क्रान्तप्रज्ञ और सर्वज्ञ (परमेश्वर) [**विश्वा**] सम्पूर्ण [**रूपाणि**] पदार्थों के स्वरूप को [**प्रति मुञ्चते**] प्रकट करता है। (वह) [**द्विपदे**] दो पैरों वाले प्राणियों (मनुष्य आदि) (और) [**चतुष्पदे**] चार पैरों वाले (पशु आदि) के लिये [**भद्रम्**] कल्याण [**प्रासावीद्**] करता है। [**वरेण्यः**] पूजनीय [**सविता**] सर्वोत्पादक परमेश्वर ने (सब प्राणियों के लिए) [**नाकम्**] समस्त दुःखों से रहित (सुखों) को [**वि अख्यत्**] प्रकाशित किया है। [**उषसः**] उषाओं के समान (आलस्य और दारिद्रय आदि की दाहक) गतिशीलों के [**प्रयाणम्**] गमन के [**अनु**] पश्चात् [**विराजति**] (समृद्धि) चमक जाती है॥

(iv) **नाकम्**—कं सुखम्। न विद्यते कं सुखं यस्मिन् तत् अकम्। न अकं दुःखं विद्यते यस्मिन् तत् नाकम्। **उषसः**—दस० ने उ० ४।२३४ में इस की व्युत्पत्ति 'ओषति दहतीति उषः'…उषा वा दी है। ऋग्वेद में 'उषाः' सतत गतिशील है। यह प्रति दिन अपने पूर्व मार्ग पर आती है। वह मघोनी=धनयुक्त और धन देने वाली है। देखो ऋ० (३।६१।३-४ आदि)। **प्रयाणम्**—गमन, बीतना, चला जाना। भाव यह है कि व्यापार आदि कर्मों के करने से धन की वृद्धि होती है।

(v) भर्तृयज्ञ द्वारा प्रदत्त **'युञ्जते मन उत'** आदि मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—

[होत्राः] यज्ञशील **[विप्राः]** (व्यापार में कुशल) बुद्धिमान् वैश्य **[विप्रस्य]** विशेष रूप से फल प्राप्त कराने वाले **[बृहतः]** महान् **[विपश्चितः]** (वाणिज्य रूपी) यज्ञ (के कर्म में) **[मनः]** (अपने) मनों को **[युञ्जते]** युक्त करते हैं **[उत]** और **[धियः]** कर्मों को **[युञ्जते]** (उसी में) केन्द्रित करते हैं। **[इत्]** निश्चय से (यह) **[देवस्य]** दिव्य **[सवितुः]** सकल जगत् के उत्पादक और परमैश्वर्य के सृजक परमेश्वर की **[मही]** महान् **[परिष्टुतिः]** महिमा (है)। **[वयुनावित्]** (व्यापारिक उत्तम) कर्मों का जिज्ञासु (एकः) कर्मशील (मैं सविता की इस महिमा को) **[विदधे]** (पूर्ण रूप से) धारण कर सकूं।

(vi) **विप्राः**—निघं० में यह मेधाविनामों में पढ़ा गया है। ऋग्वेद के अनुसार बुद्धि और कर्म से ही मनुष्य 'विप्र' बनता है—"उपह्वरे गिरीणां संगथे च नदीनम्। धिया विप्रो अजायत॥" ऋ० ८।६।२८। **विप्रस्य**—महीधर ने इस का विग्रह—विशेषेण प्राति पूरयति फलमिति विप्रस्तस्य। √प्रा पूर्तौ से। दस० ने भी इसी व्युत्पत्ति को अपनाया है। **विपश्चितः**—तु० क० श० ३।५।३।१२—यज्ञो वै बृहन् विपश्चित्। य० ५।१४ में महीधर-भाष्य भी देखें। यज्ञ का अर्थ अतिव्यापक होने से यहां पर प्रकरणोचित 'वाणिज्य रूपी यज्ञ कर्म' अर्थ किया गया है। **होत्राः**—√हु दानादनयोः से। यह धातु 'यज्ञ करने' के अर्थ में सुविदित है। अतः यज्ञ करने वाले।

दधे—√धा से लट् उत्तम पु० एक व० आत्मनेपद। यहां भाव लोट् लकार में अभीष्ट है। **वयुनावित्**—वयुन का अर्थ कर्म है। कर्मों को जानने वाला। अभी ब्रह्मचारी कर्मज्ञ नहीं हुआ है। वह व्यापारिक कर्मों को जानना चाहता है। अतः यहां इच्छार्थ अभीष्ट है। **मही**—महती। वैदिक रूप। **परिष्टुतिः**—परि+स्तुतिः। सब ओर से स्तुति। अतः यश, महिमा। **एकः**—एति गच्छतीति एकः। √इ+कन्। उ० ३।४३। गतिशील, कर्मठ।

सब के लिये गायत्री का उपदेश

५० पृथक्-पृथक् गुणों के अभिलाषियों के लिये पृथक्-पृथक् मन्त्रों का विधान किया जा चुका है। सब मन्त्रों का देवता सविता और उन का विषय सद्बुद्धि की प्रार्थना है। भेद केवल छन्द का है। छन्दों के वाचक पदों के अर्थों[1] में भी एक सीमा पर एकता का सूत्र परिलक्षित होता है। इस प्रकार वर्णों में मूलतः कोई भेद नहीं रहता है। अतः सब को गायत्री मन्त्र का ही उपदेश किया जा सकता है। इस विकल्प में पिछले ३ सूत्रों में वर्णित विधि से पूर्व प्रचलित प्रथा का अवशेष भी लक्षित होता है।

समिधाधान

५१. **अत्र**—यहां। कर्क और जयराम इस का अर्थ 'अग्नि में' करते हैं। हरिहर के मत में यह 'सावित्री मन्त्र के उपदेश के पश्चात् अत्र' का द्योतक है और विश्वनाथ के मत में 'दोपहर की सन्ध्या के बाद में' का। **समित्**—समिध्यते दीप्याते अग्निरनया इति। सम्+√इध् चमकना से। प्रदीप्त करने वाली। भाव यह है कि जिस प्रकार समिधा अग्नि में पड़ कर उसे प्रदीप्त कर देती है उसी प्रकार गुरु के सावित्री और ज्ञान के उपदेश रूपी समिधा से तुम भी संसार में चमक उठो। तु० क० (१) 'प्राणा वै

१. छन्दों के वाचक पद मन्त्रों के अर्थों के प्रकाशक होते हैं। अतः उन के भेद से अर्थ में भेद हो जाता है। देखो—सुधीर कुमार गुप्त, सीयर्स ऑफ दी ॠग्वेद, देयर मैसेज एण्ड फिलौसौफी।

समिधः। प्राणा ह्येनं समिन्धते। श० ६।२।३।४४ (२) यदेनं समयच्छत् तत्समिधः समित्त्वम्। तै० २।१।३।८। और (३) समिधो यजति वसन्तमेव वसन्ते वा इदं सर्वं समिध्यते। कौ० ३।४। ब्राह्मणों में समिध् के अर्थ अस्थि, गर्भ, वसन्त और प्राण मिलते हैं।

(ii) इस समिधा के आधान के लिये न तो यहां पर पारस्कराचार्य ने कोई मन्त्र प्रस्तुत किया है, न भाष्यकारों ने ही। आगे० सूसं० ५४ में भी समिधाधान का विधान और ५५ में उस समय बोले जाने वाला मन्त्र है। अतः या तो समिधाधान का प्रकृत स्थल पर विधान करने वाला सूत्र पुनरुक्ति होने और मन्त्रहीन क्रिया का विधायक होने से प्रक्षिप्त है, अथवा यहां पर दस० के संवि० के वर्णन के अनुसार 'अयं त इध्म आत्मा' 'समिधाग्निं दुवस्यत, सुसमिद्धाय शोचिषे' तथा 'तन्त्वा समिद्भिरङ्गिरो०' मन्त्रों से समिधाधान अभीष्ट है। यह भी सम्भव है कि अब तक अग्नि का कुछ मन्द पड़ जाना स्वाभाविक था। अतः इस स्थल पर सामान्यरूप से बिना मन्त्र पढ़े यज्ञवेदी में अग्नि में समिधाएं डाल दी जाएं। उपरोक्त तीनों मन्त्रों का यहां विनियोग आचार्य पारस्कर द्वारा विहित नहीं है। अतः उन का अर्थ यहां नहीं दिया गया है।

अग्नि का परिसमूहन और उस का भाव

५२. **पाणिना**—भाष्यकारों का विचार है कि यहां पर 'पाणिना' में एक वचन के प्रयोग से एक हाथ से ही क्रिया का विधान अभीष्ट है, दोनों हाथों से नहीं। कई क्रियाओं में अग्नि का संधुक्षण दोनों हाथों से किया जाता है, परन्तु यहां नहीं।

(ii) 'पाणि' शब्द 'पण स्तुतिव्यवहारे च' से बनता है। कुछ विद्वानों का विचार है कि यह पद केवल स्तुत्यर्थक 'पण्' धातु से सिद्ध होता है। परन्तु यह स्थिति ठीक प्रतीत नहीं होती। दयानन्द सरस्वती जी ने अपने वेदभाष्यों और उ० ४।१३३ के भाष्य में इसे व्यवहारार्थक भी माना है। यास्क का भी यही मत है (देखो महर्षि दयानन्द और देवताशब्द का अर्थ

१३-१८)। अतः पाणिनाऽग्नि परिसमूहति' का आन्तरिक भाव यह हुआ—'अपने व्यवहार से ब्रह्मचारी वेदज्ञान, अध्यात्मज्ञान और यज्ञकर्म रूप अग्नि को एकत्रित कर प्रदीप्त करता रहे।' **परिसमूहति**—परि+सम्+√ऊह्+लट् प्रथम पु० एक व०। भाष्यकारों ने इस का अर्थ १. 'संधुक्षण—तेज़ करना, प्रचण्ड करना, जगाना' किया है। आपटे के संस्कृत-अंग्रेजी कोष में २. 'चारों ओर जल से छिड़कना' विको० में '३. इकट्ठा करना, ४. जमा करना', संशकौको० में '५. एकत्र करना, ६. यज्ञाग्नि में समिधा डालना, ७. यज्ञ में अग्नि के चारों ओर गिरे हुए तृण आदि को आग में डालना, ८. यज्ञाग्नि के चारों ओर जल से मार्जन करना' किये हैं। यहां पर सूसं० ५१ की दृष्टि में अर्थ संख्या २, ६ और ८ संभव नहीं। तीव्र अग्नि को जल से छिड़कना उस के वेग को मन्द करने के लिये होता है। समिधाएं डालते ही जलसेचन अनावश्यक है। वैसे भी इस का विधान आगे सूसं० ५४ में किया गया है। 'अदितेऽनुमन्यस्व' आदि से जलप्रसेचन का पूरा विधान न होने से वह भी अभिप्रेत नहीं है। अर्थ सं० ७ में 'परिसमूहति' के साथ कर्म और 'अग्नि' में सप्तमी विभक्ति आनी चाहिए थी। अतः प्रकरण में शेष अर्थ ही अभीष्ट हैं। संचं० ने 'इकट्ठा करना' अर्थ ग्रहण किया है।

५३. सुश्रवः—शोभनं श्रवो यस्य सः। सम्बोधन एक व०। श्रवः निघं० २।७।४ व में अन्न का और २।१०।२६ में धन का वाचक माना गया है। विको० ने 'तीव्र गति और धारा' अर्थ भी दिए हैं। उत्तम धन, कीर्ति और कर्मों वाला। **सौश्रवसम्**—सुश्रवाश्चासौ सौश्रवसः तम्। सुश्रवस् और सौश्रवस—दोनों का एक ही अर्थ है। जयराम लिखते हैं कि "मेरे गुरु को सुश्रवस् बनाओ। उन का शिष्य होने से मैं 'सौश्रवस' हो ही जाऊंगा।" यह भाव ठीक नहीं क्यों कि इस में गुरु को पहले से असुश्रवस् समझने की भावना अवगत होती है। **निधिपाः, निधिपः**—निधिं कोषं पाति रक्षतीति। **वेदस्य**—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। ब्राह्मणों में 'ब्रह्म, सविता, ये लोक, वाक् और त्रयीविद्या' को 'वेद' कहा है। 'यज्ञ, भूर्भुवः स्वः,

सत्य' आदि को त्रयीविद्या नाम दिया गया है। इन सब की रक्षा की भावना गौण रूप से और ऋग्यजुःसामाथर्ववेदों की प्रमुख रूप से अभिप्रेत हैं। **मनुष्याणाम्**—मनुष्यों में, अथवा मनुष्यों के लिए निर्मित (वेद का)। जयराम 'और मनुष्यों का भी रक्षक' अर्थ लेते हैं। **देवानाम्**—जयराम—दीव्यन्ति प्रकाश्यन्त इति देवा अंगानि इन्द्रादयो वा। शरीर के अंग अथवा इन्द्र आदि देवता। परन्तु प्रकरण में 'विद्वान् अथवा सूर्य आदि भौतिक पदार्थ' अर्थ ही संगत होते हैं। **यज्ञस्य**—जयराम—वेद, विष्णु।

(ii) **अग्ने सुश्रवः०**—इस **मन्त्र के उत्तरार्ध का संस्कारचन्द्रिका का अर्थ** यह है—"हे (**अग्ने**) भौतिक अग्ने! (**देवानाम्**) जल आदि देवताओं के बीच में (**त्वम्**) तू (**यज्ञस्य**) यज्ञ हवनादि क्रिया और शिल्प विद्या आदि के (**निधिपा**) कोष का रक्षक (**असि**) है (**एवम्, अहम्**) ऐसे ही मैं (**मनुष्याणाम्**) मनुष्यों के बीच में (**वेदस्य**) वेदविद्याज्ञान सम्बन्धी सब विद्या के (**निधिपा**) कोश का स्वामी, ईश्वर करे कि (**भूयासम्**) होऊँ।" पृ० ४३३।

अग्निपरिसमूहन में विनियुक्त मन्त्र

(iii) हरिहर आचार्य लिखते हैं कि सूसं० ५२ के अग्निसन्धुक्षण में पांच मन्त्रों का प्रयोग होता है और कुछ आचार्यों के मत में तीन मन्त्रों का। वे तीन मन्त्र सूसं० ५३ में (१) 'अग्ने…मा कुरु,' (२) 'यथा त्वमग्ने सुश्रवः………सौश्रवसं कुरु' और (३) 'यथात्वमग्ने देवानाम्……… भूयासम्'। जो आचार्य पांच मन्त्र मानते हैं वे इस मन्त्र के भाग ऐसा करते प्रतीत होते हैं—१. अग्ने…कुरु। २. यथा…सुश्रवा असि। ३- एवं…… सौश्रवसं कुरु। ४. यथा त्वमग्ने…निधिपा असि। ५. एवमहं…भूयासम्।

५४. **प्रदक्षिणम्**—अर्थात् प्रदक्षिणा करते हुए। **पर्युक्ष्य**—परि+ √उक्ष्+ल्यप्। सींच कर, छिड़क कर। इस से अग्नि का वेग कुछ कम हो जाता है। यह क्रिया शान्ति की प्रतीक है। ब्रह्मचारी ज्ञान और शक्ति से

प्रदीप्त हो कर भी शान्तचित्त रहे। **समिधम्**--गदाधर आचार्य सूसं० ५१ में भी तीन समिधाओं का प्रक्षेप मानते हैं।

७५ **आहार्षम्**—आ + √हृ + लुङ् प्रथम पु० एक व०। आहृ—लाना, देना। **जातवेदसे**—संच०—ज्ञान देने वाला ईश्वर। गदाधर—जातान् जातान् वेत्तीति जातवेदास्तस्मै। समस्त उत्पन्न पदार्थ आदि को जानने वाला। ब्राह्मणों में यह पद 'प्राण, वायु, समस्त उत्पन्न वस्तुएं' का वाचक माना गया है। ऋ० ३।२६।७ में अग्नि जन्म से ही 'जातवेदस्' है। वेद में यह 'अग्नि' के विशेषण के रूप में आया है। नि० ७।१६ में कहा गया है कि उत्पन्न वस्तुओं को जानने वाला, जिस का उत्पन्न प्राणी जानते हैं, समस्त पदार्थों में विद्यमान, जातवित्त जातधन, जातविद्य या जातप्रज्ञान होने से ही जातवेदाः होता है। दस० ने इसे 'परमात्मा' का वाचक माना है। **अग्ने**—यह सम्बोधन प्रयोग की शैली मात्र है। यहां प्रथमान्त रूप ही अभीष्ट है, सम्बोधन नहीं। **मेधया**—मेधते संगच्छते सर्वमस्याम्। अक्रोसु० १।५।२। √मेधृ संगमे + अ। यहां पर धातुपाठ में 'मिद्द मेद्द मेधाहिंसनयोः। मेधृ संगमे च। (मिथृ मेथृ मेधाहिंसयोरित्येके। मिधृ मेधृ इत्यन्ये।)' पाठ है। यहां पर कोष्ठकों में प्रदत्त अंश सिकौ० (बालमनोरमा) में नहीं हैं। इस में 'मेधृ' पाठ अनावश्यक है, क्यों कि यह धातु पहले ही पढ़ी जा चुकी है। शेष में 'च' के प्रयोग से पहली धातुओं के अर्थ मेधा और हिंसन भी संगत होते हैं। अतः मेधृ के अर्थ मेधा, हिंसन और संगम होते हैं। मेधा में अज्ञान की हिंसा और ज्ञान का संगम (=प्राप्ति, मेल) होता है। गदाधर—अतीतादिधारणवती बुद्धि। **प्रजया**—सामान्यतः इस का अर्थ सन्तान होता है। ब्रह्मचारी वीर्यरक्षा का व्रत ले रहा है, सन्तानोत्पत्ति का नहीं। अतः यह अर्थ प्रकरण में असंगत है। ब्राह्मणग्रन्थों ने इस के अर्थ 'विश्वज्योतिः, इषः, भूतानि, बर्हिः, शस्त्रम्, उक्थानि' भी दिए हैं। अतः यहां पर विश्वज्योति, अन्न आदि अर्थ अभिप्रेत हैं। **पशुभिः**—पशुओं—गाय, बैल, घोड़े आदि से। यद्यपि गुरुकुल में इन तीनों पशुओं का परम उपयोग था और वे

वहां पाले जाते थे, परन्तु वे ब्रह्मचारी के अपने धन नहीं होते थे। अतः यह अर्थ भी प्रकरण में विशेष संगत नहीं।

(ii) ब्राह्मण ग्रन्थों में 'पशवः' के अर्थ—'अग्नि, सविता, दैवी विश्, गव्य, घृतश्च्युतः, हविः, श्री, यश, शान्ति, रस, पुष्टि, पूषा, प्रजापति की कल्याणी तनू, प्राण, वाज, अन्न, धान, गृह, आत्मा, यज्ञ, छन्दांसि और वपुः' आदि दिए गए हैं। इन में से दैवी विश् (तु० क० दैवी सम्पत्—गीता १६।१-३), शान्ति, पुष्टि, यज्ञ' आदि सामान्य रुप से और 'प्रजापति' की कल्याणी तनू' विशेष रूप से संगत होते हैं। कठोपनिषद् १।२।१-२ में सांसारिक सुखों को प्रेयः और पारलौकिक या पारमार्थिक सुख को श्रेयः कहा है। यही प्रजापति की कल्याणी तनू है। अतः पशुभिः' का अर्थ कल्याण और शान्ति किया जा सकता है। य०४०। ११, १४ के अनुसार दोनों ही प्रकार के सुखों की प्राप्ति हो वास्तविक कल्याण प्रदान करती है। प्रकृत मन्त्र में आयु आदि से प्रेयः और पशुभिः से श्रेयः की कामना की गई है।

(iii) जीवपुत्रः—जीवन्तः पुत्रा यस्य सः। दीर्घजीवी पुत्रों वाला। इस पद का संहिताओं का प्रयोग इसी अर्थ की ओर संकेत करता है—तु०क० 'जीवपुत्रा पतिलोके वि राज प्रजां पश्यन्ती सुमनस्यमाना' ॥ खि० २।११।३। तं त्वा दम्पती जीवन्तौ जीवपुत्रावुद् वासयातः पर्यग्निधानात् ॥ अवे १२।३।३५। वयं जीवा जीवपुत्रा अनागसः ॥ ऋ० १०।३६।६। 'जीव' पद ऋ० १।६८।२ में अग्नि का विशेषण है। जो 'जनिष्ठा' है; ऋ० १।११३।१६ में 'असुः' का विशेषण है। ऋ० ५।४४।५ में मेधावी, विद्वान् का द्योतक प्रतीत होता है (देखो दयानन्दभाष्य)। अवे० १६।७०।१ में यह सूर्य, इन्द्र और देवताओं का विशेषण है। अवे० १४।२।४४ में यह निष्पाप यशस्वी युवक के लिए प्रयुक्त हुआ है। सामान्यतः यह पद संहिताओं में जीव, प्राणिमात्र और जीवित के अर्थ में आया है। अतः भाष्यकारों के उपरोक्त अर्थ के साथ जीवपुत्र का अर्थ—गतिशील, बुद्धिमान् और वंश के समुन्नायक (तु० क० स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम्) का पुत्र' अर्थात् 'परम

गतिशील, बुद्धिमान् और यशस्वी' किया जा सकता है। इस की पुष्टि ब्रह्मचारी की 'मेधावी, यशस्वी, तेजस्वी, ब्रह्मवर्चसी, अन्नाद और अनिराकरिष्णुः' होने की प्रार्थना से होती है। ब्रह्मचारी अपने आचार्य के सदृश होना चाहता है। **अनिराकरिष्णुः**—जयराम—गुरु द्वारा बताये गये धर्म आदि को न भूलने वाला। संच० किसी का तिरस्कार न करने वाला। यह पद न निराकरिष्णुः (निर्+आ+√कृ+इष्णुच्) से बनता है। निराकरण के अर्थ संशकौको० में '(१) शमन, (२) निवारण, (३) खण्डन, (४) देश-निर्वासन, (५) तिरस्कार, (६) मुख्य यज्ञीय कर्मों की अवहेलना' दिये गये हैं। इन में छठा और तीसरा अर्थ भी उपरोक्त अर्थों के साथ प्रकरण में उपयोगी हैं। **ब्रह्मवर्चसी**—संच०—ब्रह्मसम्बन्धी तेज वाला अर्थात् आत्मिक बल वाला। जयराम—याजनादितेजोयुक्तः। प्रकरण में ब्रह्म का वेद अर्थ अधिक उपयोगी प्रतीत होता है। अतः 'वेदज्ञान के तेज से युक्त'। **अन्नादः**—अन्नमत्तीत्यन्नादः। समस्त भोग्य पदार्थ 'अन्न' होते हैं क्यों कि 'भोगना' 'खाने' के भाव का ही विस्तार है इसी लिए ब्राह्मणों में 'अन्न' के अर्थ 'शान्ति, पशु, श्री, प्राण, वाज, सप्त संख्यक, दधि मधु घृत, समस्त भूतों की आत्मा और रेतः' आदि दिए गए हैं। 'अन्न' को वहां 'वैश्वदेव' भी कहा गया है। देखो वैको० पृ० ३०—३१। अतः यहां 'समस्त भोग्य पदार्थों का भोक्ता' अर्थ अभिप्रेत है। **स्वाहा** गदाधर—सुहुतमस्तु। यह सु+आ+आह से बना है—सब ओर से सुन्दर कथन। इस मन्त्र में कुछ प्रार्थनाएं हैं। यहां पर उन प्रार्थनाओं की सफलता की कामना व्यक्त की गई है। वेदभाष्यों में स्वा० दयानन्द सरस्वती के अर्थ और वैदिक कोष में स्वाहाकार के अर्थ भी अवलोकनीय हैं। मेघदूत ४७ की प्रमोदिनी टिप्पणियों के पृ० ८१ पर पादटिप्पणी भी देखें।

५६. दूसरी और तीसरी समिधाओं को डालते समय मन्त्र सं० ५५ को प्रत्येक बार पढ़ना होता है।

५७. एषा ते—समिधाधान में 'अग्नये समिधमाहार्षम्' के स्थानपर

'एषा ते' मन्त्र से समिधा दे। अथवा 'अग्नये समिधम्' और 'एषा ते' दोनों मन्त्रों को मिला कर पढ़े।

एषा ते मन्त्र और उस का अर्थ

(ii) 'एषा ते' मन्त्र यह है—

"एषा ते अग्ने समित् तया वर्द्धस्व चाच प्यायस्व ।
वर्धिषीमहि च वयमा च प्यासिषीमहि ॥
अग्ने वाजजिद् वाजन्त्वा ससृवाँ सं वाजजितं सम्मार्ज्मि ॥ य० २।१४

(iii) इस का अर्थ यह है—

[अग्ने] हे अग्नि [एषा] यह [समित्] समिधा [ते] तुम्हारे लिए (है)। [तया] उस से [वर्धस्व] प्रदीप्त हो [च च] और [आप्यायस्व] (मुझ ब्रह्मचारी को) बढ़ाओ। [च] और [वयम्] हम [वर्धिषीमहि] वृद्धि को प्राप्त करें [च] और [आ] सब ओर से [प्यासिषीमहि] (दूसरों को) बढ़ा सकें। [अग्ने] हे अग्नि [वाजजित्] ज्ञानसम्पन्न हुआ (मैं) [वाजम्] शक्तिपुंज [ससृवांसम्] गतिशील [वाजजितम्] अन्न आदि के उत्पादक [त्वा] तुम को [सम्मार्ज्मि] प्रदीप्त करता हूं।

समिधाधान का भाव

(iv) भाव यह है कि जिस प्रकार अग्नि समिधा से प्रदीप्त होती है उसी प्रकार मैं ज्ञान से चमक कर लोक का कल्याण कर सकूं। विविध पदार्थों के ज्ञान के लिए शक्ति, गति और उत्पादन के परम साधन अग्नि का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर प्रयोग कर सकूं।

(v) समिधाधान के दोनों मन्त्रों में अग्नि परमेश्वर की प्रतीक है। परमेश्वर ही ब्रह्मचारी की समस्त कामनाओं को पूरा कर सकता है। भौतिक अग्नि नहीं। **प्यायस्व**—√प्याय्+लोट् मध्यम पु० एक व०। बढ़ाना। **वर्धिषीमहि**—√वृध् बढ़ना+आशीर्लिङ् उत्तम पु० बहु व०। **प्यासि-**

षीमहि—यह √'ध्यै' से आशीर्लिङ् का रूप है। **वाजजित्**—वाज के अर्थ पहले दिए जा चुके हैं। जित् जीतने वाला। अतः समर्थ, सम्पन्न। अग्नि के पक्ष में—अन्न आदि के अभाव को जीतने वाला=अन्न आदि से समृद्ध करने वाला, अतः अन्न आदि का उत्पादक। **ससृवांसम्**— √सृ जाना क्वसु+पुल्लिंग द्वितीया एक व०। गतिशील। **सम्मार्ज्मि**—साफ करता हूं, प्रदीप्त करता हूं।

जलसेचन

५८. **पूर्ववत्**—पहले के समान, जैसा ऊपर सूसं० ५२ और ५४ में बताया है। इस परिसमूहन (=अग्नि को एकत्र कर प्रज्वलित करना) और पर्युक्षण (अग्नि को जल से छिड़कना) के एक साथ वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि यहां पर यज्ञवेदी के चारों ओर 'अदितेऽनुमन्यस्व (पूर्व में)' 'अनुमतेऽनुमन्यस्व (पश्चिम में)' 'सरस्वत्यनुमन्यस्व (उत्तर में)' और "देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु ॥ (चारों ओर)" से जलप्रसेचन अभीष्ट हो, अग्नि पर जलसिंचन नहीं। गदाधर के लेख 'पर्युक्षणं अग्नेः सर्वतो जलासेकः' का भी यही भाव है। क्यों कि अग्नि को प्रदीप्त करते ही उसे शान्त करना कुछ कम समझ में आता है। आध्यात्मिक दृष्टि से परिसमूहन और जलप्रसेचन के एक साथ करने से 'बढ़े हुए उन्नत पुरुष को उन्नति के साथ-साथ शान्ति को धारण करना परम आवश्यक है' यह भाव निकलता है। इस जलप्रसेचन का विधान स्वा० दयानन्द सरस्वती ने संस्कारविधि में किया है।

हाथ तपा कर अंगों के स्पर्श का लक्ष्य

५९. **प्रतप्य**—प्र+√तप्+ल्यप्। **विमृष्टे**—वि+√मृश्+लट् प्रथम पु० एक व०। मलता है। इस कार्य को करने से यज्ञाग्नि से उठती हुई आहुतियों में डाले हुए द्रव्यों के परमाणुओं से समृद्ध और अनेक प्रकार के गुणों से युक्त वायुओं का विशेष संपर्क प्राप्त होता है और वह चित्त को

प्रसन्न और मुख को कान्तिमय कर देता है। यज्ञ में जो पदार्थ डाले जाते हैं वे सुगन्धयुक्त और पौष्टिक तो होते ही हैं साथ ही विभिन्न रासायनिक क्रियाओं के उत्पादक भी होते हैं। विस्तार के लिये डा० सत्यप्रकाश की पुस्तक 'अग्निहोत्र' देखें। यहां पर लोक में हाथों पर आहुतियों के पश्चात् जल में डाली हुई घृत की बूंदों को मलने की प्रथा देखने में आती है।

६०. **तनूपाः**—तनूं पातीति तनूपाः। ऐ० २।४ के अनुसार प्राण 'तनूनपात्' है क्योंकि वह शरीर की रक्षा करता है। श० १।५।४२ में 'रेतस् (=वीर्य)' को 'तनूनपात्' कहा है। शरीर की स्थिति वीर्य से ही होती है। 'तनूनपात्' 'अग्नि' का प्रसिद्ध नाम है। उधर अग्नि के अर्थों में 'प्राण' और 'रेतस्' भी मिलते हैं। अतः प्राण और रेतस् की प्रतीक अग्नि से शरीर की रक्षा की प्रार्थना की गई है। **आयुर्दाः**—आयुः ददातीति। ईयते प्राप्यते यत्तदायुः। जीवनं वा। (दसउ० २।११८) अथवा, एति प्राप्नोति सर्वानित्यायु-र्जीवनकालः (दसउ० १।२)। दोनों स्थलों पर दोनों ही व्याख्यान संभव हैं, केवल प्रत्यय का भेद है। आयुःपद गतिशील काल का द्योतक है। इसी लिए इस के अर्थों में 'संवत्सर, यज्ञ, लोक और अग्नि का भी ग्रहण किया गया है। अग्नि गतिप्रदान करती है। सूर्य और चन्द्र के रूप में वह समय (=संवत्सर) का विधान करती है—तु० क० 'ये द्वे कालं विधत्तः।' अभिज्ञानशाकुन्तल १।१। **वर्चोदाः**—अग्नि वर्चस्=तेज का कोश है, यह सुज्ञात है। **तन्वाः**—तनोः। शरीर का अर्थात् शरीर में। **ऊनम्**—कमी। **आपृण**—आ+√पृण् प्रसन्न करना, शान्त करना+लोट् मध्यम पु० एक व०। (कमी को) शान्त कर दो, (कमी को पूरा कर के) प्रसन्न करो। अतः अनुवाद में 'पूरा करो' अर्थ दिया गया है। इसे √पृ पूरा करना से भी लिया जा सकता है।

(ii) वेद में अग्नि को **अंगिरा** कहा है। ऋ० १०।६७।२ में आंगि-रस ऋत के प्रशंसक, सरलता के धारक, द्युपुत्र, असुर के वीर, विद्वत्पदप्राप्त और यज्ञ के तेज को श्रेष्ठ मानने वाले, ऋ० ३।५३।७ में धनदायक और

आयुवर्धक, ऋ० ६।६५।५ में गो (=वाणी=ज्ञान) के वंशज और य० ३४।१७ में पदज्ञ और साम द्वारा ज्ञान प्राप्त करने वाले कहे गए हैं। ऐसे व्यक्ति ही राष्ट्र को और समाज को प्राण और आयु देते हैं और उन की कमी दूर करते हैं। अतः यहां पर व्यञ्जनावृत्ति से ब्रह्मचारी और उपस्थित विद्वानों और सामान्य जनता को अपने-अपने अनुरूप भावनाएं ग्रहण करने का संकेत है।

६१. **देवी**—देव-पद का स्त्रीलिंग रूप। ऊपर सूसं० ३३ में देवपद देखें। **सरस्वती**—सामान्यतः यह 'विद्या' की देवी मानी जाती है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में इस के अर्थ वाक्, जिह्वा, गौः, अमावास्या, योषा, पुष्टि आदि पाये जाते हैं। ऋग्वेद में सरस्वती को पावक, ज्ञान-सम्पन्न, सूनृतों की प्रेरक, बुद्धियों को चिताने वाली कहा है—

"पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती। यज्ञं वष्टु धियावसुः ॥
चोदयित्री सुनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम्। यज्ञं दधे सरस्वती ॥
महो अर्णः सरस्वती प्रचेतयति केतुना। धिया विश्वा वि राजति[1] ॥"

अतः वैदिक सम्प्रदाय में यह विद्या, ज्ञान और यज्ञकर्म आदि की द्योतक है (ऋ० ६।६१; १०।१४१।५ आदि भी देखें)। **अश्विनौ**—ये युगल देवता हैं। ऋग्वेद में ये इन्द्र, अग्नि और सोम के पश्चात् आते हैं। इन सूक्तों में बहुत से चमत्कारों का वर्णन पाया जाता है। इन के वास्तविक स्वरूप के विषय में विद्वानों ने बड़ा विचार किया है। वस्तुतः कोई एक अर्थ या दृश्य आदि इन के समस्त मन्त्रों की संगति नहीं लगा सकता है। इसी दृष्टि से ब्राह्मणग्रन्थों में इस पद के अनेक अर्थ दिए गए हैं। शतपथब्राह्मण ४।१।५।१६ में अग्नि और आदित्य से युक्त पृथिवी और द्युलोक को पुष्करस्रजौ अश्विनौ कहा है। इस पद के अन्य अर्थों में श्रोत्र, नासिका, अध्वर्यू, देव-भिषज् भी आते हैं। श्रीमैक्डोनल इन्हें प्रकाश के देवता मानते हैं और इस

१. ऋ० १।३।१०—१२

पद की व्युत्पत्ति 'अश्व + इन्'—घोड़े वाला देते हैं। यास्क (नि० १२।१) के कथनानुसार कुछ आचार्य इन्हें अहोरात्र, कुछ सूर्याचन्द्रमसौ और कुछ पुण्य कर्म करने वाले दो राजा मानते हैं। प्रकरण में इन में से कोई अर्थ संगत नहीं होता है। द्यावापृथिवी आदि जड़ वस्तुएं चेतन ब्रह्मचारी को मेधा प्रदान करने में समर्थ प्रतीत नहीं होतीं। अध्वर्यु के अर्थ मन,[1] चक्षु,[2] और प्राण, उदान[3] दिए गए हैं। मन और चक्षु ज्ञानेन्द्रिय हैं। वे विषयों का साक्षात्कार कर मानव के ज्ञान और उस के द्वारा मेधा को बढ़ाते हैं। भाव यह है कि मन और चक्षु से विषयों का ज्ञान यथार्थ हो और वह ब्रह्मचारी के स्वभाव पर गहरा प्रभाव डाल सके।

(iii) स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अश्विनौ के अनेकविध अर्थों में 'अध्यापक और उपदेशक' अर्थ भी दिया है। प्रकरण में यही अर्थ सब से अधिक संगत है। उपनयन के समय यदि बालक अध्यापक और उपदेशक से ज्ञान और स्मरणशक्ति बढ़ाने के उपायों—योग आदि के निरन्तर उपदेश की प्रार्थना करे तो उपयुक्त ही है। अश्विन्-शब्द √अश् व्याप्तौ से बनता है और अध्यापक तथा उपदेशक का वाचक बन जाता है।

(iv) हठयोग के षट्कमल और कुण्डलिनी के सिद्धान्तों की दृष्टि में अश्विनौ को प्राण और अपान भी माना जा सकता है। दस० ने 'इमं मे गंगे यमुने' आदि मन्त्रों में हठयोग का दर्शन किया है। देखो ऋभाभू० पृ० ३७६। **पुष्करस्रजौ**—श० ७।४।१।१३ के अनुसार अपस् के रस को ऊपर कर के उस को पुर-वत् रक्षक बनाना 'पुष्कर' है। **अपस्** के अर्थ 'प्राण, अमृत, शान्ति, प्रतिष्ठा, श्रद्धा, यज्ञ, सर्वे देवाः' आदि हैं। उधर पुष्करपर्णम् (पुष्कर का पत्ता) के अर्थ प्रतिष्ठा और वाक् भी हैं। अतः पुष्करस्रजौ का अर्थ प्रतिष्ठा और वाक् से सम्पन्न व्यक्ति हैं। संचं० का 'कमल की मालाओं से सजे हुए' अर्थ बहुत शोभन नहीं है।

---

१. श० १।५।१।२१ २. कौ० १७।७ ३. श० ५।५।१।११

६२. **अंगान्यालभ्य जपति**—यह अंगस्पर्श पारस्करीय नहीं है, परन्तु इन सूत्रों में यह अंश परिशिष्ट रूप में ग्रहण किया गया है और इसी लिये कोष्ठकों में रक्खा गया है। पारस्करीय शाखा में यह कब से स्वीकृत हुआ यह जानना संभव नहीं जान पड़ता। अन्य सूत्रकारों ने इस का विधान माना है। दस० ने यहाँ प्रत्येक इन्द्रिय के लिए पृथक्-पृथक् वाक्य दिया है। यथा ॐ "वाक् म आप्यायताम्। ॐ प्राणश्च म आप्यायताम्। ॐ चक्षुश्च म आप्यायताम्। ॐ श्रोत्रं च म आप्यायताम्। ॐ यशो बलं च म आप्यायताम् ॥" जयराम ने भी 'तत्र वाक् च म आप्यायतामिति क्रियाविपरिणामं कुर्यात्' लिख कर दस० के समान प्रत्येक इन्द्रिय के लिए पृथक्-पृथक् वाक्य की योजना का विधान माना है।

(ii) **आलभ्य**—आ + √लभ् + ल्यप्। चारों ओर से प्राप्त कर के = स्पर्श कर के। इस धातु के अर्थ में कालान्तर में परिवर्तन हो गया और आ + √लभ् हिंसा-अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। तु० क० सुरभितनयालम्भजां रन्तिदेवस्य कीर्तिम्। मेघ० १।४६। इस अर्थपरिवर्तन के कारण अभ्य पशुओं का वध कर उन्हें यज्ञों में डालना प्रारम्भ हुआ। वैदिक विषयों और तत्सम्बन्धी स्थलों पर आ + √लभ् का पूर्वोक्त मूल अर्थ ही लगाना उचित प्रतीत होता है। **जपति**—तज्जपस्तदर्थभावनम्। योगदर्शन के इस सूत्र के अनुसार किसी विषय के भाव या अर्थ को मन में विचारना, धारण करना ही जप है। अतः मन ही मन (—उपांशु या मौन रूप में) किसी विषय या मन्त्र आदि का पुनः पुनः उच्चारण करना जप नहीं है। यहां पर 'वाक् च म आप्यायन्ताम्' आदि के जप में क्रिया के साथ 'वाक्' आदि की वृद्धि की भावना भी मन में धारण करनी अभीष्ट है।

तिलक लगाना

६३. **त्र्यायुषमिति**—भाष्यकारों के मत में 'प्रतिमन्त्रम्' का अर्थ 'त्र्यायुषम्' के चार पाद हैं। प्रत्येक पाद से एक-एक क्रिया करे। 'त्र्यायुषं जमदग्नेः' से ललाट पर, 'कश्यपस्य त्र्यायुषम्' से ग्रीवा में, 'यद्देवेषु त्र्यायुषम्'

से दाहिने कन्धे पर (अथवा दोनों बाहुओं के मूल में–शुक्रदेव) और 'तन्नो अस्तु त्र्यायुषम्, से हृदय पर राख से 'त्रिपुण्ड्र तिलक' लगाए। परन्तु यदि विधानकर्त्ता का यही अभिप्राय होता तो वे प्रतिपादम्' पद का प्रयोग करते। अतः सम्भव है कि उन्हें यहां चार मन्त्र अभिप्रेत हों। जिन की परम्परा अब विस्मृत हो गई है। इन में से दो काण्वं यजुर्वेद संहिता में प्राप्त 'येन धाता बृहस्पतेरिन्द्रस्य चायुषेऽवपत्। तेन ते वपामि ब्रह्मणा जीवातवे जीवनाय ॥ दीर्घायुत्वाय बलाय वर्चसे। सुप्रजास्त्वाय चासा अथो जीव शरदः शतम्' ॥ (३।७५–७६) और एक माध्यन्दिन यजुर्वेद संहिता का ३।६३– 'शिवो नामासि स्वधितिस्ते पिता नमस्ते अस्तु मा मा हिँ सीः। निवर्त्तयाम्यायुषेऽन्नाद्याय प्रजननाय रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्याय ॥' हो सकते हैं। कर्क आदि सभी भाष्यकारों का विचार है कि **अंगालम्भन और त्र्यायुषतिलक-करण पारस्कर आचार्य को अभिमत नहीं है** और इसी लिए उन्हों ने इस का विधान नहीं किया है। इस विधि में ये दोनों प्रयोग परम्परा से शिष्टों में प्रचलित होने से अन्य ग्रन्थों से ले कर यहां सम्मिलत कर दिए गए हैं।

त्र्यायुषं जमदग्नेः का अर्थ

(ii) इन मन्त्रों के अर्थ इस प्रकार है—

[जमदग्नेः] परम गतिशील जनों का **[त्र्यायुषम्]** विद्या, बुद्धि, और धर्माचरण से प्राप्त शुद्धि, बल और पराक्रम का गुण **[कश्यपस्य]** क्रान्तदर्शी अध्यापकों का **[त्र्यायुषम्]** श्रवण मनन और निदिध्यासन का गुण और **[यत्]** जो **[देवेषु]** विद्वानों का **[त्र्यायुषम्]** चार आश्रमों, चार वर्णों और परोपकार का गुण (है) **[तत्]** वह **[त्र्यायुषम्]** तीन प्रकार का गुण **[नः]** मुझे **[अस्तु]** प्राप्त हो जाए।

(iii) **देवेषु**—शतपथब्राह्मण में विद्वानों को 'देव' कहा गया है। **त्र्यायुषम्**—आयु की व्युत्पत्ति √इ धातु से दी जा चुकी है। जो प्राप्त हो वह आयु है। अतः यह गुण का वाचक है। देखो य० ३।६२ में दस०

का भाष्य। त्रिविध गुण का व्याख्यान प्रत्येक स्थल पर 'देव' 'जमदग्नि' और 'कश्यप' के अर्थों के अनुरूप करना होगा। विद्वान् आश्रमों और वर्णों के धर्मों का पालन कर के अपने को उन्नत कर राष्ट्र और मानव जाति का उपकार करते हैं—तु० क० यदि द्विवृषोऽसि सृजारसोऽसि ॥ अवे० ५।१६।२।
जमदग्नेः—शतपथ ब्राह्मण में संसार के द्रष्टा और मनन करने वाले को जमदग्नि ऋषि कहा है। वहां इस का अर्थ प्रजापति भी किया गया है। यास्क ने इस का व्याख्यान 'प्रजमिताग्नयो वा प्रज्वलिताग्नयो वा' किया है। 'प्रजमित' के स्थान पर दस० ने 'प्रजवित' (य० ३।६२ का भाष्य) और डा० फतहसिंह ने 'प्रयमित' (वैए० २६४) पढ़ा है। तीनों पद क्रमशः √जम् भक्षण करना, √जव् जाना (निघं० २।१४।१०५), √यम् उपरमे (वश में करना आदि) से बनते हैं। अतः दुर्गुणों का नाशक, प्रगतिशील संयमी यज्ञमय पुरुष। ऐसा व्यक्ति ही राष्ट्र का चक्षु होता है। इस लिए उस का गुण 'विद्या बुद्धि और धर्माचरण से विशिष्ट शुद्धि बल और पराक्रम' होता है।

(iv) **कश्यपस्य**—तैत्तिरीय आरण्यक में 'कश्यपः पश्यको भवति' कह कर इसे √दृश् से व्युत्पन्न किया है। देखने वाला, अतः क्रान्तदर्शी। प्रकरण ब्रह्मचर्यव्रतधारण का है। अतः यहां 'अध्यापक' का बोध ही अभिप्रेत है। कश्यप प्रजापति और आदित्य का भी नाम है। इस पद के प्रयोग से 'प्रजापति के सदृश, अखण्ड, सत्य ज्ञान वाला, क्रान्तदर्शी अध्यापक' भाव द्योतित किया गया है। वैए० २२८; दस० य० ३।६२ का भाष्य, ऋभाभू० पृ० ३७१। श्रवण मनन और निदिध्यासन से ही मनुष्य 'कश्यप' या क्रान्त द्रष्टा बन सकता है।

येन धाता मन्त्र का अर्थ—

(ii) [धाता] ईश्वर ने [येन] जिस (वेदज्ञान) से [बृहस्पतेः] वेदज्ञान के पारंगत [च] और [इन्द्रस्य] परमैश्वर्यशाली, ब्रह्मचारियों को [आयुषे] गुणप्राप्ति के लिए [अवपत्] प्रवृत्त किया है (श०—बोया है)

[तेन] उस [ब्रह्मणा] वेदज्ञान से [ते] तुम्हारी [जीवनाय] आयु को [जीवातवे] गतिशील बनाने के लिए [वपामि] धारण करता हूं।

(vi) यह काण्वसंहिता का मन्त्र है और माध्यन्दिन में उपलब्ध नहीं होता है। **अवपत्**—√वप् बोना से लङ् लकार प्रथम पु० एक व०। बोना, स्थापित करना, जमाना, धारण करना, धारण कराना। अतः हिन्दी अनुवाद। तु०क०—'तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत।' प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार ईश्वर ने वेदों का प्रकाश सृष्टि के आरम्भ में मानव के कल्याण के लिए दिया था। **जीवातवे**—जीने के लिए। यह√जीव् से तुमर्थ में वैदिक रूप है। **जीवनाय**—जीवन के लिए। दोनों पदों के प्रयोग से अर्थ में पुनरुक्ति आ जाती है। अतः जीवातवे को गत्यर्थ में लिया गया है। प्राणधारण गति ही है। जीवन= जल=रस=अमृत—इस प्रकार जीवनाय का अर्थ 'रस और अमृत की प्राप्ति के लिए' भी किया जा सकता है।

(vii) दीर्घायुत्वाय मन्त्र का अर्थ

[अथो] और [असौ] यह (मैं) [दीर्घायुत्वाय] चिर काल व्यापी जीवन [बलाय] बल [वर्चसे] तेज [च] और [सुप्रजास्त्वाय] कल्याण-कारिणी विश्वज्योति की प्राप्ति के लिए [शतम्] सैकड़ों [शरदः] वर्ष [जीव] जी सकूं॥

(viii) **सुप्रजास्त्वाय**—प्रजा के अर्थ के लिए ऊपर सूसं० ५५ की टिप्पणियां देखें। **शतम्**—इसे उपलक्षण लेना उचित होगा। तु० क०—भूयश्च शरदः शतात्। त्र्यायुषं जमदग्नेः मन्त्र के भाष्य में दस० ने तीन सौ और उस से भी अधिक दिन के जीवन की कल्पना की है। **असौ, जीव**—इन दोनों में पुरुष का व्यत्यय अभीष्ट है। प्रकरण के अनुसार इन को उत्तम पुरुष में लिया गया है।

(ix) शिवो नामासि मन्त्र का अर्थ

[ते] तुम्हारा [नाम] नाम [स्वधितिः] अपने ज्ञान से धारण (अथवा—

प्रसन्न) करने वाला [पिता] रक्षक (और) [शिवः] कल्याणकारी [असि] है। [नमः] (मेरा) अध्ययन-यज्ञ [ते] तुम्हारे लिए [अस्तु] हो। [मा] मुझे [मा हिंसीः] पीडित न करो (अर्थात्—दुर्बोध न हो)। [आयुषे] गतिशील जीवन [अन्नाद्याय] ज्ञान और शान्ति आदि भोगों के उपभोग [प्रजननाय] (खोजों द्वारा) नई-नई सृष्टि [रायस्पोषाय] विद्या आदि धन की समृद्धि रूप महिमा [सुप्रजास्त्वाय] कल्याणकारिणी विश्वज्योति (और) [सुवीर्याय] कल्याणकारिणी दाहक शक्ति (की प्राप्ति) के लिए [निवर्तयामि] पूर्ण रूप से (ब्रह्मचर्य व्रत का प्रतीक रूप त्रिपुण्ड्र तिलक) लगाता हूं।

(x) **नाम**—√नम् से। पर्यवसान, स्वरूप की पूर्णता। **शिवः**—श० ६।७।३।१५ में इसे √शम् शान्त करना से, पपाउ० १।१५३ में √शी सोना से (तु० क० दस० भाष्य) और संशकौको० में √शो से व्युत्पन्न किया गया है। इसे 'शि' से 'वन्' लगा कर भी व्युत्पन्न किया जा सकता है। कतिपय विद्वान् इस पद को अनार्य भाषाओं से आया हुआ मानते हैं। पौराणिक शिव को भी वे अनार्य देवता मानते हैं। परन्तु संहिताओं में इस पद के प्रचुर प्रयोग, शिवपूजा का बीज त्र्यम्बक = नारिकेल में होने से[1] यह विचार समीचीन नहीं मालूम पड़ता। **असि**—अस्ति। पुरुषव्यत्यय। **स्वधितिः**—निघं० २।२०।१६ में इसे वज्रनामों में पढ़ा गया है। भाष्यकारों ने सामान्यतः यही अर्थ ग्रहण किया है। दस० ने ऋ० १।१६२।६ में स्वेन धृतौ (द्विवचन) और ऋ० १।१६२।१८ में विद्युत् अर्थ किए हैं। ऋ० ६।६६।६ में स्वधितिर्वनानाम् का प्रयोग गीता के 'वेदानां सामवेदोऽस्मि' (१०।२२) के समान हुआ है। अतः यहां यह किसी वृक्ष (अश्वत्थ ?) (तु० क० अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम्—गी० १०।२६) का वाचक है। ऋ० १०।६२।१५ में इसे इन्द्र का विशेषण मानना समीचीन प्रतीत होता है। ऋ० २।२।१०; ३।८।६, और ५।७।८ में यह 'ज्ञान—वेदज्ञान' का वाचक प्रतीत होता है।

---

१. देखो कोकोनट इज़ दी ओरिजन ऑफ शिवकल्ट, एस० के० गुप्त, आइओका० १९४८ (संक्षेप)।

(xi) पदपाठकारों ने इस का स्वरूप स्वऽधितिः माना है। धिति-शब्द √धि धारण करना अथवा √धिन्व् प्रसन्न करना से व्युत्पन्न होता है। (देखो विको० पृ० ५१६ स्तम्भ २, धित और धिति पद)। अतः इस पद का प्रकरण की दृष्टि में अपने ज्ञान से धारण और प्रसन्न करने वाला अर्थ किया गया है। अन्य अर्थ प्रकरण में पंगु-से प्रतीत होते हैं। **नमः**—इस का अर्थ 'नमस्ते', 'प्रणाम' भी किया जा सकता है। श० २।४।२।२४; ७।४।१।३० में इस का अर्थ 'यज्ञ' दिया गया है। अतः यहां अध्यापन-यज्ञ अर्थ ग्रहण किया गया है। **हिंसीः**—दुर्बोध वस्तु पीडित करने वाली होती है। भाव यह है कि मेरा अध्ययन का परिश्रम सफल हो। यह पद √हिंस् से लुङ् मध्यम पु० एक व० का रूप है। 'मा' के प्रयोग के कारण 'अट्' का लोप हो गया है। **निवर्तयामि**—मन्त्र का विनियोग त्रिपुण्ड्र लगाने में किया गया है। अतः अनुवाद में यही भाव ग्रहण किया गया है।

त्रिपुण्ड्र लगाना अनावश्यक

(xi) त्रिपुण्ड्र को यज्ञोपवीत के समान ही तीन ऋणों आदि का द्योतक चिह्न माना गया है। यदि इस का लक्ष्य यज्ञोपवीत के लक्ष्य से अभिन्न है तो यह कर्म अनावश्यक है। संभवतः इसी कारण पारस्कराचार्य ने इस का विधान नहीं किया है। वैसे भी यह क्रिया वैदिक प्रतीत नहीं होती। **अन्नाद्याय**—तां० १३।६ में अन्न को 'वाज.' और ऐ० ५।२७ में 'शान्तिः' कहा गया है। अत्तुं योग्यमाद्यम्—भक्षण, उपभोग के योग्य। **प्रजननाय**—उत्पन्न करने के लिए। ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य काल में पुत्र आदि उत्पन्न नहीं करता है। अतः हिन्दी अनुवाद। **रायस्पोषाय**—ब्रह्मचारी का धन विद्या है। उसी की पुष्टि या समृद्धि अभीष्ट है। श० ३।५।२।१२ में 'भूमा' (महिमा) को 'रायस्पोषः' कहा गया है। **सुवीर्याय**—कल्याणकरी वीर्य=शक्ति के लिए। तै० १।७।२।२ में 'अग्नि' को वीर्य कहा है। अतः उस में 'दाहक' का भाव निहित है। अतः हिन्दी अनुवाद।

अभिवादन

६४. यहां भाष्यकारों ने अभिवादन का भी विधान माना है। मूल में उस का कोई निर्देश नहीं है।

भिक्षा मांगने की रीति

६५–६७—**भवत्पूर्वाम्** – भाव यह है कि ब्रह्मवर्चस् का इच्छुक भिक्षा मांगते समय 'भवान्/भवती भिक्षां ददातु' कहे, क्षात्र तेज का इच्छुक 'भिक्षां भवान्/भवती ददातु' और वैश्यगुणों में कौशल का अभिलाषी 'भिक्षां ददातु भवान्/भवती' का प्रयोग करे। यहां पर भाष्यकारों ने भवति भिक्षां देहि, भिक्षां भवति देहि और भिक्षां देहि भवति का सम्बोधन बताया है। गदाधराचार्य के मत में भिक्षा अपने वर्ण के कुलों से ही मांगनी चाहिए। संभवतः वे मानते हैं कि उपरोक्त सम्बोधन से प्रत्येक गृहस्थ ब्रह्मचारी के वर्ण को जान कर अपने वर्ण के ब्रह्मचारी को भिक्षा दे देगा। परन्तु वर्णों का ऐसा दृढ़ वर्गीकरण पीछे का है, वैदिक काल का नहीं है। अतः ये प्रयोग ब्रह्मचारी की विद्याविशेष के ही द्योतक माने जा सकते हैं।

६८–६९. **तिस्रः**—माता आदि मांग पूर्ण करने वाली तीन, छै, बारह या (आवश्यकतानुसार) अनेकों ऐसी स्त्रियों से भिक्षा मांगे जो देने में इंकार न करें क्यों कि इंकार से बालक के मन में क्षोभ होता है। दस० ने माता, पिता, बहन, भाई, मामा, मौसी, चाची आदि से भिक्षा मांगना बताया है।

७०. माता कभी भिक्षा के लिये इंकार नहीं करती। अतः उस से ही सब से पहले मांगा जाता है।

७१. **निवेदयित्वा**—मांगने पर मिली समस्त भिक्षा को आचार्य को दे कर, उस द्वारा दिए भाग से क्षुधाशान्ति कर वाणी को संयम में रक्खे, कम और संयत पद बोले अथवा मौन रहे (?)। सूसं० ७२ की दृष्टि में यहां

मौन रहना अभीष्ट प्रतीत होता है। कर्काचार्य इस मौन को वैकल्पिक समझते हैं।

वनस्पतियों में जीव

७२. **अहिंसन्**—नञ्+√हिंस्+शतृ+पु० प्रथमा एक व०। हिंसा न करते हुए। अर्थात् बिना काटे हुए। प्राचीन भारतीयों के मत में वृक्ष आदि में भी जीव होता है—तु० क०—मनु० १।४९

"तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना।
अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः॥"

वेद में भी वनस्पति का चेतन अग्नि से तादात्म्य कर के इस भावना का सूत्रपात किया गया प्रतीत होता है। (देखो ऋ० १०।११०।१० आदि)। अतः काटने से वृक्षों को पीड़ा पहुंचती है। ब्रह्मचारी अहिंसाप्रमुख यम-नियम आदि का व्रत लेता है। अतः वह वृक्षों को भी कष्ट नहीं पहुंचा सकता है। ऐसी परिस्थिति में सूख कर निर्जीव हो गई शाखा आदि को लाना ही यहां अभीष्ट है। **अरण्यात्**—समिधाएं जंगल से बीन कर लानी हैं, बस्ती में से मांग कर नहीं। बस्ती में से मांगने में गृहस्थों पर अनावश्यक भार, ब्रह्मचारी में अत्यधिक परनिर्भरता की भावना, जंगल में जाने से वहां का व्यायाम और शुद्ध वायु से वञ्चित रहना आदि दोष हैं। अरण्य[1] √ऋ से व्युत्पन्न होने के कारण ज्ञान का द्योतक है। अतः अरण्य से समिदाहरण में व्यञ्जना से यह अर्थ भी उपलब्ध होता है। **समिधम्**—समिध् से द्वितीया एक व०। **समिधः**—पा० मे०। यह बहुवचन का रूप है। **तस्मिन्**—उसी पूर्व की अग्नि में जिस के समक्ष यज्ञोपवीत धारण की क्रियाएं की गई थीं। **पूर्ववत्**—पहले के समान परिसमूहन, पर्युक्षण और समिधाधान कर के प्रज्वलित अग्नि में यहां के लेखानुसार समिधा दें। अब ब्रह्मचारी बोल सकता है। **आधाय**—आ+√धा+ल्यप्। पं० सुखदेव ने यहां उपनयन की दक्षिणा में एक गाय

१. देखो वेभाप० ७।२।

का विधान माना है (—गो० गृ० सू० २।१०।५०) जो नितान्त अप्रासंगिक और अवैदिक है। दक्षिणा ब्रह्मचर्यकाल की समाप्ति पर देने की परिपाटी लक्षित होती है। देखो रघु और कौत्स का आख्यान।

उपनयन के समय किए जाने वाले उपदेशों का प्रयोजन

७३. ये विधान स्वास्थ्य, वीर्यरक्षा[1] तथा क्रियाशीलता की दृष्टि से किए गये हैं। दस० ने संस्कारविधि में इस अवसर पर दिये जाने वाले और भी उपदेश संकलित किए हैं।

७४. ये विधान शरीररक्षा, चरित्र में भद्रता और ज्ञान की प्राप्ति की दृष्टि से किए गए हैं। दण्डधारण से अपनी और अन्यों की रक्षा सम्भव होती है। अग्निपरिचरण[2] (=हवन) से शारीरिक और आत्मिक शुद्धि होती है। गुरुसेवा से ज्ञान मिलता है—'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया वा'। वस्तुतः ज्ञानप्राप्ति में तीनों ही आवश्यक हैं। भिक्षा से अपना और गुरु का तथा अन्यों का निर्वाह होता है। ये दैनिक कृत्य हैं।

७५. ये विधान चरित्रनिर्माण के लिए किए गए हैं। दुर्गुणों से बचना मनुष्य का प्रमुख कर्तव्य है। मानव की प्रवृत्ति निम्नगामी है। ये सब कर्य निम्न हैं। बालक की प्रवृत्ति को उच्च बनाने के लिए इन सब से उसे बचाना आवश्यक है यद्यपि गुरुकुल में आचार्य इन का अभाव उत्पन्न कर सकता है। परन्तु बालक मन में भिक्षाकाल में और एकान्त समय में इन कर्मों का चिन्तन और आचरण कर सकता है। अतः ये उपदेश दिए गए हैं। स्वामी शिवानन्द की पुस्तक ब्रह्मचर्य ही जीवन है' में इन उपदेशों की विस्तृत व्याख्या की गई है। मधु—शराब। मांस—यहां पर पशुओं आदि का

---

१. पं० सुखदेव ने 'अक्षारलवण' का अर्थ 'सेंधा नमक' किया है।
२. पं० सुखदेव ने इस का भाव यह लिखा है—'जिस अग्नि को स्थापन कर आचार्य उपनयन संस्कार का आरम्भ किए हों उस को सुरक्षित रक्खे और सायं प्रातः उसी अग्नि में समिध की आहुति प्रदान करे।'

उन के वध द्वारा प्राप्त मांस अभिप्रेत है, ब्राह्मणग्रन्थों के उत्तम भोजन या पदार्थ नहीं। वेद में मांसभक्षण को बहुत निकृष्ट दृष्टि से देखा गया है। तु० क० 'कृतान्ताय गोघातम्' (य० ३०।१८) तथा 'यो नो रसं दिप्सति पित्वो अग्ने यो अश्वानां यो गवां यस्तनूनाम्। रिपुः स्तेनः स्तेयकृद् दभ्रमेतु नि ष हीयतां तन्वा तना च' ॥ ऋ० ७।१०४।१०। मांस रजोगुण और तमोगुण का बढ़ाने वाला होने से वर्ज्य माना गया है। **मज्जन**—भाष्यकारों ने 'ह्रददेवतीर्थस्नान' का निषेध माना है। शरीररक्षा की दृष्टि से गहरे, तेज़ धार वाले, मगर आदि से व्याप्त जल में स्नान का और अतिशय स्नान का निषेध ही अभिप्रेत प्रतीत होता है। **उपर्यासन**—चारपाई आदि। इस के निषेध का प्रयोजन विलासमय जीवन से बचाना प्रतीत होता है। **स्त्रीगमन**—इस के द्वारा आठ प्रकार के मैथुनों का निषेध अभिप्रेत है। इस का निषेध वीर्यरक्षा के लिए है। स्त्रियों के फेर में पड़ कर मनुष्य उदात्त लक्ष्यों में विफल हो जाता है। इसी लिए उसे नरक का द्वार कहा गया है। सामान्यतः अधिकांश स्त्रियों में पुरुषों की अपेक्षा तमोगुणी प्रवृत्ति अधिक पाई जाती है। कन्याओं के लिए पुरुषगमन वर्जित है। उन के लिए उन्हें पथभ्रष्ट और आसक्ति उत्पन्न करने के कारण पुरुष नरक के द्वार हैं। **अनृत**—झूठ बोलने से पाप में प्रवृत्ति होती है। **अदत्तादान**—जो वस्तु अपनी नहीं है और दूसरे ने दी नहीं है उस का लेना चोरी कहलाता है। चोरी से अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न होते हैं। वह मनुष्य में विकृत वासना उत्पन्न कर उसे कुमार्गगामी कर देती है। इस से बचाने की भावना से ही योगदर्शन में 'अस्तेय' को यमों में रक्खा है। इस उपदेश में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह —इन पांच योगशास्त्र के यमों का मांस, अनृत, अदत्तादान और स्त्रीगमन का निषेध कर विधान किया है।

ब्रह्मचर्यव्रत की अवधि

७६. **अष्टचत्वारिंशद्वर्षाणि**—जयरामाचार्य के मत में ४८ वर्ष में चारों वेदों का अध्ययन रूप एक ही व्रत अभिप्रेत है। उस में सारे वेदों के मन्त्रों

से आहुति दे कर हवन किया जाता है। प्रत्येक वेद के लिए १२ वर्ष की अवधि के निर्धारण में अपने (अधीत ?) वेद की आहुतियां दी जाती हैं। यावद्ग्रहणम् में एक, दो या सब वेदों का अध्ययन अभिप्रेत है।

(ii) स्वामी दयानन्द सरस्वती ने छान्दोग्योपनिषद् ३।१६ की व्याख्या करते हुए ब्रह्मचारियों के तीन विभाग माने हैं[1]—१. वसु—२४ वर्ष की आयु तक ब्रह्मचर्यव्रत का पालन कर वेद पढ़ने वाले २. रुद्र—४४ वर्ष की आयु तक इसी प्रकार पढ़ने वाले और ३. आदित्य—४८ वर्ष की आयु तक इसी प्रकार पढ़ने वाले। पारस्कर के विधान में बालक जल्दी-से-जल्दी ८ वर्ष का वेद पढ़ना प्रारम्भ करता है। इस प्रकार वेदाध्ययन के लिए इस विभाजन में अधिक से अधिक ४० वर्ष माने गये हैं। इस अवस्था में प्रत्येक वेद के लिये १० वर्ष का समय बनता है। सूसं० ७७ में विकल्प में प्रत्येक वेद के लिए १२ वर्ष का समय बता कर उपरोक्त अवधि को बढ़ाया है, अन्यथा यह सूत्र अनावश्यक था। सूसं० ७८ में इस अवधि को और भी बढ़ाया है। प्रथम विधान परम मेधावियों के लिए है, शेष दो विधान अल्पतर और अल्पतम मेधा वालों के लिए हैं। ये अवधियां ब्राह्मण के गुण धारण करने के इच्छुक में तो लागू होती हैं, परन्तु शेष दो—क्षत्रियगुणकामी और वैश्यगुणाभिलाषी में नहीं, क्यों कि उन का उपनयन आठ वर्ष की आयु में नहीं होता है, प्रत्युत ११ और १२ वर्ष की अवस्था में होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वेदाध्ययन सब वर्णों के लिए अनिवार्य होने से आठ वर्ष की आयु में सब के लिए ही प्रारम्भ हो जाता हो और जो क्षत्रिय और वैश्य गुणों के भी अभिलाषी होते थे उन की इन गुणों से सम्बन्धित शिक्षा पारस्कराचार्य की निर्धारित आयुओं पर प्रारम्भ होती रही हो। कालान्तर में इस प्रणाली में विकार आया और क्षत्रिय और वैश्य के गुणों के अभिलाषियों का वेदाध्यन

१. इन ऋषि ने अपने वेदभाष्यों में भी अनेक बार वसु, रुद्र और आदित्य के ये ही अर्थ ग्रहण किए हैं। देखो ऋ० १।४५।१; ६४, ३; ११४, १ आदि।

बड़ी आयु में प्रारम्भ होने लगा। इन दोनों वर्णों के गुरोच्छुओं के लिए वेदाध्ययन की अवधि अल्पकालीन होने और व्यवसायिक शिक्षा के समक्ष लौकिक दृष्टि से गौण स्थान प्राप्त करने के कारण शनैः शनैः वेदाध्ययन इन दोनों वर्णों में से उठ गया। ब्राह्मणेतर वर्णों के शूद्रपदवाच्य वेद के प्रकाण्ड ज्ञाता ब्राह्मणों के लिए एक समस्या बन जाने स्वाभाविक थे। इन दोनों में अनेकों अवसरों पर संघर्ष हुए होंगे। इस स्थिति को समाप्त करने के लिए शिक्षा के लिए उत्तरदायी ब्राह्मणों ने अन्य वर्णों के वेदाध्ययन को क्रमशः घटा कर कालान्तर में उसे निःशेष कर दिया होगा। प्रत्यग्वैदिक काल में वर्णव्यवस्था का आधार जन्मगत हो जाने से वेदाध्ययन के आयोजित इस ह्रास की प्रगति बढ़ जानी स्वाभाविक थी। पहले सब को ब्राह्मण मान कर उपनयन किए जाने की उपरोक्त कल्पना श० ११।५।४ से पुष्ट होती है। इस ब्राह्मण में केवल ब्राह्मण के उपनयन का विधान है, अन्य वर्णों का नहीं। शतपथ २।५।२।६ और ३।६।३।२ से ज्ञात होता है कि उस काल में मानव जाति का एक वर्गीकरण क्षत्रिय और विश् ही थे। अतः उस काल में ब्राह्मण आदि पद जातिवाचक न हो कर गुणवाचक थे। (अवे० १०।८।३७ में ब्राह्मणपद का प्रयोग भी देखें।) ऐसी परिस्थिति में ब्राह्मण पद समस्त मानव जाति का द्योतक रहा होगा और उस के लिए विहित नियम सब पर समान रूप में लागू होते रहे होंगे।

(iii) **वेदब्रह्मचर्यम्**—वेदाय ब्रह्मचर्यम्। वेद पढ़ने के लिए ब्रह्मचर्य व्रत।

वस्त्रों और मेखला के भेद का कारण

७९. शाण०[1]—यजुर्वेद में बहुत से पशुओं को विभिन्न देवताओं से

---

१. पं० सुखदेव ने आश्वलायन गृह्य सूत्र १।१९।९—'यदि वासांसि वसीरन्—काषायं ब्राह्मणो माञ्जिष्ठं क्षत्रियो हारिद्रं वैश्यः' के आधार पर ब्राह्मण के लिए गेरुए, क्षत्रिय के लिए मजीठे और वैश्य के लिए पीले वस्त्रों का विधान माना है।

सम्बद्ध कर के उन के गुणों का वर्णन किया गया है, यह भिन्न बात है कि हम उस वर्णन को ठीक-ठीक न समझ पायें। परन्तु शाण और क्षौम आदि के गुणों का कोई वर्णन उपलब्ध प्रतीत नहीं होता। फिर भी उन के गुणों के ज्ञान के आधार पर ही ये सूत्र बने होंगे। इन के परिधान में इन वस्तुओं के गुणों का ध्यान इतना महत्त्वपूर्ण नहीं रहा होगा जितना विद्यार्थी के अध्ययन के विषय का द्योतन। आजकल भी कला, विज्ञान और वाणिज्य आदि के स्नातकों, प्रत्यक्स्नातकों तथा गवेषकों की उपाधियों के लिये विभिन्न वस्त्रों का परिधान निर्धारित है। उत्तरीय और मेखला के भेदों के विधान के भी ये ही कारण हैं।

८०. ऐणेयम्—कृष्णसार मृग का (चर्म)। य० २४।३६ में एणी का सम्बन्ध सर्पों से बताया गया है। श० ७।४।१।२५ में सब के साथ गतिशील होने के कारण लोकों को, तै० २।२।६।२ में देवों को सर्प कहा गया है। कौ० २७।४ में गौः, वाक् और पृथिवी को सार्पराज्ञी कहा गया है। इन गुणों के आधान को ध्यान में रख कर ही एणी के चर्म का परिधान ब्राह्मण के लिए निर्धारित किया गया होगा। परन्तु यह सुस्पष्ट है कि इन परिधानों की प्राप्ति के लिए बहुत से पशुओं का वध आवश्यक रहा होगा। अथर्ववेद के ब्रह्मचर्यसूक्त में इस प्रकार का विधान नहीं है। हो सकता है प्रारम्भ में 'ऐणेय' आदि पद गुणों के द्योतक रहे हों, फिर एणी आदि के बालों और तत्पश्चात् उन के चर्म का प्रयोग किया जाने लगा हो। यह स्थिति अज (=अजन्मा, बकरी) के प्रयोग में सुस्पष्ट है।

(ii) य० २४।८ में 'एन्यः' को 'मैत्र्यः' कहा है। 'ऐणेय' को 'एनी' का रूप भी माना जा सकता है यद्यपि 'एणी' पद की उपस्थिति में ऐसा मानने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। मित्र के अर्थों में सब का मित्र, सत्य का उत्पादक, ब्रह्म, क्षत्रं क्षत्रपति, घोरसंस्पर्श अग्नि, प्राण, वायु, अहः, शुक्ल और कृष्ण पक्ष आदि मिलते हैं।

८१. **रौरवम्**[1]—रुरोः इदमिति रौरवम्। य० २४।३६ में रुरु को रौद्र=रुद्र सम्बन्धी कहा गया है। वैदिक कोष में ब्राह्मणग्रन्थों से रुद्र के अर्थों में रुलाने वाला, अग्नि, पशुओं का पति, स्विष्टकृत्, देवों में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ, घोर, प्राण, मह आदि दिये हैं। रुद्र के रूपों में भव, ईशान, उग्र, अशनि आदि भी हैं। त्र्यम्बक=नारिकेल[2] से उस का पोषक गुण लक्षित होता है। क्षत्रिय में इसी प्रकार के गुण अभीष्ट हैं।

८२. **आजम्**—अजस्य अजाया वा इदमिति आजम्। य० २४।३२ में 'अज' (बकरा) का सम्बन्ध 'पूषा' से बताया गया है। ब्राह्मणों में पूषा के अर्थ शूद्रवर्ण, पोषक, पृथिवी, वायु, पुष्टि, सूर्य, अग्नि, अन्न, पशु, रेवती नक्षत्र, विशां विट्पतिः, प्रजनन, मार्गों का अधिपति, ऐश्वर्य का आदाता, ऐश्वर्य का अधिपति, वृषा, देवानां भागदुघः, अदन्तक आदि दिये गये हैं। **गव्यम्**—गोः इदं गव्यम्। गाय का। गो+यत्। यजुर्वेद के पशुप्रकरण में अकेले 'गो' पद का प्रयोग नहीं मिला है। इस के पर्यायवाची 'धेनु' का सम्बन्ध य० २४।१२ में अतिच्छन्दस् से बताया गया है। **अतिच्छन्दस्** के

---

१. रुरु को लाल रंग का बताया गया है (पं० सुखदेव का अनुवाद) संशकोको० ने इसे काला हिरन बताया है। यह विश्वेदेवों के एक गण का नाम भी है। ब्राह्मणग्रन्थों में 'विश्वेदेवाः' के अर्थ 'समस्त देवता, सूर्य की किरणें, प्राण, ऋतुएं, इन्द्राग्नी, श्रोत्र, दिशाएं उपद्रव, प्रजापति के पुत्र, वैश्य, विश्, पशु, अश्व, गो, अन्न, सब कुछ' आदि दिये गये हैं। इस से क्षत्रिय में तेज, प्राणसारता, सब पर शासन, सब प्रकार के गुण, ऐश्वर्य, गतिशीलता, जागरूकता, व्याप्ति, उग्रता, प्रजापालन आदि गुणों के धारण की भावना प्रकाशित की गई है। वह अपने आप को वैश्य ही समझे। उस से भिन्न नहीं, क्यों कि विश्—समस्त प्रजा—वैश्य है। इस मूलभूत एकता की उपेक्षा से ही आर्य जाति में ऊंच-नीच की भावना उत्पन्न हो कर अनर्थ हुआ है। २. देखो कोकोनट (त्र्यम्बक इन दी ऋग्वेद) इज़ दी ओरिजन औफ शिवकल्ट, आइओका० १९४८ (सं०)।

अर्थ 'उदर, ऋक्, छन्दों का रस, लोक और वर्ष्म आदि दिए गए हैं। 'गो' शब्द से मिलते हुए 'गोमृग' का सम्बन्ध य० २४।१ और २४।३० में प्रजापति और वायु से तथा गवय का य० २४।२८ में बृहस्पति से सम्बन्ध बताया गया है। **प्रजापति** के अर्थ 'प्रजापालक, अग्नि, इन्द्र, हृदय, मन, वाक्, वाक्पति, संवत्सर, यज्ञ, अश्वमेध, विश्वजित्, सविता, प्राण, अन्न, वायु, प्रणेता, भूत, बन्धु, ब्रह्मा, चन्द्रमा, सोम, वसिष्ठ, विश्वकर्मा, व्योम, सुपर्ण गरुत्मान्. मूर्धा, सदस्य, उद्गाता, उद्गीथ, अथर्वा, सत्य, गार्हपत्य, आत्मा, पुरुष, यजमान, पितरः, प्रजनन, सब का धारक, विप्र, क्षत्र, क्षितिपति, ये लोक, यह सब कुछ, अतुलनीय, देवों में अन्नाद और वीर्यवान्, अमृत, पूर्ण' आदि, **वायु** के अर्थ पवन, सब का विवेचक, कामनायुक्त, अनुवत्सर, देव, ब्रह्म, बृहस्पति, पवित्र, इन्द्र, मित्र, यम, यन्ता, जातवेदस्, सब कुछ का करने वाला, तेज, पूषा, तार्क्ष्य, तीनों लोकों में वर्तमान, सविता, सोम, विश्वकर्मा, चन्द्रमा, प्राण, उग्र, पुरोहित, महः, यज्ञ. वाक्, देवों की आत्मा, शान्ति और **बृहस्पति** के अर्थ वाणी का पति, वाणियों का उत्पादक, वायु, प्राण, अपान, चक्षु, द्युम्न (=धन), ब्रह्म, देवों का ब्रह्मा, देवों का उद्गाता, देवों का पुरोहित आदि मिलते हैं। अतः यहां पर पोषक, समृद्धिजनक, शान्ति, यात्रा आदि के गुण अभीष्ट हैं।

सब वर्णों की एकता

(ii) उपरोक्त देवताओं के वाचक अर्थों से एक बात अनायास ही स्पष्ट हो जाती है कि सब वर्णों में अधिकांश गुण समान ही अभिप्रेत हैं। उन में मूलभूत एकता है। उन में भेद किसी एक वा अधिक गुणों की ओर प्रवृत्ति के कारण ही किया जाता है। ऐसी परिस्थिति में ब्राह्मण आदि पद केवल गुणवाचक ठैरते हैं, जातिविशेषों के द्योतक नहीं। मानवों में जो वर्गीकरण उन के कर्म या व्यवसाय के आधार पर होता था वह ही मूलतः उन का वर्ण रहा हो सकता है।

८३. **असति**—√अस्+शतृ+सप्तमी एक वचन, नपुंसक०। अपने-अपने वर्ण के लिए नियत धर्मों के अभाव में। **प्रधानत्वात्**—यहां

पर हेतु में पञ्चमी है। 'गव्य' के सब अजिनों में प्रमुख होने के कारण। इस की प्रमुखता इस के विषय में दिए गए ऊपर के वर्णन से सुस्पष्ट है। इस से सम्बन्धित देवताओं के अर्थों से प्रकाशित गुण सब वर्णों में घट जाते हैं। अतः ऐणेय, रौरव और आज चर्मों के न होने पर 'गव्य' चर्म का प्रयोग किया जा सकता है। यहां पर पारस्कर आचार्य को 'गो' का अर्थ पशुमात्र भी अभिप्रेत हो सकता है, गाय मात्र नहीं। भाष्यकारों ने यह अर्थ भी दिया है कि देवों ने पुरुष के चर्म को गाय पर रख कर उसे पुरुषप्रधान बना दिया है। तु० क०—पुरुषप्रधानत्वात् गव्यस्य चर्मणः। पुरुषप्रधानं हि गव्यं चर्म श्रुतौ पठ्यते। तेऽवच्छाय पुरुषं गव्येतां त्वचमदधुरिति। —कर्कभाष्य।

८४—८६. संचं० में मेखलाधारण के लाभों में आन्तों के उतरने से रक्षा और शरीर में चुस्ती लाना दिए हैं। पारस्कराचार्य ने ब्राह्मण की मेखला मूंज की, क्षत्रिय की धनुर्ज्या की और वैश्य की मूर्वा की बताई है। संशकौको० ने क्षत्रिय की मेखला मूर्वा की मानी है। वहां धनुर्ज्या को मूर्वानिर्मित माना गया है। महर्षि दयानन्द ने ब्राह्मण की मेखला मुंज वा दर्भ की, क्षत्रिय की धनुष्संज्ञक तृण वा वल्कल की और वैश्य की ऊन वा सन की मानी है। (संवि० पृ० ६१ पाटि०)। संचं० में इन घासों के गुण आयुर्वेद के आधार पर दिए हैं। मुजं को मधुर, कषाय, शीतल, त्रिदोषनाशक और वृष्य, दर्भ को त्रिदोषनाशक, मधुर, कषैला और शीतल बताया है। सन को खट्टा, कषैला, मलगर्भ, रुधिर को गिराने वाला, वमन लाने वाला, वात और कफ का शामक तथा तीव्र अंगों के टूटने को दूर करने वाला कहा गया है। मूर्वा के गुण भी इसी प्रकार से आयुर्वेद के ग्रन्थों से जाने जा सकते हैं। ओषधियों को खाने लगाने और पहनने से रोगों को दूर करने में जो सहायता मिलती है वह सुप्रत्यक्ष है। इसी दृष्टि से ये मेखलायें धारण की जाती थीं। उपरोक्त घासों के गुणों और ब्राह्मण आदि के कर्मों का सम्बन्ध ज्ञातव्य है।

(ii) **मौञ्जी**—मुञ्जस्य इयं मौञ्जी। **मौर्वी**—मूर्वाया इयमिति मौर्वी। पं० सुखदेव–कास की। भाष्यकारों ने इसे 'मुरु' से व्युत्पन्न किया है। **धनुर्ज्या**—भाष्यकारों ने इसे तान्त की (=स्नायुमयी) या बांस की (वेणुमयी) माना है। दस० ने इसे धनुष् नामक घास बताया है।

८७ **कुशेति**—कुश, अश्मन्तक[1] और बल्व[2] भी घासों के नाम हैं। बहुधा कुश और दर्भ को एक ही माना जाता है। ये तीनों क्रमशः ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्यों के गुणों के अभिलाषियों के लिये हैं (हरिहराचार्य)।

दण्डधारण का प्रयोजन और उस के भेद का विवेचन

८८—९०—संचं० में दण्डधारण के लाभ शरीररक्षा, मेरुदण्ड का सीधा रखना दिए हैं। पलाश आदि के दण्डों का विधान उन के गुणों की दृष्टि में किया गया है। संचं० ने इन के गुण अभिनवनिघण्टु के आधार पर इस प्रकार दिये हैं—**पलाश** दीपन, बलकर्त्ता, दस्तावर, गरम, कषैला, चरपरा, कड़वा, स्निग्ध, व्रण गोले और गुदा के रोगों का नाशक, टूटी हड्डी का जोड़ने वाला, वातादि दोषों, संग्रहणी, बवासीर और कृमियों का नाशक है। **बिल्व** (या बेल) कषाय, कड़वी, ग्राही, रूक्ष, अग्निवर्धक, पित्तकारक, वात और कफ नाशक, बलकारक, लघु, उष्ण और पाचक होता है। **उदुम्बर** या गूलर शीतल, रूक्ष, भारी, मधुर, कषैला, वर्णकारक, कफ, पित्त और रुधिर के विकारों को दूर करने वाला, व्रत का शोधक और रोपक होता है। इस प्रकार इन वृक्षों के दण्डों का धारण कतिपय रोगों का प्रतिरोधक है। संचं० का कहना है कि इस दण्डधारण से वनस्पतियों के प्रयोग का ज्ञानसंग्रह भी होता है, परन्तु यह लाभ प्रत्यक्ष नहीं है। विभिन्न वर्णों के लिए विभिन्न वृक्षों के दण्डों का विधान उन के गुणों से समता की दृष्टि में किया जाना स्वाभाविक था। उपरोक्त आयुर्वैदिक गुणवर्णनों से यह साम्य सुव्यक्त नहीं

१.–२. पं० सुखदेव ने श्मन्तक पाठ रख कर बेरहुंट अर्थ और वल्व का अर्थ कास किया है।

होता। ऐसा प्रतीत होता है कि मौञ्जी, धनुर्ज्या और मौर्वी तथा पलाश, वैल्व और औदुम्बर पदों का ऐणेय आदि के समान अग्नि, रुद्र और पूषा आदि देवताओं से सम्बन्ध है। उसी के आधार पर ये विधान किए गये हो सकते हैं। ये प्रस्तावित सम्बन्ध मृग्य हैं।

९१. पलाश आदि के गुणों में साम्य होने के कारण कोई भी वर्ण किसी भी वृक्ष का दण्ड धारण कर सकता है।

(ii) अजिन, मेखला और दण्ड के ये वैकल्पिक सूत्र गृह्यसूत्रों से पहले के काल में समस्त वर्णों की एकता और सब के लिए एक जैसे विधान की सत्ता के द्योतक हैं। इन सूत्रों से यह भी स्पष्ट है कि ऐणेय आदि का प्रयोग वर्णभाव की दृष्टि से नहीं किया गया है।

वर्णों के लिए दण्डों के विभिन्न माप का कारण

९२. दण्डों के माप का यह विधान पारस्कर आचार्य को अभिमत नहीं है। यह इस में पीछे से मिलाया गया है। संचं० ने इस मापभेद को वर्णभेद का द्योतक माना है। वस्तुतः केश-पद उ० ५।३३ में √क्लिश् से व्युत्पन्न हुआ है। अतः इस के द्वारा कष्टों के सहन करने—तप करने का लक्ष्य सामने रक्खा है[1]। ललाट तक दण्ड के विधान से शारीरिक बल को बुद्धि के अधीन रखने का सन्देश दिया गया है। घ्राण—नासिका प्राण और अपान की प्रतीक है। इस माप में ब्रह्मचारी को राष्ट्र के प्राण बनने का निर्देश किया गया है। वैश्य ही विश्—प्रजा—राष्ट्र के प्राण हैं। वे ही विश्वे देवाः और मरुत् हैं, सब के मित्र भी। प्राण भी विश्वेदेवाः हैं।

(ii) इस मापविधान में एक और भाव भी हो सकता है। योगचूडामण्युपनिषत् ३५ में लिखा है कि कुण्डलिनी को जाग्रत करने से मनुष्य वेदज्ञाता होता है—

---

१. ध्यान रहे कि जहां ब्राह्मण को तपस्वी माना गया है, वहां य० ३०।५ में शूद्र ही का सम्बन्ध तप से बताया है, ब्राह्मण को नहीं।

"कुण्डलिन्या समुद्भता गायत्री प्राणधारिणी ।
प्राणविद्या महाविद्या यस्तां वेत्ति स वेदवित् ॥"

अतः इस मापविधान में कुण्डलिनी को जागृत कर शरीर में कण्ठप्रदेश में स्थित विशुद्धचक्र, भ्रुवों के बीच में स्थित आज्ञाचक्र और शिर में स्थित उड्यानचक्र[1] । (=सहस्रदलकमल) के भेदन की ओर लक्ष्य किया हो सकता है। हरिहराचार्य ने दण्डों के मान को केशों के मूल, भ्रूमध्य और ओष्ठों तक बता कर इसी सुझाव की ओर संकेत किया हो सकता है।

६३. **आहूतः**—आ+√ह्वे+क्त। बुलाया हुआ। **उत्थाय**—उद्+√स्था+ल्यप्।

६४. **शयानम्**—√शी+शानच्+पु० द्वितीया एक व०। **आसीनम्**—√आस्+शानच्+पु० द्वितीया एक व०।

स्नातक की कीर्ति

६५. **अमुत्र**—परलोक में विष्णु लोक में जहां भूरिशृङ्ग, और अय गौएं=विद्याएं रहती हैं—यत्र गावो भूरिशृंगा अयासः (ऋ० १।१५४।६)। स्वर्गस्थान, मोक्षस्थान। भाव यह है कि ऐसा ब्रह्मचारी इस लोक में रहता हुआ भी स्वर्ग के सुखों का उपभोग करता है। कुछ, विद्वान् इस में मरने पर मुक्ति की कल्पना करते हैं। परन्तु, मुक्ति इतनी सरल नहीं है। यहां पर 'अमुत्राद्य वसति' की पुनरावृत्ति विषय की महिमा पर बल देने के लिये की गई है। **स्नातक**—विद्या या व्रत समाप्त कर के गृहस्थाश्रम में आने वाला विद्यार्थी।

स्नातकों के भेद

९६. **त्रयः**—इन तीनों का व्याख्यान अगले सूत्रों में दिया है। इन में विद्याव्रत स्नातक श्रेष्ठ है, शेष दो समान माने गए हैं—तु० क० तेषामुत्तमः श्रेष्ठस्तुल्यौ पूर्वौ (गोभिलगृह्यसूत्र ३।५।२३—सुखदेव संस्करण)।

---

१. योगशिखोपनिषत् ४।१०–१२।

९७. **वेदम्**—एक या अधिक वेद का अध्ययन। **असमाप्य व्रतम्**—ब्रह्मचर्यव्रतपालन करने की अवधि को पूरा किए बिना ही। भाव यह है कि यद्यपि ब्रह्मचर्यव्रत तो अभी पूरा नहीं हुआ है अर्थात् अभी २४, ४४ या ४८ वर्ष की आयु नहीं हुई है, परन्तु, वेद का जितना अध्ययन अभीष्ट था वह पूरा कर लिया। अतः ब्रह्मचारी अधिक दिन गुरुकुल में न रह कर व्रत की अवधि को अपूर्ण छोड़ कर संसार में जीवन बिताने चला आता है।

९८. यहां पर व्रत की अवधि तो पूरी बीत जाती है, परन्तु वेद का अभीष्ट अध्ययन पूरा नहीं होता, फिर भी ब्रह्मचारी संसार में प्रविष्ट हो जाता है।

९९. यहां वेदाध्ययन और ब्रह्मचर्य पालन की अवधि दोनों ही पूरी कर के ब्रह्मचारी घर को लौटता है। **समावर्तते**—सम्+आ+√वृत्+लट् प्रथम पु० एक व०। लौटता है, गृहस्थ बनने के लिए गुरुकुल छोड़ कर लौटता है।

उपनयन की चरम सीमा

१००—१०३—उपनयन की क्षिप्रतम या निम्नतम सीमा का निर्देश तो किया जा चुका है। तो भी परिस्थितियों के कारण यदि किसी का उपनयन उस काल में न हो सके तो ब्राह्मण का उपनयन १६ वर्ष तक, क्षत्रिय का २२ वर्ष तक और वैश्य का २४ वर्ष की आयु तक कराया जा सकता है। इस के पश्चात् उन्हें उपनयन का अधिकार नहीं रहता और वे गायत्री के उदेश से वञ्चित हो जाते हैं। सावित्री के उपदेश के बिना वे वेदाध्ययन के अधिकारी नहीं बनते हैं। **पतितसावित्रीकाः**— पतिता अधिकार भावान्निःसृता सावित्री येभ्यस्ते। मनु ने इस अवधि को केशान्त संस्कार का काल माना है। (२।६५)। म० २।३८ भी देखें।

१०४. इस में पतित सावित्रिकों को उपनयन, अध्यापन, याजन और व्यवहार से वञ्चित किया गया है। यह व्यवहार कुछ दिन पूर्व हिन्दू समाज में प्रचलित जातिच्युत और धर्मच्युत करने की प्रथा के अनुरूप है।

मनु के काल में ऐसे लोगों को व्रात्य कहा जाता था (देखो मनु० २।३९)। इतना कठोर व्यवहार करने पर भी उन्हें व्रात्यस्तोम नामक यज्ञ कर के पुनः सभ्य (=आर्य) समाज में स्थान पाने का अधिकार दिया गया था। कालान्तर में इस अधिकार का प्रयोग स्वेच्छा से न करने वाले या न करने के लिए अन्यों द्वारा विवश किए हुए लोग ही पतित—आधुनिक शूद्र बने होंगें। यदि ऐसा हो तो विचारणीय यह है कि ये व्रात्य से शूद्र कैसे कहलाए जाने लगे।

(ii) **उपनयेयुः**— उप + √नी + विधिलिङ् प्रथम पु० बहु व०। **अध्यापयेयुः**—अधि + √इ + णिच् + विधिलिङ् प्रथम पु० बहु व०। **याजयेयु**—√यज् + णिच् + विधिलिङ्। प्रथम पु० बहु व०। **व्यवहरेयुः**—वि + अव + √हृ + विधिलिङ् प्रथम पु० बहु व०। इस का भाव विवाह शादी आदि धार्मिक और सामाजिक कर्म हैं।

१०५. **कालातिक्रमे**—कालस्यातिक्रमे। उपरोक्त चरम अवधि के बीत जाने पर। जयराम और हरिहर भाष्यकारों ने इस का अर्थ गर्भाधान आदि समस्त संस्कारों के निश्चित समय का पालन न करना समझा है। परन्तु यहां पर समस्त प्रकरण उपनयन संस्कार का ही है। अतः उतना ही भाव अभीष्ट है, भाष्यकारों का विस्तृत अर्थ नहीं। **नियतवत्**—भाष्यकारों के मत में इस का भाव यह है—नित्य कर्मों के न करने के पाप से छुटकारा पाने के लिए श्रौत सूत्रों में विहित स्मार्त अनादिष्ट सर्वप्रायश्चित्त करे। इस प्रायश्चित्त के करने पर संस्कारों का पुनः अधिकार प्राप्त हो जाता है। श्री हरिहराचार्य लिखते हैं कि यहां काल का अतिक्रमण केवल उपनयन विषयक ही नहीं है, प्रत्युत अन्य कर्मों का अतिक्रमण करने पर भी यही अनादिष्ट सर्वप्रायश्चित्त करना होता है, इस का कारण यह है कि गृह्यसूत्रकार ने अन्य किसी प्रायश्चित्त का विधान नहीं किया है। इस का अर्थ यह भी किया जा सकता है—नियत = नियमों के पालक—संयमी के समान आचरण करे। जैसा संयमी विद्वान् आचरण करे या उपदेश करे वैसा ही आचरण आदि करें। हिन्दी अनुवाद भाष्यकारों के आधार पर किया गया है।

१०६. **त्रिपुरुषम्**—त्रीन् पुरुषान् यावत् इति त्रिपुरुषम् । तीन पीढ़ियां—पिता, पुत्र, और पौत्र—जिन की सावित्री के उपदेश को प्राप्त नहीं कर सकी हैं । **अपत्ये**—जिन की तीन पीढ़ियों में उपनयन संस्कार नहीं हुआ है उन की सन्तान । चौथी पीढ़ी और उस के आगे । **संस्कारो नाध्यापनं च**—इस में 'न' का सम्बन्ध मध्य में स्थित दीपक के समान संस्कारः और अध्यापनम्—दोनों से है । हरिहर आचार्य के विचार में 'न' का सम्बन्ध केवल अध्यापनम् से है । अतः वे मानते हैं कि उपनयन तो किया जा सकता है । परन्तु अध्यापन नहीं—'त्रिपुरुषं त्रीन पुरुषान् यावत् ये पतितसावित्रीकाः पितृपौत्रास्तेषामपत्ये पुत्रे संस्कारः उपनयनं भवति न पुनश्चतुर्थादीनां तेषां च उपनीतानामपि अध्यापनं न भवति ।' परन्तु यह मत समीचीन नहीं । उपनयन होते ही उपनेता से उपनीत को अध्ययन का अधिकार स्वतः प्राप्त हो जाता है । पं० सुखदेव समझते हैं कि 'नियत प्रायश्चित्त करने पर भी जिन लोगों का तीन पीढ़ी तक उपनयन न हुआ हो, उन की चौथी पीढ़ी के पुरुष का उपनयन नहीं हो सकता न वह वेद पढ़ने का अधिकारी हैं ।'

१०७. **तेषाम्**—इन सावित्री के उपदेश से और उपनयन के अधिकार से वञ्चित पूर्व सूत्र में वर्णित पुरुषों में से । **ईप्सुः**—√आप्+सन्+उ+पुल्लिंग प्रथमा एक व० । **व्रात्यस्तोम**—एक यज्ञ होता है जिस में पतितों को शुद्ध किया जाता है और उन्हें फिर से यज्ञ आदि कर्म का अधिकार दिया जाता है । स्वामी दयानन्द ने इसी के आधार पर पिछली शताब्दी में विधर्मियों को शुद्ध करने और दलितों के उद्धार का आन्दोलन चलाया था ।

(ii) यहां यह जानना भी परम आवश्यक है कि पारस्कराचार्य ने पतितसावित्रीकों को व्रात्य नहीं कहा है । यह नामकरण मनु आदि पिछले लेखकों का है । अथर्ववेद के व्रात्यकाण्ड में व्रात्य नीचता का द्योतक नहीं । वहां वह सृष्टि के आदिकारण परमात्मा और विद्वान् सदाचारी पूजनीय अतिथि आदि का द्योतक है । (देखो अवे० १५।१०; १२; १४–१८ । व्रात-

काण्ड के डा० सम्पूर्णानन्द और पं० क्षेमकरण और जयदेव आदि के भाष्य देखें)। अवे० १५।१२ के अनुसार व्रात्य की आज्ञा के बिना यज्ञ से अभीष्ट लाभ नहीं होता। अध्ययन और अध्यापन भी यज्ञ हैं। अतः व्रात्य को सन्तुष्ट कर के ही पतितसावित्रीक इन यज्ञों से लाभ उठा सकते हैं। यही भाव व्रात्यस्तोम यज्ञ के किए जाने का प्रतीत होता है।

(iii) **कामम्**—इच्छानुसार, अथवा निर्विवाद रूप से। **अधीयीरन्**—अधि + √इ + विधिलिङ् प्रथम पुरुष बहु वचन। **व्यवहार्याः**—वि + अव + √हृ + ण्यत् + पुल्लिंग प्रथमा बहु वचन। इस प्रमाण का स्थल मृग्य है।

(iv) यहां पर पं० सुखदेव ने वेदारम्भ संस्कार का विधान माना है।

१०८. यहां से अन्त तक का भाग पारस्कर गृह्यसूत्र का अंश नहीं है। गुजराती प्रेस के संस्करण में इसे कोई स्थान नहीं दिया गया है। पञ्च भाष्यकारों में से गदाधर और विश्वनाथ ने अपने भाष्यों में पूर्व प्रकरण के भाष्य के अन्त में सूसं० १०८-१२४ में वर्णित क्रियाओं का मन्त्रों के विनियोग को दर्शाते हुए विधान किया है।

(ii) इस भाग में छै वेदव्रतों का विधान किया गया है। इन में सावित्र व्रत छै रात्रियों या तीन रात्रियों में या तुरन्त ही उपनयन के समय पूरा किया जा सकता है। इस में सवितृदेवता के मन्त्रों का पाठ और अध्ययन अभीष्ट है।

(iii) शेष पांच वेदव्रत एक वर्ष की अवधि वाले हैं। आग्नेय में 'समिधाग्निम्' (य० ३।१) आदि अग्निविषयक मन्त्रों के, शुक्रिय व्रत में 'ऋचं वाचं प्र पद्ये' (य० ३६।१) आदि के शुक्रिय विभाग के, औपनिषद व्रत में 'द्व्याह प्राजापत्य' (?) आदि उपनिषद् भाग के, शौलभ व्रत में 'आ ब्रह्मन्' (य० २२।२२), 'उदीरतामवर' (य० १६।४६), 'आ नो भद्राः' (य० २५।१४), 'आशुः शिशानो' (य० १७।३३) और 'इमा नु कं' (य० २५।

४६)—इन शौलभिनी ऋचाओं के अध्ययन, पाठ और श्रवण अभिप्रेत हैं। गोदान व्रत की अवधि की समाप्ति पर गुरु को गायों का जोड़ा देने का विधान है। इन में से शुक्रिय, औपनिषद और शौलभ में अवगुण्ठन भी होता है जिस की विधि सूसं० ११६ में बताई गई है।

(iv) इन सब व्रतों में अग्नि का परिसमूहन, समिधादान आदि सब कर्म किए जाते हैं। और व्रत की समाप्ति पर उस का विसर्जन भी किया जाता है। इस की विधि का विस्तार गदाधर और विश्वनाथ आचार्यों ने अपने भाष्यों में किया है। यह सब अनावश्यक होने से यहां उद्धृत नहीं किया जाता है।

११०. उदीक्ष्य—उत्+√ईक्ष्+ल्यप्। देख कर, अर्थात् पूरा कर के। **अपः**—भाष्यकारों के क्रियावर्णन के अनुसार और 'अप्स्वन्तर्' मन्त्र के विनियोग के कारण यहां सप्तमी के स्थान पर द्वितीया का प्रयोग हुआ है। **अप्स्वन्तः**—इस प्रकरण में प्रयुक्त मन्त्रों का विनियोग के अनुकूल अथवा अन्य कोई अर्थ नहीं दिया जा रहा है, क्यों कि यह सारा प्रकरण ही मूल लेखक को अनभिप्रेत है। वैसे भी यहां की क्रियाएं उपनयनोत्तरकालीन और वेदाध्ययन विषयक हैं। इन समस्त मन्त्रों का अर्थ ग्रन्थ को विशालकाय बना देगा। इन के अर्थ दयानन्द भाष्य में देखे जा सकते हैं।

११२. उपव्रतम्—भाष्यकारों ने व्रतों की समाप्ति पर व्रत के विसर्ग का विधान किया है। यही विसर्ग यहां 'उपव्रत' मालूम पड़ता है।

११३. अवगुण्ठनम्—यहां पर शुक्रों, औपनिषदों और शौलभिनियों से श्रावण (=सुनना) ही अवगुण्ठन माना गया है।

११५. अविद्यमाने—यदि सूसं० ११३–११४ में वर्णित अवगुण्ठन का प्रयोग न किया जाए तो 'आ ब्रह्मन्' आदि सूत्र में प्रदत्त मन्त्रों रूपी वेदशिरस् (=वेदज्ञान के सार)[1] से अवगुण्ठन किया जाये।

---

१. तु० क० प्राणोऽग्निः शीर्षम्। कौ० ८।१ तथा श्रीर्वै शिरः। श० १।४।५।५।

११६. सूसं० ११३ में मन्त्रों को ही अवगुण्ठन बताया था। यहां पर उन के साथ प्रतीक रूप में वस्त्र के परिधान का भी वर्णन पाया जा रहा है।

११८. इस की विधि का सूसं० १२२ की विधि से साक्षात् विरोध है जिस का समाधान विचारणीय है। **व्युष्टायाम्**—उषा काल हो जाने पर। **अरण्ये**—इसे अरण=ज्ञान से व्युत्पन्न मान कर अध्यात्म में मन्त्रों रूपी सूसं० ११३ में वर्णित अवगुण्ठन का विसर्जन मानने पर सूसं० १२२ से विरोध का कुछ समाधान दिखाई पड़ता है। वहां पर वस्त्र की अवगुण्ठनी का विधान है, जो गुरु को दी जाती है।

११९. इन मन्त्रों का अर्थज्ञान पूर्वक जप प्रातः काल में अभीष्ट है।

१२१. **शान्तिभाजनम्**—अवगुण्ठनी के समान यह भी दो प्रकार का है—'द्यौः शान्तिः' इस मन्त्र के रूप में और दूसरा धात्वादि से निर्मित पात्र जो गुरु को आश्रम में सत्र के प्रयोग के लिए भेंट कर दिया जाता था।

१२३. **गोदानम्**—यह उपनयन संस्कार की दक्षिणा में दी जाती होगी। इस में ब्रह्मचारी द्वारा अपने ज्ञान के अन्यों को प्रवचन आदि द्वारा प्रदान करने की प्रतिज्ञा का अवशेष प्रतीत होता है क्यों कि गो=वाक् ज्ञान और यज्ञ का प्रतीक है। तु० क० तैउ० स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां मा प्रमद। तथा ऋ० १०।६०।१६; ११७।६; अवे० ५।१६ आदि।

श्रीयुत ला० रामस्वरूप जी गुप्त और श्रीमती चन्दन देवी के पुत्र, आचार्य डा० नरेन्द्रनाथ चौधुरी के शिष्य और आचार्य डा० फतहसिंह के शोधशिष्य आचार्य डा० **सुधीर कुमार गुप्त** एम० ए०, पीएच० डी०, शास्त्री, प्रभाकर, स्वर्णपदकी द्वारा प्रणीत पारस्करीय उपनयनसूत्रों की **सुकाशिनी टिप्पणियां** समाप्त हुईं।

—:○:—

वेदालवरणम्

पारस्करीयोपनयनसूत्राणि

अकारादिवर्णानुक्रमेण पदानां विषयाणां चानुक्रमणिका

(इस अनुक्रमणिका में पदों आदि के आगे सूत्रों को संख्या दी गई है। उस के आगे कोष्ठकों में टिप्पणियों में बनाये गए संदर्भों के अंक हैं। जहां पृ० लिखा है वहां उस के आगे की संख्या टिप्पणियों के पृष्ठ की है।)

॥ ॐ ॥

वेदलावण्ये ऋक्सूक्तानि

(य० ३१ च)

ॐ

वेदलावण्यम्

भूमिका

ऋग्वेद का परिचय

वेदशब्द

१—वेद शब्द √विद् से बनता है। यह धातु ज्ञान, सत्ता, लाभ और विचारण अर्थों में प्रयुक्त होती है। इस से करण और अधिकरण में घञ् प्रत्यय लगता है। अतः यह पद ज्ञान, सत्ता, प्राप्ति और विचार अर्थों का द्योतक है। दयानन्द सरस्वती ने अपनी भूमिका में लिखा है—विदन्ति जानन्ति, विद्यन्ते भवन्ति, विन्दन्ति लभन्ते, विन्दते विचारयन्ति सर्वे मनुष्याः सर्वाः सत्यविद्या यैर्येषु वा, तथा विद्वांसश्च भवन्ति ते वेदाः१। प्राचीन काल में ही 'वेद' पद ज्ञानमात्र तक सीमित न रह कर कुछ ग्रन्थों के लिये प्रयुक्त होने लगा जिन से ऊपर वर्णित फलों की प्राप्ति सम्भव मानी गई है। ये ग्रन्थ चार हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। सामवेद में केवल ७५ मन्त्र ही ऐसे हैं जो ऋग्वेद में नहीं आए हैं। यजुर्वेद और अथर्ववेद में भी बहुत से मन्त्र ऋग्वेद से लिये गए हैं। आधुनिक विद्वानों का विचार है कि ऋग्वेद मूल वेद है, शेष अर्वाचीन। इन में कर्मकाण्ड की दृष्टि से ऋग्वेद से मन्त्र ले कर क्रिया के क्रम से रख दिए गए हैं। परन्तु स्वा० दयानन्द सरस्वती का विचार है कि विभिन्न वेदों में समान मालूम पड़ने वाले मन्त्रों का रूप एक सा दिखाई पड़ता है, उन के अर्थ भिन्न-भिन्न अभिप्रेत हैं२। इस की पुष्टि अनेक बार ऐसे

१–ऋभाभू० पृ० २५।

२–वेभाप०, ३०।३४-३५।

मन्त्रों के भिन्न-भिन्न ऋषि और देवता मिलने से भी होती है ३।

शाखासंहिताएँ

२—इन चार वेदों की शाखा संहिताएँ भी उपलब्ध होती हैं। किसी समय इन की संख्या ११२७ रही बताई जाती है ४। आज-कल इन में से कुछ ही मिलती हैं। उपलब्ध ऋग्वेदसंहिता शाकल शाखा की बताई जाती है। इस के आश्वलायन गृह्यसूत्र आदि कुछ ग्रन्थों में ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों के पाठभेद मिले हैं, जिन की परीक्षा से यह अनुमान लगाना कठिन नहीं कि उपलब्ध ऋक्संहिता प्राचीन है और पाठभेद अर्वाचीन। इन अर्वाचीन पाठभेदों में मूल पाठों को सरल करने की प्रवृत्ति भी लक्षित होती है ५।

३—यजुर्वेद के दो सम्प्रदाय मिलते हैं—शुक्ल यजुर्वेद और कृष्ण यजुर्वेद। शुक्ल यजुर्वेद की दो शाखाएँ मिलती हैं—माध्यन्दिन संहिता और काण्व संहिता। इन दोनों संहिताओं में पर्याप्त साम्य है। वैषम्य के स्थलों पर लगभग सर्वत्र ही काण्व संहिता माध्यन्दिन संहिता से अर्वाचीन और उस का सरल संस्करण मालूम पड़ती है ६। इसी संहिता में सर्वप्रथम मन्त्रों के विनियोगों का विधान पाया जाता है, माध्यन्दिन में नहीं ७। इन दोनों संहिताओं में केवल मन्त्र ही मन्त्र हैं, काण्वसंहिता के अभी निर्दिष्ट विनियोगवर्णन के अतिरिक्त इन में ब्राह्मणभाग नहीं है। कृष्णयजुर्वेद की संहिताओं में ब्राह्मणभाग

३–वही, १७।१०६; सीएसडी० पृ० १७०–१७२, आर्यसिद्धान्त विमर्श, पृ० १८७।

४–ऋभाभू० पृ० ३४८; वेभाप० २०।७३; वैसा पृ०६६।

५–नेवैशा०, पृ० १३, संदर्भ २।

६–वही, पृ० ५–८, १३ (संदर्भ ३)

७–वेभाप०, ५।५६।

भी पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। ब्राह्मण वेदमन्त्रों का अनेक दृष्टियों से संक्षिप्त व्याख्यान देते हैं। इन में मन्त्रविषयक क्रियाकाण्ड का विस्तृत वर्णन और विवेचन पाया जाता है। अतः इस सम्प्रदाय की तीनों उपलब्ध संहिताओं—तैत्तिरीय, मैत्रायणी और काठक को माध्यन्दिन शुक्ल यजुर्वेद संहिता के अर्वाचीन, सरलीकृत और विस्तृत व्याख्यानों से युक्त संस्करण कहा जा सकता है ८।

४—सामवेद की दो शाखाएँ हैं–कौथुम और जैमिनीय। अथर्ववेद की भी दो हैं—शौनक और पैप्पलाद। इन की पारस्परिक तुलना से यह स्पष्ट मालूम होता है कि कौथुम और शौनक शाखाएँ प्राचीनतम हैं, शेष अर्वाचीन और सरलीकृत संस्करण ९।

५—मध्यकालीन परम्परा के विद्वान् शाखासंहिताओं को भी मूल वेद ही मानते हैं। वे भी उन की दृष्टि में अपौरुषेय हैं१०। आधुनिक विद्वान् शाखा-संहिताओं को एक ही अपनी-अपनी मूल वेद संहिता का भौगोलिक परिस्थितियों के कारण उत्पन्न कुछ पाठभेदों वाले संस्करण मानते हैं ११। परन्तु ये मत ठीक नहीं। जैसा स्वा० दयानन्द सरस्वती ने लिखा है, शाखासंहिताओं को पूर्व संदर्भों में लिखे वर्णन के अनुसार मूल-संहिता का व्याख्यान या सरलीकृत संस्करण मानना उचित होगा १२।

८–वेभाप० ५।१।

९–नेवैशा० पृ०८—१३। वैसा० पृ० १०० पर इस मत पर आपत्ति करते हुए राणायनीय शाखा को मूल वेद माने जाने का कथन किया गया है। परन्तु राणायनीय संहिता अभी उपलब्ध ही नहीं हुई है। देखो वैदिक वाङ्मय का इतिहास (भगवद्दत्त), १९३५, पृ० २१३। ३।

१०–वैसा०, पृ० ९९।

११–नेवैशा०, पृ० १—२।

१२–वैसा० पृ० ९९–१०० पर इस मत पर आपत्ति तो की है, परन्तु कोई विवेचन नहीं किया है।

ब्राह्मणग्रन्थ

६—प्रत्येक वेद और उस की संहिताओं के अपने-अपने ब्राह्मण रहे थे। आज-कल न तो सब शाखासंहिताएँ मिलती हैं, न उन के सब ब्राह्मण। अब तक थोड़े-से ही ब्राह्मण उपलब्ध हुए हैं—ऋग्वेद के ऐतरेय, कौषीतकि और शांख्यायन१३, यजुर्वेद के शतपथब्राह्मण१४ और तैत्तिरीय ब्राह्मण, सामवेद१५ के ताण्ड्य, जैमिनीय, जैमिनीयोपनिषद्, मन्त्र, आर्षेय, दैवत, सामविधान, संहितोपनिषद् और वंश ब्राह्मण तथा अथर्ववेद का गोपथ ब्राह्मण मिले हैं। जैसा ऊपर लिखा जा चुका है ये वेद के व्याख्यान ग्रन्थ हैं। इन में अपनी-अपनी संहिता से सम्बन्धित विषयों का वर्णन किया गया है। सामान्यतः इन्हें कर्मकाण्ड का ही ग्रन्थ माना जाता है और इन के वेदव्याख्यानों को याज्ञिक। परन्तु यज्ञपद का जिस सीमित अर्थ में इस कथन में प्रयोग किया जाता है ब्राह्मणों की दृष्टि उतनी सीमित नहीं। ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ-पद के अर्थों पर विहंगम दृष्टि से सुव्यक्त हो जाता है कि वहाँ प्रत्येक लोकोपकारक पदार्थ, कर्म, भाव और स्थिति यज्ञ है। उन के वेदार्थ और कर्मकाण्ड के विवेचन में यह दृष्टि ओतप्रोत है। इस प्रकार उन के वेदार्थ अनेकविध हैं। उन में देवता सीमित अर्थ में याज्ञिक नहीं। वहाँ

१३—कुछ विद्वान् कौषीतकि और शांखायन ब्राह्मण को एक ही मानते हैं। डा० टी० आर० चिन्तामणि ने इन्हें पृथक्-पृथक् ग्रन्थ प्रमाणित किया है। देखो आइओका० ६, पृ०१६४॥

१४—इस की दो शाखाएँ माध्यन्दिन और काण्व मिलती हैं।

१५—मन्त्र, आर्षेय, दैवत, सामविधान, संहितोपनिषद् और वंश ब्राह्मण किसी समय ताण्ड्य ब्राह्मण के अंश रहे होंगे। हाल ही में एक छान्दोग्य ब्राह्मण कलकत्ता से छपा है। मन्त्रब्राह्मण को भी छान्दोग्य ब्राह्मण कहा जाता है। दोनों का स्वरूप अध्येतव्य है।

वरुण क्लोम भी है, सविता यकृत् भी और दोनों ब्रह्म और वाक् भी। इन ग्रन्थों में वेदार्थ के लिए महान् सामग्री भरी पड़ी है, जिस की कतिपय भ्रान्त धारणाओं के कारण और ठीक-ठीक अवगत न करने के कारण महान् उपेक्षा की गई है। आजकल कुछ विद्वान् अपने वेदार्थ आदि में इन का पर्याप्त प्रयोग कर रहे हैं[१६]।

आरण्यक

७—ब्राह्मणग्रन्थों के अन्तिम भागों को आरण्यक कहते हैं। सायण आदि विद्वानों के मत में अरण्य में पढ़े जाने के कारण इन का नाम आरण्यक पड़ा है। इस की अपेक्षा इन्हें अरण=ज्ञानविशेष-मोक्षदायक ज्ञान-ब्रह्मज्ञान आदि का व्याख्यानग्रन्थ होने के कारण आरण्यक कहा जाना अधिक समीचीन जान पड़ता है[१७]।

८—आरण्यकों में महाव्रत और होत्र आदि यज्ञों का विवरण, यज्ञों के दार्शनिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक रूप का विवेचन किया गया है[१८]। इन में मन्त्रों को अनेकार्थक माना गया है[१९]।

९—आजकल उपलब्ध आरण्यकों की संख्या अल्प ही है। अब तक ऋग्वेद के ऐतरेय और शाँख्यायन या कौषीतकि आरण्यक, कृष्ण यजुर्वेद के तैत्तिरीय आरण्यक, मैत्रायणी (या बृहद्) आरण्यक, शुक्ल यजुर्वेद के माध्यन्दिन बृहदारण्यकोपनिषद् (और काण्व बृहदारण्यकोपनिषद्) और सामवेद का जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण[२०] या तवलकार आरण्यक उपलब्ध हुए हैं।

१६–देखो डा० फतह सिंह, वैदिकदर्शन, भारतीय समाजशास्त्र मूलाधार, डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, उरुज्योति आदि।

१७–वेंभाप० ७।२।

१८–वैसा० पृ० १५०—१५१।

१९–वेभाप० ७।६।

२०–इस में ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्—तीनों मिले हुए हैं।

उपनिषद्

१०—बहुधा आरण्यकों के अन्तिम भाग उपनिषद् हैं। काण्व यजुर्वेद संहिता का चालीसवाँ अध्याय ईशोपनिषद् के नाम से प्रख्यात है। इन ग्रन्थों में ब्रह्मविद्या—ईश्वर, जीव और प्रकृति के स्वरूप का सूक्ष्म और रोचक विवेचन किया गया है।

११—उपलब्ध उपनिषदों की संख्या बहुत विशाल है। इन्हें वैदिक और अवैदिक दो भागों में रक्खा जाता है। वैदिक उपनिषदों में सब प्रमुख और प्रामाणिक उपनिषद्—ईश, केन, कठ, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, बृहदारण्यक, छान्दोग्य, कौषीतकि, प्रश्न—आ जाते हैं। श्वेताश्वतर और मैत्रायणी उपनिषद् भी उच्च कोटि के हैं। शेष में तान्त्रिक, योग, अथर्ववेदीय और साम्प्रदायिक उपनिषद् हैं। इन की संख्या बहुत है। ऐसा प्रतीत होता है कि उपनिषदों की महिमा के कारण अवर व्यक्तियों ने अपने विचारों के प्रसार के लिए उपनिषद् बना डाले।

सूत्र

१२—वैदिक साहित्य का अन्तिम अङ्ग सूत्रों में मिलता है। ये बड़ी संक्षिप्त शैली में लिखे गए हैं२१। बहुधा टीकाओं और भाष्यों की सहायता के बिना इन्हें समझना सम्भव नहीं होता है।

१३—समस्त सूत्र ग्रन्थ छै वेदाङ्गों के अन्तर्गत आ जाते हैं। ये वेदाङ्ग शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष हैं। वेदार्थ जानने के लिए इन का ज्ञान परम आवश्यक माना गया है। शिक्षा में उच्चारण सम्बन्धी नियम मिलते हैं। व्याकरण में

२१—तु० क०-- स्वल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद् विश्वतोमुखम्। अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥ वेभाप० १०।१ भी देखें।

भाषा का और निरुक्त में पदों का विश्लेषण, छन्द में वैदिक छन्दों के लक्षण आदि और ज्योतिष में कालगणना और सूर्य आदि ज्योतियों के विषयों का प्रतिपादन मिलता है।

१४—कल्प के अन्तर्गत श्रौत, गृह्य और धर्म सूत्र आते हैं। श्रौत सूत्रों में चौदह वैदिक यज्ञों—सात हवियज्ञ और सात सोमयज्ञ—का वर्णन किया गया है। गृह्य सूत्रों में जन्म से मृत्यु पर्यन्त किए जाने वाले संस्कारों, सात पाक यज्ञों का वर्णन मिलता है। धर्मसूत्रों में वर्णाश्रम धर्म, दायाधिकार, आदि सामाजिक, राजनीतिक और पारमार्थिक कर्मों का वर्णन पाया जाता है।

१५—आजकल उपलब्ध सूत्रों की संख्या पर्याप्त है। इन में आश्वलायन, आपस्तम्ब, पारस्कर, शांखायन, गोभिल, मानव, बौधायन आदि के गृह्यसूत्र, आश्वलायन, शांखायन, बौधायन, आपस्तम्ब आदि के श्रौत सूत्र और वसिष्ठ, मानव और गौतम के धर्मसूत्रों का उल्लेख किया जा सकता है। ये सूत्र विभिन्न वेदों या उन की शाखाओं से सम्बद्ध हैं। सम्भवतः कुछ सूत्रग्रन्थ स्वतन्त्र भी रहे हों। ये ग्रन्थ ही पिछले काल की स्मृतियों का आधार बने।

ऋग्वेद

१६—ऊपर के वर्णन से यह सुव्यक्त है कि ऋग्वेद समस्त वैदिक वाङ्मय में प्राचीनतम और पूज्यतम ग्रन्थ है। वैदिक और प्रत्यग्वैदिक साहित्य में वेदों की बड़ी महिमा बताई गई है। स्वयं वेदों ने अपने को परमेश्वर से उत्पन्न, उस के अङ्ग, कल्याणकारी, पुरातन विद्वान् और आदित्य, कर्म का स्रोत, वीर्य, तप, ब्रह्मवर्चस् वर आयु प्राण आदि के देने वाले कहा है। ऋचाएँ देवों के निवास स्थान परम व्योम अक्षर स्कम्भ में रहती हैं। इन में भद्र लक्ष्मी निहित है। इन्हें यज्ञ से जाना जा सकता है। परमात्मा ऋचाओं में प्रकाशित

होता है, ऋचाएँ परमात्मा से। वे दुःख और पाप आदि से छुड़ाने वाली हैं। ऋचाओं से ही जगत् और ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति हुई है। ब्राह्मणग्रन्थों में ऋग्वेद को अग्नि से उत्पन्न, भूलोक, अग्नि देवता गायत्र छन्द और पृथिवी स्थान वाला, भर्ग आदि कहा है। वसिष्ठ धर्मसूत्र के अनुसार ऋचाओं के ज्ञान से रहित व्यक्ति ब्राह्मण, वणिक्, कुशीलव, शूद्रों का स्वामी, स्तेन और चिकित्सक नहीं हो सकता है २२।

१७—आधुनिक काल में भी विद्वानों ने वेदों की महिमा मुक्त कण्ठ से वर्णित की है। भारतीय संस्कृति और विचारधारा के मूल स्वरूप, विकास और विस्तार के लिए, आधुनिक नूतन विज्ञानों धर्म-विज्ञान, संस्कृतिविज्ञान और भाषाविज्ञान, इतिहास और दर्शन आदि के अध्ययन के लिए समस्त वेदों का, विशेषतः ऋग्वेद का महान् महत्त्व स्वीकार किया गया है। इसी कारण इस वेद के अंशों को आधुनिक संस्कृताध्यायन में एक विशिष्ट स्थान प्राप्त है। अतः इस वेद का यहाँ कुछ विस्तृत परिचय दिया जाता है।

ऋग्वेद का काल

१८—जब से आधुनिक युग में वेदों का अध्ययन प्रारम्भ हुआ है तब से ही ऋग्वेद के काल के निर्णय की विकराल समस्या विद्वानों के सम्मुख उपस्थित हुई है और उन्हों ने अपनी-अपनी दृष्टियों से ऋग्वेद का काल निश्चित करने का प्रयास किया है।

१९—यह प्रश्न प्राचीन काल में भी विद्वानों के सम्मुख उपस्थित हुआ। ऋग्वेद के मत में सर्वहुत यज्ञ विराट् से ऋक्, सामन्, यजुः और छन्दस् (=अथर्ववेद) की उत्पत्ति हुई २३। अभी

२२–वधसू० ३।३; वेभाप० १।१३ भी देखें।

२३–ऋ० १०।९०।९। देखो आगे मन्त्रसंख्या ३०।

मानव की सृष्टि का सूत्रपात भी नहीं हुआ था कि इन ऋक् आदि की विराट् पुरुष से उत्पत्ति हो गई। भारतीय परम्परा में अन्य आचार्यों और ग्रन्थों ने भी चारों संहिताओं को अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिराः के द्वारा सृष्टि के आदि में ईश्वर से उत्पन्न माना है।

२०—सृष्टि की रचना की गणना ज्योतिष के ग्रन्थों में मन्वन्तरों की कल्पना द्वारा की गई है २४। उन्हों ने इस गणनाक्रम को चिर काल तक अध्ययन, परीक्षण और विचार के पश्चात् स्थिर किया था २५। इस गणना का सूत्रपात वैदिक काल में हो चुका था। अथर्ववेद में ब्रह्मा के मन्त्र में यह क्रम पूर्ण विकसित लक्षित होता है—

"शतं तेऽयुतं हायनान् द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः।
इन्द्राग्नी विश्वे देवास्तेऽनु मन्यन्तामहृणीयमानाः॥"२६

इस गणना के अनुसार ऋग्वेद आदि चारों संहिताओं का आविर्भाव-काल आज से १,९६,०८,५३,०५८ वर्ष पूर्व है २७। पं० रघुनन्दन शर्मा ने वैदिकसम्पत्ति में विचार प्रस्तुत किया है कि वेदोत्पत्ति का काल वैवस्वत मनु का युग है।

२४—देखो सूर्यसिद्धान्त, १ । १२—२०; २२—२३, विष्णुपुराण १।३।१८—२२।

२५—वही, १।३।१२—यहाँ पर पुराविदः शब्द से यह निष्कर्ष सुस्पष्ट है।

२६—अवे० ८।२।२१ ।

२७—देखो ऋभाभू० पृ० २६—२७ (सं०)। वहाँ की गणना में १९३३ वि० से आज २०१५ वि० तक के ८२ वर्ष और जोड़ लें। वेभाप० २०।२५ भी देखें।

२१—इस मत का आधार वेदों की अपौरुषेयता है। आधुनिक आलोचनात्मक, ऐतिहासिक, तुलनात्मक और वैज्ञानिक अध्ययन में अपौरुषेयवाद के लिये कोई स्थान नहीं है। आज विकासवाद का सिद्धान्त मानता है कि मानव और उस के मस्तिष्क का विकास शनैः शनैः हुआ। जब मानवों को कवित्व शक्ति प्राप्त हो गई तब उन्हों ने वेदमन्त्रों की रचना की। मानव की इस विकसित अवस्था का अनुमान लगाया जा सकता है।

२२—इस विचारधारा पर अनेकों विद्वानों ने ऋग्वेद का काल निश्चित किया है।

मैक्समूलर का मत

२३—मैक्समूलर ने प्रस्ताव किया कि लगभग ५०० ई० पू० में बुद्ध के निर्वाणोपरान्त बुद्धधर्म के प्रसार के समय वेदसंहिताओं, ब्राह्मण, उपनिषद् और सूत्रों का निर्माण हो चुका था। इन को चार कालों—छन्दःकाल, मन्त्रकाल, ब्राह्मणकाल और सूत्रकाल में विभक्त किया जा सकता है। प्रत्येक काल के साहित्य की उत्पत्ति और विकास में कम से कम २००-२०० वर्ष लगे होंगे। इस प्रकार सम्पूर्ण वैदिक साहित्य के निर्माण में कम से कम ८०० वर्ष लगे होंगे। इन को बुद्ध के निर्वाणकाल में जोड़ने और सूत्रकाल को ६०० ई० पू० से प्रारम्भ तथा बुद्ध का समकालीन मानने पर वेद का रचना काल ८०० से १२०० ई० पू० ठहरता है। पीछे स्वयं मैक्समूलर ने इस तिथि को १५०० ई० पू० तक पहुँचा दिया।

डा० मैक्डोनल का मत

२४—डा० मैक्डोनल मानते हैं कि अवैस्ता और ऋग्वेद की भाषा में इतना घनिष्ट साम्य है कि यदि अवैस्ता की भाषा ५-६ सौ वर्ष पूर्व की मिल जाती तो वह ऋग्वेद की भाषा से स्यात् ही कुछ

भिन्न होती। उधर १४०० ई० पू० के बोधाज- कोई के शिलालेख में कुछ वैदिक देवताओं का नाम मिलता है जो भारत-ईरानी आर्यों के पृथक् होने के काल का है। अतः ऋग्वेद की रचना १५०० ई० पू० के पीछे की है २७ अ।

२७अ–हाल ही में पायोनियर (२८-१-५६) में प्रकाशित एक समाचार के अनुसार अणुशक्ति के परीक्षण से भारत में आर्यों के आगमन की तिथि २००० ई० पू० से १६०० ई० पू० ठहरती है। इस परीक्षण और परीक्षित सामग्री की पूरी जानकारी प्राप्त हुए बिना कुछ निष्कर्ष निकालना उचित नहीं। यह समाचार इस प्रकार है—

ATOMIC EXAMINATION DATES ARYAN INVASION OF INDIA

BOMBAY, Jan. 25-Examination through atomic apparatus of the archaeological finds at Navdatoli on the banks of River Narmada, 60 miles south of Indore, has indicated that the Aryans came to India between 2,000 and 1,600 B. C.

Articles found at the site included charred grains of wheat and rice, burnt wooden posts and pieces of painted pottery. These were sent to Pennsylvania University for C. 14 tests, which are said accurately to determine the age of archaeological objects. Experts at the University are of the opinion that the objects ranged from 1.600 B. C. to 1.100 B. C.

२५—परन्तु भाषाओं और भावों के विकास की गति इतनी नियमित नहीं है जितनी इन वादों में मानी गई है। भाषाएँ सहस्रों वर्षों तक अपने साहित्यिक रूप में बनी रहती हैं, उन का पुनरुद्धार और प्रसार भी होता है। उधर न बुद्ध के निर्वाण की तिथि निश्चित है, न ज़रथुष्ट्र की। बुद्धका निर्वाण काल ३६८ ई० पू० से २४२२ ई०

So for the date of the Aryan invasion of India, based on linguistic evidence, could not indicate the exact period of their descent on the Indo-Gangetic plain. Historians, however, have opined that it must have taken the Aryans some 400 years to move from the frontiers to Central India, where they ultimately settled.

Dr. H. D. Sankalia, Director of the Deccan College Post Graduate Research Institute, Poona, who has been engaged in research work on the site, told NAFEN that the 20 specimens of Navdatoli finds subjected to C-14 tests were the first. Indian objects to undergo the test.

According to Dr. Sankalia, between 1,600 and 1,100 B. C. peasants cultivated wheat, and later rice gram, field peas and misoor (lentil). They lived in round, square and rectangular houses and had beautiful painted pottery, comparable in shape and design to that from Iran at that period. It is probable the invading tribes had brought to India the art of making such pottery.

This is the first time that something Iranian can be definitely located in India at a period that can be dated he added—NAFEN.

पू० (चीनी और तिब्बती परम्परा) के बीच में और ज़रथुष्ट्र का काल ६०० ई० पू० से ८,००० ई० पू० के मध्य में रक्खा जाता है। यद्यपि प्राचीनतम तिथियों की ओर आधुनिक प्रवृत्ति नहीं है तो भी निचली सीमाओं के मतभेदों में भी पर्याप्त ऊँची तिथियाँ मिलती हैं। बोघज़-कोई के मितानी शिलालेख में प्राप्त ऋग्वेदीय देवताओं-मित्र, वरुण, इन्द्र और नासत्यौ के नामों-मिइत्-र, उरु-व-न, इन्-द-र और न - स - अत् - ति - इअ को भारतीयों और ईरानियों के सर्वप्रथम पृथक् होने के काल का और आर्यों के भारत की ओर बढ़ने के काल का मानना सम्भव नहीं। ये नाम मित्र आदि पदों के मूल या पूर्वरूप नहीं हैं, प्रत्युत पीछे के विकृत रूप हैं। अपि च - आर्यों के पश्चिम से भारत में आने का साहित्य में कोई निर्देश नहीं मिलता है। पुराणों में उन्हें पूर्व से पश्चिम की ओर बढ़ता हुआ वर्णित किया गया है। ऋग्वेद के नदीसूक्त से भी यही क्रम निकलता है।

सिन्धुघाटी सभ्यता

२६—३००० ई० पू० की सिन्धु घाटी सभ्यता को अवैदिक और प्राग्वैदिक माना जाता है। उस के पक्ष में प्रमुख युक्तियाँ ये हैं —(१) ऋग्वेद में अश्व का महत्त्व है, परन्तु सिन्धु घाटी में बैल का। (२) सिन्धुघाटी में न अश्व मिला है, न उस के चित्र। (३) इस सभ्यता में शिव की पूजा मिलती है जो वैदिक शिव से भिन्न है। (४) ऋग्वेद का धर्म मूर्तिपूजक नहीं है, सिन्धुघाटी में मूर्तियों का प्राबल्य है। वहाँ किसी घर में भी अग्निकुण्ड नहीं मिला है।

२७—इस विषय पर पर्याप्त विवाद चला है। डा० लक्ष्मण स्वरूप ने इस विषय में पर्याप्त लिखा है। यद्यपि ऋग्वेद में अश्व का वर्णन पाया जाता है तथापि यह विचारणीय है कि अश्वपद और उस के पर्यायवाची सर्वत्र ही 'घोड़े' के वाचक हैं, अथवा किसी अन्य

अर्थ के। यदि अन्य अर्थ होते हैं तो क्या वे घोड़े की लक्षणा से संगत होते हैं अथवा उस के विना भी प्राप्त हो जाते हैं। 'अश्व' के स्वतन्त्र प्रयोग का विश्लेषण यह बताता है कि इस के २०५ प्रयोगों में से ११४ आंगिरसों के, २५ मित्रावरुणों के, १९ आत्रेयों के, २३ विश्वामित्र के, ७ मरीचि के, ३ वरुण के और १४ विभिन्न ऋषियों के हैं। इस विश्लेषण से ज्ञात होता है कि 'अश्व' सब कुलों में प्रिय नहीं था। वैसे भी भारत में बैल, घोड़ों से १२० गुना अधिक मिलते हैं। अश्व और उस के चित्र का उपलब्ध न होना कोई आश्चर्य नहीं। ऋग्वेद में भी अश्व देवताओं का वाहन नहीं है, जहाँ मालूम पड़ता है वहाँ अर्थान्तर या भावान्तर सुस्पष्ट लक्षित होता है।

२८—अपि च-सिन्धु घोड़ों का प्रदेश है। घोड़े का एक नाम सैन्धव भी है। इस कारण यह कल्पनातीत है कि सिन्धु घाटी के लोग घोड़ों का प्रयोग न करते हों। वैसे भी इन अवशेषों में घोड़े का भी एक अवशेष ऊपर के स्तर पर मिला है २८।

२९—सिन्धु घाटी का शिव वैदिक त्र्यम्बक = रुद्र का पिछला विकास है २९। वैदिक रुद्र का भौतिक पक्ष नारिकेल के रूपकात्मक वर्णन के अनुरूप है और उस में पौराणिक शिव के लक्षण पर्याप्त मिलते हैं। अतः शिव को अनार्य मानना उचित नहीं। यद्यपि ऋग्वेद में मूर्तियों की सत्ता का कोई वर्णन नहीं है, तो भी 'प्रतिमा' पद की सत्ता से

२८—यह अवशेष १ फीट १० इञ्च नीचे मिला है। देखो सर जान मार्शल, मोहन-जो-दड़ो सिविलिजेशन भाग २ पृ० ६५३—४।

२९—देखो सुधीर कुमार गुप्त, कोकोनट (त्र्यम्बक इन दी ऋग्वेद) इज़ दी ओरिजन औफ शिव कल्ट, आइओका० (सं०) १९४८।

ज्ञात होता है कि कुछ मूर्त्तियाँ-खिलौने आदि अवश्य बनते होंगे। वैदिक वर्णन कुमार-देष्णा पद से भी यही भाव निकलता है। सिन्धु घाटी की लिङ्गपूजा भी वैदिक रुद्र = नारिकेल का ही विकसित रूप है ३०।

३०—सिन्धु घाटी की खुदाई में एक अग्निकुण्ड के सदृश स्थान भी मिला है ३१ जिस पर उचित ध्यान नहीं दिया गया है। तथापि अग्निकुण्ड का अभाव इस सभ्यता को प्राग्वैदिक सिद्ध नहीं करता है। आज भी प्रतिदिन अग्निहोत्र करने वालों के घरों में अग्निकुण्ड बहुत कम पाया जाता है।

ज्योतिषविषयक

३१—श्री शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने शतपथब्राह्मण से एक कथन खोजा है जिस के अनुसार उस समय कृत्तिकाएँ प्राची दिशा में ही उदय होती थीं. परन्तु आजकल वे कुछ उत्तर की ओर उदय होती हैं। ज्योतिष की गणना के अनुसार ब्राह्मणकालीन स्थिति अब से ३,००० वर्ष ई० पू० रही थी ३२। तैत्तिरीय संहिता और ऋग्वेद शतपथब्राह्मण से प्राचीनतर हैं। दोनों के निर्माण के लिये २५०-२५० वर्ष मान कर ऋग्वेद का काल ३५०० ई० पू० ठहरता है।

३०—ऋग्वेद में शिश्नदेवाः पद को विद्वानों ने लिङ्गपूजकों का निर्देशक माना है। परन्तु भारतीय विद्वान् इस का भाव अब्रह्मचारी लेते हैं। सीएसडी० पृ० २२८-२३३ भी देखें।

३१—एच-आर मण्डल के वर्ग २ विभाग बी मकान XI कमरा सं० ८५ के निम्नतम तल में उपलब्ध निम्न स्थान।

३२—डा० गोरखप्रसाद भारतीय ज्योतिष का इतिहास पृ० ५० पाटि० १ में इस गणना को अशुद्ध बताते हैं। उन्हों ने २५०० ई० पू० को ठीक गणना बताया है।

३२—पं० लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने समस्त वैदिक काल को चार युगों में बाँटा है–अदितियुग, मृगशिरायुग, कृत्तिकायुग और अन्तिम युग। अन्तिम युग वेदांग ज्योतिष की रचना (१४००ई० पू०) से बुद्ध भगवान् के निर्वाण काल (५०० ई० पू०) तक रहा। वेदांग-ज्योतिष में श्रविष्ठा के आदि में सूर्य और चद्रमा के उत्तर की ओर घूमने का वर्णन आया है। यह स्थिति आज से १४०० ई० पू० में थी। यह ग्रन्थ इस काल के प्रारम्भ में प्रणीत हुआ। यह काल बुद्ध भगवान् के निर्वाण ५०० ई० पू० में समाप्त हो जाता है। इस काल में समस्त सूत्रग्रन्थ श्रौत, स्मार्त्त आदि रचे गये। कृत्तिकायुग इस से पूर्व रहा। इस के प्रारम्भ में वसन्तसम्पात (= दिन और रात का बराबर होना) कृत्तिका नक्षत्र में होता था। शतपथब्राह्मण के उपरोक्त कथन के अनुसार ये नक्षत्र पूर्व दिशा में उदय होते थे, जिस का समय लगभग २५०० ई० पू० था। इस काल में तैत्तिरीय संहिता और शतपथब्राह्मण का निर्माण हो चुका था। इस से पूर्व वसन्तसम्पात मृगशिरा नक्षत्र में होता था। मृगशिरा से कृत्तिका तक पहुँचने में लगभग २००० वर्ष लगे होंगे। इस काल में ऋग्वेद के अधिकाँश मन्त्र रचे गये। इस मृगशिरा युग से भी पूर्व पुनर्वसु नक्षत्र में वसन्तसम्पात का उल्लेख मिलता है, जिस का समय २००० वर्ष और अधिक प्राचीन हो कर ६००० से ४००० ई० पू० तक रहा। इस में मन्त्रों की रचना हुई जो कालान्तर में संहिताओं में संकलित किए गए। जैकोबी भी इसी प्रकार ज्योतिष की गणना कर के ऋग्वेद का काल निरूपित करते हैं, परन्तु वे ४५०० से अधिक पहले जाना उचित नहीं समझते हैं। श्री दीनानाथ शास्त्री चुलैट ने भी अपने ढंग से ज्योतिष की गणना कर के ऋग्वेद का रचनाकाल आज से तीन लाख वर्ष पूर्व माना है। श्री पी० सी० सेनगुप्त ने अत्रि का काल २६ जुलाई ३९२८ ई० पू० और इन्द्र के मघवा बनने का काल ४१७० ई० पू० निर्धारित किया है। श्री आर० के० प्रभु ऋग्वेद को

१०,००० ई० पू० में और वाडेर १५,००० ई० पू० के पहले रखते हैं।

३३—श्री कीथ, विण्टरनिट्ज़ और के० सी० चट्टोपाध्याय आदि इन निष्कर्षों को प्रामाणिक नहीं मानते हैं। उन का कहना है कि ज्योतिष विषयक उपरोक्त आधारों की योजना में बहुत सी कल्पनाओं से काम लिया गया है, तथा उन-उन स्थलों के, जहाँ ये प्रमाण मिलते हैं, अपेक्षाकृत सरल अर्थ किए जा सकते हैं। अतः वे इन ज्योतिषविषयक युक्तियों और तत्सम्बन्धी गणनाओं का पुनः परीक्षण आवश्यक समझते।

भूगर्भविज्ञान के आधार पर

३४—डा० अविनाशचन्द्र दास ऋग्वेद में वर्णित भौगोलिक स्थितियों--समुद्रों और नदियों के अवस्थान आदि, ऋतुपरिवर्तन, वर्ष के वाचक पद–हिम और शरद् आदि के आधार पर ऋग्वेद के काल को ७५,००० वर्ष पूर्व ले जाते हैं।

३५—स्वामी महादेवानन्द गिरि का कहना है कि वसन्तसम्पातों का एक चक्र २१,००० वर्षों में पूर्ण होता है, जिस के पश्चात बड़ा भयंकर शीत युग या हिम युग (ग्लेसियल युग) आता है। इन की गणना के अनुसार पिछला हिम युग १०,००० ई० पू० में हुआ था। ऋग्वेद (२। १२; १७।५; १। ३२। १; १।१३१।४ आदि) में भी इस प्रकार के शीत युगों का वर्णन पाया जाता है। आधुनिक विद्वानों ने सृष्टिरचना से अब तक कुल चार हिम युगों की सत्ता मानी है। ऋग्वेद के इन्द्र सूक्त में वर्णित हिमयुग इन में से कौन-सा है यह विचारणीय है। श्री नारायण भवनराव पावगी ने भी भूगर्भ विषयक ऋग्वेद में वर्णित स्थितियों के आधार पर वेद का रचनाकाल

६,००० ई० पू० रक्खा है । वैदिक संस्कृति में श्री विश्वम्भर सहाय प्रेमी ने इस के स्थान पर २,४०,००० से ६, ०८, ००, ०२, ००० ई० पू० काल दिया है ।

३६—वैदिक साहित्य के प्रारम्भ को इतना प्राचीन मानने में सामान्यतः विद्वानों को बड़ा संकोच होता है । इस का एक कारण यह है कि इतने प्राचीन काल में भारत में या अन्य किसी प्रदेश में उस समय मानव का अस्तित्व था भी, या नहीं । यदि हाँ, तो क्या वह इतने विकसित मस्तिष्क का था कि इस प्रकार की उदात्त रचनायें उपस्थित करता । इस संशय की निवृत्ति आधुनिक काल में प्राप्त अस्थिपञ्जरों से स्वतः हो जाती है ।

३७—एक युक्ति यह भी दी जाती है कि मानव स्वभाव सर्वत्र एक सा है । अतः जिस काल में वेद को रक्खा जाए उस काल की अन्य देशों की सामाजिक स्थिति आदि से वैदिक संस्कृति की तुलना की जाए तो समान भावों की सत्ता मिलनी चाहिये । यदि ऐसा न हो तो समय निर्धारण ठीक नहीं माना जा सकता । परन्तु सब देशों का मानसिक और बौद्धिक विकास एक ही धारा में एक ही गति से नहीं होता है । आज भी तो सभ्य और अर्धसभ्य जातियों के विकास में महान् अन्तर पाया जाता है । अतः यह सिद्धान्त उचित नहीं ।

निष्कर्ष

३८—इस प्रकार ऋग्वेद के काल के निर्णय में बहुविध मत हैं, जिन में बड़े भारी भेद हैं । अतः विद्वानों ने बहुत ही उचित कहा है कि ऋग्वेद की निम्नतम सीमा ही निर्धारित की जा सकती है—ऋग्वेद इस से पीछे का नहीं हो सकता । इस से अधिक कहना सम्भव नहीं । प्राचीन भारतीय विद्वानों ने इस स्थिति को अनुभव कर के और उन्हें

सुदूर प्राचीन काल में रचित जानते हुए इन्हें सृष्टि के आरम्भ में रचा मान कर तिथिनिर्माण के विवाद को समाप्त कर दिया हो सकता है। वेद के अध्ययन और अध्यापन में तिथिनिर्णय बौद्धिक व्यायाम मात्र है, वेदार्थ और वेदविषयों को समझने में कुछ भी सहायक नहीं है।

ऋग्वेद संहिता की उत्पत्ति और विकास

३६—परम्परा के अनुसार स्वयम्भु परमेश्वर ने सृष्टि के आदि में मानवों के कल्याण के लिए चार ऋषियों—अग्नि, आदित्य, वायु और अंगिरस् द्वारा ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद का निःश्वास के समान प्रकाश किया। इन के पश्चात् भी बहुत से ऋषि हुए जिन्हों ने मन्त्रों के अर्थ का साक्षात्कार किया और संसार को अपनी देन दी। वेदमन्त्रों से सम्बद्ध ऋषिनाम इन्हीं मन्त्रद्रष्टाओं के हैं।३३

४०—एक अन्य विचारधारा भी भारतीय परम्परा में पाई जाती है। इस के अनुसार जिन-जिन मन्त्रों के जो-जो ऋषि बताए गए हैं वे-वे उन मन्त्रों के द्रष्टामात्र हैं, रचयिता नहीं ३४। इस मत के अनुयायी सायण के भाष्य के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि क्रियात्मक रूप से सायण ऋषियों को मन्त्र रचयिता मानते हैं।

४१—वेदोत्पत्ति विषयक परम्परा से प्राप्त कुछ अन्य मत भी हैं जिन का अन्तर्भाव उपरोक्त दो मतों में ही जाता है ३५।

३३—ऋभाभू०—वेदोत्पत्तिविषय। सप्र०—७।१३०—१३३। इन में उद्धृत प्रमाण भी देखें। स्वयं वेदमन्त्रों का भी यही कहना है।

३४—आर्यसिद्धान्तविमर्श में ऋषियों पर लेख देखें।

३५—इन का वर्णन स्वा० कर्मानन्द ने वैदिक ऋषिवाद और श्री एम० मोनियर विलियम्ज ने अपनी रचना—'इण्डियन विज्डम',

४२—परन्तु आधुनिक विचारधारा वेद को ईश्वरकृत मानने के लिए तय्यार नहीं है। यहाँ वेदों को भी उसी प्रकार मानवों की रचना माना जाता है जिस प्रकार काव्य लौकिक कवियों की रचनाएँ होते हैं। जब भारतीय आर्यों ने भारत में प्रवेश किया तब वे अपने साथ एक धर्म लाए थे जिस में देवता प्रमुख रूप से प्रकृति की शक्तियाँ थीं जिन को पुरुषाकार में वर्णित किया गया है। इन में से कुछ देवता जैसे द्यौ: भारोपीय काल के हैं, और अन्य, जैसे मित्र, वरुण और इन्द्र भारतीय—ईरानी काल के हैं। ये अपने साथ अग्नि और सोम की पूजा भी लाए। जैसा ऋग्वेद और अवैस्ता की तुलना से सुव्यक्त हो जाता है। इन ऋषियों को बहुविध छन्दों में धार्मिक कविताएँ रचने की कला भी ज्ञात थी। इन प्राचीन सूक्तों का लक्ष्य बर्हि (यज्ञवेदी पर बिछी घास) पर रक्खे हुए सोम रस और तपाए हुए घी की अग्नि में आहुतियाँ देते हुए स्तुतियों द्वारा देवताओं को प्रसन्न करना था। भारतीय आर्यों के आक्रमण के प्राचीनतम काल मे प्राप्त और ऋग्वेदसंहिता में सुरक्षित सूक्त सामान्यतः ऋषियों के कुलों में पैतृक परम्परा से रचे गए हैं। इन को ऋषियों ने अपने-अपने कुलों में मौखिक रट कर सुरक्षित रक्खा है। इस काल में मन्त्रों को लेखबद्ध नहीं किया गया। वंशों में प्रचलित इन सूक्तों को एकत्र किया गया और इस में कुछ अन्य सूक्तों को जोड़ कर इन्हें ऋक्संहिता का प्रारम्भिक रूप दे दिया गया। श्री मैक्डोनल

१८६३ ई० पृ० २—३ में किया है और इन में विरोध दिखाने का प्रयास किया है। यह प्रयास उन के वैदिक दर्शन के घोर अज्ञान का परिचय देता है। इस दर्शन में प्राण, गायत्री, अदृष्ट, काल, पुरुष, वाक्—सब ब्रह्म के नाम हैं। दूसरे मत के समर्थक आर्यसमाजियों की युक्तियाँ पहले मत पर ही केन्द्रित हो जाती हैं।

के विचार में आधुनिक ऋक्संहिता का रूप ब्राह्मणकाल की समाप्ति पर उपनिषदों से पूर्व ६०० ई० पू० में बन चुका था। इस संहिता के सम्पादकों ने कुछ स्थलों पर स्वरसन्धि के नियम लगाए जिस के कारण कुछ स्थलों पर छन्दोभंग हो गया है। इस प्रकार छन्दः-काल में मन्त्र रचे गए और कुछ काल पश्चात् संहिता के रूप में संकलित हुए ३६।

४३—इस मत की पुष्टि मन्त्रों के अपने लेखों से भी होती है। वहाँ पर अनेक बार मन्त्रकार, मन्त्रकृत् आदि पदों का प्रयोग हुआ है। सर्वानुक्रमणी ने भी ऋषि का लक्षण—मन्त्र की रचना करने वाला किया है—यस्य वाक्यं स ऋषिः। साथ ही प्रत्येक मन्त्र का ऋषि भी सर्वानुक्रमणीकार ने बताया है। बहुत से मन्त्रों में उन के रचयिता ऋषियों के नामों का प्रयोग हुआ है। निरुक्त और ब्राह्मण ग्रन्थों के कुछ लेखों से ऐसा प्रतीत होता है कि वे ऋषियों को मन्त्र-रचयिता मानते हों ३७। मन्त्रों में प्राचीन और नवीन ऋषियों और मन्त्रों का भी कथन आया है ३८।

४४—ऋग्वेद के साथ सम्बद्ध ऋषियों की स्थिति बड़ी विचित्र है। मन्त्रों में वर्णित ऋषिनामों और उन से सम्बन्धित इतिहास आदि में कोई सामञ्जस्य नहीं है, उन वर्णनों का पुराणों और सर्वानुक्रमणी आदि के विवरणों से स्पष्ट विरोध और विषमता दृष्टिपथ में आते हैं ३९। अनेक मन्त्रों के ऋषि और देवता एक ही पद हैं। बहुत से

३६—देखो मै०—वैदी० भूमिका; तथा वैदिक साहित्य के इतिहास।

३७—देखो कर्मानन्द वैदिक ऋषिवाद; सूरजभान, ऋग्वेद के बनाने वाले ऋषि आदि।

३८—यथा ऋ० १।१।२ आदि।

३९—सुधीर कुमार गुप्त, ऋग्वेद में इतिहास नहीं है (ऋग्वेद का भर्म में सङ्कलित)।

मन्त्रों में ऋषिनाम विशेषण के रूप में आए हैं। एक ही मन्त्र के विभिन्न स्थलों पर विभिन्न ऋषि दिए गए हैं। ब्राह्मणग्रन्थों और निरुक्त में बहुत से ऋषिनामों के निर्वचन और अनेकविध अर्थ दिए गए हैं। यहाँ पर वेदमन्त्रों का स्रोत ब्रह्म को माना है, ऋग्वेद के पुनरुक्त अंशों में व्यावर्तन के नियम से कुछ ऋषिनाम परस्पर में पर्यायवाची सिद्ध होते हैं। यजुर्वेद में ऋषिपद 'वेदमन्त्रार्थ' का भी द्योतक मालूम पड़ता है। कुछ मन्त्रों के प्रयोगों में कण्व आदि को व्यक्ति मानना सम्भव नहीं है। इन पदों को ऋषि न माने जाने का अवशेष माधवभट्ट के कण्वासः के भाष्य में उपलब्ध होता है। कुछ ऋषि नामों का यजुर्वेद में पारिभाषिक पदों के रूप में प्रयोग हुआ है ४०। ऐसी स्थिति में मन्त्रकृत् और ब्रह्मकृत् आदि पदों से कोई निष्कर्ष निकालना सम्भव नहीं ४१।

४५—अतः वेदमन्त्रों को उन से सम्बद्ध ऋषियों की रचना अथवा दर्शन मानना सम्भव नहीं। ये पद उन के अर्थों को बताने वाली संज्ञाएँ ही हैं। प्राचीनकाल में भी ऋषिज्ञान को वेदार्थज्ञान के लिए परम आवश्यक समझा जाता था, परन्तु कालान्तर में उस का वास्तविक स्वरूप विस्मृत हो गया। यह सब कुछ होते हुए भी आज विकासवाद के युग में वेदमन्त्रों को ईश्वररचित मानना बुद्धिगम्य नहीं है, भले ही हम उन के वास्तविक रचयिताओं को जानने में समर्थ हों या नहीं।

४०—विस्तार के लिए देखो—सुधीर कुमार गुप्त, सीयर्स ऑफ दी ऋग्वेद, देयर मैसेज एण्ड फिलौसौफी (और उस का हिन्दी अनुवाद); वेभाप० ४।७८—१२४;५।१२—२४; १७।२८—६६ आदि।

४१—सीएसडी० में ओरिजन एण्ड ऑथरशिप ऑफ दी हिम्ज ऑफ दी ऋग्वेद देखें।

वेदमन्त्रों की सुरक्षा के साधन

४६—वेदमन्त्रों की रचना और संकलन के शीघ्र बाद ही उन की सुरक्षा के लिए विलक्षण उपाय किए गए और उन को बिना किसी अक्षर के नाश, विकार और प्रक्षेप के सुरक्षित रक्खा गया।

४७—वेद का कण्ठस्थ करना सरल काम नहीं था, परन्तु इस को प्राचीन काल में अनिवार्य किया गया। इसी से आज-तक वेद सुरक्षित चला आ रहा है। यह परम्परा अब क्षीण हो रही है, जिस से वेद की अक्षुण्ण रक्षा को आघात पहुँचना स्वाभाविक है। हस्तलेखों और मुद्रित प्रतियों को नष्ट किया जा सकता है, उन में लेख या छापे की भूलें रह जातीं हैं, परन्तु कण्ठस्थ करने वालों में यह दोष नहीं रहता है। यद्यपि दुष्ट मनुष्य वहाँ भी विकार उत्पन्न कर सकता है, परन्तु अन्य वैदिकों का उस पर अंकुश रहता है।

४८—इस के साथ ही कुछ पाठों की रचना की गई। इन में सब से पहला **पदपाठ** कहलाता है। पदपाठ में सब पदों को अलग-अलग स्वतन्त्र रूप में पढ़ा गया है, प्रगृह्य पदों के आगे इति और समास के पूर्व और उत्तर पदों तथा प्रकृति-प्रत्यय आदि के बीच में अवग्रह लगा कर उन के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। इसे वेद का सर्वप्रथम व्याख्यान कहा जा सकता है। यह विशेषता अन्य पाठों में उपलब्ध नहीं। आजकल शाकल्य का पदपाठ ही सर्वत्र उपलब्ध होता है। रावण का भी पदपाठ मिला है। गार्ग्य के सामवेद के पदपाठ में लगभग सभी पदों में अवग्रह लगाया गया है, यथा मिऽत्रम् । अऽद्य । अन्ऽये। चन्द्रऽमसः। सुऽऊर्यस्य ४२। ये दोनों अभी मुद्रित नहीं हुए हैं। अन्तिम

४२—भगवद्दत्त, वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग २ (२), प्रथम संस्करण से साभार संगृहीत।

पदपाठ स्वा० दयानन्द सरस्वती का मिलता है। यह शाकल्य के पदपाठ के समान है परन्तु उस से अनेक स्थानों पर भिन्न है ४३। भाष्यकारों ने अनेक बार शाकल्य के पदपाठ से अपना मतभेद प्रदर्शित किया है। ऋग्वेद में छै मन्त्र ४४ ऐसे भी हैं जिन का पदपाठ नहीं मिलता है। उन्हें ज्यों का त्यों ही पदपाठ में रख दिया गया है।

४६—इस के पश्चात् **क्रमपाठ** बनाया गया। इस में पदपाठ का प्रत्येक पद दो बार पढ़ा जाता है—अपने से पहले और अपने से अगले पद के साथ—क ख, खग, गघ। यह पदपाठ के समान प्राचीन है। इस के पश्चात् **जटापाठ** की रचना की गई। इस में क्रमपाठ के साथ उस के जोड़ों को उलटा और फिर सीधा भी पढ़ा जाता है—कख, खक, कख, खग, गख, खग; गघ, घग, गघ। इस की चरम सीमा **घनपाठ** में मिलती है। इस में क्रमपाठ के साथ उस के जोड़ों को उलटा और तीन पदों को मिला कर सीधा और उलटा भी पढ़ा जाता है। इस का क्रम यह है—कख, खक, कखग, गखक, कखग; खग, गख, खगघ, घगख, खगघ आदि।

५०—प्रातिशाख्यों में शिक्षा, व्याकरण और छन्दों का विवरण मिलता है। इन में अपनी-अपनी संहिताओं का पदपाठ भी मिलता है। ऋग्वेद की प्रातिशाख्य शौनक की प्रणीत है।

४३—देखो वेभाप० २६, सीएसडी०—दी पदपाठ ऑफ दी ऋग्वेद ऐज़ गिवन बाई दयानन्द।

४४—ऋ० ७।५६।१२;१०।२०।१; १२१।१०; १६०।१—३। आधुनिक विद्वानों का विचार है कि शाकल्य इन्हें प्रक्षिप्त मानते थे। परन्तु सम्भव है कि शाकल्य ने इन के अर्थ ऐसे समझे हों जिन में पदपाठ एक से अधिक प्रकार बनता हो। वेभाप० ६।

५१—अनुक्रमणियों में सूक्तों के प्रथम मन्त्र की प्रतीक, ऋषि, देवता, छन्द और मन्त्रसंख्या दी गई हैं। मन्त्रों से सम्बंधित आख्यान भी दिए गए हैं। ऋग्वेद की सर्वानुक्रमणी कात्यायन की रचना है। शौनक के बृहद्देवता को भी इसी श्रेणी का कहना उचित होगा।

ऋग्वेद में विकार

५२—इन साधनों की सहायता से ऋग्वेद के मन्त्रों और पदों को इस प्रामाणिकता के साथ सुरक्षित रक्खा गया है कि इतने वर्षों से अब तक उन में कोई विकार—नाश, परिवर्तन और प्रक्षेप—नहीं आने पाया है। इस प्रकार अन्यत्र कहीं भी ग्रन्थों की सुरक्षा नहीं की गई है।

५३—इतना होने पर भी बहुत से आधुनिक विद्वानों ने वेद के पाठों में विकार माना है और अनेक बार उन में परिवर्तन करने का सुझाव दिया है। श्री राजवाड़े ने एक लेख में इस प्रकार के कतिपय स्थल एकत्रित किए हैं। पं० विश्वबन्धु ने अपने बम्बई प्राच्यसम्मेलन के वैदिक विभाग के सभापतिभाषण में भी इस प्रकार के कतिपय स्थलों का विवेचन किया है। बम्बई के पादरी श्री एस्टलर तो समस्त वेदमन्त्रों को विकृत मान कर उन का मूल पाठ बनाने में संलग्न हैं। इन विद्वानों ने अनेक स्थलों पर यह सोचने का प्रयास नहीं किया है कि जहाँ वे अर्थ के आधार पर पाठ में विकार मानते हैं वहाँ अर्थान्तर भी हो सकता है जो न उन्हें सूझ रहा है, न आधुनिक नियमों की कसौटी पर पूरा उतर रहा है ४५।

४५—इस का एक उदाहरण ऋवे० १।१४।३ का शमोप्यात् पाठ है, जिसे सायण ने समोप्यात् कर दिया है, और आधुनिक विद्वान् उसे ग्रहण करते हैं। यह पाठ परिवर्तन नितान्त अनावश्यक है। देखो सुधीर कुमार गुप्त, ए न्यू इण्टर-प्रैटेशन ऑफ ऋवे० १।१४।

ऋग्वेद का विस्तार और विभाजन

५४—विस्तार—ऋग्वेद में कुल १०१७ सूक्त हैं । यदि इन में अष्टम मण्डल में प्राप्त ग्यारह बालखिल्य सूक्तों को भी जोड़ लिया जाए तो कुल सूक्त १० २८ हो जाते हैं । इन में लगभग १०६०० मन्त्र हैं। इस प्रकार सामान्यतः एक सूक्त में दस मन्त्रों का परिमाण आता है । सब से छोटे सूक्त में एक मन्त्र और सब से बड़े में ५८ मन्त्र हैं । अकेले ऋग्वेद का विस्तार इतना है जितना होमर के समस्त उपलब्ध काव्यों का।

५५—विभाजन—ऋग्वेद का दो प्रकार से विभाजन किया गया है । पहला अष्टक विभाग है। यह अपेक्षाकृत अधिक अर्वाचीन है और पूर्णतः यान्त्रिक है। इस में समस्त ग्रन्थ को आठ अष्टकों में विभक्त किया गया है । वे सब लगभग बराबर ही हैं । प्रत्येक अष्टक में आठ-आठ अध्याय हैं । प्रत्येक अध्याय में पाँच या छै मन्त्रों वाले कुछ वर्ग मिलते हैं । स्वाध्याय और प्रवचन की दृष्टि से यह विभाजन विशेष उपयोगी है ।

५६—दूसरे विभाजन में समस्त ग्रन्थ को दस मण्डलों या खण्डों (मै०—ग्रन्थों; श०—चक्रों) में बाँटा है । प्रत्येक मण्डल को सूक्तों में और सूक्तों को मन्त्रों में विभक्त किया गया है । प्रत्येक मण्डल में सूक्तों की संख्या और सूक्तों में मन्त्रों की संख्या विभिन्न है, उस में अष्टक विभाग के समान कोई स्थिर नियम लक्षित नहीं होता है । यह विभाजन प्राचीन और ऐतिहासिक है । इस से ऋग्वेद के मूल संघटनाक्रम का परिचय मिलता है । उद्धरण आदि देने में यह विभाजन अधिक सुगम पड़ता है । अतः इस विभाजन का प्रमाण आदि देने में पुष्कल प्रयोग किया जाता है ।

ऋग्वेद की संघटना

५७. प्राचीन भारतीय परम्परा केवल ऋग्वेद के मन्त्रों को ही नहीं प्रत्युत चारों संहिताओं के मन्त्रों को एक ही समय में ईश्वर से प्रादुर्भूत हुआ मानती है। इस दृष्टि से सब वेद सुसम्बद्ध हैं और उन में देश और काल विषयक कोई पौर्वापर्य नहीं है।

५८. विकासवाद के सिद्धान्तानुसार वेद को विभिन्न व्यक्तियों की रचनाएँ मानते ही यह स्वतःसिद्ध हो जाता है कि मन्त्रों की रचना में पौर्वापर्य रहा होगा। इस की पुष्टि सर्वानुक्रमणियों में प्रदत्त वैदिक ऋषियों की वंशावलियों से होती है। वहाँ एक ऋषि की सन्तति पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र आदि की रचनाएँ मिलती हैं जिन्हें किसी भी अवस्था में समकालीन नहीं माना जा सकता।

५९. **वंशमण्डल**—इस आधार पर आधुनिक विद्वानों ने ऋग्वेद के दो भाग किये हैं—१. मूल भाग—यह ऋग्वेद का प्राचीनतम भाग माना जाता है। इस में मण्डल २ से ७ आते हैं। २. अर्वाचीन भाग—इस में मण्डल १, ८, ९ और १० आते हैं। मूल भाग के मण्डल स्वरूप में एक समान हैं। देसी परम्परा के अनुसार उन में से प्रत्येक मण्डल के सूक्त एक ही वंश के ऋषियों की रचनाएँ हैं जो उन्हें अपनी संहिता के रूप में सुरक्षित रखते रहे।

६०. इस परम्परा की पुष्टि अन्तःसाक्षियों—सूक्तों में वर्णित ऋषिनामों और प्रत्येक मण्डल में प्रयुक्त ध्रुवकों से होती है। इन वंशमण्डलों में संघटना एक-जैसी है—इन में से प्रत्येक मण्डल विभिन्न देवताओं के सूक्तों के वर्गों में समान रूप से विभक्त किया गया है। दूसरी ओर मण्डल १,८ और १० में ये विशेषताएँ नहीं मिलती हैं। उन के वर्गों में सूक्त विभिन्न वंशों के ऋषियों की रचनाएँ हैं और वे किसी एक-एक वंश के ऋषियों द्वारा नहीं रचे गये हैं। मण्डल ९ अन्य मण्डलों से इस लिए विशिष्ट है कि इस

में समस्त मन्त्र सोम देवता के ही हैं और इस के वर्ग छन्द की समानता पर बनाये गये हैं।

६१. वंशमण्डलों में सूक्तों का प्रथम वर्ग नियमित रूप से अग्नि देवता का है, और दूसरा इन्द्र का और शेष अन्य अप्रधान देवताओं के हैं। इन देवताओं के वर्गों में सूक्त मन्त्रों की घटती हुई संख्या के अनुसार रखे गये हैं। उदारहण के लिए दूसरे मण्डल के अग्निदेवता का दस सूक्तों का वर्ग १६ मन्त्रों वाले सूक्त से प्रारम्भ होता है और ६ मन्त्रों वाले सूक्त पर समाप्त होता है। अगला वर्ग २१ मन्त्रों के सूक्त से प्रारम्भ हो कर ४ मन्त्रों के सूक्त पर समाप्त हो जाता है। यदि प्रक्षेपों की सम्भावना को ध्यान में रखा जाये तो वंशमण्डलों का क्रम बढ़ती हुई सूक्तसंख्या के अनुसार रखा गया है। इस प्रकार मण्डल २ में ४३, मण्डल ३ में ६२, मण्डल ६ में ७५ और मण्डल ७ में १०४ सूक्त हैं। वंशमण्डलों की एकरूपता से ऐसी प्रबल सम्भावना होती है कि ये मण्डल ऋग्वेद के मूल आधार थे जो पीछे की मिलावटों से आधुनिक रूप को प्राप्त हो गये।

६२. **अर्वाचीन मण्डल**––मूल मण्डलों के साथ पीछे से सम्बद्ध मण्डलों में प्रथम मण्डल का उत्तरार्द्ध (सूक्त ५१ से अन्त तक) सब से पहले जोड़ा गया प्रतीत होता है। इस में नौ वर्ग हैं जो प्रत्येक अलग-अलग ऋषि की रचना हैं। इस भाग में वंशमण्डलों की अन्तःसंघटना को अपनाया गया है।

६३. मण्डल ८ प्रमुख रूप से कण्व वंशजों की रचना होने से वंशमण्डलों के सदृश है। परन्तु यह अग्नि के सूक्तों से प्रारम्भ नहीं होती है। साथ ही इस में प्रगाथ छन्द का प्रचुर प्रयोग किया गया है। इस में सूक्तसंख्या सप्तम मण्डल से कम है। इस से प्रतीत होता है कि यह वंशमण्डलों के समुदाय का अंग नहीं था। सीमित साम्य के कारण यह अन्त में सब से पहले जोड़ा गया होगा।

६४. प्रथम मण्डल का पूर्वार्द्ध (सूक्त १–५०) अनेक अंशों में मण्डल ८ के समान है। अधिकांश सूक्तों के रचयिता काण्व ऋषि रहे प्रतीत होते

हैं। उन का प्रिय छन्द प्रगाथ भी यहाँ उपलब्ध होता है। दोनों संग्रहों में बहुत से समान भाव और पदसमूह भी मिलते हैं। इन दोनों सूक्तसमुदायों में कोई-न-कोई भेद अवश्य रहा होगा। परन्तु अभी तक यह नहीं दिखाया जा सका है कि ये दोनों मूल भाग के आदि और अन्त में जोड़े जा कर अलग-अलग कैसे हो गये।

६५. पहले आठ मण्डलों के एक सूत्र में बँध जाने पर मण्डल ९ भी जोड़ दिया गया। इस में समस्त सूक्त पावमान सोम के हैं। वंशमण्डलों में सोम का एक भी सूक्त नहीं है। प्रथम और अष्टम दोनों मण्डलों में मिला कर सोम देवता के सामान्य पक्ष के वर्णन करनेवाले केवल तीन ही सूक्त पाये जाते हैं। मण्डल ९ के सूक्तों के रचयिता वे ही ऋषि हैं जो वंशमण्डलों के क्यों कि उस में वंशमण्डलों के ऋषियों के प्रिय ध्रुवक मिलते हैं। अतः यह माना जा सकता है कि प्रथम से अष्टम तक के सब मण्डलों से पवमान सोम के समस्त मन्त्र निकाल कर मण्डल ९ में १–८ मण्डलों की संहिता के अन्त में रख दिये गये। इस प्रकार यह उद्गाता के लिए एक पृथक् संहिता बन गयी। शेष भाग होता से सम्बन्धित रह गया।

६६. मण्डल ९ की शैली और सूक्तों में गूढ़ आख्यानिक निर्देशों से ज्ञात होता है कि यह मण्डल पहले आठों के पीछे की रचना है। इस के कुछ सूक्त इतने ही प्राचीन हो सकते हैं जितना भारत-ईरानी काल से प्राप्त सोमयज्ञ।

६७. इस मण्डल को दो भागों में रखा जा सकता है। प्रथम भाग (सूक्त १–६०) में सूक्तों का संकलन मन्त्रों की घटती संख्या के अनुसार किया गया है। प्रथम सूक्त में दस मन्त्र हैं और अन्तिम में कुल चार। दूसरे भाग (सूक्त ६१–११४) में यह क्रम नहीं मिलता है। इस म बहुत लम्बे-लम्बे सूक्त भी हैं, यथा—एक में ४८ और दूसरे में ५८ मन्त्र हैं। दोनों भागों में छन्द का भी भेद है। प्रथम भाग में केवल चार मन्त्रों

को छोड़ कर शेष सब गायत्री छन्द में हैं, दूसरे भाग में अन्य छन्दों—जगती, त्रिष्टुप् आदि के वर्गों का प्राधान्य है।

६८. दशम मण्डल सब से अन्त में जोड़ा गया। इस की भाषा और विषयों से ज्ञात होता है कि यह शेष मण्डलों से पीछे की रचना है। इस के ऋषि शेष मण्डलों के ऋषियों से परिचित हैं। इस के संहिता के अन्त में होने और सूक्तों की संख्या प्रथम मण्डल के सूक्तों के बराबर (अर्थात्–१९१) होने से यह सुव्यक्त है कि यह संहिता का परिशिष्ट है। इस के सूक्तों की रचना अनेकों ऋषियों ने की है, जिन में कुछ ऋषि वे ही हैं जो अन्य मण्डलों में भी आये हैं, परन्तु परम्परागत मन्त्रों का ऋषिवर्णन बहुत से सूक्तों के सम्बन्ध में किसी मूल्य का नहीं है।

६९. इस मण्डल का स्वरूप सामान्यतः अर्वाचीन होने पर भी इस में कुछ सूक्त इतने ही प्राचीन और काव्यमय हैं जितने सामान्य रूप से अन्य मण्डलों के। इन सूक्तों को इस मण्डल में इस लिए स्थान मिला हो सकता है कि शेष मण्डलों के संकलन के समय वे किसी कारण से उन में सम्मिलित न किये जा सके।

७०. इस दशम मण्डल की भाषा में प्राचीन रूपों और पदों का प्रयोग क्षीण हो रहा है और नये पद और अर्थों का विकास हो रहा है।

७१. विषय की दृष्टि से इस मण्डल में अमूर्त भावों, दार्शनिक विवेचनों और अथर्ववेद के क्षेत्र से सम्बन्धित जादू-टोने आदि की प्रवृत्ति और वर्णन प्रमुख हैं।

७२. परन्तु ऋग्वेद के विभाजन की ये युक्तियाँ पूर्णतः सबल नहीं। इन का प्रमुख आधार सर्वानुक्रमणियों में वर्णित मन्त्रों से सम्बन्धित और बहुधा मन्त्रों में प्रयुक्त तथाकथित ऋषिनामों को उन का रचयिता मानना है। यह मान्यता निर्भ्रान्त और निर्विवाद नहीं। ये ऋषिनाम रचयिताओं के

नहीं हैं, प्रत्युत उन-उन सूक्तों के अर्थों की प्रकाशक संज्ञाएँ हैं।[४६] जब ऋषि और उन के वंश ही नहीं रहे तब वंशमण्डलों और प्राचीन और अर्वाचीन ऋषियों के अनुसार मण्डलों के पौर्वापर्य या सूक्तों के वर्गीकरण की कल्पना का प्रसंग ही नहीं रहता।

७३. वंशमण्डलों में और अन्य मण्डलों में देवताओं के सूक्तवर्गों में भेद भी आपाततः ही है। ऋग्वेद का देवतावाद 'एकं सत्' का विस्तार है। वहाँ अग्नि और इन्द्र तथा अन्य देवताओं में मूलतः भेद नहीं है। वाह्य दृष्टि (आधिभौतिक और आधिदैविक) से अग्नि एक अग्नि नहीं, वह विविध विषयों की समान गुणों के आधार पर एक परिभाषा है। यही इन्द्र आदि पदों की स्थिति है।[४७] वैसे भी देवताओं के आधार पर वर्गीकरण में भी कुछ अपवाद हैं। मण्डल २ में सूक्त ३ में कई देवताओं के मन्त्र हैं। इसी प्रकार ऋ० ३।२ वैश्वानर अग्नि का ३।४,८ आदि बहुदेवताक हैं। ऋ. ३।३३ इन्द्रसूक्त नहीं है। ऋ. ४।३।१ रुद्र का है, अग्नि का नहीं, ऋ. ४।१८।१, ५–७ वामदेव के हैं, इन्द्र के नहीं। ऐसी ही अव्यवस्था मण्डल ५,६ और ७ में पायी जाती है।

७४. सूक्तों के संकलन में वंशमण्डलों में भी सर्वत्र एक-सा नियम नहीं है। उदाहरण के लिए ऋ. ३।२७–२९ के अग्निवर्गीय सूक्तों में मन्त्रसंख्या

---

४६. देखो सुधीर कुमार गुप्त—ऋग्वेद के ऋषि और उन का दर्शन, वेदवाणी ७।१–२, विकृतिवेदांक १९५८; सीयर्स औफ दी ऋग्वेद, देयर मैंसेज ऐण्ड फिलौसौफी तथा वेभाप० ४,५,६,१७ के ऋषि विषयक संदर्भ। इस से ही श्री मैक्डोनल आदि विद्वानों के सर्वानुक्रमणियों के ऋषिवर्णन पर अविश्वास का वाद भी निराधार हो जाता है। ४७. इस देवतावाद के वर्णन के लिए देखो सुधीर कुमार गुप्त, महर्षि दयानन्द और देवता शब्द का अर्थ, ऋग्वेद का धर्म, वेभाप० ४,५,६,१७ के देवताविषयक अनुच्छेद।

क्रम से १५,६ और १६ है। ऋ. ४।१५, ६।१५; १६ और ऋ. ७।१५-१७ आदि इस नियम के अपवाद हैं। स्वयं मण्डलों का क्रम भी मन्त्रसंख्या के अनुसार नहीं है। यथा मण्डल २ में ४३,३ में ६२,४ में ५८,५ में ८७, ६ में ७५ और ७ में १०४ सूक्त हैं।

७५. मण्डल ९ में प्रथम आठ मण्डलों के सोमसूक्तों का संग्रह मानना और साथ ही इसे पहले आठ मण्डलों के पीछे रचा हुआ मानना परस्पर विरोधी विचार हैं।

७६. दशम मण्डल और वंशमण्डलों में विषय और भाव की दृष्टि से न मौलिक भेद है, न बहुत अधिक। ऋग्वेद के पद विशिष्ट भावों की परिचायिका परिभाषाएँ हैं जिन के ठीक-ठीक भाव को जानने की समस्या आज विद्वद्वर्ग के सामने है। इस रचना में विष्णु और इन्द्र सूक्तों की टिप्पणियों से यह सुव्यक्त हो जायगा कि ये सूक्त भी दार्शनिक विचारों से ओतप्रोत हैं। ऋ. ४।४२।४,६ आदि में ऋ. १०।१२५ के वाक्सूक्त की शैली ही अपनायी गयी है। प्रतीयमान जादू-टोने आदि के सदृश विषय यत्र-तत्र ऋग्वेद में अन्यत्र भी मिल जाते हैं।

७७. भाषा के आधार पर पौर्वापर्य निश्चय करना सम्भव नहीं। कतिपय व्याकरण के रूप जो दशम मण्डल में प्रचुर हैं और अर्वाचीन माने जाते हैं वंशमण्डलों में भी मिलते हैं। पदप्रयोग विषयानुकूल करने में ही अर्थ-सम्पत्ति सिद्ध होती है।

७८. अतः ऋग्वेद में मण्डलों या उन के अंशों में पौर्वापर्य का निर्णय उपलब्ध सामग्री के आधार पर करना संभव नहीं। हो सकता है समस्त संहिता का संकलन किसी एक ही व्यक्ति ने किया हो और विभिन्न दृष्टियों से सूक्तों की संघटना की हो।

ऋग्वेद की भाषा

७९. ऋग्वेद की भाषा आधुनिक लौकिक संस्कृत भाषा का प्राचीनतम रूप है जो पाणिनि के नियमों में जकडी जा कर आधुनिक रूप को प्राप्त हो गयी है। इस में लौकिक संस्कृत की अपेक्षा रूपसम्पत् बहुत अधिक है। संज्ञाओं और सर्वनामों के विभक्तियों में रूपों की प्रचुरता है। इस में शतृ शानच् और क्त्वान्त पदों के रूप अनेकविध हैं। क्रियापदों में यह रूप समृद्धि सविशेष लक्षित होती है क्यों कि ऋग्वेद में लेट् का प्रचुर प्रयोग हुआ है। यह लोकभाषा में बिल्कुल भी नहीं है। ऋग्वेद में तुमुन् के लिए लगभग एक दर्जन प्रत्यय हैं जिन में से लोकभाषा में केवल एक तुमुन् ही शेष बचा है।

८०. ऋग्वेद की भाषा में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरों का प्रयोग किया जाता है। यह स्वर संगीतात्मक हैं और कण्ठध्वनि के आरोहावरोह पर निर्भर हैं। लौकिक भाषा में ये स्वर नहीं लगाये जाते हैं। वहाँ स्वर अब परिमाणात्मक रह गया है, ध्वन्यात्मक नहीं है। इस का भाषा विज्ञान में कोई मूल्य नहीं है, जब कि वैदिक स्वर भाषाविज्ञान में और शब्दों का अर्थ करने में महान् सहायक है।

८१. ऋग्वेद की सन्धि लौकिक सन्धि से अधिक स्वाभाविक और प्राचीनतर है। पदान्त न् और च, छ या त, थ के बीच में श् या स् का आगम ऋग्वेद में अल्पतर है और ऐतिहासिक है, परन्तु लौकिक भाषा में यह आगम अनिवार्य हो गया है। पदान्त ए और ओ के पश्चात् ऋग्वेद में 'अ' बहुधा बना रहता है, पूर्व रूप नहीं होता है। लोक मे यह 'अ' नियमित रूप से पदान्त ए, ओ में एकरूप हो जाता है।

ऋग्वेद में छन्दःप्रयोग

८२. सम्पूर्ण ऋग्वेद पद्यात्मक है। प्रत्येक मन्त्र में सामान्यतः चार पाद होते हैं, परन्तु कुछ मन्त्र तीन पादों और पाँच पादों के भी हैं। कुछ ऋचाएँ

द्विपदा भी मानी गयी है यथा ऋ. ५।२४।१। परन्तु ऐसे स्थानों पर दो-दो मंत्रों को मिला कर एकवत् भी माना गया है। ऋग्वेद में और आगे सर्वत्र पाद (श०—एक-चौथाई भाग) छन्दों की इकाई है। इन पादों में बहुधा आठ, ग्यारह या बारह वर्ण (एक बार में बोला जाने वाला स्वर या स्वरसहित व्यञ्जन) होते हैं। सामान्यतः मन्त्र के सब पाद एक समान होते हैं, परन्तु कुछ विरल प्रयुक्त छन्दों में विभिन्न परिमाण के पादों का सम्मिश्रण पाया जाता है। ऋग्वेद में लगभग पन्द्रह छन्दों का प्रयोग पाया जाता है।[४८] इन में से सात छन्दों का प्रचुर प्रयोग किया गया है। इन में भी त्रिष्टुभ्, गायत्री और जगती प्रमुख हैं और ऋग्वेद के लगभग दो-तिहाई भाग में प्रयुक्त हुए हैं। त्रिष्टुभ् में ग्यारह-ग्यारह वर्णों के चार पाद, गायत्री में आठ-आठ वर्णों के तीन पाद और जगती में बारह-बारह वर्णों के चार पाद होते हैं। प्रत्येक छन्द में चार-चार वर्ण बढ़ाने से अन्य छन्द बन जाता है। कई बार छन्दों में वर्ण-संख्या कम पड़ जाती है। उस अवस्था में सन्धिच्छेद कर के अक्षरसंख्या पूरी की जाती है। यथा विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र वोचम् में वीर्याणि को वीरि आणि पढ़ने से छन्द की पूर्ति की जाती है। ऋग्वेदप्रातिशाख्य के मत में अर्थ के अनुसार सन्धिच्छेद और पादों को आगे-पीछे कर के मन्त्रों के छन्दों को बदला भी जा सकता है।[४९]

८३. वैदिक छन्दों में परिमाणात्मक लय पायी जाती है जिस में लघु और गुरु का बारी-बारी से प्रयोग किया गया है। पाद के अन्तिम चार या पाँच वर्णों का क्रम नियमित है। ग्यारह, बारह तथा अधिक वर्णों वाले पादों

---

४८. इस कथन में छन्दों के अवान्तर भेदों, प्राजापत्य, दैव और आसुर छन्दों के विभागों को सम्मिलित नहीं किया गया है। प्रातिशाख्य के एवंविध छन्दोविस्तार का आधार मन्त्रों के अनेकविध अर्थ हैं। इस विस्तार में छन्दोनामों को वेदार्थज्ञापक संज्ञाएँ माना गया है। देखो वेभाप० १०।९—३१।

४९. वही, १०।१४।

में यति भी होती है। डा० मैक्डोनल का विचार है कि इस प्रकार वैदिक छन्द अवैस्ता के छन्दों और लौकिक संस्कृत के छन्दों के वीच के ठहरते हैं क्यों कि अवैस्ता में केवल वर्णसंख्या होती है और लौकिक संस्कृत में उन का परिमाण भी नियत होता है। परन्तु इन दोनों ही प्रकार के छन्दों में वैदिक छन्दों की-सी अर्थानुसारी योजना का अभाव पाया जाता है। अतिच्छन्दस्, विच्छन्दस्, भूरिक्, विराट् और निचृत् छन्दों के लक्षणों से ज्ञात होता है कि परम्परा वैदिक छन्दों में वर्णसंख्या पर ही विशेष बल देती है, वर्णपरिमाण पर नहीं।

८४. सामान्यतः एक सूक्त में एक ही छन्द के मन्त्र मिलते हैं। कई वार सूक्तसमाप्ति पर एक मन्त्र भिन्न छन्द में भी पाया जाता है। कुछ सूक्तों में दो या तीन-तीन मन्त्रों के जोड़े भी पाये जाते हैं। युग्म मन्त्रों में भिन्न-भिन्न छन्दों के दो मन्त्र एक साथ प्रयुक्त होते हैं। इन्हें प्रगाथ कहते हैं। मण्डल ८ में इन का वाहुल्य है। तीन मन्त्रों के जोड़ों—तृचों में तीनों मन्त्रों का छन्द एक ही होता है। बहुधा यह छन्द गायत्री होता है।

ऋग्वेद का धर्म

८५. आधुनिकों के मत में ऋग्वेद के धर्म में विभिन्न देवताओं की पूजा प्रधान है। ये देवता मुख्य रूप से प्राकृतिक दृश्यों की पुरुषविध कल्पनाएँ हैं। वैदिक सूक्त इन्हीं देवताओं से की गई प्रार्थनाएँ हैं। इन के साथ सोम और घी की आहुतियाँ देनी भी अभीष्ट रही हैं। इस प्रकार यह धर्म बहुदेवतावादी है और ऋग्वेद के कतिपय अर्वाचीनतम सूक्तों में विश्वदेवतावादी (विराड्वादी) लक्षित होता है।

८६. ऋग्वेद में देवताओं की संख्या सामान्यतः ३३ बतायी गयी है। इन्हें तीन क्षेत्रों—पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक में विभक्त किया गया है। प्रत्येक श्रेणी में ग्यारह-ग्यारह देवता हैं। इन में मरुत् आदि संघ देवताओं की गणना नहीं की गयी है।

८७. देवताओं का जन्म भी हुआ है। उन का आदि है। परन्तु वे सब एक साथ उत्पन्न नहीं हुए। ऋग्वेद में प्राचीन देवताओं का उल्लेख आया है। कुछ देवताओं को अन्यों की सन्तति बताया गया है। सोम पी कर अथवा अग्नि और सविता से सोम पा कर देवता अमर बने हैं। अतः पहले वे अमर नहीं—मर्त्य मानव थे।

८८. देवताओं को पुरुषविध रूप में वर्णित किया गया है। उन के शरीर के अंगों का बहुशः वर्णन किया गया है। ये अंग विविध प्राकृतिक दृश्यों आदि के रूपकात्मक वर्णन हैं। उदाहरण के लिए सूर्य की किरणें ही उस के हाथ हैं और अग्नि की ज्वालाएँ ही उस की जिह्वा और शरीर के अंग हैं। कुछ देवता, विशेषतः इन्द्र योधा के रूप में वर्णित किये गए हैं। अग्नि और बृहस्पति आदि कतिपय देवता पुरोहित बताये गये हैं। सब देवताओं के रथ हैं जिन्हें घोड़े खींचते हैं। कुछ देवताओं के रथों को अज अथवा अन्य पशु चलाते हैं। इन वाहनों से देवता आकाश में से होते हुए यज्ञ पर आते हैं। देवताओं और मनुष्यों का प्रिय भोजन दूध, घी, अन्न, भेड़, बकरियों और ग्राम्य पशुओं का मांस है। ये वस्तुएँ देवताओं को यज्ञ में आहुति देकर भेंट दी जाती हैं। यज्ञ में आहुत पदार्थों को अग्नि स्वर्ग में देवताओं तक पहुँचा देता है। देवता स्वयं भी यज्ञ वेदी पर बिछी घास पर आ कर इन आहुतियों को ग्रहण करते हैं। देवताओं का इष्ट और मादक पेय पदार्थ सोमलता का रस है। विष्णु का उच्चतम पद—तीसरा द्युलोक—स्वर्ग देवताओं का निवास स्थान है। यहाँ वे सोमरस से तृप्त हो कर आनन्द का जीवन बिताते हैं।

८९. देवताओं के गुण अनेकविध हैं। इन में सर्वप्रधान उन की शक्ति है। वे महान् और परम शक्तिशाली हैं। वे प्रकृति को नियम में रखते हैं और पाप की गुप्त शक्तियों को नष्ट करते हैं। उन का शासन समस्त प्राणियों पर है। कोई उन के नियमों की उपेक्षा नहीं कर सकता है। वे प्राणियों की आयु का मान करते हैं। मानव की कामनाएँ उन की कृपा से ही पूर्ण होती

हैं। देवता दयालु हैं और मनुष्यों को समृद्धि देते हैं। केवल एक रुद्र ही ऐसा देवता है जो उग्र स्वभाव है और हिंसा की प्रवृत्ति भी रखता है। देवता सत्य हैं। किसी को धोखा नहीं देते हैं। वे सच्चे और धार्मिकों के रक्षक हैं परन्तु पाप और अपराध को क्षमा नहीं करते हैं।

९०. देवताओं का स्वरूप अभी पूरा विकसित नहीं हुआ है। अभी उन में से प्राकृतिक तत्त्वों का निराकरण नहीं किया गया है। अतः उन का स्वरूप अनिश्चित और व्यक्तित्व से विहीन है। कई बार दो देवताओं की एक साथ स्तुति की जाती है और उन्हें समान गुणों से विभूपित किया जाता है। इन में से कुछ गुण तो एक देवता से ही सम्बन्ध रखते हैं और दूसरे के क्षेत्र से बाह्य होते हैं। इस प्रकार समस्त देवताओं को समस्त गुणों से विभूषित करने की प्रवृत्ति से एक दूसरे से तादात्म्य की भावना सुगम हो गयी। ऋग्वेद के कतिपय अर्वाचीन मन्त्रों में यह भावना व्यक्त भी हुई है। परन्तु यह एकेश्वरवाद में कभी विकसित न हो सकी। एक सूक्त में अदिति और प्रजापति का समस्त देवताओं और प्रकृति से तादात्म्य बताया गया है।

देवताओं का वर्गीकरण

९१. समस्त देवताओं को तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है—१. द्युस्थानीय, २. अन्तरिक्षस्थानीय और पृथिवीस्थानीय। प्रथम वर्ग में द्यौः, वरुण, मित्र, सूर्य, सवितृ, पूषन्, अश्विनौ, उषस् और रात्री आते हैं। इन्द्र, अपां नपात्, रुद्र, मरुत्, वायु, पर्जन्य और आपः अन्तरिक्षस्थानीय देवता हैं तथा पृथिवी, अग्नि और सोम पृथिवीस्थानीय।

प्रमुख देवता

९२. ऋग्वेद में ये देवता बहुत प्रमुख हैं और अनेकों सूक्तों के देवता हैं। वरुण ऋत का देवता है। वह पापियों को अपने पाश में बाँधता है।

मित्र, सूर्य, सवितृ और पूषन् सूर्य के विभिन्न पक्ष हैं। उषस् उषाकाल की देवता है। यह प्रतिदिन आती है। पुरानी होते हुए भी सदा नयी है। इस के आने पर यज्ञ होते हैं। यह सूर्य की पत्नी और पुत्री है। इन्द्र ऋग्वेद में युद्ध का देवता है। यह वृत्र आदि राक्षसों का वध करता है और सात सिन्धुओं को मुक्त करता है। रुद्र सुखकारक भी है और पापियों को दण्ड देने वाला भी। यही आगे चल कर पौराणिक शिव में परिवर्तित हो गया है। संभवतः इस के वर्णनों के मूल में त्र्यम्बक=नारिकेल का पुरुषविध रूप भी हो।[५०] अग्नि का भौतिक रूप ही प्रमुख रूप से वर्णित हुआ है। यह विद्युत् और सूर्य के रूप में भी आती है। यह हवियों को देवताओं के पास ले जाती है और यज्ञ का साधन है। सोम एक लता का रस है। जिसे पी कर इन्द्र असुरों को जीतता है और देवता अमर हो जाते हैं।

अल्पस्तुत देवता

९३. कुछ अल्पस्तुत देवता भी हैं। त्रित विद्युत् प्रतीत होता है। यह भारत-ईरानी काल का है। मातरिश्वा स्वर्ग से मनुष्यों के लिए अग्नि लाता है। पार्थिव देवताओं में सिन्धु, विपाश् और शुतुद्री आदि नदियाँ आती हैं। इन में सरस्वती सर्वप्रमुख है और बहुधा वर्णित हुई है। ऋग्वेद के समस्त वर्णनों में इस का नदीभाव कभी भी विस्मृत नहीं हुआ है।

अमूर्त देवता

९४. विचारों के विकास के साथ कतिपय अमूर्त देवताओं की भी कल्पना की गयी। ऐसे कुछ देवता तो प्रमुख देवताओं के विशेषण मात्र हैं जो कालान्तर में देवता के रूप में कल्पित कर लिये गये। धाता पृथिवी,

---

५०. देखो सुधीरकुमार गुप्त, कोकोनट (त्र्यम्बक इन दी ऋग्वेद) इज़ दी ओरिजन औफ शिव कल्ट, आइओका० (सं.) १९४८।

द्युलोक, चन्द्र और सूर्य को बनाता है। विधातृ, धर्तृ, ऋतृ और नेतृ का वर्णन अल्पात्यल्प है। त्वष्टा का अनेक बार वर्णन हुआ है, परन्तु उस का कोई सूक्त नहीं है। वह देवशिल्पी है। उस ने इन्द्र का वज्र और चमस बनाया है। वह सोम का रक्षक और सरण्यु का पिता है। प्रजापति संसार का रचयिता है। विश्वकर्मन् और हिरण्यगर्भ भी पहले विशेषण थे। 'कस्मै देवाय हविषा विधेम—किस देव की हम हवि से सेवा करें' से हिरण्यगर्भ के विशेषण से देवता रूप में विकसित होने का क्रम लक्षित होता है। बृहस्पति ही ऐसा देवता है जो ऋग्वेद के प्राचीन और अर्वाचीन दोनों भागों में पाया जाता है।

९५. अमूर्त देवताओं के दूसरे वर्ग में भाववाचक संज्ञाओं से बने देवता आते हैं। इन में मन्यु 'क्रोध', श्रद्धा, अनुमति '(देवों की) अनुकूलता', अरमति 'भक्ति', सूनृता, असुनीति और निर्ऋति आते हैं। मन्यु के दो सूक्त हैं और श्रद्धा का एक।

देवियाँ

९६. एक अन्य अमूर्त देवता अदिति की ऋग्वेद में सर्वत्र ही स्तुति मिलती है। इस का प्रमुख कर्म भौतिक यन्त्रणाओं और नैतिक पापों से मुक्त करना है। वह आदित्यों की जननी है। दिति का केवल तीन ही बार नाम आया है।

९७. ऋग्वेद में देवियों का स्थान अति गौण है। इन में सर्वप्रमुख उषा है। फिर सरस्वती का स्थान आता है। इस के दो सूक्त हैं। वाक् का एक सूक्त है। पृथिवी, रात्री और अरण्यानी के भी एक-एक सूक्त हैं। देवताओं की पत्नियों अग्नायी, इन्द्राणी और वरुणानी आदि का व्यक्तित्व नगण्य है। उन का कोई महत्त्व प्रतीत नहीं होता।

युग्म देवता

९८. ऋग्वेद के धर्म की एक विशेषता युग्म देवता हैं। ये द्वन्द्व समास से व्यक्त किये गये हैं। दोनों ही देवतानाम द्विवचन में प्रयुक्त होते हैं और एक दूसरे के वाचक हैं। इन में सब से अधिक स्तुति मित्रावरुणा की हुई है। द्यावापृथिवी का नाम बहुत अधिक प्रयुक्त हुआ है। यह जोड़ा भारोपीय युग का है।

संघ देवता

९९. देवताओं के कुछ अनिश्चित से समूह भी मिलते हैं। इन का किसी विशेष देवता से सम्बन्ध होता है। मरुतों का सम्बन्ध इन्द्र से है। इन की संख्या सर्वाधिक है। आदित्यों का नायक वरुण है। ये सदैव अदिति के साथ वर्णित किये गये हैं। इन की संख्या सात है जो मार्तण्ड को गिनकर आठ हो जाती है। एक मन्त्र में इन में से छह का नाम आया है—मित्र, अर्यमन्, भग, वरुण, दक्ष, अंश। सम्भवतः सूर्य सातवाँ था। वसुओं का न व्यक्तित्व स्पष्ट है न उन की संख्या बतायी गयी है। इन का प्रमुख इन्द्र है। विश्वे देवा= की स्तुति बहुत से सूक्तों में की गयी है। यद्यपि नाम से यह सब देवताओं का द्योतक मालूम होता है परन्तु अनेक बार इन की स्तुति अन्य देवताओं यथा वसु और आदित्यों के साथ की गयी है।

लघु देवता

१००. ऊँचे और प्रमुख देवताओं के अतिरिक्त ऋग्वेद में कुछ छोटे देवता भी हैं। इन में प्रमुख ऋभु हैं जिन के ग्यारह सूक्त हैं। ये अपने कौशल से ही देवता बने हैं। इन्हों ने त्वष्टा के एक चमस को चार बनाया। इन्हों ने अपने माता-पिता को पुनः जवान बनाया। इन के इन दोनों और अन्य तीन चमत्कारों के अनेकविध व्याख्यान दिये गये हैं।

१०१. ऋग्वेद में अप्सराओं का भी वहुधा उल्लेख मिलता है। य गन्धर्वपत्नियाँ हैं। ये एक से अधिक हैं, परन्तु नाम केवल उर्वशी का ही आया है। गन्धर्व एक ही है जो अन्तरिक्ष में रहता है, दिव्य सोम की रक्षा करता है और जलों से सम्वन्धित है।

रक्षक देवता

१०२. कुछ देवता रक्षक स्तर के भी हैं। वास्तोष्पति घरों का देवता है। वह घर में सुप्रवेश का दाता, रोगों को दूर करने वाला, रक्षक और समृद्धि देने वाला है। क्षेत्रस्य पति पशु और घोड़े देता है और कुशलक्षेम का स्वामी है। सीता से खेती और समृद्ध कामनाएँ प्रदान करने के लिए प्रार्थना की गयी है।

पार्थिव वस्तु—देवता रूप में

१०३. प्रकृति के प्रमुख दृष्यों के अतिरिक्त भूमि के विभिन्न स्वरूप और कृत्रिम पदार्थ भी देवता रूप में कल्पित किये गये हैं। इन में पर्वतों को अन्य देवताओं या अन्य प्राकृतिक वस्तुओं के साथ वर्णित किया गया है। ओषधियों का एक सूक्त है। ये रोगों को दूर करती हैं। यज्ञ की वस्तुओं में यूप, वर्हि, द्वारो देवीः, ग्रावाणः, उखल और मुसल हैं। ग्रावाणः अमर, अजर, द्यलोक से भी अधिक समर्थ और राक्षसों तथा नाश के अपहन्ता हैं। वर्म, इषु, इषुधि, धनुष् और ढ़ोल की भी एक सूक्त में स्तुति की गयी है।

असुर

१०४. ऋग्वेद में वर्णित असुर दो प्रकार के हैं—१. ऊँचे और शक्तिशाली असुर देवताओं के आकाशीय शत्रु हैं। इन्हें असुर वहुत कम कहा गया है। दास या दस्यु से इन्हें वहुधा पुकारा गया है। यह नाम सामान्यतः भारत के आदि निवासियों के माने जाते हैं। ऋग्वेद में देवासुर युद्ध नियमित

रूप से एक देवता और एक असुर में ही होता है यथा इन्द्र और वृत्र का संग्राम। वृत्र का ही सर्वाधिक उल्लेख आया है। उस की माता दानु है। दूसरा शक्तिशाली असुर वल है। यह गौओं की अपधा (गुफा, बाड़ों) का ही पुरुषविध रूप है। यह इस अपधा की रक्षा करता है। अंगिरस आदि अपने सहायकों के साथ इन्द्र इस बाड़े से गायों को निकालता है। इन्द्र के अन्य शत्रु राक्षसों में से अर्बुद एक दुष्ट हिंसक पशु है। इन्द्र इस की गौओं को छीन लेता है। विश्वरूप त्वष्टा का पुत्र है। इस के तीन सिर हैं। त्रित और इन्द्र इसे मार कर इस की गौओं को छीन लेते हैं। स्वर्भानु सूर्य को निगलने वाला है। कुछ अन्य दास भी हैं जिन्हें इन्द्र मारता है। राक्षसों का एक वर्ग-पणि इन्द्र का प्रमुख शत्रु है। इन्द्र सरमा (एक कुतिया) की सहायता से उन के स्थान को खोज कर उस से गौओं को छुड़ाता है।

१०५. दूसरे वर्ग में पार्थिव राक्षस आते हैं। ये मनुष्यों के शत्रु हैं। इन का सामान्य नाम रक्षस् है। इन का वर्णन सामान्यतः किसी देवता के साथ आता है। यह देवता इन राक्षसों का वध करता है। यातु और यातुधान अनेक बार राक्षसों के साथ वर्णित हुए हैं। संभवतः ये गुप्तचर हों। पिशाचों का ऋग्वेद में वर्णन विरल है।

१०६. लगभग तीस सूक्तों में देवताओं की स्तुति आदि से भिन्न विषय मिलते हैं। इन में से लगभग एक दर्जन सूक्तों में जादू और तान्त्रिक क्रियाओं का वर्णन है। ये अधिकांश रूप में दशममण्डल तक ही सीमित हैं। इन के विषय शकुन (२।४२–४३), विषापनयन (१।१९१), रोग की निवृत्ति (१०।१६३), बच्चों के हिंसक राक्षस के नाश (१०।१६२), शत्रुओं के लिए दुर्भावना (१०।१६६) या सपत्नीमर्दन (१०।१४५) हैं। कुछ सूक्तों में आयुरक्षा (१०।५८, ६०), निद्रा लाना (५।५५) या सन्तति प्राप्त करना (१०।१८३) का वर्णन है। एक सूक्त (७।१०३) में मण्डूकों की स्तुति है जो वर्षा के लिए की जाती है।

ऋषि दयानन्द का मत

१०७. इस के विपरीत ऋषि दयानन्द ने बड़े ज़ोरदार शब्दों में इस बात की घोषणा की है कि ऋग्वेदीय धर्म एक ईश्वर की पूजा का विधायक है।[५१] अपने वेदभाष्यों में इन्हों ने अग्नि,[५२] सविता,[५३] इन्द्र,[५४] और वरुण[५५] आदि पदों का 'परमात्मा' अर्थ किया है। अपने भाष्यों में आप ने कहीं भी यह भाव नहीं झलकने दिया है कि वेद में अग्नि देवता, सूर्य देवता, वर्षा देवता, आँधी देवता आदि किन्हीं देवताओं की सत्ता है। आप ने अग्नि और सूर्य का अर्थ क्रम से आग,[५६] और सूरज,[५७] अवश्य किया है परन्तु उन का अर्थ प्रकाश और गरमी पहुँचाने वाले आग और सूर्य ही हैं। संसार में भिन्न २ ऐश्वर्यों की प्राप्ति के लिए मनुष्यों को उन का समुचित प्रयोग करना चाहिए।[५८] उदाहरणतः भौतिक अग्नि के या बिजली के रूप में कलों में आग का प्रयोग अतुलनीय सम्पत्ति प्रदान कर सकता है।[५९] सूर्य की किरणों का प्रयोग स्वास्थ्य, और रोगों से मुक्ति प्रदान कर सकता है और उस का कलों आदि में प्रयोग समृद्ध बना देता है।[६०]

---

५१. सत्यार्थ प्रकाश (कलकत्ता) पृ० ११४, भूमिका पृ० ५४; ८३। ५२. ऋ० १।७४।१; २; आदि। ५३. ऋ० १।२२।८। ५४. ऋ० ।१।३।५। ५५. ऋ० १।२५।३। ५६. ऋ० १।५०।३। ५७ . ऋ० १।२३।१७ ५८ ऋ० १।१२।७; ८। ५९. ऋ० १।१२।१; ७; ८; इत्यादि। ६०. ऋ० १।२।६। इत्यादि।

१९-१-१९५२ के ट्रिब्यून के अङ्क में पृ० ५, कालम ५ (नीचे) पर एक समाचार के अनुसार डा० पं० जवाहरलाल नेहरू ने १७-१-१९५२ को बनारस में एक सभा में भाषण देते हुए कहा था कि भारत में कुछ वैज्ञानिकों ने भोजन पकाने के लिए सूर्य की शक्ति के प्रयोग का उपाय खोज निकाला है ओर पं० जी ने स्वयं इस प्रकार पके हुए भोजन का स्वाद चखा है।

विवेचन

१०८. ऊपर के लेखों से सुस्पष्ट है कि आधुनिक सम्प्रदाय का विचार है कि वेदों में अनेकों देवी-देवताओं की उपासना का विधान है।[६१] आचार्य मैक्समूलर के विचार में वैदिक धर्म हिनोथीयिस्टिक (Henotheistic) है।[६२] उन के मत से यद्यपि ऋग्वेद में अनेकों देवताओं को मान्यता दी गयी है तो भी प्रत्येक शेष अन्यों से स्वतन्त्र रूप में वर्णित किया गया है। पूजा या प्रार्थना के समय एकमात्र वह देवता ही भक्त के मन में उपस्थित होता है। कोई भी देवता अपने पद में ऊँचा या नीचा नहीं माना गया है। पूजा के समय प्रत्येक देवता को 'सत्य, परम और एकमात्र देवता' (as a real divinity as supreme and absolute)' के रूप में अनुभव किया जाता है।[६३]

१०९. प्रो० मेक्डोनल इस विशेषता को वैदिक कवियों की अतिशयोक्ति की प्रवृत्ति का परिचायक मानते हैं।

११०. आपको यह बलात् मानना पड़ा है कि वैदिक देवताओं का पुरुषाकार परिच्छेदात्मक वर्णन और चरित्रगत व्यक्तित्व से हीन हैं। वे अभी किञ्चित् मात्र ही विकसित हुए हैं। उन के व्यावर्तक गुण बहुत कम हैं। परन्तु उन में कान्ति, शक्ति, परोपकारिता और बुद्धिमत्ता आदि बहुत से समान गुण पाये जाते हैं। अनेकों बार एक देवता की विशेषताओं को दूसरे देवता में भी बताया गया है। इस से एक देवता के दूसरे देवता से तादात्म्य सम्बन्ध की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। यह प्रवृत्ति ऋग्वेद में बहुधा पायी जाती हैं (उदाहरणार्थ देखो ऋ० ५।३।१)। "अपि च-अग्निपूजक ब्राह्मणों की दृष्टि

---

६१. देखो गुरुदत्त विद्यार्थी, दी टर्मीनोलौजी आफ वेदाज़ एण्ड यूरोपियन स्कालर्ज़. पृ. ४९।

६२. लैक्चर्ज़ आन दी साइन्स औफ रिलीजियन पृ० १४१–१४२।

६३. एन्शियेन्ट संस्कृत लिट्रेचर, पृ० ५३३।

में परम महत्त्वशाली देवता अग्नि के स्वरूप, पृथ्वी पर भिन्न-भिन्न अग्नियों के रूपों में उस की विविध अभिव्यक्तियों, विजली में प्राप्त अन्तरिक्षस्थ अग्नि तथा सूर्य में प्राप्त दिव्य अग्नि, उस के अन्य रूपों—जिन को वैदिक कवि पहेलियों में उल्लिखित करने की बड़ी रुचि रखते हैं—पर रहस्यपूर्ण विचार से यही प्रतीति होती है कि विभिन्न देवता एक ही दिव्य सत्ता के विविध रूप हैं। यह भाव ऋग्वेद के अर्वाचीन सूक्तों के अनेकों वाक्यों में पाया जाता है। ऐसे कथन बताते हैं कि ऋग्वेद काल की समाप्ति तक ऋषियों के बहुदेवतावाद में एकेश्वरवाद का पुट लग चुका था।"[६४]

१११. श्री मैक्समूलर और श्री मैक्डोनल द्वारा दिये गये वैदिक धर्म के विवरण की सामालोचनात्मक परीक्षा तथा विश्लेषण यह व्यक्त कर देते हैं कि तथाकथित वैदिक देवताओं की कोई व्यक्तिगत सत्ता नहीं है। उन का एक-दूसरे से तादात्म्य है तथा उन में गुणों की समानता है। अतः ऋग्वेद के देवताओं के नाम एक ही दिव्यशक्ति परमात्मा के ही विविध नाम हैं। वही शक्ति ऋषियों की भिन्न-भिन्न रुचियों तथा भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के कारण इन विभिन्न नामों से आकारित की गयी है। इस तथ्य को इन दोनों विद्वानों ने समझ लिया है। अतः उन्हों ने घोषणा की है कि देवताओं की इस सारभूत एकता अथवा वैदिक धर्म की एकेश्वरवादिता का ऋषियों द्वारा स्पष्ट उल्लेख शिष्ट सूक्तों की अपेक्षा अर्वाचीन हैं।

११२. ऋ० १।१६४ का दर्शन अङ्गिरा की तीसरी पीढ़ी में दीर्घतमा औचथ्य ने, ऋ० १०।११४ का अङ्गिरा की तीसरी पीढ़ी में वैरूप सध्रि ने, ऋ० ५।३।१ का भूम की तीसरी पीढ़ी में वसुश्रुत आत्रेय ने किया था। भूम का पुत्र, अत्रि अनेक बार अङ्गिरा की तीसरी पीढ़ी में भरद्वाज का समकालीन वर्णित किया गया है। अतः भूम अङ्गिरा की दूसरी पीढ़ी के बाद का नहीं हो सकता। यह सम्भव है कि वह अङ्गिरा का समकालीन ही हो। इस

६४. हिस्ट्री आफ संस्कृत लिट्रेचर, पृ० ७०

प्रकार वसुश्रुत अङ्गिरा की चौथी पीढ़ी के बाद का नहीं हो सकता। अतः समस्त देवताओं की एकता के स्पष्ट रूप से सूचक और प्रख्यापक ये तीन सूक्त और उन के मन्त्र बहुत से उन सूक्तों से प्राचीनतर और कुछ के सम-कालीन हैं जिन में प्राकृतिक दृश्यों के पुरुषाकार का वर्णन माना जाता है। अतः वैदिक धर्म न बहुदेवतावादी (Polytheistic) हो सकता है न विश्वदेवतावादी (Pantheistic) और न तात्कालिक देवतावादी (Henotheistic)। इस की एकेश्वरवादिता।

"सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि च सर्वाणि यद् वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥[६५]"

आदि उपनिषद् वाक्यों, वेदान्त सूत्र (१. १. ४) तथा अन्य ग्रन्थों में जोरदार शब्दों में प्रतिपादित की गयी है। इन्द्र, वरुण और अग्नि आदि पद परमात्मा के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं—इस तथ्य के घोषक मन्त्र चारों संहिताओं में बिखरे पड़े हैं। इस सम्बन्ध में विश्वामित्र के पिता गाथी कौशिक द्वारा दृष्ट ऋ० ३।२०।३[६६], अंगिरा की चपाँवीं पीढ़ी के भृगु के गोद लिये

---

६५. कठोप० २।१५; श्वेताश्वतरोप० ५।६ भी देखें।

६६. ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का विषय 'विद्वांसः कथं वर्त्तेरन्' दिया है परन्तु उन का भाष्य बताता है कि यहाँ पर परमात्मा का वर्णन है। 'देव' पद का हिन्दी अनुवाद अशुद्ध है। 'पृष्टबन्धो' के संस्कृत और हिन्दी अनुवाद में विषमता प्रतीत होती है। मेरी प्रवृत्ति भावार्थ की भावना के आधार पर हिन्दी अनुवाद को ही शुद्ध मानने की ओर है। प्रकरण के उपयोगी पद 'भूरीणि अमृतस्य नाम' हैं।

६७. इस मन्त्र का दयानन्द का व्याख्यान इस से भिन्न है। यह अनुवाद ग्रिफिथ आदि आधुनिक विद्वानों का है, जो प्रकृत कथन को प्रमाणित कर रहा है।

हुए पोते गृत्समद द्वारा दृष्ट ऋ० २।१।३[६७], य० ३२।१; और अवे० १३।४ (१)।४;५ का विशेषतया उलेख किया जा सकता है। ऋग्वेद के दोनों मन्त्र ऋग्वेद काल के प्राचीनतम युग के हैं।

११३. प्रो० वेट्टी हाइमेन्न का विचार है कि प्रारम्भिक विचारक की दृष्टि को पदार्थों की एकता की अपेक्षा उन की विषमता ही अधिक प्रभावित करती है। वह प्राकृतिक दृश्यों में परम सत्ता का अनुमान नहीं कर सकता। ऋग्वेदीय धर्म यद्यपि कुछ विकसित हो चुका है तो भी उस में एक से अधिक देवता हैं। तथाकथित ऋग्वेदीय एकेशवरवादिता के मुख्य आधार ऋ० १।१६४।४६ में "दो, वल्कि तीन पद हैं जो विशेष रूप से हमारे मन में इस शिक्षा के लिए 'एकेश्वरवादी' परिभाषा कल्पित करने के औचित्य पर संशय उत्पन्न कर देते हैं। प्रथम तो यहाँ पर देवता के किसी व्यक्तिगत रूप को नहीं वरन् नपुंसक 'सद् एकम्' को वास्तविक आधार बनाया है। दूसरे हम इस बात की उपेक्षा नहीं कर सकते कि यहाँ पर यह माना गया है कि यह मुख्य आधार (नपुंसक) अनेक रूपों (बहुधा) में व्यक्त हुआ माना गया है। चाहे कुछ भी हो इसी कथन के द्वारा ऋग्वेदीय धर्म की स्थिति में प्रारम्भिक एकेश्वरवाद की भावना व्यावर्तित हो जाती है।[६८]

११४. भाषावैज्ञानिकों तथा भारतीय साहित्यशास्त्रियों ने यह माना है कि अपनी मातृभाषा के पदों को सीखते समय एक बालक पहले विषमता के स्थलों का व्यावर्त्तन कर के भिन्न-भिन्न पदार्थों के अन्तर्गत एकता के या समानता के सूत्रों को पकड़ता है। वह धीरे-धीरे ही दो पदार्थों के भेद को देख और समझ सकता है। इस लिए जब वह आग, सूर्य, दीपक अथवा अन्य किसी प्रकाशमान वस्तु को देखता है तब वह उन सब के समान गुण—चमक या प्रकाश—से ही प्रभावित होता है। जब वह एक गाय, घोड़े या भैंस को

---

६८. ऐनल्स औफ भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टिटच्यूट अंक सं० २८, १९४७ कैथोनोथियिज्म एण्ड समानुतिज्म।

देखता है तब वह उन के समान गुण चतुष्पादत्व से ही प्रभावित होता है। प्रत्येक अवस्था में वह समान गुण वाले भिन्न-भिन्न पदार्थों को एक ही समझता है।

११५. इसी प्रकार सृष्टि के प्रारम्भ में मानव ने अग्नि, सूर्य और तारे आदि सभी पदार्थों के समान गुणों का ही अवलोकन किया हो सकता है। अपने ज्ञान की प्रथम अवस्था में उस ने उन्हें नियत रूप से समान माना होगा। पीछे जैसे-जैसे उसका ज्ञान बढ़ा उस ने भिन्न-भिन्न पदार्थों में भेद किया होगा। इस प्रकार यह समानता ही है विषमता नहीं जिस ने मानव के चिन्तन की प्रथम अवस्था में उस के मन को ग्रहण किया हो सकता है। सभ्य और संस्कृत लोगों में भी जब दो पदार्थ किसी मनुष्य के सामने लाये जाते हैं तो उन की समानताएँ तुरन्त ही उस के मन को आकर्षित कर लेती हैं। भेद का भाव क्रम से पीछे आता है और आयाससाध्य होता है। यह ठीक है कि अधिकांश अवस्थाओं में यह आयास मनुष्य की अव्यक्त चेतना में होता है और इसी लिए प्रत्यक्ष अनुभव करने वाले व्यक्ति को इस का सप्रयास ज्ञान नहीं होता है। अतः तथाकथित मूल-एकेश्वरवाद (Urmonotheism) ही प्राचीनतम प्रारम्भिक धर्म की एकमात्र आधारभूत विशेषता हो सकती है।

११६. ऋग्वेदकालीन मानव सभ्यता और संस्कृति के मार्ग पर बहुत दूर पहुँच चुका था। उस ने मूल-एकेश्वरवाद, विश्वदेवतावाद तथा बहुदेवतावादों की अवस्थाओं को पार कर लिया था। उस ने प्रकृति के दृश्यों और पदार्थों की सारभूत एकता को मालूम कर लिया था उस ने इस एकता के स्वरूप पर भी विचार कर लिया था। वह उसे न पुल्लिङ्ग कह सकता था न स्त्रीलिंग और न ही नपुंसक लिंग। ऋ० १।१६४।४६ के 'सद् एकम्' में नपुंसक लिङ्ग इसी अनुभव का परिचायक है। यह भाव ऋ० ८।३०।१; श्वेताश्वतर उप० ४।३ और ५।१० में व्यक्त किया गया है। पानी और हवा के समान वह विभिन्न रूपों को धारण करता है। अतः वह प्रत्येक व्यक्ति को उस के अपने विचारों के अनुसार भिन्न रूप वाला प्रतीत होता है।

इस लिए विभिन्न व्यक्ति उस का भिन्न-भिन्न ही वर्णन करते हैं। प्रो० हाइमेन्न को 'अनेक रूपों में अभिव्यक्ति' तथा 'भिन्न व्यक्तियों द्वारा भिन्न-भिन्न वर्णनों के परिच्छेदात्मक रूप को समझने में भ्रान्ति हुई है। मन्त्र में ऐसी कोई व्यञ्जना नहीं है जैसी श्री हाइमेन्न ने निकाली है। इस का यथार्थ भाव यही है कि परमात्मा एक, केवल एक ही है। ये मनुष्य ही हैं जो उस को भिन्न रूपों में वर्णित करते हैं।

११७. आधुनिक विद्वानों के ऋग्वेदीय धर्म के सम्बन्ध में विचारों का आधार उन की यह कल्पना ही है कि ऋग्वेद काल में मनुष्य अभी बहुत ही अविकसित अवस्था में था। इस कल्पना ने ही वेद और अन्य ग्रन्थों की प्राचीन साहित्यिक परम्परा की प्रभूत साक्षी को ठुकराया है। यही कल्पना वैदिक ग्रन्थों में एकान्ततः अविद्यामान देवताओं के नामों के अर्थ में अग्नि और सविता आदि के जाने के लिए उत्तरदायी है। अतः इसे निराधार होने का कारण त्यागना, और दयानन्द के विचारों को यथार्थ मान कर ग्रहण करना ही उचित है।

ऋग्वेद में लौकिक सामग्री

लौकिक सूक्त

११८. मुश्किल से कोई बीस सूक्तों में लौकिक (–धर्मेतर) सामग्री मिलती है। इन से भारत की प्राचीनतम संस्कृति पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश प्राप्त होता है। इन में से एक विवाह सूक्त (१०।८५) है, पाँच सूक्त (१०। १४–१८) मृत्युविषयक हैं। इन में से पहले चार में मृत्यु के देवताओं का वर्णन है और अन्तिम में शव के संस्कार के विषय में पर्याप्त सामग्री मिलती है।

संवादसूक्त

११९. ऋग्वेद में कतिपय पौराणिक संवाद सूक्त भी आये हैं। इनमें वक्ता दिव्य प्राणी हैं (४।६२; १०।५१-५२; ८६; १०८)। दो सूक्तों में मानव ही पात्र हैं। पुरुरवस् और उर्वशी सूक्त (१०।९५) में उर्वशी के प्रेमी पुरुरवस् के आत्मगत विचार हैं। इस में उस कहानी का प्राचीनतम रूप है जिस को कालिदास ने विक्रमोर्वशीय में गुम्फित किया है। एक सूक्त (१०।१०) यम और यमी का संवाद है, जिन्हें सामान्यतः मानव जाति के आदि माता-पिता और परस्पर में भाई-बहन माना जाता है।[६९] ये संवादसूक्त आगे आने वाले नाटकों का प्रारूप कहे जा सकते हैं।[७०]

---

६९. दस० ने इस में नियोग का वर्णन माना है। यमी उन के अनुसार यम की बहन नहीं है, बल्कि कोई अन्य स्त्री है।

७०. देखो सुधीर कुमार गुप्त, संस्कृत साहित्य का सुबोध इतिहास, १०। ७–१३।

नीतिसूक्त

१२०. ये संख्या में चार हैं। एक (१०।३४) में एक जुआरी का जुआ खेलने से बिगड़ी हुई अपनी दशा का चित्रण है। एक (९।११२) में मनुष्यों की लक्ष्मी के पीछे दौड़, एक (१०।७१) में वाणी की प्रशंसा, एक (१०।११७) में शुभ कर्मों की सराहना के चित्रण मिलते हैं।

पहेलियाँ

१२१. दो सूक्तों में पहेलियाँ हैं। एक (८।२९) में नामों को छिपा कर विभिन्न देवताओं का वर्णन किया गया है। एक ५२ मन्त्रों के सूक्त (१।१६४) में अनेकों समस्याएँ रक्खी गयी हैं जिन में से अधिकांश को डा० मैक्डोनल सूर्य से सम्बन्धित बताते हैं। इन की भाषा रहस्यात्मक और प्रतीक रूप है। उदाहरण के लिए एक समान वृक्ष पर स्थित दो पक्षी ईश्वर और जीव हैं, और वृक्ष प्रकृति।

सृष्टिसूक्त

१२२. लगभग आधे दर्जन सूक्तों में ईश्वर द्वारा सृष्टिरचना का वर्णन है। नासदीय सूक्त (१०।१२९) में सृष्टि से पहले सत् और असत् की सत्ता का निषेध कर अपने सामर्थ्य से विद्यमान एक सत् का वर्णन किया गया है। उसी से यह सृष्टि उत्पन्न हुई है।

दानस्तुतियाँ

१२३. कुछ सूक्त और मन्त्रों में दानस्तुतियाँ हैं। ये अर्ध-ऐतिहासिक हैं। इन से वैदिक ऋषियों और उन के आश्रयदाताओं की वंशावलियों और कुछ जातियों के नामों का पता मिलता है। ये अर्वाचीन हैं। इन में से अधिकांश प्रथम, दशम और ८ वें मण्डल के परिशिष्ट भाग में उपलब्ध होती हैं।

भौगोलिक सामग्री

१२४. ऋग्वेद में वर्णित भौगोलिक परिस्थितियों, विशेष रूप से नदी सूक्त से आधुनिक विद्वान् यह निष्कर्ष निकालते हैं कि ऋग्वेद की रचना के समय वैदिक आर्यजन पंजाव और पाकिस्तान के पश्चिमोत्तर प्रान्तों के प्रदेश में रहते थे। वनस्पतियों और पशु-पक्षियों के निर्देश से भी यही निष्कर्ष निकलता है।

१२५—परन्तु ऋग्वेद के ऋषि सरयू से परिचित थे। इस का उल्लेख चौथे, पाँचवें और दसवें मण्डल में एक-एक बार आया है। नदी सूक्त में वर्णन पूर्व से पश्चिम की ओर चलता है। यह गंगा से प्रारम्भ होता है। अतः मन्त्र रचनाकाल में आर्य उत्तरप्रदेश के बहुत से भाग में अवश्य स्थित थे। यदि पूर्व उद्धृत सी–१४ के अणुशक्ति के परीक्षण के निष्कर्षों को स्वीकार किया जाए तो उस समय आर्य मध्यप्रदेश में भी फैल चुके थ। यह अन्तिम निष्कर्ष अभी अध्येतव्य है।

ऐतिहासिक सामग्री

१२६—ऋग्वेद में प्राप्त ऐतिहासिक सामग्री से यह सुव्यक्त होता है कि आर्य अभी भारत के आदि निवासियों से युद्ध में व्यस्त थे। वे अनेकों विजय प्राप्त कर चुके थे और विजेता के रूप में आगे वढ़ रहे थे। यद्यपि वे अनेकों जनों में विभक्त थे परन्तु उन में धार्मिक और जातीय एकता की भावना प्रवल थी। वे यहाँ के निवासियों को यज्ञ न करने वाले, नास्तिक, कृष्ण वर्ण, अनार्य दास वर्ण कहते थे।

१२७—परन्तु यह मत विचारणीय है। जैसा इस संग्रह में इन्द्रसूक्त में दिखाया गया है कृष्ण और दास वर्ण पारिभाषिक पद हैं और सृष्टि से पूर्व के[71] अन्धकार के द्योतक हैं। ऋग्वेद में दास हेय नहीं हैं वे आर्यों के

---

७१. देखो ऊपर पा३० भूमिका—शूद्रों की स्थिति।

समान स्तर के ही प्राणी हैं। अतः इस समस्या पर पुनः नई दृष्टि से विचार आवश्यक है।

सामाजिक अवस्था

१२८—सूक्तों में इधर-उधर विखरी हुई सामग्री से तत्कालीन सामाजिक अवस्था पर काफी प्रकाश प्राप्त होता है। वंश में पिता सर्वोपरि होता था। कुटुम्ब ही समाज की इकाई और आधार थे। स्त्रियों को बहुत स्वतन्त्रता और सम्मान प्राप्त थे। बहुत से अपराधों का भी वर्णन मिलता है जिन में पशुओं की चोरी प्रमुख थी। ऋण लेने की प्रथा भी थी। इस का एक कारण जुआ खेलना भी था। वस्त्रों में एक उत्तरीय और एक अधोवस्त्र होते थे। ये भेड़ की ऊन से वनाए जाते थे। कड़े, नूपुर, हार और वालियाँ पहनी जाती थीं। लोग डाढ़ी-मूछ रखते थे। कुछ उन्हें मुंडवाते भी थे। भोजन सामग्री में दूध, घी, अन्न, सब्जियाँ और फल प्रमुख थे। आधुनिक कतिपय विद्वान् मानते हैं कि जब यज्ञों में पशुओं की वलि दी जाती थी तभी आर्य लोग मांस खाते थे। डा० मैक्डोनल का विचार है कि सामान्यतः यह मांस गौ का होता था क्यों कि यज्ञों में बैलों की ही वलि विशेष रूप से दी जाती थी। परन्तु यह विचार मान्य नहीं। वेद में कोई ऐसा स्थल नहीं जहाँ निर्विवाद रूप से ऐसी ध्वनि निकाली जा सके।[७२] पशुयज्ञ आलंकारिक है।[७३] हवन की सामग्री भी पशु है।

१२९—दो प्रकार की शराब भी बनाई जाती थी। सोम यज्ञों में

---

७२. देखो सुधीरकुमार गुप्त, ऋग्वेद में मांस भक्षण की समस्या, वेद सम्मेलन, खुरजा अधिवेशन (संक्षेप) तथा सीएसडी०, मीट ईटिंग इन दी ऋग्वेद।

७३. वेभापृ० ६।

पिया जाता था, परन्तु किसी अन्न से निकाली हुई शराब-सुरा सामान्य अवसरों पर प्रयोग की जाती थी। परन्तु यह मत समीक्षणीय है। एक मन्त्र में (ऋ० १।११६।७) में सुरा शराब नहीं हो सकती यह अश्व के शफ से निकाली जाती है। शेष स्थलों पर इसे बुरी दृष्टि से देखा गया है (तु० कु० दुर्मदासो न सुरायाम्)।

व्यवसाय

१३०—भारतीय आर्यों की एक प्रमुख व्यापृति युद्ध थी। यह युद्ध पैदल भी होता था और रथ पर भी। परन्तु ऐसा कोई वर्णन नहीं है कि घोड़ों पर चढ़ कर भी युद्ध किया जाता था। सामान्य शस्त्र बाण और धनुष थे। भाले और कुल्हाड़ी का भी प्रयोग किया जाता था।

१३१—जीवन का प्रधान आधार पशुपालन प्रतीत होता है। अनेक वार गौओं की प्राप्ति के लिए प्रार्थनाएँ की गई हैं। कृषि भी वहुत होती थी। खेतों में हल चलाए जाते थे। इन में बैल जोते जाते थे। अन्न दरांतियों से काटा जाता था और कूट कर साफ किया जाता था।

१३२—हिंसक वन्य पशुओं को जाल में पकड़ा जाता था या धनुष। और बाण से मार दिया जाता था। इस में कुत्तों की भी सहायता ली जाती थी।

१३३—नौकाओं को पतवारों से खेया जाता था। नौका ही नदी तरण का प्रमुख साधन थी। वाणिज्य विनिमय द्वारा होता था जिस का साधन गाय थी। मैक्डोनल के विचार में कुछ व्यवसाय और शिल्प कलाएँ अविकसित रूप में थे। परन्तु ऋभुओं के रथ और चमस के निमार्ण, त्वष्टा और वृबु तक्षा के कार्यों की दृष्टि में यह कथन मान्य नहीं। रथकार और बढ़ई एक ही होते थे। लुहार लोहे को भट्टी पर पिघलाते थे और इस से धातु के बर्तन आदि बनाते थे। चमार पशुओं के चमड़े को

साफ करते थे। स्त्रियाँ घास या मूंज की चटाई वनाती थीं। वे सीती और वुनती भी थीं।

मनोविनोद

१३४—मनोविनोदों में रथों की दौड़ प्रमुख थी। सर्वप्रिय सामाजिक विनोद द्यूत क्रीड़ा था। नाच अधिकतर स्त्रियों में प्रचलित था। लोग संगीत के प्रेमी थे। वे दुन्दुभि, वीणा और बाण का प्रयोग करते थे। गाने का भी उल्लेख मिलता है।

ऋग्वेद का साहित्यिक मूल्यांकन

१३५—सामान्य रूप से ऋग्वेद सरल शैली में लिखा गया है। इस में सामान्यतः समासों का अभाव है। जो समास हैं उन में दो से अधिक पद नहीं मिलते हैं। शब्दों का चुनाव कौशलपूर्ण है। समस्या-मन्त्रों को छोड़ कर सामान्यतः भाव-प्रकाशन में क्लिष्टता और दुरूहता नहीं है। शब्दों से खिलवाड़ भी लक्षित नहीं होती है। ग्रन्थ की प्राचीनता की दृष्टि से यह मानना पड़ेगा कि छन्दों की रचना में महान् कौशल है और भाषा पर पूरा अधिकार है। इस ग्रन्थ की रचना का लक्ष्य यज्ञों में मन्त्रों को प्रयुक्त करना था। उस काल में याज्ञिक रीतियाँ बहुत सरल थीं। वे पर्याप्त विकसित हो चुकी थीं। अतः इसके मन्त्रों में बहुशः उपलब्ध याज्ञिक संकेतों ने इस काव्य के सौंदर्य को बिगाड़ दिया है। यह स्थिति अग्नि और सोम के सूक्तों में सविशेष परिलक्षित होती है। यहाँ पर मिथ्या कल्पनाओं और अस्पष्ट रहस्यमय कथनों का प्रबल प्रभाव है। देवताओं की स्तुतियों में वहुत सुन्दर और उदात्त कल्पनाएँ मिलती हैं। यद्यपि विभिन्न सूक्तों में साहित्यिक गुणों में पर्याप्त भेद है, परन्तु सामान्यतः इस ग्रन्थ का साहित्यिक स्तर पर्याप्त ऊँचा है।

१३६—उषस् सूक्त ऋग्वेद के सुन्दरतम अंशों में से हैं। ये अन्य साहित्यों की धार्मिक गीतियों से किसी अवस्था में अवर नहीं हैं। इन्द्रवृत्र

युद्ध के वर्णन में कतिपय चित्रमय रोचक वर्णन मिलते हैं। मरुत्सूक्तों में स्तनयित्नु, विद्युत् और झंझावात के दृश्यों के वर्णन में ओजस्वी कल्पनाएँ पाई जाती हैं। वरुण के नैतिक शासन के विविध रूपों के वर्णन में काव्य का उत्कृष्ट राग ओतप्रोत हैं। कुछ पौराणिक संवादसूक्त स्थिति को परम ललित भाषा में प्रस्तुत करते हैं यथा सरमा और पणियों तथा यम और यमी के संवादों में। अक्षसूक्त करुणकाव्य का सुन्दर रत्न है। एक सूक्त (१०।९८) में मृत्यु से सम्बन्धित भावों को प्रभावोत्पादक और गम्भीर सौंदर्य से पूर्ण भाषा में व्यक्त किया गया है। नासदीय सूक्त से सुव्यक्त हो जाता है कि गूढ़ दार्शनिक भाव भी उत्तम काव्य का विषय बन सकते हैं।

१३७—यद्यपि ऋग्वेद में पुनरावृत्ति बहुत है। वे ही शब्द और भाव पुनः पुनः आते हैं, परन्तु उस में[१०] विरसता नहीं आने पाई है।

१३८—आधुनिक वेदाध्ययन ऋग्वेद को साहित्यिक काव्य मानता हैं। इस दृष्टि से यह मूल्यांकन ठीक है। परन्तु ऋग्वेद की भाषा शुद्ध साहित्यिक है, वह और कुछ नहीं, ऐसा मानना कठिन हैं। ऋग्वेद के पुनरुक्त अंशों का व्यावर्तन शैली पर अध्ययन बताता है कि वैदिक पद कृत्रिम हैं, वे जान-बूझ कर रची गई परिभाषा हैं, जिन को सामान्य काव्य के पदों के सदृश मानना कदाचित् पूर्णतः समीचीन न हो। परन्तु उन पदों की योजना इस विलक्षण ढंग से की गई है कि आपाततः मन्त्र काव्य के पद मालूम पड़ते हैं और उन में काव्य का महान् आनन्द भी प्राप्त होता है।

ऋगवेद की व्याख्यान पद्धति

१३९—वेद की व्याख्यापद्धति की समस्या वैदिक काल में ही जन्म ले चुकी प्रतीत होती है। आधुनिक अध्ययन में यह मान कर चला जाता है कि वेद ऋषियों की इसी प्रकार की रचनाएँ हैं जिस प्रकार की रचनाएँ कवियों के काव्य होते हैं। वे किसी एक अर्थ को लक्ष्य कर के लिखे गये।

अत: उन का एक ही अर्थ मिलना और होना चाहिए। परन्तु जब ब्राह्मणों पर दृष्टि डालते हैं तो वहाँ अग्नि, इन्द्र आदि पदों के अनेकविध अर्थ दिए गये हैं। इन अर्थों में आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक दृष्टियों के साथ-साथ ऐतिहासिक और नैरुक्त आदि सिद्धान्तों का प्रयोग भी लक्षित होता है। शांखायन आरण्यक में 'चित्रं देवानाम्' मन्त्र के लगभग १३ दृष्टियों से अर्थों का उल्लेख किया है। निघण्टु में वदिक पदों का संकलन, विशेषत: पदनामों का संग्रह वेदाध्ययन में सहायता पहुँचाने के लिए किया गया। निरुक्तकार ने बहुत से वेदार्थ के सम्प्रदायों-नैरुक्त, ऐतिहासिक, आख्यान समय, पूर्व याज्ञिक, याज्ञिक, नैदान, पारिव्राजक, आर्ष आदि का उल्लेख किया है। उन के मत भी दिए हैं और उन की आलोचना भी की है। साथ ही औपमन्यव, शाकटायन, शाकपूनि, स्थौलाष्ठीवि आदि अनेकों वेद व्याख्याताओं के नाम और उन के मतों का निर्देश किया है। वहाँ कौत्स के नाम से मन्त्रों के अर्थहीन होने का विवाद प्रस्तुत कर मन्त्रों की सार्थकता और उन के अध्ययन की उपयोगिता बताई है। वेदार्थ करने के लिए यास्क, स्कन्द और वेंकट माधव ने अपनी-अपनी दृष्टि से वेदार्थ करने के नियम भी दिये हैं। वेंकटमाधव ने तो वेदार्थ की समस्या को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार कर वेदार्थ का एक नया सम्प्रदाय—ऐतिहासिक-पौराणिक चलाया।

१४०—पिछली शताब्दी में जब पश्चिमी विद्वानों को ऋग्वेद का परिचय मिला तो उन को उसे समझने में बड़ी कठिनता हुई। उससे पूर्व वे लौकिक संस्कृत से परिचित थ। परन्तु यह भाषा वेद की भाषा से साम्य रखते हुए भी उस से अनेक बातों में भिन्न है। सौभाग्य से उन्हें सायणाचार्य का वेदभाष्य मिल गया और उस की सहायता से ऋग्वेद का अध्ययन चालू हो गया। पहले तो विद्वानों ने समझा कि सायण ने परम्परा के अनुसार अर्थ दिए हैं। अत: विल्सन आदि ने उस के आधार पर अपने अर्थ प्रस्तुत किए।

१४१—परन्तु शीघ्र ही इस धारणा के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई। इस प्रतिक्रिया के प्रमुख नायक रौथ थे। इन्हों ने सायण के बहिष्कार

का नारा लगाया। उन्हों ने दिखाया कि सायण और यास्क के अर्थ विश्वसनीय नहीं हैं क्यों कि उन का प्रमुख आधार व्याकरण की प्रक्रिया है। सायण वदिक काल से बहुत दूर के युग में हुए। उन को अविच्छिन्न परम्परा नहीं मिली हो सकती। सायण ने यास्कीय निरुक्त को आधार और प्रमाण बनाकर अपना भाष्य रचा है, परन्तु वहुत से मन्त्रों के अर्थ में यास्क स्वयं निश्चयात्मक रूप से नहीं लिख सके हैं और इस कारण वहाँ एक-एक पद के कई-कई अर्थ भी दिए हैं जैसे जातवेदस् के पाँच अर्थ। उस का कोई प्रामाणिक आधार नहीं था। उस ने बहुत से आचार्यों और वेदार्थ सम्प्रदायों को उद्धृत किया है जिन में परस्पर महान् मतभेद लक्षित होता है। नासत्यौ का व्याख्यान और्णवाभ ने 'सत्य, असत्य नहीं', आग्रायण ने 'सत्य के प्रणेता' और स्वयं यास्क ने 'नासिका से उत्पन्न' किया है। जब यास्क सन्देह में होते हैं तो वे निर्वचन का आश्रय लेते हैं। उन के व्याख्यान बहुधा कल्पनामात्र हैं। यह अवश्य है कि सायण की अपेक्षा यास्क के पास वेदव्याख्यान के अधिक अच्छे और विश्वस्त साधन रहे होंगे।

१४२—सायण ने अपने भाष्यों में कई बार यास्क से भिन्न अर्थ किया है। इन दोनों में से एक ही शुद्ध हो सकता है। अतः या तो यास्क भूल करते हैं अथवा सायण ने परम्परा का उल्लंघन किया है। सायण ने एक ही पद के एक ही स्थान पर अथवा विभिन्न स्थलों पर एक दूसरे से भिन्न व्याख्यान दिए हैं—यथा असुर 'दिव्य सत्ता' के अर्थ 'शत्रुओं का नाशक, शक्तिदायक, जीवन देनेवाला, अनिष्ट का नाशक, पुरोहित, प्राणहारक, जलप्रद, जल निकाल लेनेवाला' आदि दिए हैं।

१४३—अतः सायण और यास्क ऋग्वेद के बहुत से पदों के विषय में निश्चित ज्ञान से वञ्चित थे। इस कारण उन अर्थों को सम्भावना, प्रकरण और समान वाक्यों से पुष्ट होने पर ही स्वीकार किया जा सकता है।

१४४—इस प्रकार सायण और यास्क के अर्थों का तिरस्कार और

वहिष्कार कर के भाषाविज्ञान के प्रवर्तक रौथ ने आलोचनात्मक शैली का प्रतिपादन किया। उन्हों ने प्रकरण, व्याकरण और निर्वचन की दृष्टि में रूप और भाव में समान समस्त पदों की सूक्ष्म तुलना रूप अन्तः-साक्षी पर अर्थनिर्णय का मार्ग निकाला। इस में लौकिक संस्कृत से तुलना करते हुए वैदिक भाषा के ऐतिहासिक अध्ययन और भाषाविज्ञान तथा अवैस्ता से प्राप्त सामग्री का प्रयोग स्वीकार किया। इस शैली के क्रियात्मक प्रयोग में रौथ ने भारतीय परम्परा की साक्षियों की उपेक्षा की और निर्वचन पर विशेष वल दिया है।

१४५—रौथ की इस शैली के विरुद्ध भी एक प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई। पिश्चल, गेल्डनर और सीग आदि ने वैदिक सूक्तों को विशुद्ध भारतीय माना और उन के अर्थ को प्रत्यग्वैदिक साहित्य और उस में वर्णित परम विकसित संस्कृति से सम्बद्ध किया।

१४६—डा० मैक्डोनल लिखते हैं कि आधुनिक समालोचनात्मक वेदाध्यायी को केवल वही सामग्री उपलब्ध नहीं है जो परम्परागत शैली के पण्डित को सुलभ थी जिस पर वह शोध की तुलनात्मक और ऐतिहासिक शैली का प्रयोग कर सकता है, प्रत्युत आज उस के पास ऐसी बहुमूल्य सहायक सामग्री है जो प्राचीन परम्परा को उपलब्ध नहीं थी। यह सामग्री अवैस्ता, तुलनात्मक भाषाविज्ञान, तुलनात्मक धर्म और पुराण (माइथोलौजी) तथा नृवंशविद्या (ऐथ्नौलौजी) है। यह आशा की जाती है कि आलोचनात्मक शैली और उपलब्ध समस्त सामग्री के निष्पक्ष प्रयोग से ऋग्वेद के अधिकांश भाग की अस्पष्टता और दुर्बोधता दूर हो जायेंगी।[७४]

१४७—यह नई शली कर्मप्रधान (औब्जैक्टिव) अभीष्ट है, परन्तु क्रियात्मक प्रयोग में यह व्यक्तित्व प्रधान है। वस्तुतः आधुनिक वेदाध्ययन

---

७४. वैरी० पृ० XXX—XXXI

में व्यक्तित्व को कतिपय सीमाओं में खुली छुट्टी है। इस में वैदिक विषयों के व्याख्यान विद्वानों ने अपनी-अपनी भावनाओं के अनुरूप किए हैं। डा० आर० एन० दाण्डेकर ने वहुत ठीक कहा है कि वेदाध्ययन में विद्वानों ने वेद की उत्पत्ति और स्वरूप के सम्बन्ध में धारणाओं के अनुरूप विभिन्न शैलियों का प्रयोग किया है। उदाहरण के लिए ए० वर्गग्ने वेद और आख्यान में अन्योन्याश्रय सम्वन्ध मानते हैं। अरविंदघोष का विचार है कि वेद रहस्यवादी और प्रतीकात्मक रचना है। जे० हौवेर वेद का अर्थ अवैस्ता के रहस्यवादी और दार्शनिक व्याख्यान द्वारा करना चाहते हैं। आ० कु० स्वामी वेदाध्ययन में रहस्यवादी अध्ययन और संसार की रहस्यवादी रचनाओं का पूर्णज्ञान विशेष आवश्यक समझते हैं। वे इस अध्ययन में उपनिषदों का विशेप महत्त्व स्वीकार करते हैं। डा० वा० श० अग्रवाल अध्यात्मविद्या के अनुसार वेदार्थ करना चाहते हैं। डा० फतहसिंह ने दार्शमिक पृष्ठभूमि पर व्याख्यान किया है।

१४८—तुलनात्मक भाषाविज्ञान विभिन्न भायो० भाषाओं में समान पदों की तुलना कर के उन के समान भावों का अध्ययन करता है और उन समान भावों को मूल अर्थ मान कर उन के आधार पर वेदार्थ करता है। उदाहरण के लिए सं० अग्नि, लैटिन इग्निस्, सं० वरुण और ग्रीक ओरेनोस् के अर्थ क्रमशः आग और वरुण ही हो सकते हैं। परन्तु ये निष्कर्ष तभी यथार्थ और प्रामाणिक हो सकते हैं जव सव देशों और जातियों में एक सी अनुकूल प्राकृतिक, धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक, दार्शनिक—संक्षेप में सांस्कृतिक परिस्थितियों में भाषा का विकास हुआ हो। वह भाषा का विकास भी एक निश्चित स्तर पर निश्चित अवधि में निश्चित नियमों के अनुसार हुआ हो। अन्यथा भाषाविज्ञान के समस्त निष्कर्ष कल्पनामात्र रहेंगे। यदि वे परम्परागत अर्थों को पुष्ट करते हैं तो ठीक, अन्यथा वे त्याज्य ही हैं। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। भाषाओं के विकास की भौतिक और सांस्कृतिक स्थितियाँ और गतियाँ समान नहीं हैं। शब्दों के अर्थों की

सम्पत्ति में ह्रास और वृद्धि होते हैं। नये अर्थों का विशेष परिस्थितियों में शब्द के प्रयोग से पूर्व एक भाषा में विकास हो जाता है। दूसरी भाषा में वे परिस्थितियाँ उत्पन्न ही नहीं हुई, तो वह अर्थ वहाँ मिल ही नहीं सकता।

१४९––भाषाविज्ञान का वेदार्थ विषय में प्रयोग भी बड़े अनुचित रूप में किया गया है। प्रो० राजवाड़े और डा० प्राणनाथ का भाषा विज्ञान के आधार पर वेदमन्त्रों का अर्थ उपहासास्पद ही कहा जा सकता है। भाषा-विज्ञान के नियमों के आधार पर वेदमन्त्रों के मूलरूप के निर्माण का पादरी एस्टलर का प्रयास ठीक ऐसा ही है जैसा कि यह कहा जाए कि तुलसीदास और शेक्सपियर, कालिदास और गेटे आदि महाकवियों की भाषा में बहुत विकार आ गया है, उस को समझने के लिए उस का मूल स्वरूप निर्माण करना आवश्यक है।

१५०––वेद के पद परम कृत्रिम हैं। वे साहित्यिक नहीं। उन की परिभाषाएँ भाषाविज्ञान से नहीं सुलझ सकतीं। उदाहरण के लिए मृत्यु के अपैण्डिसाइटिस नामक रोग, क्षीर के फटे दूध का पानी, मण्डूक के प्राण, सिन्धु के धमनी, वरुण के क्लोम और सविता के यकृत् अर्थ भाषाविज्ञान देने में असमर्थ रहा है। वेद में 'एक पद का एक ही अर्थ हो सकता है' के भाषाविज्ञान के नियम ने बड़ी समस्याएँ उत्पन्न की हैं। इस को समझने के लिए वृष पद के प्रयोगों पर दृष्टि डाली जा सकती है।

१५१––डा० वूलनर के मत में भाषाविज्ञान से और तुलनात्मक शैली पर अर्थ करने के लिए ज्योतिष, भूगर्भ विद्या, मानवविज्ञान, प्रागितिहास, लोक साहित्य, पुरातत्त्व और भाषाशास्त्र के निष्कर्षों और उन के आधारों का साक्षात् ज्ञान परम अनिवार्य बताया है। परन्तु प्रयोग में इस सिद्धान्त का स्थान नगण्य है।

१५२––आधुनिक शैली में भारतीय परम्परा की घोर उपेक्षा की जाती है। इस कारण मन्त्रों और पदों से असम्बद्ध भावों की उन में कल्पना की गई

है। वेद का इन्द्र ईरान का रुस्तम बना दिया गया है, इन्द्रसेना नल और दमयन्ती की पुत्री और शिश्नदेवाः लिंगपूजकों का नाम।[७५]

१५३--डा० देशमुख ने दिखाया है कि अवैस्ता[७६] प्रत्यग्वैदिक ग्रंथ है। उस का कोई अंश अपरिवर्तित रूप में--मूलरूप में उपलब्ध नहीं है। पिछला ईरानी धर्म वेद में उपलब्ध भारतीय-ईरानी धर्म से भिन्न है। अवैस्ता में इसी पिछले धर्म और अर्वाचीन सामग्री की प्रधानता है। अवैस्ता की भाषा में भी अन्तर आ गया है। वैदिक देव और असुर अवै० के दइव और अहुर से भिन्न ही कहे जा सकते हैं। वेद में अवैस्ता के अहुरमज्दा के समान कोई देवता नहीं है। वहाँ वैदिक द्यौः और वरुणः नहीं के बराबर हैं। अवैस्ता में कोई ऐसा वाक्य नहीं जो पूरा मन्त्र हो। भाषाविज्ञान के आधार पर विभिन्न कल्पनाओं को जन्म मिला है। जरथुष्ट्र जरदष्टि, जरद्-उष्ट्र, जरत्-त्वष्टा से सम्बद्ध किया गया है। वैसे भी अवैस्ता का अर्थ भी अनिश्चित प्रायः है। स्वयं अवैस्ता के अर्थ करने के लिए वेदाध्ययन आवश्यक माना गया है।

१५४--तुलनात्मक आख्यान, मानव और धर्म विज्ञानों का लक्ष्य सब धर्मों में समानता और विषमताओं के कारणों की खोज करना है। इन में वेदार्थ गौण स्थान रखता है। साथ ही यहाँ वेद को किसी भावविशेष को खोजने के लिए पढ़ा और व्याख्यान किया जाता है। वह निष्पक्ष अध्ययन

---

७५. देखो सीएसडी०, दी मैथड औफ इण्टरप्रैटेशन औफ दी वेदाज़।

७६. यह पारसियों की धर्म पुस्तक है और उन को इसी प्रकार मान्य है जैसे हिन्दुओं को वेद। यह ईरानी धर्म संस्थापक जरथुष्ट्र की रचना मानी जाती है। इस की भाषा वैदिक संस्कृत से मिलती-जुलती है। भावों में भी दोनों में महान् साम्य प्रतिपादित किया गया है।

नहीं है। उदाहरण के लिए वैदिक ऋत और अर्त को एक मानना तथ्यों का तिरस्कार करना है।

१५५—इतिहास और पुराण को भी 'इतिहास-पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयत्। बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥'[७७] के लेख के आधार पर वेदार्थ में सहायक माना गया है। निरुक्त में इतिहास और आख्यान पद समानार्थक हैं। अथर्ववेद में पुराण सृष्टिविद्या का द्योतक है। यदि इस पद्य में ये अर्थ अभीष्ट हैं, तब ठीक है। परन्तु सामान्यतः पुराण से १८ पुराण और इतिहास से उन में तथा अन्यत्र वर्णित लौकिक इतिहास समझा जाता है। उन से वेदार्थ असम्बद्ध और जटिल हो जाता है। उदाहरण के लिए ऋ० १।३१।११ में ऋषि हिरण्यस्तूप अपने से छै पीढ़ियों के पश्चात् होने वाले 'आयु' का वर्णन करते हैं।[७८] आख्यानों की वैदिक पृष्ठभूमि से भी वेदार्थ में कोई सहायता नहीं मिलती है। हाँ, यह सम्भव है कि पौराणिक आख्यानों का भाव खोला जा सके।[७९]

१५६—पं० चन्द्रमणि पालीरत्न ने पाली भाषा की सहायता से वेदार्थ करने का सुझाव दिया है। परन्तु उन के समस्त उदाहरणों में कोई ऐसा नहीं जो वेदार्थ पर कोई नवीन प्रकाश डालता हो। वस्तुतः यह भाषाविज्ञान के अन्तर्गत ही है। अतः इस के निष्कर्ष पोषक प्रमाण के रूप में परम सहायक हो सकते हैं।[८०]

---

७७. वसिष्ठ धर्मसूत्र २७।६।

७८. देखो सुधीरकुमार गुप्त—ऋग्वेद में इतिहास नहीं, ऋग्वेद का धर्म में संकलित।

७९. हमारी मेघदूत की वैदिक पृष्ठभूमि और उस का सांस्कृतिक सन्देश में कुछ पौराणिक आख्यानों का व्याख्यान किया गया है।

८०. देखो चन्द्रमणि, वेदार्थ करने की विधि।

१५७. कुछ विद्वानों का विचार है कि वेदमंत्रों का प्रधान लक्ष्य यज्ञ में विनियोग है। अतः मूलतः उन का याज्ञिक व्याख्यान अभिप्रेत है। निरुक्त में भी ऐसे दो सम्प्रदायों—पूर्व याज्ञिक और याज्ञिकों का निर्देश है। दोनों सम्प्रदायों में यह अन्तर स्पष्ट लक्षित होता है कि पूर्व याज्ञिकों के व्याख्यानों में कर्मकाण्ड का पुट पर्याप्त कम है। अतः यज्ञ 'हवन आदि' वेदमंत्रों का प्रमुख विषय या लक्ष्य नहीं। वास्तव में वेद में यज्ञ पद बहुत व्यापक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। वह प्रत्येक कल्याणकारी ज्ञान, कर्म और भाव आदि का द्योतक है।

१५८—ऋग्वेद के पुनरुक्त अंशों में वेदार्थ और ऋषियों की अभीष्ट वेदार्थशैली पर पुष्कल सामग्री मिलती है। इन अंशों में उपलब्ध पर्यायवाची पदों के समानार्थक होने का आधार निर्वचन हैं। वहाँ स्वतन्त्र रूप में भी कतिपय निर्वचन दिये गये हैं। ऋषि, देवता और छंदों के नाम साधारण पद हैं, व्यक्तिवाचक संज्ञाएँ नहीं हैं। वहाँ समस्त देवों में एकता है। सर्वत्र एक सत् की ही भावना पाई जाती है। शाखाओं में यह शैली अक्षुण्ण रूप में पाई जाती है। ब्राह्मण ग्रन्थों और निरुक्त में इस शैली का विस्तार और क्रियात्मक प्रयोग दिया गया है। उपनिषदों, पदपाठ, वेदांगों, अनुक्रमणियों, छः दर्शनों और स्मृतियों में भी यही शली परिलक्षित होती है।

१५९—परम्परा की अविच्छिन्नता भी एक विचित्र पद समूह है। आज भी रहस्यवादी कविताओं के भी एक से अधिक अर्थ निकलते हैं। किस भावना को ले कर कवि ने रचना की है, यह बात समस्त पाठकों को ज्ञात नहीं होती है। इस का यह अर्थ नहीं कि अर्थ की परम्परा विच्छिन्न हो गई है। विभिन्न विद्वान् अपनी-अपनी भावनाओं से अनुप्राणित हो कर अर्थ करते हैं और इन अर्थों का विस्तार और प्रसार उन की शिष्य परम्परा से होता रहता है। कवि स्वयं व्याख्या नहीं करते हैं। यदि करते हैं तो श्रोताओं की ग्रहण और विस्तार शक्ति के अनुरूप काव्यार्थ का विकास और ह्रास होता रहता है। यही स्थिति प्राचीन साहित्य, विशेषतः ब्राह्मण ग्रन्थों और निरुक्त में

उपलब्ध वेद व्याख्यानों की है। वहाँ विभिन्न आचार्यों के विभिन्न दृष्टियों से अर्थ मिलते हैं। आदि से ही वेद को परम कृत्रिम रचना बनाया गया। उस की परिभाषाओं को उस से सम्बन्धित निकटतम साहित्य से ही जाना जा सकता है। उदाहरण के लिए हिरण्यपाणिः—ज्योतिर्मय, नासत्यौ=नासिकाप्रभवौ=प्राण और अपान के भावों को ब्राह्मण ग्रन्थ ही स्पष्ट करते हैं।

१६०—अतः वेदमंत्रों में प्राप्त वेदार्थ शैली—जिस का शाखा संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनिषदों, निरुक्त, दर्शन, स्मृति, अनुक्रमणियों और वेदांगों में विस्तार किया गया है, तथा जो निर्वचन प्रधान है—ही अवलम्बनीय है। शेष सब सामग्री पोषक प्रमाण के रूप में ही प्रयोज्य है। वेंकट माधव ने एक नई शैली—ऐतिहासिक-पौराणिक का सूत्रपात किया है। अतः इन के भाष्य का प्रयोग परम सावधानी की अपेक्षा रखता है।

प्रस्तुत संग्रह के देवताओं का स्वरूप

विष्णु का स्वरूप

१६१—वेद की व्याख्यान शैली के अनुरूप विष्णु आदि देवताओं का स्वरूप भी बदल जाता है। ब्राह्मण ग्रन्थों ने विष्णु को यज्ञ, सोम अन्न, वीर्य, प्रादेशमात्र गर्भ, दिन और रात के बीच का समय, देवों में श्रेष्ठ, सब देवों का द्वाररक्षक, आशाओं (=दिशाओं) का पति, यज्ञ के दुरिष्ट का रक्षक, श्रोत्र, पुरुष और यूप आदि समझा है। दयानन्द सरस्वती इसे परमात्मा, महात्मा, मेधावी, अग्नि, विद्युत्, शिल्पविद्याव्यापनशील पुरुष, सूर्य, वायु, धन, जय, व्यान, सेनेश, धनञ्जय और हिरण्यगर्भ समझते हैं। सामान्यतः इसे √विश् व्याप्त होना से व्युत्पन्न किया जाता है।[८१]

१६२—परन्तु आधुनिकों की दृष्टि एकदम भिन्न है। इस दृष्टि में ऋग्वेद में विष्णु का स्थान गौण है। इस की स्तुति केवल पाँच सूक्तों में की गई है। इस के पुरुषविध रूप और वर्णन भी अल्प हैं। वह तीन पद चलता है। वह विशालकाय युवा है, बच्चा नहीं है। इस का प्रमुख कर्म तीन पदक्रमण है। इसी कर्म के लिए उसे उरुक्रम (विस्तृत पदों वाला) और उरुगाय (दूरदेशगामी) कहा गया है। इन तीन चरणों से वह समस्त पार्थिव लोकों को पार कर लेता है—'पार्थिवानि विममे रजांसि'[८२]। इस के दो पद मानवों को दिखाई देते हैं, तीसरा उच्चतम पद पक्षियों के उड़ान और मनुष्यों की पहुँच के परे है। इस का परम पद द्युलोक में नेत्रवत् जमा हुआ है। यह परम प्रकाशमान है—'परममवभाति भूरि'। यह पद उस का

---

८१. देखो आगे मंसं० १।१।

प्रिय निवास है––'तदस्य प्रियमभि पाथः'। पुण्यात्माएँ और देवता यहाँ आनन्दमग्न रहते हैं––'नरो यत्र देवयवो मदन्ति'। विष्णु के ये तीन पद सूर्य की तीनों लोकों––पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक में गति का वर्णन करते हैं।

१६२ अ––विष्णु चक्र के समान अपने ९० घोड़ों (=दिनों) को उन के चार नामों (=चार ऋतुओं) के साथ घुमाता है। इस प्रकार वह वर्ष के ३६० दिनों का नियामक है। आदि में यह सूर्य की गति का ही पुरुषविध रूप रहा होगा। विष्णु इन पदों को जनहित के निमित्त चलता है। इन से मनुष्यों की स्थिति बनी रहती है और रहने के लिए पृथिवी रूप घर मिलता है।

१६३––विष्णु के गौण रूपों में से प्रमुख कर्म उस की इन्द्र से मैत्री है। वह बहुधा इन्द्र की वृत्रवध में सहायता करता है। विष्णु सूक्तों में केवल इन्द्र ही निपात देवता है। एक सूक्त में दोनों की सम्मिलित स्तुति की गई है। इन्द्र का सहायक होने के नाते विष्णु की इन्द्र के साथी मरुतों के साथ एक सूक्त में स्तुति की गई है।

१६४––इस संग्रह में संकलित सूक्त में टिप्पणियों के अनुसार विष्णु सृष्टि के पहले भी विद्यमान 'एकं सत' है। वह सृष्टि रचना के लिए प्रकृति के परमाणुओं को स्थूल और रजोगुण प्रधान बनाता है––'यः पार्थिवानि विममे रजांसि'। इन गतिशील बने हुए परमाणुओं को वह जीवात्मा के सम्पर्क में लाता है––'यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थम्'। वह प्रकृति के सत्त्व, रजस् और तमस् गुणों से सब कुछ को व्याप्त कर देता है––'विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः'। तथा 'यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा।' वह खोजने योग्य (मृगः), सौम्य (न भीमः), वाणीरूप(कुचरः)वह हृदयों में स्थित है (गिरिष्ठाः)। उस की प्राप्ति गुरु और उपदेशकों से ज्ञान प्राप्त कर के हो सकती है––'ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै.....अत्राह तदुरुगायस्य परमं पदमवभाति भूरि॥'

इन्द्र का स्वरूप

१६५—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इन्द्र को परमेश्वर, सूर्य, वायु, विद्युदादिपरमैश्वर्ययुक्त विद्वान्, विद्वान् सभाध्यक्ष, जीव, राजा, सेनाध्यक्ष, ऐश्वर्य प्राप्ति के लिए कर्म करने वाला पुरुष, न्यायाधीश, शूरवीर, योधा, प्राण, दुष्ट शत्रुओं का नाशक, दुःखों का नाशक, अग्नि, स्तनयित्नु, पृथिवी पर राज्य देने वाला, ऐश्वर्यप्राप्ति, विद्युद्रचित शस्त्र आदि समझा है। ब्राह्मण ग्रंथों में इसे तपन सूर्य, आदित्य, आकाश, वाक्, वायु, प्राण, हृदय, मन, यजमान, क्षत्र, अशनि, ब्रह्म, प्रजापति, देवलोक, वीर्य, शिश्न, उद्गाता, और अश्व आदि कहा है।

१६६—इस की व्युत्पत्तियाँ अनेकविध हैं। सब में √इन्द् धातु से व्युत्पत्ति ही अधिक आदरणीय है।[८२]

१६७—आधुनिक दृष्टि से यह वीर देवता ऋग्वेद में सर्वप्रमुख हैं। इस के सूक्त सब से अधिक हैं। यह वैदिक आर्यों का राष्ट्रीय देवता है। यह सब देवताओं से अधिक पुरुषविध वर्णनों से युक्त किया गया है। आख्यानिक कल्पनाएँ भी इसी के सूक्तों में सर्वाधिक समृद्ध हैं। मूलतः यह घोर तूफानी वर्षा और गर्जन का देवता है। यह अन्धकार के राक्षस का हनन कर के जलों और प्रकाश की किरणों को मुक्त करता है। अपने गौण रूप में यह युद्ध का देवता है और आर्यों को अनार्यों से युद्ध में सहायता दे कर उन्हें विजय दिलाता है।

१६८—उस के शारीरिक अंगों का बहुधा वर्णन किया गया है। सोम पीकर वह अपने जबडों और श्मश्रु को गति देता है । उस के पेट का भी बहुधा वर्णन किया गया है। उस का रंग हरा (हरि) है। उस के बाल

---

८२. देखो आगे मंसं० ७।१४

और डाढ़ी-मूछ भी हरे हैं। वह वज्रबाहु और वज्रहस्त है। यह वज्र विजली ही है। वज्र ही इन्द्र का एकमात्र आयुध है। इस वज्र को त्वष्टा ने लोहे (आयस) का बनाया था। यह सुनहरी, तीक्ष्ण और अनेकों धाराओं वाला है। कभी-कभी इन्द्र को धनुष और बाण से युक्त भी कहा गया है। वह अंकुश भी रखता है।

१६९—उस का रथ सुवर्णमय है। उस में दो घोड़े (हरि) जोते जाते हैं। वह रथेष्ठा योधा है। ये रथ और घोड़े ऋभुओं ने बनाए थे।

१७०—सोम इन्द्र का अभिमत पेय पदार्थ है। इस के बराबर और कोई देवता सोम नहीं पीता। इसी लिए यह सोमपा है। सोम उसे युद्धों के लिए उत्साह और शक्ति देता है। वृत्र को वध करने के लिए वह तीन कद्रू (=तालाब) सोम पी जाता है। एक सूक्त (१०।११९) में सोम की मस्ती में इन्द्र अपनी शक्ति और महिमा की उद्घोषणा करता है।

१७१—वहुधा उसे उत्पन्न हुआ कहा गया है। दो सूक्तों में उस के जन्म का वर्णन किया गया है। उस का पिता द्यौः मालूम होता है। कुछ मन्त्रों में वह त्वष्टा प्रतीत होता है। अग्नि और पूषन् इन्द्र के भाई हैं। उस की पत्नी इन्द्राणी है। मरुत् इन्द्र के प्रमुख सहायक हैं। वह इसी लिए मरुत्वान् इन्द्र कहलाता है। युग्मों में अग्नि, विष्णु, वायु, सोम, वरुण, वृहस्पति, पूषा और विष्णु के साथ इन्द्र की स्तुति की गई है।

१७२—इन्द्र वृहदाकार है। वह दस गुना पृथिवी से भी अधिक बड़ा है। देवता और मनुष्य उस की सामर्थ्य की सीमा को नहीं पहुँच पाते हैं। कोई देवता उस के समान नहीं है। इसी कारण उसे शक्र, शचीवान्, शचीपति और शतक्रतु कहा गया है।

१७३—सोमपान से समर्थ हो कर मरुतों के साथ वह अनावृष्टि के प्रमुख असुर वृत्र पर आक्रमण करता है। वृत्र को बहुधा अहि भी कहा

गया है। इस युद्ध के समय द्युलोक और पृथिवीलोक काँप उठते हैं। वह वृत्र को वज्र से मार कर अप्सुजित् कहलाता है। यह युद्ध पुनः पुनः होता है। इस के फलस्वरूप जल मुक्त हो जाते हैं। ये जल बहुधा पार्थिव हैं। कभी-कभी आकाशस्थ और द्युलोकस्थ भी बताए गए हैं। बादल ही पर्वत, अद्रि या गिरि हैं जहाँ वृत्र रहता है। जलों को गौ भी कहा गया है और जल-युक्त बादलों को भी। बादलों को ही उत्स, कबन्ध और कोश कहा गया है। वे आकाशीय असुरों के पुर हैं। ये पुर गतिशील हैं, शारदी, लोहे या पत्थर के बने हुए और ९०,९९ या १०० हैं। इन्द्र इन्हें नष्ट करता है। इन कर्मों के कारण वह पूर्भिद् और वृत्रहन् कहलाता है।

१७४—वृत्रवध से प्रकाशप्राप्ति का भी सम्बन्ध बताया गया है। वृत्र को मार कर जलों को मुक्त कर के इन्द्र सूर्य को आकाश में ऊँचा चमकाता है। अनेक बार वृत्र के युद्ध का कोई उल्लेख नहीं किया गया है। केवल इन्द्र को प्रकाश लाने वाला ही कहा है। वह उषस् और सूर्य को उत्पन्न करता है और इन से अन्धकार का अनावृत कर देता है।

१७५—इन्द्र अनेकों महान् सृष्टिकर्मों का सम्पादक भी है। वह चञ्चल पर्वतों और पृथिवी को स्थिर करता है—'यः पृथिवीं व्यथमानाम-दृहंद् यः पर्वतान् प्रकुपिताँ अरम्णात्।' वह दृति के समान द्युलोक और पृथिवीलोक को पृथक्-पृथक् धारण करता है। उस ने एक क्षण में असत् को सत् बना दिया। कई बार द्युलोक और पृथिवीलोक के पृथक्करण और धारण को वृत्रवध का परिणाम भी बताया गया है।

१७६—योधा इन्द्र की बहुधा स्तुति करते हैं—'यं क्रन्दसी संयती विह्वयेते। समानं चिद्रथमातस्थिवांसा नाना हवेते।' वह आर्यवर्ण की रक्षा करता है।—'आर्यं वर्णमावत्' और दास वर्ण को वशीभूत करता है—'दासं वर्णमधरं गुहाकः'। उस ने ५०.००० कृष्ण वर्णों का वध किया, दस्युओं को आर्यों के अधीन कर के उन्हें भूमि दी।

१७७—इन्द्र भक्तों का रक्षक, सहायक और मित्र है—'यः सुन्वन्तमवति यः पचन्तं यः शंसन्तं यः शशमानमूती'। वह उन्हें धन देता है—'यः सुन्वते पचते वाजं दर्दर्षि।' इसी लिए वह मघवा है।

१७८—वह उषस् के रथ का भंजक है। वह सूर्य के घोड़ों को रोकनेवाला है। वह सोम को जीतता है। श्येन उसी के लिए स्वर्ग से सोम लाता है।

१७९—ऋग्वेद में सुदास् आदि के लिए पार्थिव शत्रुओं से युद्ध करने की कथाएँ भी इन्द्र से सम्बद्ध की गई हैं।

१८०—इन्द्र के विशेष गुण प्राकृतिक जगत् पर शासन और भौतिक उत्कर्ष हैं। वह उत्साही, कर्मों में उग्र, दुर्धर्ष योधा, मानव जाति को खुले मन से समृद्धि देने वाला है। साथ ही वह इन्द्रियासक्त और कुछ दृष्टियों से अनैतिक भी है। वह अत्यधिक खाने-पीने वाला है। अपने ही पिता त्वष्टृ का वध करता है। वह वरुण से भिन्न स्वभाव का है। वरुण ऋग्वेद में शान्ति, ऋत और व्रतों का व्यवस्थापक है।

१८१—इन्द्र प्राग्भारतीय है क्यों कि अवैस्ता में यह एक राक्षस है। वहाँ भी वेरेत्रघ्न (=वृत्रहन्) विजय का देवता है यद्यपि वह इन्द्र से सम्बन्धित नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि भारत-ईरानी काल में वैदिक इन्द्र के अनुरूप एक वृत्रहन्ता देवता था।

१८२—इस संग्रह के सूक्त में इन्द्र विष्णु, और पुरुष के अनुरूप स्रष्टा और धर्ता के रूप में वर्णित किया गया है। वह सृष्टि के पहले से विद्यमान है। मनस्वी और अपनी सामर्थ्य से देवों को प्रकाश देने वाला है—'देवः देवान् क्रतुना पर्यभूषत्'। वह सृष्टि के पहले के प्रकाश के अवरोधक अन्धकार को नष्ट कर के समस्त परमाणुओं में गति लाता है और सृष्टि रचना करता है—'येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि यो दासं वर्णमधरं गुहाकः'। वह द्युलोक,

पृथिवीलोक, जल आदि, चारों वर्णों और समस्त प्राणियों का शासक है। जो पापी और नास्तिक हैं उन्हें उन के पुण्यों के क्षय द्वारा धीरे-धीरे नष्ट करता है—'यः शश्वतो मह्येनो दधानानमन्यमानाञ्छर्वा जघान'। वह ही वनस्पतियों को उगाता और बढ़ाता है—'यो रौहिणमस्फुरद्।'

पुरुष का स्वरूप

१८३—यह पुरुष सूक्त का देवता है। यह सूक्त दार्शनिक है और सृष्टिरचना विषयक छः सूक्तों में से एक है। इस में देवता सृष्टि-यज्ञ करते हैं। इस यज्ञ की सामग्री पुरुष स्वयं है। यहाँ सृष्टि को यज्ञ के रूप में कल्पित किया गया है जिस में पुरुष ही वलि का पशु है। उस के शरीर से काटे गये अंग ब्रह्माण्ड के अंश बन जाते हैं।

१८४—इस सूक्त के भाषा और विषय स्पष्ट इंगित करते हैं कि यह सूक्त अर्वाचीन है। इस को तीनों वेदों का ज्ञान है। यह उन का नाम लेता है और ऋग्वेद में पहली बार चारों वर्णों का उल्लेख करता है। इस में धार्मिक दृष्टि भी प्राचीन भागों से भिन्न है। यह विराड्-वादी है—'पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्'।

१८५—इस संग्रह की टिप्पणियों के अनुसार 'पुरुष' बहुविध शक्तियों से युक्त है। वह धारक और ग्रसन शक्तियों से संसार में व्याप्त रहता है। यह ब्रह्माण्ड उस का चतुर्थांश है। तीन चौथाई भाग अमर और मानव की पहुँच से वाहर है। पुरुष से विराट् उत्पन्न होता है, परन्तु दोनों में श्रेष्ठ पुरुष ही रहता है—'विराजो अधि पूरुषः'। पुरुष सृष्टि की साधक शक्तियों—जीव और प्रकृति के द्वारा अपने को साधन वना कर सृष्टि करता है। उसी से सव पशु आदि भौतिक पदार्थ और ऋग्वेदादि ज्ञानमय पदार्थों की उत्पत्ति होती है। जव उस ने यह सृष्टि रची तो विभिन्न, शक्तियों के कारण उस के नाम ब्राह्मण, क्षत्रिय, वश्य, शूद्र, चन्द्रमा, सूर्य, इन्द्र, अग्नि,

वायु, अन्तरिक्ष, द्यौः, भूमि और दिशः हो गये। इस यज्ञ में जो भावनाएँ और शक्तियाँ थीं वे ही संसार की धारक और आनन्द का स्रोत हैं—

'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा-
स्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त
यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥'

———

ॐ

ऋ० १।१५४—विष्णुसूक्तम्

ऋषिः—दीर्घतमाः । देवता—विष्णुः । छन्दः—त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

संहितापाठः	पदपाठः
१. विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र वोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि । यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः ॥१॥	विष्णोः। नु। कम्। वीर्याणि। प्र। वोचम्। यः। पार्थिवानि। विऽममे रजांसि। यः। अस्कभायत्। उत्ऽतरम्। सधऽस्थम्। विऽचक्रमाणः। त्रेधा। उरुऽगायः ॥१॥

सायणभाष्यम्—"विष्णोर्नु कम्" इति षड्-ऋचं पञ्चदशं सूक्तं दैर्घतमसं त्रैष्टुभं वैष्णवम्। अत्रानुक्रमणिका—"विष्णोः षड् वैष्णवं हि" इति। अभिप्लव-षडहेषूक्थ्येषु तृतीयसवने स्तोमवृद्धावच्छावाकस्य स्तोमातिशंसनार्थम् इदमादि-सूक्तद्वयं विनियुक्तम्। 'स्तोमे वर्धमाने' इति खण्डे सूत्रितम्—"विष्णोर्नु कम् इति सूक्ते परो मात्रयेत्यच्छावाकः" (आश्व० श्रौ० ७।९) इति। तथा तृतीयसवने सोमातिरेक उत्तरोत्तरसंस्थोपगन्तव्या आतिरात्रात् ततोऽप्यतिरिक्ते तदर्थमेव शस्त्र-मुपजनयितव्यम्। तत्रैतदेव सूक्तम्। "सोमातिरेके" इति खण्डे सूत्रितम्—"महाँ इन्द्रो नृवद्विष्णोर्नु कम्" (आश्व० श्रौ० ६।७) इति। आग्निमारुतशस्त्रे आद्या विनियुक्ता। "अथ यथेतम्" इति खण्डे सूत्रितम्—"विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र वोचं तन्तुं तन्वन्रजसो भानुमन्विहि" (आश्व० श्रौ० ५।२०) इति॥

हे नरा विष्णोर्व्यापनशीलस्य देवस्य वीर्याणि वीरकर्माणि नु कमति-शीघ्रं प्रवोचम्। प्रब्रवीमि। अत्र यद्यपि नुकमिति पदद्वयं तथापि, यास्केन "नवोत्तराणि पदानि" (निघं० ३।१२) इत्युक्तत्वात्, शाखान्तर एकत्वेन पाठाच्च, नु इत्येतस्मिन्नेवार्थे नु कमिति पदद्वयम्। कानि तानीति तत्राह। यो विष्णुः पार्थिवानि पृथिवीसम्बन्धीनि रजांसि रञ्जनात्मकानि क्षित्यादिलोकत्रयाभिमानीन्यग्निवाय्वादित्यरूपाणि रजांसि विममे विशेषेण निर्ममे। अत्र त्रयो लोका अपि पृथिवीशब्दवाच्याः। तथा च मन्त्रान्तरम्, "यदिन्द्राग्नी अवमस्यां पृथिव्यां मध्यमस्यां परमस्यामुत स्थः" (ऋ० १ । १०८ । ९) इति। तैत्तिरीयेऽपि—"योऽस्यां पृथिव्यामस्यायुषा" इत्युपक्रम्य "यो द्वितीयस्यां तृतीयस्यां पृथिव्याम्" (तै० सं० १ । २ । १२ । १) इति। तस्माल्लोकत्रयस्य पृथिवीशब्दवाच्यत्वम्। किञ्च यश्च विष्णुरुत्तरमुद्गततरमतिविस्तीर्णं सधस्थं सहस्थानं लोकत्रयाश्रयभूतमन्तरिक्षमस्कभायत् तेषामाधारत्वेन स्तम्भितवान्। निर्मितवानित्यर्थः। अनेनान्तरिक्षाश्रितं लोकत्रयमपि सृष्टवानित्युक्तं भवति। यद्वा। यो विष्णुः पार्थिवानि पृथिवीसम्बन्धीनि रजांसि पृथिव्या अधस्तनसप्तलोकान् विममे विविधं निर्मितवान्। रजःशब्दो लोकवाची, "लोका रजांस्युच्यन्ते" (निरु० ४ । १९) इति यास्केनोक्तत्वात्। किञ्च यश्चोत्तरमुद्गततरमुत्तरभाविनं सधस्थं सहस्थानं पुण्यकृतां सहनिवासयोग्यं भूरादिलोकसप्तकमस्कभायत् स्कम्भितवान्। सृष्टवानित्यर्थः।

स्कम्भेः 'स्तम्भुस्तुम्भु' इति विहितस्य श्नः 'छन्दसि शायजपि' (पा० ३ । १ । ८४) इति व्यत्ययेन शायजादेशः। अथवा पार्थिवानि पृथिवीनिमित्तकानि रजांसि लोकान् विममे। भूरादिलोकत्रयमित्यर्थः। भूम्यामुपार्जितकर्मभोगार्थत्वादितरलोकानां तत्कारणत्वम्। किञ्च यश्चोत्तरमुत्कृष्टतरं सर्वेषां लोकानामुपरिभूतम्। अपुनरावृत्तेस्तस्योत्कृष्टत्वम्। सधस्थमुपासकानां सहस्थानं सत्यलोकमस्कभायत्। स्कम्भितवान्। ध्रुवं स्थापितवानित्यर्थः। किं कुर्वन्। त्रेधा विचक्रमाणस्त्रिप्रकारं स्वसृष्टान् लोकान् विविधं क्रममाणः। विष्णोस्त्रेधा क्रमणम् "इदं विष्णुर्विचक्रमे" (ऋ० १ । २२ । १७) इत्यादिश्रुतिषु प्रसिद्धम्। अत एवोरुगायः उरुभिर्महद्भिर्गीयमानः। अति-

प्रभूतं गीयमानो वा। य एवं कृतवान् तादृशस्य विष्णोर्वीर्याणि प्र वोचम् ॥ १ ॥

हिन्दी अनुवाद—(मैं) [**नु कम्**] पूर्ण रूप से (और उत्तमता के साथ) [**विष्णोः**] (उस) (व्यापक) विष्णु (नामक परमात्मा) के [**वीर्याणि**] महत्त्वपूर्ण कर्मों की [**प्र वोचम्**] घोषणा करता हूँ [**यः**] जिस ने [**पार्थिवानि**] (विस्तृत) पृथिवी से सम्बन्धित [**रजांसि**] लोकों का [**विममे**] निर्माण किया है (और) [**त्रेधा**] तीन प्रकार से [**विचक्रमाणः**] वारम्वार गति करने वाले [**उरुगायः**] दूर देश गामी (अर्थात्—सर्वव्यापक) [**यः**] जिस ने [**उत्तरम्**] परे विद्यमान (उत्तम सुखसाधक) [**सधस्थम्**] मिलन के स्थान को [**अस्कभायत्**] स्थिर किया है।

टिप्पणियां—१. **विष्णोः**—वैदिक विद्वानों ने इस पद की व्युत्पत्ति विष्णु के स्वरूप के विषय में अपनी-अपनी विचारधाराओं के अनुरूप दी है। ओल्डेन्बर्ग इसे 'विस्तृत उद्यम करने' के अर्थ में वि + स्नु से, ब्लूमफील्ड 'उच्चतम चोटी पर चढ़ने वाला' अर्थ में वि + स्नु (सानु–चोटी से) से और मैक्डोनल √विश् उद्योगी होना, व्यवसायी होना से व्युत्पन्न करते हैं। सायण ने √विश् व्याप्त करना और कौषीतकि ब्राह्मण ने √विश् प्रवेश करना से व्युत्पन्न किया है। (देखो वैए० ६६३)। यास्क ने नि० १२।१८ में विष्णु को 'विषित' कह कर √विश् या वि + √अश् से व्युत्पन्न किया है। ऐया० (१४४) ने 'विषित' को वि + √सि का रूप होने की कल्पना की है, परन्तु यास्क की व्युत्पत्तियों की दृष्टि में यह कल्पना अनावश्यक है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इसे व्याप्त्यर्थक √विश् से और पदनामों में पाठ के आधार पर गत्यर्थक √विश् से व्युत्पन्न माना है। वस्तुतः व्याप्ति–अर्थ गति–अर्थ का ही रूप है, और प्रवेश करना, चढ़ना, उद्योगी होना आदि भी। अतः दस० की दूसरा निरुक्ति समीचीन प्रतीत होती है।

(ii) सामान्यतः 'विष्णु' का अर्थ 'एक दिव्य शक्ति-सम्पन्न अदृष्ट सत्ता का द्योतक देवताविशेष' समझा जाता है। भाष्यकारों ने कहीं-कहीं पर इस का अर्थ 'परमात्मा' भी किया है। दस० ने परमात्मा, महात्मा, मेधावी, अग्नि,

विद्युत्, शिल्पविद्याव्यापनशील पुरुष, सूर्य, वायु, धन, जय, व्यान, सेनेश, धनञ्जय और हिरण्यगर्भ अर्थ किए हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ, सोम, अन्न, वीर्य, प्रादेशमात्र गर्भ, दिन और रात के बीच का समय, देवों में श्रेष्ठ, सत्र देवता, देवों का द्वाररक्षक, आशाओं (= दिशाओं) का पति, यज्ञ के दुरिष्ट का रक्षक, श्रोत्र, पुरुष, यूप आदि अर्थ पाए जाते हैं।

२. नु कंम्—सायण ने इस का अर्थ 'शीघ्र' और मैक्डोनल ने 'अत्र' किया है। यास्क ने नि० १। ४ में 'नु' को बहुविध अर्थों वाला और नि० १। ९ में कम् को पदपूरण माना है। निघं० ३। १२। २ में नुकंम् को सर्वपद के अर्थ में उत्तरपद कहा गया है। यह नुकंम् पूर्वोक्त नि० १। ४ और १। ९ के नु और कम् से स्वरभेद के कारण भिन्न है। प्रकृत मन्त्र में यही पाठ है। अतः पदकार का इन का पृथक्करण और सायण आदि का अर्थ स्वर की दृष्टि में विचारणीय हैं। वेभाप० १३। ३६ के अनुसार यह पद 'सर्व' 'उत्तर' और 'पद' के अर्थों का द्योतक है। अतः अनुवाद में 'पूर्णरूप से और उत्तमता के साथ' अर्थ ग्रहण किया गया है। दस ने 'नु' का सद्यः—'तुरन्त' और 'कम्' का 'सुख' अर्थ किया है। परन्तु निघं० ३। ६। २० में सुखवाचक 'कम्' उदात्त है, अनुदात्त नहीं।

३. वीर्याणि—यहाँ पर 'र्या' में प्रतीयमान स्वतन्त्र स्वरित है। छन्द की दृष्टि में इस का उच्चारण वीरि-आणि अभीष्ट है। सम्भवतः यह मूलपाठ था और सन्धि से पहले यहाँ पर सामान्य स्वरित था। सन्धि होने पर उदात्त 'रि' और अनुदात्त 'आ' के एक हो जाने से यहाँ स्वतन्त्र स्वरित दिखाई देने लगा। वेद में अधिकांश स्वतन्त्र स्वरित इस प्रकार के ही हैं।

४. प्र वोचम्—प्र + √ब्रू या √वच् + लुङ् उत्तम पु० एक व०। अट् का लोप हो रहा है। आधुनिक परिभाषा में यह √वच् से इन्जंक्टिव (निश्चयद्योतक) लुङ् है। भाषावैज्ञानिकों के मत में √वोच् एक स्वतन्त्र धातु है।

५. पार्थिवानि—पृथिव्या इमानि इति। सा० के विचार में यहाँ पर १. पृथिवी के नीचे के सात लोक। २. भूरादि पृथिवीनिमित्तक तीन लोक अथवा

३. पृथिवी आदि तीनों लोकों के अभिमानी देवता—अग्नि, वायु और आदित्य अभिप्रेत हैं, मैक्डोनल के विचार में 'पृथिवी और समीपस्थ वायुलोक और महीधर के विचार में 'पार्थिव परमाणु। अगले पाद में 'उत्तर सधस्थ' के दृढ़ीकरण की दृष्टि में सायण का अर्थ स्वतः ही अप्रासंगिक हो जाता है। वायुलोक की योजना पार्थिव रजस् और उत्तरसधस्थ से समान रूप में की जा सकती है।

(ii) इस सूक्त में विष्णु के रूप में एकं सत् (=ईश्वर) के सृष्टिकर्म, उस के उपादानों, विष्णुलोक आदि का वर्णन है। अतः यहाँ 'पार्थिव रजस्' से प्रकृति के परमाणुओं के स्थूल और रजोगुणप्रधान हो जाने का उल्लेख है। तु. क.— 'रजोजुषे जन्मनि सत्त्ववृत्तये प्रजानां पालने'। (कादम्बरी १)। उत्तर (—उत्कृष्ट) सधस्थ से (प्रकृति) से सम्पर्क प्राप्त करने वाले 'जीव' का वर्णन किया गया है।

६. विममे—वि + √मा + लिट् प्रथम पु० एक व०)। √मा धातु का अर्थ नापना भी है और निर्माण करना भी। सायण आदि भारतीय विद्वान् इस का अर्थ 'निर्माण करना' लेते हैं। परन्तु आधुनिक विद्वान् कतिपय ऐसे स्थलों की दृष्टि में जहाँ द्युलोक और पृथिवीलोक में सूर्य के व्याप्त हो जाने का वर्णन पाया जाता है। जैसे—इमामू ष्वासुरस्य श्रुतस्य महीं मायां वरुणस्य प्र वोचम् मानेनेव तस्थिवाँ अन्तरिक्षे वि यो ममे पृथिवीं सूर्येण ॥ ऋ० ५।८५।५ इस का अर्थ मापना करते हैं। शतपथ ब्राह्मण में इस के अर्थ 'अभ्यवतनोति—विस्तार करता है' से भी यही अर्थ प्राप्त होता है। श्री पीटर्सन ने लिखा है कि मन्त्र २ में के पदों 'विममे त्रिभिरित्पदेभिः' में विष्णु के तीन पदों से 'सधस्थ' का निर्माण संभव नहीं। परन्तु यह कठिनता सूर्य के तीन आक्रमणों पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक की दृष्टि में आती है। त्रिभिः पदेभिः का सत्त्व, रजस् और तमस् अर्थ करने पर यह समस्या समाप्त हो जाती है।

७. यो अस्कभायत्—वेद में बहुधा पदान्त ए ओ के पश्चात् 'अ' को पूर्वरूप नहीं होता है। पीछे के साहित्य और भाषा में यह पररूप क्रमशः नियत हो गया है। पूर्वरूप के इस अभाव को बहुधा मन्त्रों की प्राचीनता का द्योतक

और पूर्वरूप वाले प्रयोगों को अर्वाचीनता का द्योतक माना जाता है। परन्तु दोनों ही प्रकार के प्रयोग अनेक बार वंशमण्डलों में भी साथ-साथ पाए जाते हैं ।

८. अस्कंभायत्—√ स्कम् + लङ् प्रथम पु० एक व० ।

९. उत्तरम्—पदकार ने इसे उत्ऽतरम् माना है । इस से ज्ञात होता है कि उपसर्ग भी संज्ञा और विशेषण के रूप में प्रयुक्त होते थे, अन्यथा उत् के साथ तरप् और तमप् का प्रयोग सम्भव नहीं था। वेभाप० ४।२१–३०, ६।५८, वैको० ३०९–३१०, निघं० के ऐकपदिक में उपसर्गों और निपातों का पाठ और उस पर वेभाप० ३०।२७–२८ भी देखें ।

(ii) श० ८।६।३।२३ और ९।२।३।२५ में उत्तरं सधस्थम् का अर्थ 'द्यौः' दिया है । सा० ने इसे (१) अतिविस्तीर्ण अन्तरिक्ष, (२) पुण्यशीलों के एक साथ रहने योग्य भूः आदि सात लोक, (३) सत्यलोक का द्योतक माना है। श्री मैक्डोनल ने इस मन्त्र में जगत् के दो विभागों का वर्णन मान कर इस का अर्थ 'स्वर्गलोक' किया है । आकाश के धारण की क्रिया को सवितृ, अग्नि और अन्य देवताओं से भी सम्बद्ध किया गया है ।

(ii) इस मन्त्र में सृष्टि के तीन मूल कारणों का वर्णन किया गया है— विष्णु, पार्थिवरजस् और उत्तरसधस्थ । अतः यह उत्तरसधस्थ 'जीव' ही है ।

१०. सधस्थम्—सह स्थानम् सधस्थम् । तु. कु. सधमादस्थयोश्छन्दसि । वेद में 'सह' के आगे 'स्थ' आने पर 'सह' को 'सध' हो जाता है ।

११. विचक्रमाणः—वि + √ क्रम् + कानच् से । सायण और मैक्डोनल ने अपने-अपने भावों के अनुरूप इस के अर्थ क्रमशः 'अनेक प्रकार से आक्रान्त करता हुआ' और 'पग भरे' किए हैं । √ क्रम् गत्यर्थक है । वि + √ क्रम् का अर्थ है—'विशेष गति करते हुए, तप की महिमा से गतिशील हो कर सृष्टि-रचना करते हुए ।'

१२. त्रेधा—छन्द की दृष्टि में इस का उच्चारण त्र – य – धा होगा आर्नोल्ड त्रयिधा पढ़ते हैं । मैक्डोनल ने इस का अर्थ—'तीन बार' अर्थात्

'तीन (पद)' किया है। ऊपर प्रस्तावित अर्थों की दृष्टि में इस का अर्थ 'सत्त्व, रजस्, और तमस्—इन तीन गुणों से विशिष्ट' करना उचित होगा।

१३. उरुगायः—सा०—बहुतों से स्तुति किया गया, पुष्कलकीर्ति वाला। मैक्डोनल—विस्तृत पद वाला। पीटर्सन—दूर गन्ता। एक अन्य मन्त्र में सा० ने बहुतों से स्तुति करने योग्य, प्रभूत यश वाला, शत्रुओं को रुलाने वाला अर्थों के साथ 'बहुत से देशों में जाने वाला' अर्थ भी दिया है। ये अर्थ सूर्य के तीन क्रमणों पर लागू होते हैं, सृष्टिरचना पर नहीं। अतः यहां पर विस्तीर्ण आच्छादक (उरु—√ऊर्णु या √वृ से) गति=शक्ति (—गाय) वाला अर्थ उपयुक्त रहेगा। तु. क. तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिनाजायतैकम्। ऋ० १०।१२९।३ तथा किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्। वही, मन्त्र १।

संहितापाठः	पदपाठः
२. प्र तद्विष्णुः स्तवते वीर्येण	प्र। तत्। विष्णुः। स्तवते। वीर्येण।
मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः।	मृगः। न। भीमः। कुचरः। गिरि-ऽस्थाः।
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्व्	यस्य। उरुषु। त्रिषु। वि-ऽक्रमणेषु।
अधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा॥२॥	अधि-ऽक्षियन्ति। भुवनानि। विश्वा॥ २॥

सायणभाष्यम्—तृतीयसवने सोमातिरेक एव शस्त्रमुपजनयितव्यम्। तत्र "प्र तत्" इत्ययमनुरूपस्तृचः। "सोमातिरेके" इति खण्डे सूत्रितम्—"प्र तद्विष्णुः स्तवते वीर्येण स्तोत्रियानुरूपौ" (आश्व० श्रौ० ६।७) इति। 'वाजपेयेनाधिपत्यकामः' इति खण्डे सूत्रितम् "—प्र तत्ते अद्य शिपिविष्ट नाम (ऋ० ७।१००।५) प्र तद्विष्णुः स्तवते वीर्येण" (आश्व० श्रौ० ९।९) इति॥

यस्येति वक्ष्यमाणत्वात् स इत्यवगम्यते। स महानुभावो वीर्येण स्वकीयेन वीरकर्मणा पूर्वोक्तरूपेण स्तवते। स्तूयते सर्वैः। कर्मणि व्यत्ययेन शप्। वीर्येण स्तूयमानत्वे दृष्टान्तः। मृगो न सिंहादिरिव। यथा स्वविरोधिनो मृगयिता सिंहो भीमो भीतिजनकः कुचरः कुत्सितहिंसादि-

कर्ता दुर्गमप्रदेशगन्ता वा गिरिष्ठाः पर्वताद्युन्नतप्रदेशस्थायी सर्वैः स्तूयते। अस्मिन्नर्थे निरुक्तम्—"मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः। मृग इव भीमः कुचरो गिरिष्ठा मृगो मार्ष्टेर्गतिकर्मणो भीमो बिभ्यत्यस्माद् भीष्मो ऽप्येतस्मादेव। कुचर इति चरति कर्म कुत्सितम्। अथ चेद्देवताभिधानं क्वायं न चरतीति वा। गिरिष्ठा गिरिस्थायी। गिरिः पर्वतः समुद्गीर्णो भवति। पर्ववान् पर्वतः। पर्व पुनः पृणातेः प्रीणातेर्वा" (निरु० १।२०) इति ॥ तद्वद्यमपि मृगोऽन्वेष्टा शत्रूणां भीमो भयानकः सर्वेषां भीत्यपादानभूतः। परमेश्वराद् भीतिः "भीषास्माद् वातः पवते" (तै० आ० ८।८।१) इत्यादिश्रुतिषु प्रसिद्धा। किञ्च कुचरः शत्रुवधादिकुत्सितकर्मकर्ता कुषु सर्वासु भूमिषु लोकत्रये सञ्चारी वा तथा गिरिष्ठा गिरिवदुच्छ्रितलोकस्थायी। यद्वा। गिरि मन्त्रादिरूपायां वाचि सर्वदा वर्तमानः। ईदृशोऽयं स्वमहिम्ना स्तूयते। किञ्च यस्य विष्णोरुरुषु विस्तीर्णेषु त्रिसङ्ख्याकेषु विक्रमणेषु पादप्रक्षेपेषु विश्वा सर्वाणि भुवनानि भूतजातान्यधिक्षियन्त्याश्रित्य निवसन्ति स विष्णुः स्तूयते ॥ २ ॥

हिन्दी अनुवाद— [भीमः] भयानक [कुचरः] विषम स्थलों पर विचरण करने वाले [गिरिष्ठाः] पर्वतों में रहने वाले [मृगः] सिंह के [न] समान [कुचरः] तीनों लोकों में व्याप्त [गिरिष्ठाः] मन्त्रों में वर्णित [तत्] वह [विष्णुः] विष्णु [वीर्येण] अपने वीर कर्मों के कारण [प्र स्तवते] स्तुति किया जाता है [यस्य] जिस के [उरुषु] विस्तृत [त्रिषु] तीन [विक्रमणेषु] पदों में [विश्वा] सम्पूर्ण [भुवनानि] लोक [अधि क्षियन्ति] विद्यमान रहते हैं ॥ २ ॥

टिप्पणियां—१. प्र—वेद में उपसर्गों को क्रिया से बहुधा पृथक् प्रयुक्त किया गया है। तु० क० व्यवहिताश्च।

२. तत्—यहाँ पुल्लिंग के स्थान पर नपुंसकलिंग का प्रयोग किया गया है। तु० क० व्यत्ययो बहुलम्। आधुनिक अध्ययन में यह पद एक समस्त है। साइवेनज़िग लाइडर के अनुवाद में इसे वीर्येण का विशेषण बनाया गया है और तृतीयान्त माना गया है—विष्णु इस वीर कर्म के लिए प्रशंसा को प्राप्त होता है। "प्राचीन कथाओं में विष्णु का एक ही वीरकर्म वर्णित हुआ है

वह तीन पदों में समस्त ब्रह्माण्ड का लंघन, स्वर्गलोकों का दृढ़ करना, और उस के तृतीय पद में समस्त प्राणियों के रहने के लिए विस्तृत स्थान की सत्ता का धारण करना है (ऋ० ६ । ६९ । ५)। वह स्वयं ऊपर विष्णुलोक में रहता है जहाँ उस के साथ पुण्य आत्माएँ निवास करती हैं"। (—सा० ला०)। ग्रासमैन इसे स्तवते का कर्म मान कर 'इस वीर कर्म को करना स्वीकार करता है' अर्थ देते हैं। ये वीर्येण का अर्थ 'सामर्थ्य' करते हैं। पीटर्सन वीर्येण को क्रियाविशेषण और स्तवते को कर्तृवाच्य मान कर 'विष्णु प्रशंसा करता है और इस का सघोष विकत्थन करता है' अर्थ करते हैं। मैक्डोनल इसे प्रथम मंत्र के वीर्याणि का निर्देशक द्वितीयान्त रूप मानते हैं।

(ii) परन्तु इस मन्त्र में प्र तद्विष्णुः आदि अगले वाक्य यस्योरुषु आदि का प्रधान वाक्य है। यत्तदोर्नित्यम् की दृष्टि में तत् का भाव सः ही हो सकता है, अन्य नहीं।

(iii) स्तवते को कर्मवाच्य का प्रयोग मानना अस्वाभाविक नहीं। ऋग्वेद के मन्त्रों—आ भर। होतर्विश्वासहं रयिं स्तोतृभ्यः स्तवसे च न उतैधि पृत्सु नो वृधे (५. १०. ७), त्वया यत् स्तवन्ते सधवीर वीरास्त्रिवरूथेन नहुषा शविष्ठ (६ । २६ । ७) और एवा हि वीरः स्तवते सदावृधः (८ । २४ । १६) में 'स्तवते' का कर्मवाच्य में प्रयोग प्रत्यक्ष ही है।

(iv) वीर्येण में पिछले मन्त्र के वीर्याणि का निर्देश है। समस्त सृष्टि-रचना एक ही कर्म है। अतः एक वचन का प्रयोग किया गया है। उस के अन्तर्गत विभिन्न कार्यों को दृष्टि में रख कर पिछले मन्त्र में बहुवचन का प्रयोग किया गया है। इस पद में स्वर की स्थिति पहले मन्त्र के 'वीर्याणि' के समान ही है।

३. मृगो न भीमः—श्री पीटर्सन लिखते हैं कि यह उपमा विष्णु के सामान्य स्वरूप से सम्बन्धित नहीं है, इस का सम्बन्ध द्युलोक की सानु पर पैर रखने वाले और अब अपने वीर कर्म की घोषणा करने वाले विष्णु से सम्बन्धित है। वह पर्वतों पर विचरण करने वाले भयानक सिंह के समान (गरजन करता) है।

मृग का प्राचीनतम अर्थ एक हिंसक या आरण्यक पशु है जैसा मृगेन्द्र पद से व्यक्त होता है।

(ii) श्री मैक्डोनल का कहना है कि यद्यपि सायण ने मृगः का अर्थ सिंह आदि हिंसक पशु किया है और यद्यपि 'भीम' सिंह और वृषभ दोनों के ही विशेषण के रूप में आया है, तथापि गिरिष्ठाः तीन-चार बार वृषभ के विशेषण के रूप में तो आया है, सिंह के विशेषण के रूप में कभी नहीं आया है। अगले मन्त्र में विष्णु को 'पर्वतनिवासी बैल' (गिरिक्षिते वृष्णे) कहा गया है। अतः यह उपमा सिंह की अपेक्षा बैल की ओर निर्देश करती है।

(iii) वस्तुस्थिति कुछ अन्य प्रतीत होती है। यास्क ने 'न' को उपमावाचक माना है। यही यहाँ भ्रान्ति है। 'न' को 'भीमः' के साथ लगा कर 'न भयंकर = सौम्य' अर्थ करने और मृगः आदि को विष्णु के विशेषण मान लेने पर कोई समस्या नहीं रहती है। मृगः — √ मृग् खोजना से। खोजा जाने वाला, खोजने योग्य। देखो अकोसु०। अथवा √ मृज् जाना से (यास्क)। अतः गतिशील। कामना रूपी बीज के मन में पड़ने से विष्णु गतिशील हो जाता है और उस से सृष्टि होती है। देखो ऋ० १०।१२९।

४. कुचरः—का प्रयोग केवल एक और मन्त्र (ऋ० १०।१८०।२) में आया है। वहां पर यह सारा वाक्य इन्द्र के लिए प्रयुक्त हुआ है। यास्क ने इस के अर्थ (१) कुत्सित कर्म करने वाला (२) यह कहां नहीं जाता [कु (या क्व) + √ चर् से] किए हैं। सायण ने दूसरा अर्थ 'तीनों लोकों (कु = पृथिवी से) में घूमने वाला' किया है।

(ii) पदकार ने इसे अवग्रहीत नहीं किया है। श्री मैक्डोनल का विचार है कि 'कु' स्वतन्त्र पद के रूप में प्रयुक्त नहीं हुआ है। अतः अनवग्रहीत है। परन्तु 'कूचित्' (ऋ० ९।८७।८; १०. । ४-५; । ९३. । ११) के 'कू' का स्वतन्त्र प्रयोग ऋग्वेद में नहीं मिलता है, फिर भी इसे अवग्रहीत किया गया है। सम्भवतः पदकार इसे कु + चर और √ कुच् (शब्द करना) + अरन् (दपाउ० ८।६२) —दोनों प्रकार से छिन्न कर के अर्थ करना चाहते हैं, अथवा पिछला निर्वचन ही उन्हें अभीष्ट था। अतः शब्दकारी।

(iii) ऋ० १०।१२९।४ में कहा है कि सृष्टि की रचना के समय सर्वप्रथम परमात्मा के मन में सृष्टि करने की इच्छा हुई, और यह इच्छा ही उस के मन में सृष्टि का मूल यज्ञमय, बीज (=रेतस्) बनी। इस रेतस् रूपी तप से उस में तेज और गति उत्पन्न हुई। इस गति से ही शब्द भी उत्पन्न हुआ (तु. कु. शब्दकर्मा स्वरति का निघं॰ में गतिकर्मा धातुओं में पाठ)। ब्रह्म (=विष्णु) की वाक् के रूप में भी कल्पना की गई है। देखो वाक्सूक्त तथा वैदिकदर्शन और वैए० में वाक्पद।

५. गिरिष्ठाः—सा० ने (१) उन्नत लोकों का निवासी, (२) सदा मन्त्रात्मकवाणी में स्थित अर्थ किए हैं। उपरोक्त दार्शनिक दृष्टि में गिरि—गिर् से हृदय-गुहा, मन। अतः अपने मन में रेतस् रूप में स्थित। यद्यपि ईश्वर मन आदि से हीन है, परन्तु लौकिक प्रणाली पर समझाने के लिए अलंकार बनाया गया है। वह स्वयं ही मन है और स्वयं ही रेतस्।

६. त्रिषु विक्रमणेषु—सा० आदि-तीन पदों में। प्रथम मन्त्र के समान यहां भी त्रिविध गुणों सत्त्व, रजस् और तमस् का निर्देश है। इन्हीं तीन गुणों में समस्त प्राणिलोक स्थित है।

७. विश्वा—विश्वानि। वेद में अनेक बार नपुंसक लिंग प्रथमा और द्वितीया के बहुवचन की इ (=शि) का लोप दिखाई पड़ता है।

संहितापाठः	पदपाठः
३. प्र विष्णवे शूषमेतु मन्म गिरिक्षित उरुगायाय वृष्णे। य इदं दीर्घं प्रयतं सधस्थमेको विममे त्रिभिरित्पदेभिः॥३॥	प्र। विष्णवे। शूषम्। एतु। मन्म। गिरिऽक्षिते। उरुऽगायाय। वृष्णे। यः। इदम्। दीर्घम्। प्रऽयतम्। सधऽस्थम्। एकः। विऽममे। त्रिऽभिः। इत्। पदेभिः॥३॥

सायणभाष्यम्—विष्णवे सर्वव्यापकाय शूषमस्मत्कृत्यादिजन्यं बलं महत्त्वं मन्म मननं स्तोत्रं मननीयं शूषं बलं वा विष्णुमेतु। प्राप्नोतु। कर्मणः

सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी। कीदृशाय। गिरिक्षिते वाचि गिरिवदुन्नतप्रदेशे वा तिष्ठते। उरुगायाय बहुभिर्गीयमानाय। वृष्णे वर्षित्रे कामानाम्। एवम्महानुभावं शूषं प्राप्नोतु। कोऽस्य विशेष इत्युच्यते। यो विष्णुरिदं प्रसिद्धं दृश्यमानं दीर्घमतिविस्तृतं प्रयतं नियतं सधस्थं सहस्थानं लोकत्रयमेक इदेक एवाद्वितीयः सन् त्रिभिः पदेभिः पादैर्विममे विशेषेण निर्मितवान्॥ ३॥

हिन्दी अनुवाद—[**गिरिक्षिते**] मन्त्रों में वर्णित [**उरुगायाय**] दूरदेश गामी (अर्थात्—सर्वव्यापक) [**विष्णे**] वीर्य-सेचक [**विष्णवे**] (उस) विष्णु को (मेरा) [**शूषम्**] स्फूर्तिदायक [**मन्म**] (मननीय) स्तोत्र [**प्र एतु**] पहुँचे [**यः**] जिस [**एकः**] अकेले ने [**त्रिभिः**] [तीन] [**पदेभिः**] पदों से [**इत्**] ही [**इदम्**] इस [**दीर्घम्**] विस्तृत [**प्रयतम्**] स्थिर [**सधस्थम्**] (प्राणियों के) निवास स्थान को [**विममे**] निर्माण किया है॥ ३॥

टिप्पणियाँ—१. **शूषम्**—छन्द की पूर्ति के लिए 'शू' को 'शू—ऊ' पढ़ना आवश्यक है। निघं० में यास्क ने और सा० ने इस के दो अर्थ—बल और सुख माने हैं। दस० ने सर्वत्र बल'–अर्थ ग्रहण किया है। केवल एक मन्त्र में विकल्प में 'सुख'–अर्थ भी दिया है। नि० २। २४ में इस के सदृश पद शुष्म' को √ शुष् सुखाना से०युत्पन्न किया गया है। अवेस्ता में इस के अनुरूप पद 'हुस्क'—सूखा हुआ है। रौथ इसे श्वस् से निष्पन्न मानते हैं और यहाँ तथा अन्य चार ऋचाओं में इसे 'सीटी बजाना, (अव्यक्त) शब्द करना, टन्–ठन् का शब्द करना' अर्थ में विशेषण मानते हैं। इन में से एक मन्त्र (ऋ० १०। ५४। ६) में सा० ने 'शूषं मन्म' का अर्थ 'शूषं बलं शत्रूणां शोषकत्वाद् बलकरं मन्म मननीयं स्तोत्रम्' दूसरे (१०. ६. ४) में 'शूषेभिः .. अर्कैः का 'शूषेभिर्हविर्लक्षणबलैः। बलनिमित्तैर्हविर्भिरित्यर्थः। अर्कैः स्तोत्रैश्च'। अतः सायणीय व्याख्यान की दृष्टि में श्री पीटर्सन 'शूषम्' के विशेषण होने को सन्दिग्ध समझते हैं। अन्यत्र (३. ७. ६ में) 'अनु घोषं शूषम्' का 'अनुघुष्यमाणं सुखम्' और 'स्तोमं शूषम्' (६।१०।२) का 'स्तोत्रं सुखकरम्' अर्थ किया है। अन्य दो ऋचाओं में रौथ 'शूषम्' को 'नाक से घर्घर शब्द करना, तेजस्वी वीर्यवान् साहसी' अर्थों में विशेषण मानते हैं। इन दोनों स्थलों (ऋ०३।४९।२; ९।७१।२)

में सा० ने इस का अर्थ 'शोषक बल' और 'शोषक बलवान्' किया है। ल्यूड्विग ने इस का अर्थ 'शक्ति के लिए' (अर्थात् सामर्थ्य प्रदान करने के लिए) किया है।

(ii) स्तोता अपने इष्ट देव की जो स्तुति करता है उस से प्रधानतया स्फूर्ति, सामर्थ्य, आत्मतोष आदि सुख उस स्तोता को ही प्राप्त होते हैं, स्तुत देव पर उस का प्रभाव विचारणीय है। विष्णु ऋग्वेद का 'आनीदवातं स्वधया तदेकम्' (ऋ. १०।१२९।२) और 'एकं सत्' (ऋ. १।१६४।४६) ही है। उस के मनस्तोष का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। अतः यहाँ पर 'पापों, दुर्वासनाओं स्वार्थ आदि का शोषक—नाशक और इस प्रकार सद्भाव का सृजन करने वाला बल और सुखदायक स्तोत्र' भाव अभिप्रेत है। इस भाव को गीता ने 'यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः' तथा—'सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः। अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥ देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः। परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥' कह कर व्यक्त किया है।

२. उरुगायाय—दूसरे मन्त्र के 'मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः' से तुलना करने पर इस की समता कुचरः (सायण का अर्थ) से होती है। उधर एकमात्र विष्णु का विशेषण 'उरुक्रमः'—(नि०—महागतिः) है। अतः मैक्डोनल इसे √ गा जाना से ले कर इस का अर्थ 'लम्बे पग भरने वाला' करते हैं। पीछे मन्त्र १ में उरुगायः पर भी टिप्पणी देखें।

३. वृष्णे—श्री मैक्समूलर लिखते हैं कि 'वृषन् एक ऐसा पद है जिस का ठीक-ठीक अर्थ करना असम्भव है। यह वेदमन्त्रों में अनेकशः प्रयुक्त हुआ है। यदि एक बार उन सब भावों को जान लिया जाए जिन का यह प्रकाशन करता है तो इस के भाव को सामान्य किन्तु अस्पष्ट रूप में समझने में कोई कठिनता न रहेगी। यह √ वृष् – वीर्य सेचन करना से बना है। इस का मूल अर्थ 'नर' था। यह शक्ति, प्राधान्य, श्रेष्ठता, विशिष्टता, प्रतिष्ठा का द्योतक है। बहुधा यह पुरुष के कामासक्ति पक्ष को प्रकाशित करता है। फिर इस का अर्थ अमोघवीर्य, उपजाऊ और बलयुक्त हो गया। यह 'वीर, बली' के अर्थ में विशेषण पद भी है, देवताओं का नाम और प्रशंसावाचक पद भी।'

(ii) सा० ने इस का अर्थ 'कामनाओं की वर्षा करने वाला' और दस० ने 'अनन्त वीर्य वाला' किया है। इस पद में सृष्टि के पूर्व असत् रूप से सत् की उत्पत्ति के निमित्त ब्रह्म के द्वारा तप की महिमा कामनारूप रेतस् के अपने में ही स्थापन करने † का निर्देश उपलब्ध होता है। इस अनन्त रेतस्—वीर्य से ही समस्त सृष्टि की उत्पत्ति और प्राणियों की इच्छाएं पूर्ण होती हैं। यही अर्थ यहां अभिप्रेत है।

४. इदं दीर्घं प्रयतं सधस्थम्—मैक्डोनल इस से मन्त्र १ के 'उत्तरं सधस्थम्' के प्रतिपक्ष में 'पृथिवी' का भाव ग्रहण करते हैं, सा० 'लोकत्रय' का और दस० 'बढ़ा हुआ उत्तम यत्नसाध्य सिद्धान्तावयवों से एक स्थान' का। ऋ० १०।१२१।५—'येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृळ्हा येन स्वः स्तभितं येन नाकः। यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः' की दृष्टि में यहां इस पदसमूह का अर्थ 'यह समस्त दृश्यमान दृढ़ सृष्टि' ही है। उत्तरं सधस्थम् में जीवात्मा का निर्देश होने से भी यहां पर पार्थिवपरमाणुजन्य जगत् का बोध ही अभीष्ट है।

५. एकः—विष्णु—ईश्वर अकेला ही समस्त सृष्टि का उत्पादक है, वह दूसरे किसी प्राणी की सहायता की अपेक्षा नहीं रखता है।

६. त्रिभिः पदेभिः—दस०—स्थूल, सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म जानने योग्य अंश। सा०—तीन पग। दस०—का अर्थ ही प्रकरणोपयोगी प्रतीत होता है?

संहितापाठः	पदपाठः
४. यस्य त्री पूर्णा मधुना पदान्य् अक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति। य उ त्रिधातु पृथिवीमुत द्याम् एको दाधार भुवनानि विश्वा॥४॥	यस्य। त्री। पूर्णा। मधुना। पदानि। अक्षीयमाणा। स्वधया। मदन्ति। यः। ऊँ इति। त्रिऽधातु। पृथिवीम्। उत। द्याम्। एकः। दाधार। भुवनानि। विश्वा॥४॥

सायणभाष्यम्—यस्य विष्णोर्मधुना मधुरेण दिव्येनामृतेन पूर्णा पूर्णानि त्रीणि पदानि पादप्रक्षेपणान्यक्षीयमाणाक्षीयमाणानि स्वधयान्नेन

† देखो ऋ० १०।१२९।

मदन्ति मादयन्ति तदाश्रितजनान्। य उ य एव पृथिवीं प्रख्यातां भूमिं द्यामुत द्योतनात्मकमन्तरिक्षं च विश्वा भुवनानि सर्वाणि भूतजातानि चतुर्दश लोकांश्च। यद्वा। पृथिवीशब्देनाधोवर्तीन्यतलवितलादिसप्तभुवनान्युपात्तानि। द्युशब्देन तदवान्तररूपाणि भूरादिसप्तभुवनानि। एवं चतुर्दश लोकान् विश्वा भुवनानि सर्वाण्यपि तत्रत्यानि भूतजातानि। त्रिधातु। त्रयाणां धातूनां समाहारस्त्रिधातु। पृथिव्यप्तेजोरूपधातुत्रयविशिष्टं यथा भवति तथा दाधार धृतवान्। तुजादित्वादभ्यासस्य दीर्घत्वम्। उत्पादितवानित्यर्थः। छन्दोगारण्यके—"तत्तेजोऽसृजत तदन्नमसृजत ता आप ऐक्षन्त" इति भूतत्रयसृष्टिमुक्त्वा "हन्ताहमिमास्तिस्रो देवतास्तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि" (छा०उ० ६।२।३-४) इत्यादिना त्रिवृत्करणसृष्टिरुपपादिता। यद्वा। त्रिधातु कालत्रयं गुणत्रयं वा दाधारेत्यन्वयः॥ ४॥

हिन्दी अनुवाद—[**यस्य**] जिस (विष्णु) के [**मधुना**] शहद (आदि मधुर गुण वाले पदार्थों) से [**पूर्णा**] भरे हुए [**त्री**] तीन [**पदानि**] पग [**अक्षीयमाणा**] विनाशरहित होते हुए [**स्वधया**] (दिव्य) अन्न से [**मदन्ति**] तृप्त करते हैं (और) [**उ**] निश्चय से [**यः**] जो [**एकः**] अकेला ही [**त्रिधातु**] तीन धातुओं से [**पृथिवीम्**] पृथिवी [**उत**] और [**द्याम्**] द्युलोक (और) [**विश्वा**] सम्पूर्ण [**भुवनानि**] लोकों को [**दाधार**] धारण किए हुए हैं॥ ४॥

टिप्पणियां—१. **मधुना**—मधु (नपुं०) तृतीया एक व०। सा०—मधुर दिव्य अमृत से। दस०—मधुर आदि गुण से। रौथ—मिठास; तीनों लोकों में प्राप्त होने वाले सुख और भोग विष्णु से ही प्रवाहित होते हैं। इसे 'स्वधया' का विशेषण भी बनाया जा सकता है—मधुर दिव्य अन्न से। नपुं० का प्रयोग व्यत्यय से स्त्रीलिंग के लिए किया गया है।

(ii) ब्राह्मण ग्रन्थों में मधु के अर्थों में प्राण, रस, ओषधियों का परम रस, ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद का ज्ञान (श० ११।५।४।१८), यह सब कुछ (श० ३।७।१।११) और अन्न आदि दिए हैं। इस मन्त्र में 'पदानि' के अर्थ के अनुरूप अर्थ किया जा सकता है। यदि पद का अर्थ 'पग' ही मान लें,

तो भी शहद से भरे हुए पदों का भाव 'पदों से नापे गए लोक' होगा क्यों कि स्वयं पगों के मधुपूर्ण होने का कोई अर्थ नहीं है। अतः मधु का 'प्राण' अर्थ उचित प्रतीत होता है। प्राण = शक्ति से युक्त। श्री मै० आदि ने पदानि का भाव 'पगों में रहने वाले प्राणी' लिया है। पादपूर्ति के लिए पदान्यक्षीय० को पदानि अक्षीय० पढ़ना होगा।

२. त्री, पूर्णा—दोनों क्रमशः त्रीणि और पूर्णानि के लिए प्रयुक्त हुए हैं।

३. अक्षीयमाणा—अक्षीयमाणानि। मै० बिना किसी कमी के। कर्मधारय समासों में नञ् का 'अ' सदा उदात्त होता है। ऐसे समास पदपाठ में अनवगृहीत रहते हैं।

४. स्वधया—सा०—अन्नेन। दस०—अपने-अपने रूप के धारण करने वाली क्रियाएं।

(ii) लौकिक संस्कृत में स्वधा के अर्थ पितरों को दी गई आहुति के अन्त में उच्चारित पद, पितरों को प्रदत्त अन्न, माया या सांसारिक भ्रान्ति के पुरुषविध रूप का नाम और एक अप्सरा का नाम मिलते हैं। अभी वेदमन्त्रों में प्रयुक्त स्वधा शब्द का परिचय नहीं था कि कि प्रो० बेनफी ने ग्रीक सेथोस्, जर्मन-सित्ते, ओएचएस० सित्-उ, गोथिक-सिद्-उ के आधार पर एक संज्ञा 'स्वधा' की कल्पना की जो वैदिक साहित्य में मिल गई। प्रो० मैक्समूलर के मत में इस पद का मूल अर्थ–किसी का अपना स्थान था और पीछे 'अपना स्वभाव' हो गया।

(iii) परन्तु रौथ की योजना भिन्न है। उन का विचार है कि भारत में स्वधा का वैदिक अर्थ बिल्कुल भूला जा चुका है। रौथ ने तीन मन्त्रों—ऋ० ४। ३३।८;४।५२।६;४।१३।५ में (१) रीति–रिवाज, शासन, ऋ० ९।१०३। ५, ६।२।८, ८।३२।६, १०।१२९।५, ९।८६।१० में (२) परिचित स्थान, घर, ऋ० ७।८।३, १।१६५।५–६, ९।११३।१० में (३) सामान्य अवस्था, आराम, कल्याण, सन्तोष, ऋ० १।६।४; ३३।११, ६।१६५।५ आदि तथा प्रकृत मन्त्र में (४) सामान्य रूप में स्वच्छन्दता से, इच्छानुसार, निर्विघ्न, स्वाभाविक रूप में अर्थ किए हैं। इस मन्त्र के समान अन्य भी कई मन्त्रों में इस का प्रयोग 'मदन्ति' के साथ हुआ है। रौथ के मत में मधुर पेय, हविस्, पितरों को

प्रदत्त आहुति अर्थों वाला पद उपरोक्त स्वधापद से भिन्न है। इस दूसरे स्वधा को ही निघण्टु में उदक के नामों में पढ़ा गया है और नि० ७।२५ में अन्न-वाचक माना है। रौथ यह भी मानते हैं कि प्रकृत मन्त्र का स्वधापद अन्य मन्त्र--ऋ० १०।१४।६ के स्वधयान्ये मदन्ति से बिल्कुल भिन्न है। प्रकृत मन्त्र में स्वधया क्रिया-विशेषण है, जिस के अर्थ—प्रसन्नता से, स्वाधीन रूप से हैं। दूसरा पद संज्ञा है—हविओं के साथ। अगर श्री रौथ की इस कल्पना को ठीक मान लिया जाए, तो दोनों मन्त्रों की रचना के बीच में समय का बड़ा अन्तर रहा होगा।

ब्राह्मण ग्रन्थों में इस के अर्थ—रस और शरद् भी दिए हैं।

५. उ—मै०—भी। दस० – पादपूरण। सा० – एव = ही।

(ii) इस मन्त्र में विष्णु के दो वीर कर्मों का वर्णन किया गया है—१. विष्णु के पदों का अक्षुण्ण रूप में मधु से पूर्ण स्वधा से आनन्दित होना २. तीन प्रकार से पृथिवी, द्युलोक और समस्त लोकों का धारण करना। अतः यहां समुच्चय-बोधक निपात अभीष्ट होने से 'उ' का अर्थ 'और' करना उचित होगा। पद-पाठ में इस के आगे 'इति' लगा कर इसे सानुनासिक कर दिया जाता है।

६. त्रिधातु—मै० लिखते हैं कि इस नपुं० रूप को मन्त्र १ के पाद ४ के त्रेधा पद के समान क्रियाविशेषण के रूप में लेना अत्युत्तम रहेगा—तीन प्रकार से, अपने तीन चरण चल कर। यह पृथिवी और द्युलोक के रूप में शिथिलता से व्याख्यात तीन लोकों का द्योतक भी हो सकता है। श्री पीटर्सन त्रिधातु को पृथिवीमुत द्याम् का समानाधिकरण मान कर दोनों को एक ही भाव का द्योतक मानते हैं—पृथिवी और द्युलोक ही त्रिविध जगत् है। रौथ ने ऋ० ४।४२।४—उत त्रिधातु प्रथयद् वि भूम को उद्धृत किया है। सा० ने इस का अर्थ—और परमेश्वर ने व्याप्त आकाश को तीन प्रकार से विशेष रूप से फैलाया है—पृथिवी आदि तीन लोक बनाया है—किया है। यहां पर सा० का अर्थ—पृथिवी, जल और अग्नि—इन तीन तत्त्वों से विशिष्ट, दस० का सत्त्व, रजस् और तमस् आदि धातुओं वाले समस्त लोक-लोकान्तर(= विश्वा भुवनानि) है। ऋ० ४।४२।४ में भी दस० ने यही भाव लिया है। सूक्त के पिछले तीन मन्त्रों की दृष्टि में दस० का

व्याख्यान उचित मालूम पड़ता है। सा० का अर्थ भी उपयुक्त है। परन्तु उस में पाँच भूतों में केवल तीन का ही निर्देश होता है। इस अर्थ में 'त्रि' को उपलक्षण मानना पड़ेगा। 'त्रि' को उ० ५।६६ ने √तॄ पार करना से व्युत्पन्न किया है। इस आधार पर त्रिधातु का अर्थ—पार करने वाली, सब को वश में करने वाली धातु = धारक तत्त्व हो कर यह पृथिवी आदि पञ्च भूतों और सत्त्व, रजस् आदि गुणों और सांख्य दर्शन के पञ्चतन्मात्रा आदि तत्त्वों का द्योतक हो जायेगा।

७. दाधार—√धृ से लिट् प्रथम पु० एक व०। वेद में बहुत से धातुओं के अभ्यास का स्वर दीर्घ पाया जाता है। दाधार ब्राह्मण में और पीछे भी प्रयुक्त हुआ है। पदपाठ में इसे ह्रस्व नहीं किया जाता है।

८. भुवनानि विश्वा—इस को पृथिवी और द्युलोक के साथ तीसरे लोक का द्योतक भी माना जा सकता है और 'पृथिवी और द्युलोक इन की सीमाओं में बन्धे हुए ब्रह्माण्ड के सब लोक' का द्योतक भी। अन्ततो गत्वा भाव समान रहेगा।

संहितापाठः	पदपाठः
५. तद॑स्य प्रि॒यम॒भि पाथो॑ अश्यां॒ नरो॒ यत्र॑ देव॒यवो॒ मद॑न्ति। उ॒रु॒क्र॒मस्य॒ स हि बन्धु॑रि॒त्था विष्णो॑ः प॒दे प॑र॒मे मध्व॒ उत्स॑ः ॥ ५ ॥	तत्। अ॒स्य॒। प्रि॒यम्। अ॒भि। पाथ॑ः। अ॒श्या॒म्। नर॑ः। यत्र॑। दे॒व॒ऽयव॑ः। मद॑न्ति। उ॒रु॒ऽक्र॒मस्य॑। सः। हि। बन्धु॑ः। इ॒त्था। विष्णो॑ः। प॒दे। प॒र॒मे। मध्व॑ः। उत्स॑ः ॥ ५ ॥

सायणभाष्यम्—आतिथ्यायां "तदस्य" इत्येषा प्रधानस्य याज्या। "अथातिथ्या" इति खण्डे सूत्रितम्—"इदं विष्णुर्विचक्रमे, तदस्य प्रियमभि पाथो अश्याम्" (आश्व० श्रौ० ४।५) इति॥ अस्य महतो विष्णोः प्रियं प्रियभूतं

तत् सर्वैः सेव्यत्वेन प्रसिद्धम् पाथः। अन्तरिक्षनामैतत्, "पाथोऽन्तरिक्षं पथा (नि० २ । २८) व्याख्यातम्" (निरु० ६ । ७) इति यास्केनोक्तत्वात् । अविनश्वरं ब्रह्मलोकमित्यर्थः । अश्याम् । व्याप्नुयाम् । तदेव विशिष्यते । यत्र स्थाने देवयवो देवं द्योतनस्वभावं विष्णुमात्मन इच्छन्तो यज्ञदानादिभिः प्राप्तुमिच्छन्तो नरो मदन्ति तृप्तिमनुभवन्ति । तदस्यामित्यन्वयः । पुनरपि तदेव विशेष्यते । उरुक्रमस्यात्यधिकं सर्वं जगदाक्रममाणस्य तत्तदात्मना, अतएव विष्णोर्व्यापकस्य परमेश्वरस्य परम उत्कृष्टे निरतिशये केवलसुखात्मके पदे स्थाने मध्वो मधुरस्योत्सो निष्यन्दो वर्तते । तदश्याम् । यत्र क्षुत्तृष्णाजरामरणपुनरावृत्त्यादिभयं नास्ति, सङ्कल्पमात्रेणामृतकुल्यादिभोगाः प्राप्यन्ते तादृशमित्यर्थः । ततोऽधिकं नास्तीत्याह । इत्था इत्थमुक्तप्रकारेण स हि बन्धुः स खलु सर्वेषां सुकृतिनां बन्धुभूतो हितकरो वा, तस्य पदं प्राप्तवतां न पुनरावृत्तेः । "न च पुनरावर्तते" (छा० उ० ८ । १५।१) इति श्रुतेस्तस्य बन्धुत्वम् । हिशब्दः सर्वश्रुतिस्मृतिपुराणादिप्रसिद्धिद्योतनार्थः ॥ ५ ॥

हिन्दी अनुवाद—(मैं) [अस्य] इस (विष्णु) के [तत्] उस [प्रियम्] (कल्याणकारक होने से) अभीष्ट [पाथः] (रक्षा के) स्थान को [अभि अश्याम्] प्राप्त कर सकूँ [यत्र] जिस में [देवयवः] कल्याण के इच्छुक [नरः] मनुष्य [मदन्ति] आनन्द प्राप्त करते हैं । [हि] निःसन्देह [सः] वह (मैं) [इत्था] इस प्रकार [उरुक्रमस्य] व्यापक गति वाले (विष्णु) का [बन्धुः] भक्त (रूप मित्र) हूँ । [विष्णोः] विष्णु के [परमे] सर्वोत्कृष्ट [पदे] (प्राप्तव्य) स्थान में [मध्वः] शहद का [उत्सः] झरना है ॥ ५ ॥

टिप्पणियाँ—१. तत्—इसे उ० १ । १३२ में √तन् से व्युत्पन्न किया गया है—तनुते विस्तृतो भवतीति तत् । अतः वह विस्तृत पाथः; जिस का वर्णन अगले पाद में किया है ।

२. अस्य—उ० ४ । १५७ में 'इदम्' को √इन्द् परमैश्वर्यवान् होना से व्युत्पन्न किया गया है—इन्दति परमैश्वर्यहेतुर्भवतीति । निघं० ४ । १ । ६२ में 'अस्य' को पदनामों में पढ़ कर इसे गति, प्राप्ति और ज्ञान—अर्थ वाला माना

है। निघं० १। १२। १०१ में 'इदम्' को जल का पर्याय बताया है। (वेभाप० ३०। २९-३० भी देखें।) अतः यह 'परमैश्वर्यशाली, सर्वव्यापक और कल्याणप्रद विष्णु का द्योतक है।

३. प्रियम्—√प्री से। प्रसन्न करने वाला। तु. क. दभा०—येन प्रीणाति तत्। अतः कल्याणकारी, अभीष्ट।

४. पाथः—√पा रक्षा करना से। रक्षा करने वाला। सा०—१. अन्तरिक्ष; २. ऋ० ७। ४७। ३ में—स्थान। दस०—वर्त्म। पीटर्सन—घर। मै०—क्षेत्र शासित प्रदेश।

(ii) यहाँ पर 'रक्षा, छाया' अर्थ लेना ही पर्याप्त है। तु. क० 'यस्य च्छायामृतम्'। ऋ० १०। १२१। २।

५. अभि अश्याम्—मै० इसे √अंश् पहुँचना का लुङ्लकारीय विधिलिङ् का रूप मानते हैं और सा० √अश् व्याप्त होना का विधिलिङ् उत्तम पुरुष एक व० का रूप। दस० ने इसे प्राप्त्यर्थक माना है।

६. नरः—√नी से। ले जाने वाले। अतः नेता, मनुष्य आदि। परन्तु मनुष्य सशरीर विष्णुलोक में नहीं पहुँचते हैं। वहाँ आत्माओं का ही निवास होता है। 'आत्मा' पद भी √अत् सतत गति करना से बनता है। अतः यहाँ पर भी 'आत्माएँ' भाव लेना उचित प्रतीत होता है।

७. यत्र—मै०—विष्णु के तीसरे पद में—स्वर्ग, जिस में पितर् यम के साथ सोम पीते हैं। इस में प्रथम पाद के 'प्रियं पाथः' का निर्देश मानना अधिक उपयुक्त रहेगा।

८. देवयवः—देवं देवान् वा आत्मन इच्छतीति देवयुः। उस का प्रथमा बहुवचन पु०। सा०—देव = द्योतनस्वभाव विष्णु। दस०—देव = दिव्य भोग। देव-पद क्रीड़ा विजिगीषा कान्ति गति मोद मद स्वप्न आदि अर्थ वाले √दिव् से निष्पन्न होता है। अतः इस का अर्थ 'कल्याणकारक' भी है। मै०—देवों के भक्त। पीटर्सन—देवभीरु जन।

९. उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था—सा०—'स हि बन्धुरित्था'—'निःसन्देह इस प्रकार वह विष्णु सब पुण्यशीलों का मित्र या हितकारी है' अर्थ कर के इसे निक्षेप वाक्य मानते हैं और 'विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः'—'व्यापक परमेश्वर के उत्कृष्ट केवल सुखात्मक स्थान में माधुर्य का झरना है' को प्रधान वाक्य। इस में 'तद् अश्याम' की पूर्वार्द्ध से अनुवृत्ति लाते हैं।

(ii) रौथ और ग्रा० ने 'स हि०' और 'विष्णोः पदे०' को पृथक्-पृथक् वाक्य मान कर 'वहां शक्तिशाली गन्ता के मित्रों की समाज है और विष्णु के उच्चतम निवास में माधुर्य का झरना है' अर्थ करते हैं। इस प्रकार रौथ 'बन्धुः' को स्वर्ग की समाज—दूसरे पाद के नरो देवयवः की द्योतक समुदायवाचक संज्ञा मानते हैं और इसे ऋ० १०। १५। ३ में वर्णित सुविदत्र, बर्हिषद् विष्णु के नपात् और विक्रमण पितरों का द्योतक मानते हैं।

(iii) ल्यूड्विग का विचार है कि सा० बन्धुः और उत्सः को एक मानते हैं। इस आधार पर उन्हों ने अपना अनुवाद—'उस से सम्बन्धित वहां विस्तृत गति वाले विष्णु के उच्चतम स्थान में मधु का झरना है' दिया है। परन्तु सा० बन्धुः को विष्णु से सम्बद्ध करते हैं, उत्सः से नहीं। देखो ऊपर (i) में सा० की योजना का व्याख्यान। ल्यूड्विग यह भी कहते हैं कि भक्त की विष्णुलोक में निवास के लिए कामना का कारण उस लोक में बन्धुभूत मधु के उत्स की सत्ता है। सा० विष्णोः पदे परमे० को 'पाथः' का विशेषण मानते हैं और इस प्रकार के विशिष्ट पद का स्वामी होने के कारण ही विष्णु को बन्धु कहते हैं। अतः ल्यूड्विग का एक मात्र आधार ही भ्रान्तिपूर्ण है।

(iv) पीटर्सन का विचार है कि 'बन्धुः' में 'देवता और उस के भक्त के बीच के बन्धन का निर्देश हो सकता है—'निश्चय से विष्णु का भ्रातृत्व इस प्रकार का है......कि मैं भी वहाँ जीतने की आशा कर सकूं'। वे इस की पुष्टि में ऋ० ७। ७२। २—युवयोर्हि नः सख्या पित्र्याणि समानो बन्धुरुत तस्य वित्तम्—देते हैं। इस में बन्धुः को सख्या का समानार्थक मानते हैं।

(v) मै० 'सः' में 'पाथस्' का निर्देश मानते हैं और 'बन्धुः' की समीपता के कारण नपुंसक लिंग के स्थान में पुल्लिंग का प्रयोग।

(vi) पिश्चल ने उत्तरार्द्ध का अनुवाद—'विस्तृत गन्ता विष्णु के उच्चतम प्रदेश में निःसन्देह हमारा सम्बन्ध है, वहां मधु का झरना है।'—किया है। वे इत्था का अर्थ—'वहां' करते हैं।

(vii) जैसा हिन्दी अनुवाद में दिखाया गया है यहां पर 'स हि बन्धुरित्था' 'अभि अश्याम्' के कर्त्ता—स्तोता भक्त का निर्देशक प्रतीत होता है। स्तोता अपने को विष्णु का कृपापात्र इस लिए समझता है कि उस को विष्णु के उस लोक को प्राप्त करने की लालसा है जिस में कल्याण के इच्छुक आनन्दित होते हैं और वहां मधु=कल्याण का उत्स=झरना=निरन्तर निवास है। इस लोक को वह विष्णु की कृपा से ही प्राप्त कर सकता है। तु. क.-नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्॥ मुउ० ३।२।३ तथा-उत त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः। ऋ० १०।७१।४।

१०. इत्था—कुछ विद्वान् इसे 'अत्र' से व्युत्पन्न करते हैं। परन्तु इदम्+था=इत्था रूप बिल्कुल स्पष्ट है। उ० ४।१५७ में इदम् को √ इन्द् से व्युत्पन्न किया गया है। अतः इत्था—इस प्रकार कल्याणरूप ऐश्वर्य से सम्पन्न होने के कारण।

११. बन्धुः—बध्नाति इति बन्धुः (उ० १।१०)। बन्धक। उभयपक्ष एक दूसरे के स्नेह में फंस जाने के कारण मित्र या सम्बन्धी बनने वाले दोनों ही पक्ष बन्धु कहलाते हैं। भक्त भी विष्णु की कृपा से उस के प्रेम में बंध जाने के कारण विष्णु का बन्धु है।

१२. पदे—√ पद् जाना, प्राप्त करना, जानना से। अतः गन्तव्य, प्राप्तव्य और ज्ञातव्य स्वरूप में। विष्णु का स्थान उस का अपना स्वरूप ही है, क्यों कि वह सर्वव्यापक है—वेवेष्टि विष्टपं सर्वमिति विष्णुः। वेदमन्त्रों में वर्णित विष्णु के पद का यही भाव है।

१३. परमे—परम 'ईश्वर' अर्थ का द्योतक है। इसे √ पॄ पूरणार्थक धातु से अमच् प्रत्यय लगा कर भी व्युत्पन्न किया जा सकता है। (देखो दपाउ०

पृ० २८१ पाटि० १)। अतः यह पद 'पूर्ण, उत्कृष्ट निःश्रेयः से पूर्ण करने वाला' भावों का द्योतक है।

१४. मध्वः—मधुनः का वैदिक रूप है। उ० १। १८ और २। ११६ में इसे √मन् से व्युत्पन्न माना गया है—मन्यन्ते विशेषेण जानन्ति यस्मिन् स मधुः = (उ० १। १८ पर दभा०)। मन्यते बुध्यते यत्नेन वा तत् मधु (—स मधुः ?—उ० २। ११६ पर दभा०)। श० ७। ५। १। ३ में मधु को स्वर्ग लोक का रूप और तै० ३। ८। १४। २ में महती देवता का रूप कहा गया है। श० ३। ७। १। ११ के अनुसार यह सब कुछ मधु है। श० ६। ४। ३। २ में मधु को रस और श० १४। १। ३। ३० में प्राण कहा गया है। तै० ३। २। ८। ८ में प्राणों को ब्रह्म कहा गया है।

१५. उत्सः—को उ० ३। ६८ में √उन्द् भिगोना से व्युत्पन्न किया गया है—उनत्ति क्लिद्यतीत्युत्सः (दभा०)। श० ६। ७। ४। ४। में आपः को उत्सः कहा गया है। आपः व्याप्ति के द्योतक हैं। अतः मध्वः उत्सः का भाव विष्णु = ब्रह्म के स्वरूप, ज्ञान, रस और तत्त्व की व्याप्ति' होगा।

१६. तदस्य०—श्री पीटर्सन के विचार में यह मन्त्र आगामी जन्म में सुखप्राप्ति के विश्वास का सूचक है। दूसरे जन्म में सुख का अभिप्राय सामान्यतः स्वर्ग समझा जाता है। ऊपर की टिप्पणियों के अनुसार यहां स्वर्ग निर्देश्य नहीं है, प्रत्युत विष्णु के स्वरूप में व्याप्ति = लय अर्थात् मोक्ष का कथन किया गया है। इस से कर्मवाद, पुनर्जन्मवाद और सुखदुःख का कारण पूर्व जन्म के कर्मों का फल होना आदि विचारों की सत्ता और व्यापकता का अनुमान किया जा सकता है।

संहितापाठः	पदपाठः
६. ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः । अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमव भाति भूरि ॥६॥	ता । वाम् । वास्तूनि । उश्मसि । गमध्यै । यत्र । गावः । भूरिऽशृङ्गाः । अयासः । अत्र । अह । तत् । उरुऽगायस्य । वृष्णः । परमम् । पदम् । अव । भाति । भूरि ॥६॥

सायणभाष्यम्—हे पत्नीयजमानौ वां युष्मदर्थं ता तानि गन्तव्यत्वेन प्रसिद्धानि वास्तूनि सुखनिवासयोग्यानि स्थानानि गमध्यै युवयोर्गमनायोश्मसि कामयामहे। तदर्थं विष्णुं प्रार्थयाम इत्यर्थः। तानीत्युक्तं कानीत्याह। यत्र येषु वास्तुषु गावो रश्मयो भूरिशृङ्गा अत्यन्तोन्नत्युपेता बहुभिराश्रयणीया वायासोऽयना गन्तारोऽतिविस्तृताः। यद्वा। यासो गन्तारः। अतादृशाः। अत्यन्तप्रकाशयुक्ता इत्यर्थः। अत्राह अत्र खलु वास्त्वाधारभूते द्युलोक उरुगायस्य बहुभिर्महात्मभिर्गातव्यस्य स्तुत्यस्य वृष्णः कामानां वर्षितुर्विष्णोस्तादृशं सर्वत्र पुराणादिषु गन्तव्यत्वेन प्रसिद्धं परमं निरतिशयं पदं स्थानं भूर्यतिप्रभूतमव भाति। स्वमहिम्ना स्फुरति। अयं मन्त्रो यास्केन गोशब्दो रश्मिवाचक इति व्याचक्षाणेन व्याख्यातः—"तानि वां वास्तूनि कामयामहे गमनाय यत्र गावो भूरिशृङ्गा बहुशृङ्गा भूरीति बहुनो नामधेयं प्रभवतीति सतः। शृङ्गं श्रयतेर्वा शृणातेर्वा शम्नातेर्वा शरणायोद्गतमिति वा शिरसो निर्गतमिति वायासोऽयनाः। तत्र तदुरुगायस्य विष्णोर्महागतेः परमं पदं परार्ध्यस्थमव भाति भूरि। पादः पद्यते" (निरु० २।७) इति ॥ ६ ॥

हिन्दी अनुवाद—[वाम्] आप दोनों के (अभीष्ट) [ता] उन (पूर्ववर्णित प्रसिद्ध) [वास्तूनि] निवास स्थानों को [गमध्यै] प्राप्त करने की [उश्मसि] इच्छा करते हैं [यत्र] जहां [भूरिशृंगाः] अनेकों बड़े-बड़े सींगों वाली [अयासः] गतिशील [गावः] गाएं (रहती हैं)। [अह] निश्चय से [अत्र] वहां [उरुगायस्य] महान् गति (अथवा महान्) वाले [वृष्णः]

इच्छाओं के पूरक (विष्णु) का [तद्] वह [परमम्] उच्चतम [पदम्] स्थान [भूरि] अत्यधिक [अव भाति] जाज्वल्यमान है ॥ ६ ॥

टिप्पणियां—१. ता—तानि का वैदिक रूप। √तन् धातु से व्युत्पन्न होने के कारण इस का भाव—वे प्रसिद्ध सुविस्तृत—होता है। मन्त्र ५ में तद् पर टिप्पणी भी देखें।

२. वाम्—यह युष्मद् का द्वितीया, चतुर्थी या षष्ठी का रूप हो सकता है। सा० ने चतुर्थी का और दस० और मै० आदि ने षष्ठी का रूप माना है। सा० ने इस में यजमान और यजमानपत्नी का निर्देश माना है। पीटर्सन लिखते हैं कि सा० का यह विचार ठीक नहीं। यहां विष्णु के सहचारी किसी अन्य देवता का निर्देश ही अभीष्ट है। वह देवता कौन सा है—यह समस्या सरल नहीं। रौथ इस मन्त्र को मित्रावरुण का मानते हैं, जो 'परमं पदम्' के प्रयोग के कारण इस सूक्त में अव्यवस्थित रूप में डाला गया है। इसी प्रकार का अन्य देवता—मित्र का निर्देश दूसरे देवता—वरुण के सूक्त में उस के सहचर के रूप में बिना उस का नाम लिए ऋ० १।२५।६ में भी आया है—तदित्समानमाशाते वेनन्ता न प्र युच्छतः। धृतव्रताय दाशुषे ॥ मै० इस (वाम्) में इन्द्र और विष्णु का निर्देश मानते हैं, क्यों कि विष्णु के साथ इन्द्र का ही घनिष्ठ साहचर्य है। इस कारण उसी की विष्णुसूक्त में आनुषंगिक रूप में कल्पना सम्भव है। इस द्विवचनान्त वाम्-पद के कारण अगले सूक्त (ऋ० १।१५।५) के प्रथम दो मन्त्रों में इन्द्राविष्णू की स्तुति की जानी स्वाभाविक रही होगी।

(ii) दस० ने यहां योगी अध्यापक और उपदेशक का निर्देश माना है। दस० ने इस के लिए कोई प्रमाण नहीं दिया है, न कोई व्याख्यान किया है। यह प्रकरण या मन्त्रस्थ वर्णन के आधार पर ही किया गया प्रतीत होता है। जैसा पिछले मन्त्र की टिप्पणियों में दिखाया गया है वहाँ परम पद का भाव विष्णु का स्वरूप ही है। वही वर्णन यहां है। इस स्वरूप को जानने और प्राप्त करने वाले योगी जन ही होते हैं, यह सिद्धान्त वैदिक काल से चला आ रहा है। तु. क. युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः। वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ॥ ऋ० ५।८१।१; य० ५।१४।

उपह्वरे गिरीणां संगथे च नदीनाम्। धिया विप्रो अजायत ॥ ऋ० ८।६।२८। आदि। उपनिषदों और योगदर्शन आदि की भी यही भावना है।

(iii) उ० १।१३९ में युष्मद् को √युष् सेवन करना से व्युत्पन्न किया गया है। √युष् का रूप योषिष्टि निघं० २।१४।५७ में गत्यर्थक है। अतः निघं० ४।३।२९ में 'अस्मे' के पदनामों में पाठ के आधार पर 'युष्मे' को भी पदनाम मानना अनुचित न होगा। उधर 'वामः' के समान 'वाम्' को √वा जाना से भी ग्रहण किया जा सकता है। ऐसी परिस्थित में दस० का अर्थ ही ग्राह्य माना जा सकता है।

३. वास्तूनि—उ० १।७० में इसे √वस् धातु से 'अगार' अर्थ में व्युत्पन्न किया गया है। √वस् को निवास और आच्छादन-दोनों अर्थों में लिया जा सकता है। आच्छादक निवास।

४. उ॒श्म॒सि॒—√वश् इच्छा करना से लट् लकार उत्तम पु० बहुवचन का वैदिक रूप। इच्छा करते हैं।

५. गमंध्यै—√गम् जाना से अध्यैन्–प्रत्ययान्त तुमुन्नर्थ में वैदिक रूप। जाने के लिए, प्राप्त करने के लिए।

६. गाव॒ः भूरि॑शृंगाः—सा०—अत्युन्नत या सत्र के आश्रय के योग्य किरण। पीटर्सन—असंख्य किरणों वाले तारे; तु० क० पुराणों में वर्णित गोलोक और गोकुल। मै०—सा० और यास्क के किरण–अर्थ को सम्भव मानते हैं क्यों कि उषस् की किरणों की गौओं से उपमा दी गई है और प्रकाश के लोक विष्णु के तृतीय पद के अनुरूप सूर्य के प्रकाश से सम्बन्धित वस्तु ही उपयुक्त हो सकती है। ये पीटर्सन द्वारा स्वीकृत रौथ के 'तारे' अर्थ को निराधार मानते हैं। भूरिशृंगाः—बहुत से सींगों वाली का भाव अनेकों दिशाओं में सूर्य की किरणों का फैलना है। दस०—भूरिशृंग–उत्कृष्ट तेजी वाली।

(ii) तै० ३।९।८।३ में गौः को अन्न कहा गया है। अन्न को श० ८।३।२।१ में श्रीः, तै० ३।२।३।४ में चन्द्रमा, श० ७।५।२।६० में अपां पृष्ठः कहा गया है। प्रत्येक भोग्य पदार्थ अन्न है (√अद्

से)। श० ७।५।२।१९ में गौः को विराट्, तां० ४।९।३ में विराट् का रूप, श० ७।५।२।१९ में अजस्र सोम और श० १२।९।१।४ में पुरुष का रूप कहा गया है। अतः यहां गावः का भाव 'आनन्ददायक व्याप्तिशील भोग्य सदैव शान्तिप्रद विष्णु का स्वरूप' है।

(iii) दै० ३।२१ में भूरिजः को √भृ धारण-पोषण करना से व्युत्पन्न किया है, यास्क ने नि० २।७ में बहु से, और बहु को प्रभवतीति सतः—समर्थ होने के कारण कह कर प्र+√भू से। अतः भूरि–धारक, पोषक और सर्वशक्तिमान्।

(iv) शृंग को नि० २।७ में √श्रि सेवा करना, आश्रय लेना, √शॄ हिंसा करना, √शम् शान्त होना (या करना), और शरण+उद्√गम् से व्युत्पन्न किया गया है। अतः शृंग—सेवनीय, दुःखनाशक, शान्तिदायक और शरणभूत।

(v) अतः पूर्वार्द्ध के महत्त्वपूर्ण पदों का सामूहिक भाव यह हुआ—धारक पोषक सर्वशक्तिमान् सेवनीय दुःखनाशक शान्तिदायक शरणभूत आनन्दमय व्यापक प्राप्त करने योग्य शान्तिमय परमेश्वर के स्वरूप रूप आच्छादक निवासों। ये निवास विष्णु के स्वरूप से भिन्न नहीं हैं।

७. अयासः—सा०—१. चलने वाली, गतिमान्, अतिविस्तृत २. गतिहीन–परम प्रकाशमान। दस०—प्राप्त हुए, पहुँचे हुए। ये भाष्यकार यास्क के अनुसार इसे √इ जाना के रूप 'अय' का प्रथमा बहुवचन मानते हैं। मै० कहते हैं कि ऋग्वेद में अयासम् (द्वितीया एक व०) अयासः (२ तीया बहु व०), अयासाम् (६ ठी बहु व०) के प्रयोगों से ज्ञात होता है कि यह पद अयास् है। सिंह, मरुतों, और अश्व का विशेषण होने से इस का अर्थ चुस्त, तीव्रगामी, चपल होना चाहिए। रौथ इसे अ+यास् (√यस् से) से मान कर इस का अर्थ अपने पर जोर न डालने वाले, हल्के, चुस्त, कुशल करते हैं। ऋग्वेद में यह अर्चयः और अजराः का भी विशेषण है। पीटर्सन—न थकने वाली। उ० ४।२२२ में इसे √इ से व्युत्पन्न किया गया है और अग्नि का पर्याय बताया गया है। देखो दभा०—एति प्राप्नोति अयाः। अग्निर्वा। स्वरादिपाठादव्ययम्। अत एव दीर्घादिरासिः प्रत्ययः। इस का अव्ययत्व प्रत्यग्वैदिक

है। दपाउ० ९।८१ में इस को अव्यय नहीं माना है। वहां पर वृत्तिकार ने इस के दो अर्थ काल और आदित्य दिए हैं। अतः ऊपर गावः आदि के भाव के अनुरूप इस का भाव—'सृजक होने के कारण गतिमान्, काल रूप, सब का आदाता' होगा।

(ii) उरुगायस्य—के लिए मन्त्र १ में उरुगायः पर, वृष्णः के लिए मन्त्र ३ में वृष्णे पर, परमं पदम् के लिए मन्त्र ५ में पदे परमे पर टिप्पणियां देखें।



ऋ० २।१२—इन्द्रसूक्तम्

ऋषिः—गृत्समदः । देवता—इन्द्रः । छन्दः—त्रिष्टुप् । स्वरः—धैवतः ।

संहितापाठः	पदपाठः
७. यो जात एव प्रथमो मनस्वान् देवो देवान् क्रतुना पर्यभूषत् । यस्य शुष्माद् रोदसी अभ्यसेतां नृम्णस्य मह्ना स जनास इन्द्रः ॥१॥	यः । जातः । एव । प्रथमः । मनस्वान् देवः । देवान् । क्रतुना । परिऽअभूषत् यस्य । शुष्मात् । रोदसी इति । अभ्यसेताम् । नृम्णस्य । मह्ना । सः । जनासः । इन्द्रः ॥१॥

सायणभाष्यम्—द्वितीयेऽनुवाक एकादश सूक्तानि । तत्र "यो जात" इति पञ्चदशर्चं प्रथमं सूक्तं गार्त्समदं त्रैष्टुभमैन्द्रम् । संसवे निष्केवल्ये निविद्धानीयस्य पुरस्ताद् "यो जात एव" इति [सूक्तं] शंसेत् । "यदि पर्यायान्" इति खण्डे सूत्रितम्—"यो जात एवेति निष्केवल्ये" (आश्व० श्रौ० सू० ६।६) इति । आभिप्लविके तृतीयेऽहनि निष्केवल्ये "यो जात एव" इति निविद्धनीयम् । सूत्रितं च—"तृतीयस्य त्र्यर्यमा यो जात एवेति मध्यन्दिनः" (आश्व० श्रौ० सू० ७।७) इति । विश्वजिति माध्यन्दिनसवने मैत्रावरुणः स्वशस्त्रे प्राकृतात् सूक्तात् पूर्वं "यो जात" इति सामसूक्तं शंसेत् । "विश्वजितोऽग्नि नरः" इति खण्डे सूत्रितम्—"सत्रा मदासो यो जात एवाभूरेक इति सामसूक्तानि" (आश्व० श्रौ० सू० ८।७) इति । अग्निष्टुन्निष्केवल्ये निविद्धानमिदम् "श्येनाजिराभ्याम्" इति खण्डे सूत्रितम्—"तिष्ठा हरी [इति] यो जात एवेति मध्यन्दिनः" (आश्व० श्रौ० सू० ६।७) इति । महाव्रते निष्केवल्ये "यो जात एव" इति सूक्तम् "उरू" इति खण्डे सूत्रितम्—"वने न वा यो न्यधायि चाकन् यो जात एव प्रथमो मनस्वान्" (ऐ० आ० ५।१२) इति ॥

अत्रेतिहासो बृहद्देवतायाम् (४।६५-७९) उक्तः—

"संयुज्य तपसात्मानमैन्द्रं बिभ्रन्महद् वपुः ।
अदृश्यत मुहूर्तेन दिवि च व्योम्नि चेह च ॥
तमिन्द्र इति मत्वा तु दैत्यौ भीमपराक्रमौ ।
धुनिश्च चुमुरिश्चोभौ सायुधावभिपेततुः ॥
विदित्वा स तयोर्भावमृषिः पापं चिकीर्षतोः ।
यो जात इति सूक्तेन कर्माण्यैन्द्राण्यकीर्तयत् ॥"

(बृहद्दे० ४।६६-६८)

अन्ये त्वन्यथा वर्णयन्ति—पुरा किलेन्द्रादयो वैन्ययज्ञं समाजग्मुः । गृत्समदोऽपि तत्रागत्य सदस्यासीत् । दैत्याश्चेन्द्रजिघांसया तत्र समागमन् । तान् दृष्ट्वा निर्जगामेन्द्रो यज्ञाद् गृत्समदाकृतिः । स च गृत्समदो वैन्येन पूजितो यज्ञवाटान्निरगच्छत् । निर्गच्छन्तं तमृषिं दृष्ट्वायमेवेन्द्र इति मन्यमानास्तमसुराः परिवव्रुः । नाहमिन्द्रस्तुच्छः किन्त्वेवङ्गुणोपेतः स इत्यनेन सूक्तेन तान् प्रत्युवाच ॥

अपरे त्वेवं कथयन्ति—गृत्समदस्य यज्ञे प्रविष्टमेकाकिनमिन्द्रं ज्ञात्वासुराः परिवव्रुः । स इन्द्रो गृत्समदरूपेण यज्ञवाटान्निर्गत्य स्वर्गं जगाम । ततोऽसुरा इन्द्रो विलम्बित इत्यन्तः प्रविश्य गृत्समदं दृष्ट्वा पूर्वमेव गृत्समदो गतः, अयं त्विन्द्रोऽस्मद्भयात् गृत्समदरूपेणास्त इति तं जगृहुः । स तान् नाहमिन्द्रोऽयमित्यनेन सूक्तेन प्रत्युवाच । अयमेवार्थो महाभारते प्रपञ्चितः ॥

गृत्समदो ब्रूते । जनासो जना हे असुरा यो जात एव जायमान एव सन् प्रथमो देवानां प्रधानभूतो मनस्वान् मनस्विनामग्रगण्यो देवो द्योतमानः सन् क्रतुना वृत्रवधादिलक्षणेन स्वकीयेन कर्मणा देवान् सर्वान् यागदेवान् पर्यभूषत् । रक्षकत्वेन पर्यग्रहीत् । "भूष अलङ्कारे" भ्वादिः, लङि रूपम् । यद्वा—सर्वानन्यान् देवान पर्यभूषत् पर्यभवद् अत्यक्रामत् । अस्मिन् पक्षे भवतेर्व्यत्ययेन क्सः । "श्र्युकः किति" (पा० ७।२।११) इतीट्प्रतिषेधः । यस्येन्द्रस्य शुष्मात् शरीराद् बलाद् रोदसी द्यावापृथिव्यावभ्यसेतामबिभीताम् । "भ्यस भये" अनुदात्तेत् । "भ्यसते रेजत इति

भयवेपनयोः" (निरु० ३।२१) इति नैरुक्ताः। अभ्यसेतामवेपेतां वा। तथा च मन्त्रान्तरम्--"इमे चित्तव मन्यवे वेपैते भियसा मही" (ऋ० १।८०।११) इति। नृम्णस्य सेनालक्षणस्य बलस्य मह्ना महत्त्वेन युक्तः स इन्द्रो नाहमिति। अत्र निरुक्तम्—"यो जायमान एव प्रथमो मनस्वी देवो देवान् क्रतुना कर्मणा पर्यभवत् पर्यगृह्णात् पर्यरक्षदत्यक्रामदिति वा। यस्य बलाद् द्यावापृथिव्यावप्यबिभीतां नृम्णस्य मह्ना बलस्य महत्त्वेन स जनास इन्द्र इत्यृषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता" (निरु० १०।१०) इति ॥ १ ॥

हिन्दी अनुवाद—[यः] जिस [प्रथमः] प्रमुख पहले से ही वर्तमान [मनस्वी] महानुभाव [देवः] द्योतनशील देव ने [जातः] उत्पन्न होते [एव] ही [क्रतुना] (अपने) सामर्थ्य से [देवान्] (सब) देवों को [पर्यभूषत्] सब ओर से अलंकृत किया हुआ है, [यस्य] जिस के [शुष्मात्] बल से (और) [नृम्णस्य] नेतृत्व की [महित्वा] महिमा से [रोदसी] द्युलोक और पृथिवी लोक [अभ्यसेताम्] काँपते रहे हैं, [जनासः] (हे) पुरुषो, [सः] वह (ही) [इन्द्रः] इन्द्र (है) ॥१॥

टिप्पणियाँ—१. यः—उ० १।१३२ में इसे √ यज् (देवपूजा, संगतिकरण और दान) से व्युत्पन्न किया गया है—यजति सर्वैः पदार्थैः संगतो भवतीति यत् (दभा०)। दस० ने यहाँ पर इसे ब्रह्म का नाम भी माना है। दपाउ० ६।४३ में इसे √यत् प्रयत्न करना से व्युत्पन्न किया गया है। अतः इस का भाव 'सृष्टिरचना में प्रयत्नशील प्रकृति के परमाणुओं और जीवों की योजना द्वारा समस्त पदार्थों का रचयिता ब्रह्म' है।

२. जात एव – पुरुषसूक्त में पुरुष से विराट् की उत्पत्ति बताई गई है। विराट् से ही शेष समस्त वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं। ब्राह्मणग्रन्थों में विराट् के वृष्टि, अग्नि, वाक्, पृथिवी, अन्न, आपः, यज्ञः आदि बहुविध अर्थ कर के इसी बात को व्यक्त किया है। विराट् पद वि + √राज् चमकना से व्युत्पन्न होने के कारण 'परम दीप्तिमान् स्थिति का द्योतक है। अतः उसे उत्पन्न होते ही सब देवों को विभूषित करने वाला कहा गया है। सब पदार्थों में

विराट् का तेज ही प्रभा और शक्ति है। इस दृष्टि से मै० का 'पछाड़ देने, नीचा दिखा देने' का भाव भी ग्राह्य है।

३. प्रथमः—सृष्टि से पहले न सत् था, न असत्। केवल 'एक तत्' ही बिना वायु के अपने सामर्थ्य से श्वास ले रहा था। देखो ऋ० १०।१२६।१-२। उसी से सारी सृष्टि उत्पन्न हुई है। अतः उस 'तत् एक' ब्रह्म को प्रमुख, पहले से ही वर्तमान कहा गया है। 'प्रथमः' पद √प्रथ् से (दपाउ० ७।२६,४६) बनता है, अतः इस का अर्थ 'प्रसिद्ध, विस्तृत—व्यापक' भी होता है।

४. मनस्वान्—पदपाठ में इसे अवगृहीत नहीं किया गया है। मै० लिखते हैं कि यह स्थिति सन्धि के कारण है। यदि सन्धि मनोवान् होती तो इसे अवगृहीत कर दिया जाता। उन का यह लेख ऋ० ९।११।८ के मनःऽ चित् की दृष्टि में मान्य नहीं है।

(*ii*) इस के अर्थ सा० ने 'मनस्वियों में अग्रगण्य', दस० ने 'विज्ञान युक्त', मै० ने 'बुद्धिमान्' और पीटर्सन ने 'भयंकर, घोर, उग्र' किए हैं।

(*iii*) ऋ० १०।१२९।४ का मन्तव्य है कि सृष्टि की उत्पत्ति के समय पुरुष के मन में कामना उत्पन्न हुई। यह कामना ही उस के मन में सृष्टि का स्वयंभु, स्वतन्त्र यज्ञमय व्यापक बीज बनी। यही भाव यहाँ 'मनस्वान्' पद से व्यक्त किया गया है।

५. देवः देवान्—सा० और आधुनिक विद्वानों ने विभिन्न शक्तिविशेष देवताओं की कल्पना की हुई है। ये देवता उत्पन्न होते हैं। इन के नाम इन्द्र, अग्नि, वरुण, मित्र आदि हैं। इस मन्त्र के दूसरे पाद में इस कल्पना के आधार पर इन्द्र देवता को अन्य देवताओं को अभिभूत करने वाला बताया गया है। इस में देवासुर संग्राम अभिप्रेत नहीं, प्रत्युत एक की दूसरे देवता से उत्कर्ष के लिए स्पर्धा लक्षित होती है।

(*ii*) दस० का विचार भिन्न है। वे 'देव' पद को √दिव् धातु से निष्पन्न

कर इस धातु के क्रीड़ा आदि दसों अर्थों के प्रकाशक पदार्थों आदि को देवता मानते हैं। शतपथ ब्राह्मण में ३३ देवताओं के व्याख्यान, ब्राह्मण ग्रन्थों के देव-पद के अर्थों तथा वेदों में देवताशब्द से निर्दिष्ट और ज्ञात पदार्थों आदि से भी यही निष्कर्ष निकलता है। इस प्रकार न केवल ब्रह्म या परमेश्वर ही देवता है, प्रत्युत समस्त उपकारक पदार्थ, विचार आदि देवता हैं। देव और देवता समानार्थक हैं। अतः 'परमात्मा सब पदार्थों को अपनी शक्ति से तेजस्वी बनाता है, अपने सृष्टिकर्म से उन्हें उत्पन्न कर अपने शासन में स्थापित करता है।'

६. क्रतुना—सा०—वृत्रवध आदि अपने कर्मों से। दस०—प्रकाश कर्म से। रौथ - शक्ति से। मै०—सामर्थ्य में।

(*ii*) इस मन्त्र और सूक्त में इन्द्र को सूर्य मानने पर सा० और दस० के अर्थ उपयुक्त हैं। परन्तु सृष्टिरचना प्रकरण में ये अर्थ उपयुक्त नहीं। यहाँ पर ब्रह्म का अपने मन से सृष्टिरचना की कामना रूपी यज्ञमय स्वयभु स्वतन्त्र और व्यापक रेतस् कहलाने वाले बीज को धारण कर के सृष्टिरचना रूप कर्म और शक्ति अभिप्रेत हैं।

७. पर्यभूषत्—मै० के विचार में परि + √भूष् का अर्थ अनिश्चित है। परन्तु इस सूक्त में इन्द्र की महिमा के वर्णन के कारण इस का अर्थ 'अभिभूत करना' होना चाहिए। सा० ने इस का अर्थ यहाँ पर 'रक्षाओं से अभिभूत किया, और तैसं० में 'नीचा दिखाना', 'उत्कृष्ट हो जाना' किया गया है। रौथ–सुशोभित किया।

८. शुष्मात्—पीटर्सन इसे √श्वस् सांस लेना से व्युत्पन्न कर इस के अर्थ 'जिस के श्वास पर, जिस के सांस के सामने से' करते हैं। यह पद मरुतों के विशेषण के रूप में भी प्रयुक्त हुआ है। ऋ० १।५२।४ में यह मरुतः का विशेषण है। वे लिखते हैं कि यहाँ 'श्वास' का अर्थ 'शक्ति' करना पद्य को गद्य में बदलना है।

(*ii*) इस के अनुरूप पद 'शूषम्' का प्रयोग पिछले सूक्त (१।१५४) के

मन्त्र ३ में किया गया है। जैसा वहाँ की टिप्पणियों में दिखाया गया है भारतीय भाष्यकार इसे √ शुष् से व्युत्पन्न करते हैं। सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्म के यज्ञमय कामना रूपी बीज को मन में धारण करने से सर्वप्रथम अप्रकेत सलिल (= आपः) की उत्पत्ति हुई। इसी आपः से समस्त सृष्टि का आविर्भाव हुआ। इस से पदार्थों की विविध गुण युक्त रचना और विभिन्न स्थलों में दृढ़ होना—सब कुछ इन्द्र की शोषक शक्ति से सम्पन्न हुआ है। अतः शुष्मात् का प्रयोग साभिप्राय है।

९. रोदसी—रोदस्यौ का वैदिक रूप है। यह पद द्युलोक और पृथिवीलोक का द्योतक है (देखो वैको०, निघं० ३।३०।४)। निघं० ५।५।३६ में इसे पदनामों में पढ़ कर गति, प्राप्ति और ज्ञान अर्थ वाला माना है। नि० ६।१ में इसे वि + √ रुध् से निरुक्त किया गया है। नि० ११।४६ में एकवचनान्त रोदसी को रुद्र की पत्नी कहा गया है। तै० २।२।६।४ में 'यदरोदीत् (प्रजापतिः) तदनयोः (द्यावापृथिव्योः) रोदस्त्वम्' कह कर इसे √ रुद् से व्युत्पन्न माना है। सृष्टिरचना के समय के अप्रकेत सलिल ही प्रजापति हैं। पृथिवी और द्युलोक के पृथक्करण के समय महान् शब्द की सत्ता के कारण इन्हें रोदसी कहा गया है। उन का शब्द ही रोना है। डा० फतहसिंह लिखते हैं कि एक दूसरे से पृथक् ज्ञात जीव और प्रकृति को भी रोदसी कहते हैं। (देखो वैए० ६०९)।

१०. अभ्यसेताम्—√भ्यस् कांपना से लङ् प्रथम पु० द्विवचन। वेदस्थ भूतकालिक क्रियाएँ बहुधा वर्तमान काल का अर्थ देती हैं। यहाँ पर इस पद का भाव 'अलग-अलग हो कर अपने-अपने स्थानों पर जमे' होगा। दस०–अलग होते हैं। मै०-डरते हैं।

११. नृम्णस्य मह्ना—सा०—सेनारूप बल की महिमा से। दस०—धन की महिमा से। मै०—वीरता की महिमा से।

(*ii*) नृम्ण पद √ नृ (ले जाना) से बनता है। अतः इस का अर्थ 'नेतृत्व' किया जा सकता है। समस्त ब्रह्माण्ड का उत्पादक, धारक और नाशक

होने के कारण परमात्मा (– इन्द्र) ही नायक है। उस के नायक गुण से ही समस्त सृष्टि की सत्ता है।

१२. मह्ना—महिमन् से तृतीया का एक व०। वैदिक रूप।

१३. स जनास इन्द्रः—यह प्रतीक अन्तिम मन्त्र को छोड़ कर इस सूक्त के शेष सब मन्त्रों के अन्त में पाई जाती है।

(*ii*) श्री पीटर्सन लिखते हैं कि इस का सायणीय व्याख्यान—'मैं नहीं, वह इन्द्र है'—बृहद्देवता से उस के द्वारा उद्धृत उपहासास्पद कथा की ओर निर्देश करता है। इस कथा से बृहद्देवता के रचयिता और इस सूक्त के रचयिता के काल और भावनाओं में दूर का अन्तर सुलक्षित होता है।

(*iii*) सायण ने इस सूक्त के सम्बन्ध में तीन आख्यान दिए हैं। तीनों का भाव यह है कि असुर गृत्समद को ही इन्द्र मान कर उस पर आक्रमण करते हैं। गृत्समद उन के भाव को जान कर अपनी रक्षा के लिए इस सूक्त के मन्त्रों से असुरों को बताता है कि वह इन्द्र नहीं है, प्रत्युत इन्द्र का स्वरूप उस के वर्णन के अनुसार है। असुरों को यह तथ्य जान कर गृत्समद को नहीं मारना चाहिए।

(*iv*) इन्द्र की स्थिति तो स्पष्ट है। वह इस समस्त जगत् का रचयिता सर्वशक्तिमान् परमेश्वर ही है। गृत्स को निघं० ३।१५।३ में मेधाविनामों में पढ़ा गया है। अतः मेधावियों में मद के समान उत्कृष्ट या आनन्द लेने वाले को गृत्समद कहते हैं। जब लोग इस व्यक्ति को ही ब्रह्म समझने लगते हैं तो ब्रह्मज्ञानी मेधावी (= गृत्समद) उन्हें बताता है कि जीवात्मा ब्रह्म नहीं है। उस में ऐसी सामर्थ्य नहीं जो ब्रह्म में है और इस सूक्त में वर्णित की गई है। उत्पन्न होने वाले का नाम जन है। असून् प्राणान् राति गृह्णाति धारयतीत्यसुरः —इस व्युत्पत्ति से 'असुर' 'जन' का पर्यायवाची हो जाता है। अलंकार से रहित इस सूक्त से सम्बन्धित कथाओं का उपरोक्त भाव सुस्पष्ट हो जायगा।

१४. इन्द्रः—ऋग्वेद के धर्म में यह प्रमुख देवता है। यह वीरकर्म करता है और सोमरस पीने में सर्वाधिक रुचि लेता है। इस का प्रमुख कर्म वृत्र या अहि या सर्प का वध है। सामान्यतः इसे सूर्य माना जाता है।

(*ii*) एक मन्त्र (ऋ० ९।१०७।१९) में इसे इन्दु + रन् से व्युत्पन्न माना प्रतीत होता है। डा० फतहसिंह ने वैदिक साहित्य से इस की लगभग १७ व्युत्पत्तियाँ संकलित की हैं और उन को पाँच वर्गों में रक्खा है—

१. इन्धः

२. इदम् + √द ; इदम् + √दृश् ; इदम् + √धर् ; इदं + कर।

३. इराम् + √द ; इराम् + √दा ; इराम् + √धा।

४. इन्दु + √द्रु ; इन्दु + √रम् ; इन्दु + रन्।

५. इन्द—र ; इन्द् + √द ; इन्द् + √द्रु ; इन्द् + आ द।

उन के विचार में इन्द—र ही सब से उपयुक्त निर्वचन है। इस की अवै० ओदिन् या वादिन् से घनिष्ठ समानता है। (देखो वैए० पृ० ६४ ; १०२)। दस० ने भी इसे √ इदि परमैश्वर्ये से निरुक्त किया है और इस के अनेकविध अर्थ जैसे परमेश्वर, सूर्य, राजा, और विद्वान् आदि किए हैं। आधुनिक विद्वानों ने अपनी अपनी कल्पनाएँ दौड़ा कर इन्द्र का मूल स्वरूप बताने का भगीरथ प्रयत्न किया है। एक ने तो इसे ईरान का रुस्तम नामक पहलवान ही घोषित कर दिया है।

(*iii*) परन्तु विचारणीय यह है कि ऋ० १।१३६।८ में 'इन्द्र' अग्नि का विशेषण है और ऋ० ७।७९।३ में उषस् के विशेषण 'इन्द्रतमा' में इस के साथ तमप् प्रत्यय का प्रयोग किया गया है। पुनरुक्त ऋगंशों में इस का अग्नि, इन्दु, सोम और विष्णु से तादात्म्य पाया जाता है। इसे 'एकं सत्' का नाम भी कहा है। अतः 'इन्द्र'-पद ऋग्वेद में किसी एक वस्तु या दृश्य विशेष का द्योतक नहीं। भिन्न-भिन्न स्थलों पर इस का विषयानुसार अर्थ करना उचित प्रतीत होता है। ब्राह्मण ग्रन्थों के इन्द्रपद के अनेकविध अर्थों—तपन सूर्य, आदित्य, आकाश, वाक्, वायु, प्राण, हृदय, मन, यजमान, क्षत्र, अशनि, ब्रह्म, प्रजापति, देवलोक, वीर्य, शिश्न, उद्गाता, अश्व, आदि से भी यही निष्कर्ष निकलता है।

संहितापाठः	पदपाठः
८. यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहद् यः पर्वतान् प्रकुपिताँ अरम्णात् । यो अन्तरिक्षं विममे वरीयो यो द्यामस्तभ्नात् स जनास इन्द्रः ॥२॥	यः । पृथिवीम् । व्यथमानाम् । अदृंहत् । यः । पर्वतान् । प्रऽकुपितान् । अरम्णात् । यः । अन्तरिक्षम् । विऽममे । वरीयः । यः । द्याम् । अस्तभ्नात् । सः । जनासः । इन्द्रः ॥२॥

सायणभाष्यम्—हे जना य इन्द्रो व्यथमानां चलन्तीं पृथिवीमदृंहत् शर्करादिभिर्दृढामकरोत् । "दृह दृहि [वृह वृहि] वृद्धौ" । यश्च प्रकुपितानितस्ततश्चलितान् पक्षयुक्तान् पर्वतानरम्णान्नियमितवान् स्वे स्वे स्थाने स्थापितवान् । अरम्णात्—"रमु क्रीडायाम्" अन्तर्भावितण्यर्थस्य व्यत्ययेन श्नाप्रत्ययः । यश्च वरीय उरुतममन्तरिक्षं विममे निर्ममे विस्तीर्णं चकारेत्यर्थः । यश्च द्यां दिवमस्तभ्नात् तस्तम्भ निरुद्धामकरोत् । "स्तम्भु रोधने" इति सौत्रो (पा० ३।१।८२,८।३।११६) धातुः । स एवेन्द्रो नाहमिति ॥ २ ॥

हिन्दी अनुवाद—[यः] जिस ने [व्यथमानाम्] कांपती हुई [पृथिवीम्] पृथिवी को [अदृंहत्] स्थिर किया हुआ है, [यः] जिस ने [प्रकुपितान्] चंचल [पर्वतान्] पहाड़ों को [अरम्णात्] शान्त किया हुआ है, [यः] जिस ने [वरीयः] महान् विस्तृत [अन्तरिक्षम्] अन्तरिक्ष लोक को [विममे] बनाया है और [यः] जिसने [द्याम्] द्युलोक को [अस्तभ्नात्] जमाया हुआ है, [जनासः] हे मनुष्यो, [सः] वह (ही) [इन्द्रः] इन्द्र है ॥ २ ॥

टिप्पणियाँ—१. व्यथमानाम्—मैत्रायणी संहिता १।१०।१३ में एक आख्यान मिलता है जिस में कहा गया है कि पर्वत प्रजापति के बड़े पुत्र थे ।

उन के पंख थे। अतः जहाँ चाहते थे वे बैठ जाते थे। इस से पृथिवी शिथिल रहती थी। इन्द्र ने पर्वतों के इन पंखों को काट दिया और पृथिवी को स्थिर कर दिया। पर्वतों के कटे हुए पंख बादल (—जीमूत) बन गए। अपना उत्पत्ति-स्थान होने के कारण ही बादल वर्षा ऋतु में पर्वतों पर आश्रय लेते हैं।

(*ii*) इस आख्यान में मानवसृष्टि से पूर्व का वर्णन है। उस समय सब कुछ अस्थिर, चञ्चल था। अभी वस्तुओं का स्वरूप बन रहा था। इस स्वरूप का निर्माता इन्द्र था—यह इस सूक्त से ज्ञात होता है।

(*iii*) दस० ने इस भाग का भाव '(परमेश्वर ने) सूर्य के निर्माण द्वारा चलते हुए पृथिवी आदि लोकों को अपनी-अपनी परिधि में गति करने के लिए धारण किया हुआ है' लिया है।

२. प्रकुपिताँ अरम्णात्—प्रकुपितान् + अरम्णात्। वैदिक सन्धि। ऋग्वेद में पदान्त आन् को स्वर आगे आने पर आँ लिखा जाता है। ऐसे अधिकांश स्थलों में आन् मूल आन्स् के लिए प्रयुक्त हुआ है। आगे स्वर आने पर इस आन्स् को आस् के समान ही समझ कर सन्धि की जाती है। (देखो पीटर्सन हिम्ज़ फ्रौम दी ऋग्वेद, भाग १, पृ० ७२—ऋ० १।२५।११ में चिकित्वाँ पर टिप्पणी।

(*ii*) आधुनिक विद्वानों का कहना है कि इस मन्त्र से ज्ञात होता है कि वैदिक काल में √कुप् का अर्थ 'गति' था और यह बाह्य जगत् से सम्बन्ध रखता था। लक्षणा से यह धातु भौतिक जगत् से हट कर भावात्मक मानसिक जगत् में प्रयुक्त होने लगी और वहाँ संस्कृत में यह 'क्रोध' की और लैटिन में 'इच्छा' की द्योतक बन गई।

(*iii*) अरम्णात् में भी शब्दार्थ के प्रसार पर इसी प्रकार का प्रकाश मिलता है। वेद में इस का अर्थ 'विश्राम करना' है, परन्तु लोक में यह सब प्रकार के आनन्द का उपभोग करने में प्रयुक्त होती है; केवल विश्रामजन्य [illegible] के उपभोग का ही नहीं।

(*iv*) परन्तु ऋग्वेद १।५४।४ के 'त्वं दिवो बृहतः सानु कोपयः', ५।५७।३

के 'कोपयथ पृथिवीं पृश्निमातरः', १०।४४।८ के 'द्यौः क्रन्ददन्तरिक्षाणि कोपयत्' और प्रकृत मन्त्र में √ कुप् का प्रयोग एकान्ततः बाह्य गति का द्योतक नहीं माना जा सकता। इस में क्रोध का भाव स्पष्ट झलकता है। ऋ० १।१४०।३ में 'कुपयम्' को भी ऐसी ही स्थिति मानी जा सकती है।

(*v*) ऋ० ८।१०१।४ के 'न संवादाय रमते',[1] १०।१४५।४ के 'नो अस्मिन् रमते जनः'[2] ५।५२।१३ के 'तमृषे मारुतं गणं नमस्या रमया गिरा'[3], १०।४२।१ के 'नि रामय जरितः सोम इन्द्रम्'[4], ७।५६।१६ के 'इमे तुरं मरुतो रामयन्ति'[5], १०।३४।१३ के 'वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः'[6] में √ रम् का प्रयोग लौकिक अर्थों में ही हुआ है। इन मन्त्रों के ऋषियों में से जमदग्नि, श्यावाश्व, कृष्ण और वसिष्ठ प्राचीनतम काल के हैं। वे गृत्समद से पीछे के नहीं हैं। अतः प्रकृत मन्त्र में √ रम् के प्रयोग को उपर निर्दिष्ट निष्कर्ष का पोषक मानना विचारणीय है।

(*vi*) दस० ने निघं० २।१९।२४ (वधकर्मा) के आधार पर इसे वध—अर्थ में लिया है—जो (सूर्य) अत्यन्त कोपयुक्त शत्रुओं के समान वर्तमान मेघों को छिन्न-भिन्न करता है।

३. विममे—पीछे ऋ० १।१५४।१ में विममे पर टिप्पणी देखें। श्री म्यूर लिखते हैं कि यहाँ पर इस का अर्थ 'निर्माण किया' हो सकता है। दस०—विशेष रूप से मान करता है।

४. वरीयः—उरु + ईयस्, नपुं० द्वितीया एक व०। मै० का विचार है कि इस का प्रयोग 'विस्तृत होने के लिए फैला हुआ' भाव का व्यञ्जक है। तु० क०—'अकृणुतमन्तरिक्षं वरीयोऽप्रथतं जीवसे नो रजांसि' (ऋ० ६।६९।५)—'इन्द्र और विष्णु, तुम ने अन्तरिक्ष को चौड़ा किया है और हमारे रहने के लिए स्थानों को फैलाया है।'

---

१. जमदग्निर्भार्गवः। २. इन्द्राणी ऋषिका।
३. श्यावाश्व आत्रेयः। ४. कृष्ण आंगिरसः।
५. मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः। ६. कवष ऐलूषः, अक्षो मौजवान् वा।

(*ii*) उरु—पद √ऊर्णु (ढकना) से बनता है। अतः यहाँ आच्छादक अर्थ अभिप्रेत है। ऊपर उद्धृत ऋ० ६।६६।५ में भी वरीयः का यही अभिप्राय है।

५. द्याम्—द्यो का द्वितीया एक व०। सा०—स्वर्ग। मै०—आकाश, स्वर्ग। दस०—प्रकाश।

६. अर्दृंहत्, अरम्णात्, अस्तभ्नात्—क्रमशः √दृंह्, √ रम् और √स्तभ् से लङ् लकार प्रथम पु० एक व० के रूप हैं।

संहितापाठः	पदपाठः
९. यो हत्वाहिमरिणात् सप्त सिन्धून्	यः। हत्वा। अहिम्। अरिणात्। सप्त। सिन्धून्। यः। गाः।
यो गा उदाजदपधा वलस्य।	उत्ऽआजत्। अपऽधा। वलस्य।
यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान	यः। अश्मनोः। अन्तः। अग्निम्। जजान।
सं वृक् समत्सु स जनास इन्द्रः ॥३॥	सम्ऽवृक्। समत्ऽसु। सः। जनासः। इन्द्रः ॥३॥

सायणभाष्यम्—योऽहिं मेघं हत्वा मेघहननं कृत्वा सप्त सर्पणशीलाः सिन्धून् स्यन्दनशीला अपोऽरिणात् प्रैरयत्। यद्वा सप्त गङ्गायमुनाद्या मुख्या नदीररिणात्। "रीङ्-स्रवणे" क्रयादिः। यश्च वलस्य वलनामकस्यासुरस्य अपधा तत्कर्तृ कान्निरोधान्निरुद्धा गा उदाजन्निरगमयत्। अपधा। अपपूर्वाद्दधातेः—"आतश्चोपसर्गे" (पा० ३।३।१०६) इति भावेऽङ् प्रत्ययः। 'सुपां सुलुक्०' (पा० ७।१।३९) इति पञ्चम्या आकारः। यश्चाश्मनोः—अश्नुते व्याप्नोत्यन्तरिक्षमित्यश्मा मेघः। अत्यन्तमृदुरूपयोर्मेघयोरन्तर्मध्ये वैद्युतमग्निं जजानोत्पादयामास। यश्च समत्सु—सम्भक्षयन्ति योद्धॄणामायूंषीति समदः सङ्ग्रामः तेषु—संवृक् भवति। वृणक्तेर्हिंसार्थस्य क्विपि रूपम्। स इन्द्रो नाहमिति ॥ ३ ॥

हिन्दी अनुवाद—[यः] जिस ने [अहिम्] सर्प (—सदृश वृत्र) को [हत्वा] मार कर [सप्त] सात [सिन्धून्] धाराओं को [अरिणात्] बहाया है। [यः] जिस ने [वलस्य] वल के [अपधा] बाड़े से [गाः] गौओं को [उदाजत्] बाहर निकाला है [यः] जिस ने [अश्मनोः] दो पत्थरों के [अन्तः] बीच में [अग्निम्] आग [जजान] उत्पन्न की है, (और जो) [समत्सु] युद्धों में [संवृक्] मार-काट करने वाला (है), [जनासः] हे पुरुषो, [सः] वह (ही) [इन्द्रः] इन्द्र (है) ॥३॥

टिप्पणियाँ—१. अहिम्—ऋग्वेद में इन्द्र-वृत्र युद्ध का बहुत वर्णन आया है। वृत्र को एक राक्षस माना जाता है जो जलों को आवृत किए रहता है। इस को 'अहि' भी कहते हैं। सोमपान कर के इन्द्र मरुतों के साथ इस राक्षस का वध करता है और जलों को मुक्त करता है।

(*ii*) इस आलंकारिक वर्णन के व्याख्यान में विद्वानों में भारी मतभेद रहा है। ऐतिहासिक वृत्र को त्वाष्ट्र असुर मानते थे और नैरुक्त मेघ। कुछ इसे रात्री का अन्धकार, हिलेब्राण्ड पानी को जमाने वाली घोर सर्दी, तिलक ध्रुव प्रदेशों में प्राप्त दीर्घकालीन अन्धकार समझते हैं। इस प्रकार इस के व्याख्यान में आजकल चार मुख्य वाद मिलते हैं—१. मेघवाद २. उषोवाद ३. वसन्तवाद और ४. ध्रुवप्रदेशवाद। (देखो घाटे–लेक्चर्ज़ औन दी ऋग्वेद पृ० १३७—१४१)। पं० बलदेव उपाध्याय ने इसे दुर्भिक्ष और अकाल का असुर माना है। ऐतिहासिकों के पक्ष में इन्द्र देवताओं का राजा है। शेष सब वादों में इन्द्र सूर्य ही है।

(*iii* ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ से ही इस वर्णन में अनेक दृष्टियों—वैज्ञानिक, दार्शनिक, राजनैतिक और आध्यात्मिक आदि का समावेश कर दिया गया। ऐसी स्थिति में किसी एक मत या वाद द्वारा इन्द्र-वृत्र युद्ध के समस्त वर्णनों का व्याख्यान सम्भव नहीं। जैसा वर्णन सामने हो वैसा ही व्याख्यान कर देना उचित होगा। ब्राह्मण ग्रन्थों के वृत्र के सब कुछ का आच्छादक, पाप्मा, उदर, सोम, चन्द्रमा आदि अर्थ और दस० के वृत्र के मेघ, शत्रु-

सेना, धर्म के ध्वंसक, जलदाता, प्रजाजन्य सुख में मग्न, कुटिल, अज्ञान, आवरण, जल, धन, और शत्रुओं को पराजित करने वाले कर्म आदि अर्थ इस दृष्टि से ही प्रस्तुत किए गए हैं। डा० फतह सिंह ने वैदिक दर्शन में इस आख्यान के दार्शनिक पक्ष का व्याख्यान प्रस्तुत किया है।

(*iv*) वृत्र का वध केवल इन्द्र का ही कर्म नहीं है। अग्नि, आपः, देवाः को भी वृत्र का हन्ता कहा गया है।

(*v*) भाष्यकारों ने 'अहि' को√इ जाना, √अह् व्याप्त करना, आ + √हन् मारना आदि से व्युत्पन्न किया है। डा० फतहसिंह इसे न + √हि जाना से व्युत्पन्न मानते हैं (देखो वैए०—अहिपद)।

२. अरि॑णात्—√रि बहना, + लङ् प्रथम पु० एक व०। मै०—मुक्त कर दिया। मन्त्र के इस भाग में इन्द्र-वृत्र युद्ध की ओर संकेत है जिस में इन्द्रवृत्र को मार कर जलों को मुक्त करता है। तु० क० ऋ० २।१४।२—यो अपो वव्रिवांसं वृत्रं जघान—जिस ने जलों को आच्छादित करने वाले वृत्र को मारा।

३. सप्त सिन्धू॑न्—सा० ने इस के दो व्याख्यान प्रस्तुत किए हैं—एक सामान्य-बहने वाले जल। दूसरा—गंगा आदि सात नदियाँ। इन नदियों के नाम गंगा, यमुना, गोदावरी, सरस्वती, नर्मदा, सिन्धु और कावेरी दिए गए हैं। श्री मैक्स मूलर का विचार है कि ऋग्वेद के आर्यों का जीवन सिन्ध की घाटी और पंजाब में बीता। यही क्षेत्र वैदिक सप्तसिन्धु है। उस काल में गंगा दोआब का ज्ञान विरलातिविरल था और दक्षिण की खोज तो अभी हुई ही न थी। आजकल सामान्यतः यही मत प्रचलित है। इन के विचार में पंजाब की पाँच नदियाँ, सिन्धु और सरस्वती ही सात नदियाँ हैं। ल्यूडिवग आदि सरस्वती के स्थान पर कुभा को रखते हैं। थामस के विचार में ओक्सस प्रारम्भिक सात नदियों में अवश्य रही होगी। ज़िम्मरमैन इन नदियों की पहचान पर कोई बल नहीं देना चाहते। वैइ० इस से सहमत है और 'सात' को आर्यों की प्रियसंख्या बताता है। अन्य भी कई विद्वानों ने सप्त सिन्धुओं को संसार के विभिन्न देशों

में खोजने का प्रयास किया है। एक विद्वान् ने ईरान में एक सप्तसिन्धु प्रदेश की कल्पना की है।

(*ii*) इस में सृष्टिरचना के समय हिन्द महासागर, प्रशान्त महासागर आदि सात प्रसिद्ध महासागरों के निर्माण का वर्णन अभिप्रेत हो सकता है।

(*iii*) पुनरुक्त अंशों में 'सप्त' 'बहु' के अर्थ में आया है। इस आधार पर 'समस्त जल की धाराएँ और कोष' भाव लिया जा सकता है। तु० क० ऋ० १।३२।१२ में दस० का व्याख्यान—बड़े-बड़े जलाशय, नदी, कुँआ और साधारण तालाब ये चार जल के स्थान पृथिवी पर और समीप, बीच और दूर देश में रहने वाले तीन जलाशय (मिल कर कुल सात जलाशय)।

४. गाः गो का द्वितीया बहुवचन। सा० मै० आदि—गौएँ। दस०—पृथिवियाँ।

(*ii*) सा० और आधुनिक विद्वानों ने इस मन्त्र में वलनामक राक्षस के गायों को चुराने, इन्द्र का उस को मारने और उस के स्थान से गायों के उद्धार का वर्णन माना है। श्री मै० ने इस अर्थ की पुष्टि में ऋ० २।१४।३—'यो गा उदाजद् अप हि वलं वः'—'जिस ने गौओं को बाहर निकाला, क्यों कि उस ने वल को अनावृत कर दिया'—दिया है। दस० ने गाः उदाजत् और वलस्य अपधा—ये दो वाक्य बना कर 'पृथिवियों को ऊपर प्रेरित करता अर्थात् एक के ऊपर एक को नियम से चला रहा है' और 'बल को धारण करने वाला' अर्थ किए हैं। सायणीय अर्थ में इन्द्रवृत्र युद्ध के दो पक्षों का वर्णन स्पष्ट लक्षित है—१. मेघ के हनन द्वारा वर्षा करना और २. अन्धकार को नष्ट कर के प्रकाश की किरणें फैलाना।

(*iii*) परन्तु पिछले मन्त्रों में इन्द्र के सृष्टिकर्म का वर्णन किया गया है जो अभी चालू है। इस में जलीय प्रदेशों की रचना, लोकों का अर्क[1] की स्थिति से निकाल कर उन्हें दृश्यमान रूप में स्थापित करना, समस्त शक्ति (अंग्रेज़ी—एनर्जी) को प्रवृत्त करना, विद्युत् के उत्पादन और संहारशक्ति की प्रवृत्ति

१. अर्क—अप्रकेत सलिल के पश्चात् की द्रवमय तेजःपूर्ण स्थिति। देखो बृआउ० १।२।१-२; । इस में सृजक शक्ति का वर्णन है।

का वर्णन किया गया है। आगे मन्त्रों में वर्णित इन्द्र के कर्म इन कर्मों के प्रतिप्रसव कहे जा सकते हैं।

५. उदाजत्—उत् + √अज् (गति, क्षेपण) + लङ् प्रथम पु० एक-व०। सा०—निकाला। मै०—बाहर हांका। दोनों का भाव एक ही है। दस०—ऊपर प्रेरित किया करता अर्थात् एक के ऊपर एक को नियम से चला रहा है।

६. अपधा—इस पद के ठीक-ठीक अर्थ करने में कुछ संशय है। यह पद केवल इसी स्थल पर प्रयुक्त हुआ है। पीटर्सन इसे अगले मन्त्र के गुहा-पद के समान सप्तम्यन्त मानते हैं। रौथ, लैनमैन, ग्रासमैन और मै० इसे तृतीयान्त मानते हैं। रौथ का अर्थ है—वल के छिपने के स्थान से और ग्रासमैन का खूंटा, चाबी (बन्धन)। मै० इसे अपऽधा का तृतीयान्त रूप मानते हैं और ऋ० २।१४।३ के अपं-वृ (ऊपर गाः की टिप्पणी में उद्धृत) के समानान्तर मान कर इस का अर्थ 'अनावरण'—'वल की गुहा का अनावरण' करते हैं। इस की पुष्टि ऋ० १।११।५—त्वं वलस्य गोमतोऽपावर्बिलम्—तुम ने गौओं से भरे हुए वल के बिल को अनावृत कर दिया है—से करते हैं। दुर्ग ने इस का अर्थ उद्घातन = अनावरण किया है। सा० इसे पंचम्यन्त मानते हैं—वल के बाड़े से। दस० ने इसे प्रथमान्त मान कर 'योऽपदधाति सः—धारण करने वाला' अर्थ किया है।

७. वलस्य—सा० आदि ने इसे गौओं का चोर और इन्द्र का वध्य असुर माना है। मै० आदि के लेख से ऐसा आभास मिलता है कि यह अन्धकार के असुर आदि किसी अलंकार का द्योतक नहीं, प्रत्युत वास्तविक गौओं के चोर व्यक्ति-विशेष का नाम हो। वैङ्० ने इस पर कुछ नहीं लिखा है। दस० ने इसे 'बल' समझा है। इस की पुष्टि श० ११।४।३।१२ के लेख—

१. इन्द्र की धारक शक्ति।

२. संहारशक्ति। इन तीनों के बिना जगत् का विकास सम्भव नहीं। अतः इन का वर्णन अनिवार्य है।

'इन्द्रो बलं बलपतिः । बलमस्मिन् यज्ञे मयि दधातु स्वाहेत्याहुतिमेवादायेन्द्र उदक्रमत् पुनरस्यै बलमददात्--इन्द्र बल और बल का स्वामी है। इस यज्ञ में वह मेरे में बल स्थापित करे--मेरी यह इच्छा पूरी हो। (इस) आहुति को ले कर इन्द्र ने गति की और उस को फिर बल दिया'--से भी होती है। ऋ० १।६२।४ में 'वलम्' फलिगम् का विशेषण है—फलिगमिन्द्र शक्र वलं रवेण दरयो दशग्वैः। अधिकांश वर्णनों में इन्द्र द्वारा वल के हनन का ही कथन किया गया है। ऋ० ६।३९।२ में वल की सानु का कथन है। ऋ० १०।६८।६ में उसे गोवपुष् कहा है। ऋ० १०।६८।५ में बृहस्पति अग्नि के समान तप्त अर्कों (=जलों) से वल को मारता है। ऋ० ३।४५।२ में इन्द्र के विशेषणों--वलरुजः और अपामजः से ऐसा आभास मिलता है कि वल का वध और आपः (=गाः ?) का प्रेरण इन्द्र के पृथक्-पृथक् दो वीर कर्म हैं, एक नहीं। साथ ही वल का वध इन्द्र का ही कर्म नहीं है, प्रत्युत बृहस्पति, पितर, ऋत के धारक यजमान भी वल का नाश करते हैं। अतः ऋग्वेद में 'वल' पद किसी एक भाव का हीं द्योतक नहीं, वह अनेकार्थक है। दस० ने इस के मेघ, बलवान्, बल, कुटिल गति (वाला), बलवान् शत्रु अर्थ किए हैं। इसे निघं० १।१०।४ में मेघ का पर्याय माना गया है। ऋग्वेद के वर्णनों से ऐसा प्रतीत होता है कि यह मेघ सृष्टि की रचना के समय का अन्धकाराच्छन्न अप्रकेत सलिल का घनीभूत रूप हो।

८. अश्मनोरन्तरग्निं जजान—सा०--दो बादलों (की टक्कर) में। दुर्ग—द्युलोक और पृथिवी लोक के बीच में। मै०—इस में अग्नि के वैद्युत रूप का वर्णन है जिसे कई मन्त्रों में 'चट्टानों में वर्तमान' 'चट्टानों से पैदा होने वाला' और 'चट्टानों का पुत्र' (—अद्रेः सूनुः) कहा गया है।

उ० ४।१४७ में अश्मन् को √अश् व्याप्त होना से व्युत्पन्न माना गया है।

९. संवृक्—यह पद ऋग्वेद में अन्यत्र प्रयुक्त नहीं हुआ है। सा० और दस० इसे √वृज् (वर्जने) से निष्पन्न करते हैं। इसे √व्रश्च् का रूप भी

माना जा सकता है। इस का भाव यह है कि इन्द्र की शक्ति से ही युद्ध में मारकाट होती है। वही सब कर्मों का अधिष्ठाता है।

संहितापाठः	पदपाठः
१०. येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि यो दासं वर्णमधरं गुहाकः । श्वघ्नीव यो जिगीवाँ लक्षमादद् अर्यः पुष्टानि स जनास इन्द्रः ॥४॥	येन। इमा। विश्वा। च्यवना। कृतानि यः। दासम्। वर्णम्। अधरम्। गुहा। अकरित्यकः। श्वघ्नीऽइव। यः। जिगीवान्। लक्षम्। आदत्। अर्यः। पुष्टानि। सः। जनासः। इन्द्रः ॥४॥

सायणभाष्यम्—येनेन्द्रेणेमा इमानि विश्वा विश्वानि च्यवना नश्वराणि भुवनानि कृतानि स्थिरीकृतानि। यश्च दासं वर्णं शूद्रादिकम्। यद्वा—दासमुपक्षपयितारम्। अधरं निकृष्टमसुरं गुहा गुहायां गूढस्थाने नरके वा अकरकार्षीत्। करोतेर्लुङि "मन्त्रेघस ००" (पा० २।४।८०) इत्यादिना च्लेर्लुकि रूपम्। लक्षं लक्ष्यं जिगीवान्। "जि जये" क्वसौ "सन्लिटोर्जेः" (पा० ७।३।५७) इत्यभ्यासादुत्तरस्य कुत्वम्। दीर्घश्छान्दसः। जितवान्। योऽर्योऽरेः। षष्ठ्येकवचने छान्दसो यणादेशः। शत्रोः सम्बन्धीनि पुष्टानि समृद्धानि आदद् आदत्ते। तत्र दृष्टान्तः। श्वघ्नीव। श्वभिर्मृगान् हन्तीति श्वघ्नी व्याधः। यथा व्याधो जिघृक्षितं मृगं परिगृह्णाति तद्वत् ॥ ४ ॥

हिन्दी अनुवाद—[येन] जिस के द्वारा [इमा] ये [विश्वा] सम्पूर्ण (पदार्थ) [च्यवना] गतिमान् [कृतानि] किए गए हैं [यः] जिस ने [दासम्] दास [वर्णम्] रंग को [अधरम्] वश में (कर के) [गुहा अकः] नष्ट कर दिया है। [यः] जिस ने [लक्षम्] दाँव के धन को [जिगीवान्] विजयी [श्वघ्नी] जुआरी के [इव] समान [अर्यः] शत्रु की [पुष्टानि] समृद्धि को [आदत्] छीन लिया है, [जनासः] हे पुरुषो, [सः] वह (ही) [इन्द्रः] इन्द्र है ॥ ४ ॥

टिप्पणियाँ १. इमा विश्वा—इमानि और विश्वानि के वैदिक रूप। व्युत्पत्ति के अनुसार ऐश्वर्य के कारण सर्वत्र प्रविष्ट पदार्थ, लोक आदि। मै०—पृथिवीस्थ समस्त पदार्थ। सा०—नश्वर लोक।

२. च्यवना कृतानि—सा०—नश्वर लोकों को स्थिर किया है। दस० (च्यवना) प्राप्त हुए लोकों को बनाया है (संप०) दृढ़ किया है (हिअ०)। मै०—अगले पाद में अकः के विधेय 'अधरं' के समान यहाँ 'च्यवना' कृतानि का विधेय है। अतः अस्थिर किए गए हैं। तु० क०—यस्ता विश्वानि चिच्युषे—(ऋ० ४।३०।२२)—जिस ने सम्पूर्ण जगत् को हिला दिया है। पीटर्सन—उलटना, जीतना। कृतानि का सा० का अर्थ 'स्थिर किए गए हैं' सम्भव नहीं। ग्रास० का 'जो कुछ चलता है (=चर सृष्टि) उस सब का निर्माता' अर्थ सम्भव है। परन्तु मन्त्र ९ का अच्युतच्युत् पद इस का विरोधी है। साथ ही चर सृष्टि के वर्णन के पश्चात् अचर सृष्टि के निर्माण के वर्णन की अपेक्षा बनी रहती है। यज्ञ में इस अपेक्षा का पूरक पद कोई नहीं है। कवि इन्द्र के सृष्टिकर्म का वर्णन भी समाप्त कर चुका है और अन्य कर्मों के वर्णन की ओर अग्रसर हो रहा है। तु० क०—यो दासं वर्णमधरं गुहाकः (अगला पाद)।

(*ii*) वस्तुतः अभी इन्द्र का सृष्टिकर्म समाप्त नहीं हुआ है। श्री पीटर्सन को दासं वर्णम् की आधुनिक सम्प्रदाय की धारणाओं से भ्रान्ति हुई है। सृष्टि से पूर्व सांख्य के अनुसार समस्त प्रकृति साम्यावस्था में थी। उस में गति आदि नहीं थी। इन्द्र उस में गति लाया। लोकों की रचना की और उन को अपनी-अपनी परिधि में गति करने वाला बनाया। यहाँ पर यही भाव अभिप्रेत है।

३. दासं वर्णम्—सा०—१. शूद्रादि वर्ण २. उपक्षपयिता। मै०—अनार्य रंग (=कृष्णं वर्णम्); आदिवासी। यह पद विशेषण है। संज्ञापद अन्तोदात्त (=दासः) होता है। पीटर्सन—'विरोधी रंग, काली चमड़ी'। आज के समान उस काल में भी गोरों द्वारा कालों को दी जाने वाली गाली। ऋग्वेद

में दास और दस्यु आर्यों के समस्त शत्रुओं—असुर और मानव--के लिए प्रयुक्त हुए हैं। यहाँ पर अनार्य जातियों की ओर निर्देश स्पष्ट प्रतीत होता है। सा० और ग्रास० का भी यही मत है। रौथ—राक्षसों की सन्तान। दस०--(वर्णम्) रूप को (दासम्) देने योग्य (अकः) करता है।

(*ii*) ऋग्वेद में वर्ण[1]-पद के प्रयोगों पर दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि उस का प्रयोग 'किरण (१०।३।३), सन्तान (१।१७९।६ ; २।३।५), प्रकाश, तेज, शुभ्र रूप, लाल रूप, प्रकाशमान तेज, स्वच्छ तेज (४।५।१३ ; २।१।१२ ; ९।७१।८ ; १।७३।७ ; १।९२।१० ; १।१०४।२ ; ३।३४।५ ; ६।९७।१५ ; १०।५।४), कल्याण (१।१०४।२), रूप (२।५।५ , ९।१०४। ४), प्राणदायक रूप (९।७१।२), वरुण का रूप (१०।१२४।७) अर्थों का द्योतक है। ऋ० ९।६५।८ में यह इन्द्र का विशेषण है। १।७३।७ में कृष्ण और अरुण वर्ण का अर्थ काला और लाल प्रकाश है। १।६६।५ ; ११३।२ में रात्रि और उषस् को अपना-अपना वर्ण = रूप = प्रकाश = क्रमशः काला और सफेद) फैलाने वाला कहा है। १।१०४।२ में दास के मन्यु को नाश कर के कल्याण के लिए वर्ण लाने का कथन है। २।३४।१३ में चन्द्र वर्ण = आह्लादक प्रकाश का वर्णन है। यह गृत्समद का ही सूक्त है। अतः गृत्समद् के प्रकृत मन्त्र में दासं वर्णम् का अर्थ--'दुःखदायी प्रकाश = काला प्रकाश = रात का प्रकाश = अन्धकार' करना ही उचित प्रतीत होता है। यह रात्रि का अन्धकार सृष्टिरचना के पहले का ही अन्धकार है—'तम आसीत् तमसा गूळ्हमग्रे (ऋ० १०।१२९।३)—सृष्टि से पूर्व अन्धकार से छिपा हुआ अन्धकार था'। इन्द्र ने इसी गाढ़, प्रकाश के निवारक (दास--दस्यति प्रकाशमुपक्षिपति नाशयतीति) अन्धकार को दूर किया।

---

१. इस विवेचन की दृष्टि में 'हत्वी दस्यून् प्रार्यं वर्णमावत्' का अर्थ—'दुष्टों, दुष्ट भावों को नष्ट कर के श्रेष्ठ भावों का प्रसार किया' होगा। ऐ० ७।१८ में विश्वामित्र के अनेकों वंशजों अन्ध्र, पुण्ड्र, शबर, पुलिन्द, मूतिब आदि को 'दस्यु' कहा गया है।

४. अधरं गुहाकः—सा०—अधर = निकृष्ट असुर। गुहा—गुफा में, गूढ़ स्थान या नरक में। अकः = अकार्षीत्। √कृ का लुङ् प्रथम पु० एक व० का वैदिक रूप। दस०—अधरम्—हृदय के नीचे। गुहा—हृदयाकाश। मै०—अकः का सम्बन्ध अधरम् से भी है और गुहा से भी। अधरमकः—नीचा बनाया, वश में किया। गुहा अकः—गुफा में रक्खा (छिपाया) = दूर किया, हटाया। रौथ और ग्रास० गुहा को पञ्चमी के रूप में प्रयुक्त तृतीया का रूप मानते हैं।

(*ii*) इस का दासं वर्णम् के व्याख्यान से सम्बद्ध व्याख्यान ही अभीष्ट है। अधरं न धार्यते इति अधरः, तम्। दासं वर्णम् का विशेषण। असह्य घोर अन्धकार। गुहाकः—दूर किया, गुफा आदि में स्थित किया। 'अधरम्' को 'अकः' के साथ क्रियाविशेषण भी लिया जा सकता है।

५. अर्कः—संहितापाठ में 'र्' से उत्पन्न पदान्त विसर्गों को यदि सन्धि के कारण 'र्' न हुआ हो तो पदपाठ में उन्हें 'इति' लगा कर निर्दिष्ट किया जाता है तथा मूलरूप को कई बार पुनः आवृत्त किया जाता है—अकरित्यर्कः।

६. श्वघ्नीव जिगीवाँ लक्षमाद॑त्—दस० का अर्थ—कुत्तों को दण्ड देने वाली के समान जयशील लक्ष को ग्रहण करता है (ऐसा परमेश्वर)—स्पष्ट नहीं है। सा०—इन्द्र ने (श्वघ्नी) व्याध के समान लक्ष्य को जीता है। रौथ—दाँव को जीतने वाले जुआरी के समान। औफ्रैख्ट—एक लाख को जीतने वाला जुआरी। पीटर्सन—अर्थ बहुत अनिश्चित है। इस के प्रयोग के अन्य स्थलों में सा० के अर्थ १. व्याधस्त्री (१।९२।१० ; ४।२०।३ ;) कितव ८।४५।३८ ; १०।४२।९ ; ४३।५) हैं और दस० का वृकी (१।९२।१० ; ४।२०।३) है। इन में से चार स्थलों पर उपमा है। १।९२।३ में तो प्रकृत मन्त्र ४, ५ के अनुरूप ही उपमा है।

(*ii*) श्वघ्नी का उपरोक्त अर्थों में से कोई भी ग्रहण करें सत्र में उपमा का लक्ष्य निःशेषीकरण है। जिस प्रकार जुआरी हारने वालों से जीत का धन ले कर

उन्हें निःशेष = अकिंचन कर देते हैं उसी प्रकार। अथवा, जैसे हिंसक पशु या व्याध प्राणियों का जीवन पूर्णतया नष्ट कर देते हैं उसी प्रकार।

७. जिगीवान्—√जि + क्वसु, प्रथमा एक व॰ पुल्लिंग। सम्भवतः छन्द की दृष्टि से इस का उच्चारण 'जिगीवाँ' होता होगा। कालान्तर में उसी प्रकार लिखा जाने लगा (मै॰)।

८. आदत्—आ + √दा + लुङ् प्रथम पु॰ एक व॰। पदपाठ में इसे अवगृहीत नहीं किया गया है। गौणवाक्य की क्रिया होने के कारण यह अवगृहीत होना चाहिए था।

९. अर्यः–सा॰–अरि का षष्ठी का एक व॰। वैदिक रूप। शत्रु के। मै॰— यह बहुव्रीहि समास प्रतीत होता है—[न विद्यन्ते रायः (स्वस्मै परेभ्यो दातुं वा) सः अरिः तस्य]—जिस के पास अपने लिए भी धन नहीं है ऐसा निर्धन, अथवा, जिस के पास दूसरों को देने के लिए धन नहीं है अपने लिए तो है ऐसा कंजूस। सा॰ और मै॰ का भाव यह प्रतीत होता है कि कंजूस और शत्रु का धन अयज्ञिय है, वह परोपकार के काम में नहीं आता, अतः वह छीन लिया जाता है—तु॰ क॰ ऋ॰ १०।११७।६—'मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य। नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी।'—'जिस का मन उदार नहीं है वह व्यर्थ भोजन पाता है। मैं सच कहता हूँ, वह उस की मृत्यु ही है। न वह यज्ञ को पुष्ट करता है न मित्र को। केवल अपने आप खाने वाला एकमात्र पाप को ही खाता है'।

(*ii*) दस॰ ने अर्यः को प्रथमान्त मान कर इस का अर्थ 'ईश्वर' किया है। ये 'पुष्टानि' का अर्थ 'दृढ़' कर के 'च्यवना कृतानि' से सम्बद्ध करते हैं।

(*iii*) ये अर्थ पाद १–२ के प्रस्तावित भावों में विशेष संगत नहीं। यदि 'अर्यः' का अर्थ 'शत्रु तुल्य अन्धकार का' कर लें तो अर्थ संसक्त हो जायगा। पुष्टानि—पोषक शक्तियाँ। इन्द्र ने अन्धकार की पोषक शक्तियों को इसी प्रकार

निःशेष कर दिया जिस प्रकार जुआरी दाँव को जीत कर दूसरे जुआरी को अकिंचन कर देता है।

(*iv*) अर्यः का अन्धकार–अर्थ सीधा भी किया जा सकता है—न अर्यते रीयते वाऽस्मिन् इत्यरिः, तस्य।

संहितापाठः	पदपाठः
११. यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरम्	यम्। स्म। पृच्छन्ति। कुह। सः। इति। घोरम्। उत। ईम्। आहुः।
उतेमाहुर्नैषो अस्तीत्येनम्।	न। एषः। अस्ति। इति। एनम्।
सो अर्यः पुष्टीर्विज इवा मिनाति	सः। अर्यः। पुष्टीः। विजःऽइव। आ। मिनाति। श्रत्। अस्मै।
श्रदस्मै धत्त स जनास इन्द्रः ॥५॥	धत्त। सः। जनासः। इन्द्रः ॥५॥

सायणभाष्यम्—अपश्यन्तो जना घोरं शत्रूणां घातकं यं पृच्छन्ति स्म कुह सेति स इन्द्रः कुत्र वर्तत इति। सेति—"सोऽचि लोपे चेत् पादपूरणम्" (पा० ६।१।१३४) इति सोर्लोपे गुणः। न क्वचिदसौ तिष्ठतीति मन्यमाना जना एनमिन्द्रमाहुरेष इन्द्रो नास्तीति। तथा च मन्त्रः—"नेन्द्रो अस्तीति नेम उ त्व आह" (ऋ० ८।१००।३) इति। ईमिति पूरणः। स इन्द्रो विज इव। इव शब्द एवार्थे। उद्वेजक एव सन्। अर्योऽरेः सम्बन्धीनि पुष्टीः पोषकाणि गवाश्वादीनि धनानि। आ मिनाति सर्वतो हिनस्ति। "मीङ् हिंसायाम्"। "मीनातेर्निगमे" (पा० ७।३।८१) इति ह्रस्वः। तस्मात् श्रदस्मा इन्द्राय धत्त स इन्द्रोऽस्तीति विश्वासमत्र कुरुत। यद्यप्यसौ विशेषतोऽस्माभिर्न दृश्यते तथाप्यस्तीति विश्वासं कुरुत। एवनिर्धारणीयमहिमोपेतः स इन्द्रो नाहमिति ॥५॥

हिन्दी अनुवाद—[यम्] जिस [घोरम्] भयंकर को [पृच्छन्ति स्म] (लोग) पूछते आए हैं [इति] कि [सः] वह (इन्द्र) [कुह]

कहाँ (है) ? [उत] और [ईम्] सर्वव्यापक [एनम्] इस (इन्द्र) को [आहुः] (कुछ लोग) कहते हैं [इति] कि [एषः] यह [न अस्ति] विद्यमान नहीं है [सः] वह (इन्द्र) [विजः] क्रुद्ध हुए के [इव] समान [अर्यः] शत्रु की [पुष्टीः] पोषक शक्तियों को [आ मिनाति] क्षीण कर देता है [अस्मै] उस (इन्द्र) में [श्रत्] विश्वास [धत्त] धारण करो, [जनासः] हे पुरुषो, [सः] वह (ही) [इन्द्रः] इन्द्र है ॥ ५ ॥

टिप्पणियां—१. स्मा—स्म । संहिता में दीर्घ हो गया है । दस० ने इसे अवधारण (=एव) के अर्थ में लिया है । शेष सब पृच्छन्ति के साथ लगाते हैं ।

२. सेति—सः + इति । इस प्रकार की अव्यवस्थित सन्धि वेद में बहुधा मिलती है । लोक भाषा के लिए भी पाणिनि ने पाद की पूर्ति के लिए इस प्रकार की सन्धि का विधान किया है (सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम् । पा० ६।१।१३४) ।

३. घोरम्—सा०—शत्रुओं का घातक । यम् (इन्द्रम्) का विशेषण । औफ्रेख्ट—क्रियाविशेषण । इस भयंकर रूप में, भयावह प्रकार से ।

४. ईम्—सा०—पादपूरक मानते हैं । दस०—सब ओर से । मै० इसे अन्य पदों से सम्बद्ध √इ के नाम का द्वितीया का रूप मानते हैं । या तो यह किसी संज्ञा का स्थान लेता है, या आगे आने वाली संज्ञा के लिए स्थान तय्यार करता है, या अन्य सर्वनामों के साथ आता है । (वैग्रास० पृ० २२०) । यहाँ पर यह 'एनम्' का निर्देशक है । पीटर्सन लिखते हैं कि इस से निर्दिष्ट पद बहुधा आवृत्त किया जाता है, जैसे यहाँ एनम् की आवृत्ति है ।

(*ii*) निघं० ४।२।८० में इसे पदनाम माना है । अतः इस का अर्थ पादपूरण या निर्देशक सर्वनाम मात्र नहीं है, यह गति, ज्ञान और प्राप्ति का

द्योतक भी है। इसी आधार पर हि० अ० में 'सर्वव्यापक' अर्थ किया गया है।

५. आहुः—√ब्रू का लिट् प्रथम पु० बहु व०। मै० इसे √अह् कहना का लिट् का रूप मानते हैं।

(*iii*) मै० लिखते हैं कि यह उदात्तस्वर युक्त नहीं है। अतः पाद २ प्रधान वाक्य के रूप में है यद्यपि इस सूक्त में लगभग सर्वत्र सम्बन्धद्योतक वाक्यों के प्रयोग से यह आशा की जानी स्वाभाविक थी कि पाद १ का यम् यहाँ भी आहुः को उदात्त स्वर युक्त कर देता। परन्तु आप ने पाद २ के एनम्' पर ध्यान नहीं दिया है। ऋषि इस पद से 'इन्द्र' के परमैश्वर्य का द्योतन करना चाहते हैं जो 'यम्' से सम्भव नहीं। अतः उन्हों ने अपनी शैली बदल कर इसे प्रधान वाक्य का रूप दिया है और उत के द्वारा पूर्व वाक्य से सम्बन्ध जोड़ा है।

६. अर्यः पुष्टीः—पिछले मन्त्र में अर्यः पुष्टानि पर टिप्पणी देखें। इस मन्त्र में हिअ० का अर्थ भी संगत है।

७. विजं इव—सा०—उद्वेजक होते हुए ही। दस०—भय से संचलित के समान। मै०—दाँव (का धन) क्यों कि मन्त्र ४ का लक्षमाददर्यः पुष्टानि इस मन्त्र के पाद ३ के समान है। अतः विजः = लक्षम्। पीटर्सन छन्द की दृष्टि में इसे विजेव पढ़ने का सुझाव देते हैं। जहाँ सेति में संहिता का मूलरूप उपलब्ध होता है। वहाँ विज इव में विकृत रूप। ग्रास० इव को वा पढ़ना चाहते हैं। मै० सो अर्यः को सोऽर्यः क्यों कि सामान्यतः प्राप्त छन्द का रूप इसी अवस्था में बनता है। पीटर्सन विजः को द्वितीयान्त मानते हैं, प्रथमान्त नहीं।

(*ii*) यह पद केवल एक और मन्त्र में आया है—श्वघ्नीव कृत्नुर्विज आ मिनाना (ऋ० १।९२।१०)। सा० ने वहाँ इस का अर्थ 'चलते हुए पक्षी' किया है।

(*iii*) श० ७।१।१।१४ के 'तस्मादूर्ध्व एव समुद्रो विजते' में √ विज् धातु 'प्रचण्ड गति' या 'उल्बणत्व' का द्योतक है। अतः विजः का अर्थ क्रुद्ध, प्रचण्ड किया जा सकता है। सा० और दस० ने पाणिनीय धातुपाठ के आधार पर अर्थ किए हैं, परन्तु वे प्रकरण में सुसंगत नहीं।

८. श्रत् धत्त—लैटिन—क्रेडो। कैल्टिक—क्रेटिम्। सत्य मानो। वह है, इसे सत्य समझो। उस में श्रद्धा रक्खो। श्रद्धा से ही उस के स्वरूप को जान कर उस की उपासना की जा सकेगी (तु० क० श्रद्धासूक्त ऋ० १०।१५१ और हमारा लेख—श्रद्धा का वैदिक स्वरूप)। ऐसा न करने पर मनुष्य इन्द्र का वध्य हो जाता है। तु० क०—यः शश्वतो मह्येनो दधानानमन्यमानाञ्छर्वा जघान—जो निरन्तर महान् पापों के धारक और (उस को) न मानने वालों को अपने बाण से मार देता है'।

संहितापाठः	पदपाठः
१२. यो रध्रस्यं चोदिता यः कृशस्य यो ब्रह्मणो नाधमानस्य कीरेः। युक्तग्रांव्णो योऽविता सुशिप्रः सुतसोमस्य स जनास इन्द्रः॥६॥	यः। रध्रस्यं। चोदिता। यः। कृशस्यं। यः। ब्रह्मणः। नाधमानस्य। कीरेः। युक्तऽग्रांव्णः। यः। अविता। सुऽशिप्रः। सुतऽसोमस्य। सः। जनासः। इन्द्रः॥६॥

सायणभाष्यम्—यो रध्रस्य। "रध हिंसासंराद्ध्योः"। समृद्धस्य। चोदिता धनानां प्रेरयिता भवति। यश्च कृशस्य दरिद्रस्य च यश्च नाधमानस्य। "नाधृ णाधृ (नाथृ नाधृ) याच्ञोपतापैश्वर्याशीःषु"। याचमानस्य कीरेः। करोतेः कीर्तयतेर्वा। स्तोतुर्ब्रह्मणो ब्राह्मणस्य च धनानां प्रेरयिता।

१. एकस्मिन् कोषेऽत्र 'च' इत्यधिकः।

यश्च सुशिप्रः शोभनहनुः सुशीर्षको वा सन् युक्तग्रावणः अभिषवार्थमुद्यतग्रावणः सुतसोमस्याभिषुतसोमस्य यजमानस्याविता रक्षिता भवति स एवेन्द्रो नाहमिति । ब्रह्मशब्दस्य त्वन्नपरत्वे ह्याद्युदात्तता स्याद्, यथा—"ब्रह्म वन्वानो अजरं सुवीरम्" (ऋ० ३।८।२) इति । अयं त्वन्तोदात्तः पठ्यत इति नान्नपरः ॥ ६ ॥

हिन्दी अनुवाद—[यः] जो [रध्रस्य] समृद्ध का [यः] जो [कृशस्य] क्षीण-दुर्बल का [यः] जो [ब्रह्मणः] ब्राह्मण [नाधमानस्य] याचक [कीरेः] स्तोता का [चोदिता] (अपने-अपने कर्मों में) प्रेरक है, [सुशिप्रः] सुन्दर ओष्ठों वाला [यः] जो [युक्तग्रावणः] सिलबट्टे को मिलाने वाले [सुतसोमस्य] सोम रस निकालने वाले का [अविता] सहायक है, [जनासः] हे पुरुषो, [सः] वह [इन्द्रः] इन्द्र (है) ॥ ६ ॥

टिप्पणियाँ—१. य इति—इस मन्त्र में मानव जाति के चार भाग किए गए हैं। विस्तार के लिए नीचे टिप्पणी २ (*ii*) देखें।

२. रध्रस्य चोदिता—यह इन्द्र का प्रिय विशेषण है। सायण के अर्थ इस प्रकार हैं—

१. रध्र = समृद्ध जनों का प्रेरक (२।२१।४)
२. रध्र = हिंसक शत्रुओं का प्रेरक (वही)
३. रध्र = राधक समृद्ध धन का प्रेरक (६।४४।१०)
४. रध्र = राधक (यजमान) का प्रेरक (८।८०।३)

ये इसे √रध हिंसासंराद्ध्योः से व्युत्पन्न करते हैं। दस० के अर्थ ये हैं—

१. हिंसकों का प्रेरक (२।१२।६)
२. रुकावटी पदार्थों को प्रेरणा देने वाला (२।२१।४)
३. धन की प्राप्ति के लिए प्रेरणा देने वाला (६।४४।१०)

(*ii*) परन्तु विद्वानों की जिज्ञासा शान्त नहीं हुई और इस पद का अर्थ अनिश्चित समझा गया। यह पद अकेला केवल तीन स्थलों पर आया है। इन में सा० के अर्थ आराधक यजमान (२।३४।१५), समृद्धजन (७।५६।२०)

और राधक स्तोता (१०।२४।३) हैं। दस० के अर्थ 'अच्छे प्रकार की सिद्धि (२।३४।५) और समृद्धिमान् (७।५६।२०) हैं। यह पद अरध्र और एक अन्य समास में भी मिलता है। सा० ने अरध्र के अर्थ 'शत्रुओं के वश में न आने वाला' (६।१८।४) और 'असमृद्ध' (६।६२।३) किए हैं तथा दस० ने अहिंसक (६।१८।४) और असमृद्ध व्यवहार (६।६२।३)। रध्रतुरः (६।१८।४) में सा० ने वशीकरण और दस० ने हिंसा अर्थ लिए हैं।

(*iii*) रौथ ने पहले तो 'अरध्र' का अर्थ 'अनलस' किया था। सैंट पीटर्सबर्ग कोष में उन्हों ने 'रध्र' को 'रध् = अर्ध् (ऋध्) से व्युत्पन्न कर अवै० 'अरेद्र' से तुलित किया है। इस के अर्थ 'समृद्ध, देवों का प्रसादक, धार्मिक' दिए हैं। ग्रास० के मत में इस का अर्थ 'थका हुआ' है। साइबेनज़िग लाइडर में रध्रस्य कृशस्य के अर्थ 'समृद्ध और निर्धन हैं'। औफ्रेख्ट के अर्थ 'ईमानदार (= सच्चा) और निर्धन' हैं।

(*iv*) पिश्चल कहते हैं कि ऋ० ६।६२।३ में अरध्र अश्विनों के वर्ति का विशेषण है जिसे गोमत्, हिरण्यवत्, अश्वावत् और इरावत् आदि कहा गया है। अतः अरध्र का अर्थ 'न निर्धन, न कंजूस, अर्थात् समृद्ध, दानी' है। रध्रस्य चोदिता = जो कंजूस को उदारता में प्रेरित करता है। चोदिता के साथ केवल रध्रस्य का सम्बन्ध है, शेष षष्ठ्यन्तों का अविता से। मै० की योजना हि० अ० के समान है।

(*v*) इस मन्त्र में मानव जाति के चार भाग किए गए हैं—१. रध्र २. कृश ३. ब्रह्मन् नाधमान कीरि और ४. युक्तग्रावन् सुतसोम। इसी प्रकार ऋ० १०।१२५।५ में भी चार विभाग—१. उग्र २. ब्रह्मन् ३. ऋषि ४. सुमेधा किए गए हैं। इन दोनों वर्णनों में ब्रह्मन् की स्थिति स्पष्ट है। श० ६।१।१।१ में ऋषियों को तप से उत्पन्न बताया है। तप से मानव कृश होता है, स्थूल नहीं। अतः कृश और ऋषि को समान भाव का द्योतक माना जा सकता है। सुमेधा √मेधृ संगमने से बनता है। संगमन = संगतीकरण√यज् धातु का अर्थ भी है। अतः सुमेधा = उत्तम यज्ञ करने वाले, = यजमान = प्रजाजन (—विशः)।

सिलबट्टे से सोम का अभिषवण भी यज्ञ के लिए प्रमुख रूप से किया जाता है। जैसा आगे युक्तग्राव्णः और सुतसोमस्य की टिप्पणियों में दिखाया गया है। इन दोनों पदों का अर्थ 'योगक्षेम द्वारा ऐश्वर्य का उत्पादक' होता है। यह कर्म उत्तम संगमनी बुद्धि से ही सम्पन्न होता है। अतः सुमेधा और युक्तग्रावन् सुतसोम को समान भाव का निर्देशक माना जा सकता है। अत्र रध्र और उग्र शेष रह गए। रध्र को हिंसार्थक√रध् से मानने पर ये दोनों भी समान भाव के द्योतक हो जाते हैं। उग्रत्व या हिंसा का गुण क्षत्रियों में पाया जाता है, ब्रह्मन् ब्राह्मण हैं ही। यज्ञ करने वाले सामान्य जन विश् या वैश्य हैं। य० ३०।५ में शूद्रों को तप से सम्बद्ध किया है। अतः यहाँ पर कृशपद ऋषि—तपस्वी—शूद्र का द्योतक प्रतीत होता है।

३. ब्रह्मणः——सा०—१. ब्राह्मण २. अन्न। दस०—वेद। म्यूर (पु०)। १. सूक्त या प्रार्थना का रचयिता या उच्चारक, चिन्तक, ऋषि, कवि, (२) सामाजिक पूजा का सम्पादक, पूजक, पुरोहित (३) (चारों वेद विशेषतः अथर्ववेद का ज्ञाता) होतृ आदि से भिन्न कर्मों वाला एक विशेष पुरोहित = ब्रह्मा। कुछ मन्त्रों में यह पद 'पेशे——से पुरोहित' भाव का द्योतक है। यह पद ब्रह्मन्—नपुं०, सूक्त, प्रार्थना से भिन्न है और अन्तोदात्त है।

४. नाधमानस्य—√नाध् + शानच् + षष्ठी एक व०। याचक, प्रार्थी। दस०—सकल ऐश्वर्य को प्राप्त कराने वाले। मै०—शरणागत।

५. कीरेः—कीरि का षष्ठी एक व०। पिश्चल लिखते हैं—कि जिन मन्त्रों में कीरि का प्रयोग हुआ है उन्हें दो वर्गों में रक्खा जा सकता है। एक वर्ग में यह पद सदा 'चिद् (= अपि)' के साथ प्रयुक्त हुआ है। इस से ही प्रतीत होता है कि कीरि का अर्थ ऐसी वस्तु है जो स्वतः प्रसादक या अनुकूल नहीं है। ऐसे समस्त प्रयोगों और कीरिचोदन की तुलना से इस का अर्थ 'छोटा, निकृष्ट, निर्धन' निश्चित हो जाता है। आप कहते हैं कि मन्त्रों में रातहव्यः (१।३१।१३—आहुति देने वाला), रातहव्यः स्वध्वरः (८।१०३।१३) और कीरि तथा कीरियज्ञ और होतृमत् यज्ञ (—होता से युक्त यज्ञ—१०।४१।२)

के वैषम्यात्मक प्रयोग पाये जाते हैं। १।१००।६ का कीरिणा पद समान भाव वाले मन्त्र ६।४५।२ में अनाशुना अर्वता के अनुरूप है। अतः ये कीरि को रध्र का पर्याय मानते हैं और इस की पुष्टि ऋ० ५।४।१० के हृदा कीरिणा (विनम्र हृदय से) से करते हैं।

(ii) यदि पिश्चल का यह विचार मान लें तो एक समस्या हल करनी आवश्यक हो जाती है—मन्त्र में अनेक बार प्रत्येक षष्ठ्यन्त संज्ञा के साथ 'यः' का प्रयोग क्यों किया गया? स्पष्ट है कि यह प्रयोग इस मन्त्र में जितने 'यः' हैं उतने ही व्यक्तियों की कर्मप्रेरणा या रक्षा का द्योतक है। अतः पिश्चल का विचार अमान्य है। इसे की+√ईर् अथवा√कॄ से व्युत्पन्न किया जा सकता है। सा० और दस० का स्तोता – अर्थ तथा√कॄ धातु के शिक्षा, वेद-ज्ञान आदि का वितरक अर्थ करना प्रकरण में अनुचित न होगा।

६. युक्तग्रा॑व्णः—युक्तौ ग्रावाणौ येन सः, तस्य। √सा०—सोम निकालने के लिए दो पत्थरों = सिल-बट्टे का प्रयोग करने वाला। दस०—मेघ या पत्थरों वाला पदार्थ।

(ii) अकोसु० २।३।४ में ग्रावन् की व्युत्पत्तियाँ ये दी हैं—१. √गॄ निगरणे+वनिप् २. √गॄ शब्दे+वनिप्। ३. ग्र (√गृ सेके से)+ अव (√ अव् रक्षा करना आदि से)। ४–५. अकोसु० २।३।१ में—√ग्रसु अदने+वनिप् और ३।३।१०६ में ग्रस् और आ+वन्। ६. देवराज ने निघं० १।१०।२ में इसे√हन्+वनिप् से भी व्युत्पन्न किया है। इन सब में अकोसु० की√गॄ से, अथवा√गॄ और √अव् से निरुक्ति ही इस पद के स्वरूप और अर्थ से मेल खाती हैं। इन के अनुसार इस के अर्थ निगरण (=प्राप्त करना, इकट्ठा करना) और रक्षा होते हैं। निघं० ५।३।५ के पदनामों में पाठ के कारण प्राप्त इस के अर्थों—गति, ज्ञान और प्राप्ति से भी इन अर्थों की पुष्टि होती है। इन निगरण और रक्षा कर्मों को योगक्षेम भी कहा जा सकता है। इन का प्रयोग करने वाला।

६. सुशिप्रः—सा० शोभन ठोड़ी या सिर वाला। दस०—जिस में सुन्दर सेवन होते हैं। यास्क—उत्तम ठोड़ी या नाक वाला। ये इसे √सृप् से व्युत्पन्न करते हैं (नि० ६।१७)। निघं० ४।३।७३ में इसे पदनामों में पढ़ा गया है। मै०—सुन्दर ओष्ठों वाला। 'यह बहुव्रीहि समास है। इस पद का ठीक-ठीक अर्थ सन्दिग्ध है, परन्तु यह (शिप्र) नियमित रूप से द्विवचन में प्रयुक्त हुआ है। इस का एक विशेषण हरि (=हरा) है, हरिशिप्र और हरिश्मशारुः (हरी मूँछों या डाढ़ी वाला) एक दूसरे के तुल्य हैं। हरिशिप्र का सम्बन्ध इन्द्र के सोमपान से है। अतः इस का अर्थ ओष्ठ या मूंछ ही हो सकता है। ठोड़ी (=जबड़ा) नहीं।

(ii) यास्क ने अपने अर्थ के पदों हनू और नासिके की √हन् और √नस् से व्युत्पत्तियाँ दे कर इन अर्थों की सुशिप्रः के पदनामों में पाठ से प्राप्त अर्थों से एकता दिखाई प्रतीत होती है, क्यों कि ये दोनों धातुएँ √हन् और √नस् गत्यर्थक भी हैं। साथ ही हनू और नासिके का निर्वचन देना उन के धातुज अर्थों को ग्रहण करने का निर्देश करता प्रतीत होता है। इस दृष्टि की उपेक्षा और इन्द्र के पुरुषविध वर्णन से ही सा० आदि का अर्थ चल पड़ा। मै० मूल अनुभूति सा० से ही लेते हैं। अतः यहाँ पर यास्क के अनुसार इस के गत्यादि अर्थ करने ठीक रहेंगे—उत्तम गति वाला = सर्वत्र व्याप्त ; सब को जानने और प्राप्त करने वाला। अतः सर्वव्यापक, सर्वज्ञ और सब का धारक।

८. सुतसो॑मस्य—सुतः सोमः येन सः, तस्य। सा० सोम नामक ओषधि का रस। दस०—सोमादि अच्छे पदार्थों का उत्पादक। आधुनिक सम्प्रदाय भी इसी अर्थ को ग्रहण करता है और इस की तुलना अवै० हओम से करता है। इसे इन्द्र का अभिमत पेय माना गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों में इस को सत्य, श्री, ज्योति, राजा, चन्द्रमा, वृत्र, पितृलोक, संवत्सर, प्रजापति, वायु, विष्णु, रात्री, दधि, सभी देवता, पर्ण, पलाश, पशु, यजमान, वर्चस्, रस, क्षत्र, यश, अन्न, प्राण, रेतः और पयः आदि कहा गया है। दस० ने इसे √सु धातु से निष्पन्न कर इस प्रकार के अनेक अर्थ दिए हैं। इन्हीं

आधारों पर यहाँ सोम (=श्री, पशु, अन्न आदि ऐश्वर्य) को प्राप्त करने वाला है। इस ऐश्वर्य की प्राप्ति योगक्षेम (युक्तग्रावन्) से होती है। डा० फतहसिंह ने वैए० में इस की अथर्ववेद से √सु निकालना से और शतपथ-ब्राह्मण से 'स्वा + मा' से निरुक्तियाँ संकलित की हैं।

संहितापाठः	पदपाठः
१३. यस्याश्वासः प्रदिशि यस्य गावो यस्य ग्रामा यस्य विश्वे रथासः। यः सूर्यं य उषसं जजान यो अपां नेता स जनास इन्द्रः ॥७॥	यस्य। अश्वासः। प्रऽदिशि। यस्य। गावः। यस्य। ग्रामाः। यस्य। विश्वे। रथासः। यः। सूर्यम्। यः। उषसम्। जजान। यः। अपाम्। नेता। सः। जनासः। इन्द्रः ॥७॥

सायणभाष्यम्—यस्य सर्वान्तर्यामितया वर्तमानस्य प्रदिशि प्रदेशनेऽनुशासनेऽश्वासोऽश्वा वर्तन्ते। यस्यानुशासने गावः। यस्यानुशासने ग्रामाः। ग्रसन्तेऽत्रेति ग्रामा जनपदाः। यस्याज्ञायां विश्वे सर्वे रथासो रथा वर्तन्ते। यश्च वृत्रं हत्वा सूर्यं जजान जनयामास यश्चोषसम्। तथा मन्त्रः—"जजान सूर्यमुषसं सुदंसाः" (ऋ० ३।३२।८) इति। यश्च मेघभेदनद्वारापां नेता प्रेरकः स इन्द्र इत्यादि प्रसिद्धम् ॥ ७ ॥

हिन्दी अनुवाद—[यस्य] जिस के [प्रदिशि] शासन में [अश्वासः] घोड़े [यस्य] जिस के (शासन में) [गावः] गौएँ [यस्य] जिस के (शासन में) [ग्रामाः] गाँव (और) [यस्य] जिस के (शासन में) [विश्वे] सब [रथासः] रथ (विद्यमान हैं)। [यः] जिस ने [सूर्यम्] सूर्य को (और) [यः] जिस ने [उषसम्] उषस् को [जजान] उत्पन्न किया है [यः] जो [अपाम्] जलों का [नेता] वहाने वाला है [जनासः] हे पुरुषो, [सः] वह [इन्द्रः] इन्द्र है।

टिप्पणियाँ—१. भाव—इन्द्र ने अश्वादि सब कुछ को उत्पन्न किया है। अतः वे सब उस की शक्ति से ही अपने-अपने स्वभावानुकूल कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। ऋ० १०।१२५—वाक्सूक्त भी देखें।

२. अश्वासः०—अश्व शक्ति का, गाय अहिंसा और नम्रता की, ग्राम एकत्र होने, रथ (√रम् से) आनन्द का, सूर्य गति और प्रकाश का, उषस् दाहकता और एकरूपता की और अपस् व्याप्ति के द्योतक हैं। ये गुण भी यहाँ अभिप्रेत माने जा सकते हैं।

३. अपां नेता—तु० क० अपां नपात् (अग्नि)। इन्द्र को भी अग्नि कहा गया है। दस० ने गावः का किरण, अश्वासः का वेगादि गुण और रथासः का रमण के साधन अर्थ किए हैं। एक 'यः' को कारण रूप विजली का द्योतक माना है।

संहितापाठः	पदपाठः
१४. यं क्रन्दसी संयती विह्वयेते परेऽवर उभया अमित्राः। समानं चिद्रथमातस्थिवांसा नाना हवेते स जनास इन्द्रः॥८॥	यम्। क्रन्दसी इति। सं॒यती इति सम्ऽयती। विह्वयेते इति विऽह्वयेते परे। अवरे। उभयाः। अमित्राः। समानम्। चित्। रथम्। आतस्थिऽवांसाः। नाना। हवेते इति। सः। जनासः। इन्द्रः॥८॥

सायणभाष्यम्—यं क्रन्दसी रोदसी शब्दं कुर्वाणे—मानुषी दैवी च द्वे सेने वा संयती परस्परं सङ्गच्छन्त्यौ यमिन्द्रं विह्वयेते स्वरक्षार्थं विविधमाह्वयतः। परे उत्कृष्टा अवरेऽधमाश्च। उभया उभयविधा अमित्राः शत्रवो यमाह्वयन्ति। समानमिन्द्ररथसदृशं रथमातस्थिवांसा आस्थितौ द्वौ रथिनौ तमेवेन्द्रं नाना पृथक् पृथक् हवेते आह्वयेते।

यद्वा। समानमेकरथमारूढाविन्द्राग्नी हवेते यज्ञार्थं यजमानैः पृथगाहूयेते। तयोरन्यतरः स इन्द्रो नाहमिति ॥ ८ ॥

हिन्दी अनुवाद---[संयती] युद्ध में परस्पर मिलती हुई [क्रन्दसी] शोर मचाती हुई (दो सेनाएँ) [यम्] जिस को [विह्वयेते] पृथक्-पृथक् बुलाती हैं, [परे] उत्कृष्ट (और) [अवरे] नीच [उभयाः] दोनों (ही) [अमित्राः] शत्रु (जिस को अलग-अलग बुलाते हैं), [समानम्] एक जैसे [चित्] ही [रथम्] रथ पर [आतस्थिवांसा] चढ़े हुए दो (वीर) (जिस को) [नाना] भिन्न भिन्न प्रकार से [हवेते] (सहायता के लिए) बुलाते हैं, [जनासः] हे पुरुषो, [सः] वह [इन्द्रः] इन्द्र है।

टिप्पणियाँ--१. क्रन्दसी आदि—द्विवचन के ई, ऊ और ए अन्त वाले पदों के आगे इति का प्रयोग होता है। यदि ऐसे समग्र पद में अवग्रह का स्थल भी हो तो इति के बाद मूलपद की आवृत्ति कर के उस में अवग्रह की स्थिति भी दिखा दी जाती है।

२. क्रन्दसी—सा०—दैवी और मानवी सेनाएँ। मै० आदि—मानवों की (आपस में लड़ती हुई दो सेनाएँ) ही अभिप्रेत हैं। दस०--रोने का शब्द कराने वाले प्रकाश और पृथिवी।

३. संयती— सा० आपस में मिलती हुई (= संघर्ष में आती हुई)। दस०—संयम से चलने वाले द्युलोक और पृथिवीलोक। वे० मा०—दो सेनाएँ।

४. ह्वयेते— √ह्वे से लट् प्रथम पु० द्विवचन। मै०— यह √ह्वा के सम्प्रसारण रूप √हू से निष्पन्न हुआ है। विह्वयेते और नाना हवेते समानार्थक हैं। तु० क० 'नाना हि त्वा हवमाना जना इमे—अनेक प्रकार से तुम्हें बुलाते हुए', और 'अथ जना वि ह्वयन्ते सिषासवः—लाभ के इच्छुक मनुष्य तुम्हें अनेक प्रकार से बुलाते हैं।'

(ii) गौण वाक्य की क्रिया होने से यह उदात्त स्वर वाली है और उपसर्ग से अवग्रहीत की गई है।

५. परेऽवरे—सा०—उत्कृष्ट और नीच। मै०—दूर के और समीप के। इस पाद में 'क्रन्दसी' का व्याख्यान है।—समीपस्थ और दूरस्थ। पीटर्सन—इस पक्ष के और उस पक्ष के—दोनों एक दूसरे के शत्रु (= उभया अमित्राः)। दस०—प्रकृष्ट और अर्वाचीन (हिअ०—न्यून)। वेम०—यहाँ और वहाँ के।

६. उभयाः—यह कभी द्विवचन में प्रयुक्त नहीं हुआ है। दस०—प्रकाश और अप्रकाशयुक्त दोनों कोटियों से सम्बन्धित शत्रु।

७. समानं चिद्रथमातस्थिवांसा—सा०—१. इन्द्र के रथ के सदृश रथ पर चढ़े हुए दो योधा। २. एक रथ पर चढ़े हुए इन्द्र और अग्नि। वेमा०—इन्द्र के रथ में चढ़े हुए युद्ध करने के इच्छुक दो राजा। मै०—दो जो एक ही रथ पर हैं—अर्थात् योधा और सारथि। आतस्थिवांसा—आ + √स्था + क्वसु। पुल्लिंग प्रथमा द्विवचन। वैदिक रूप।

८. नाना हवेते—सा० ने इन्द्राग्नी के पक्ष में भी लगाया है—यजमानों द्वारा यज्ञ के लिए अलग-अलग बुलाए जाते हैं।

संहितापाठः	पदपाठः
१५. यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो	यस्मात्। न। ऋते। विऽजयन्ते।
यं युध्यमाना अवसे हवन्ते।	जनासः। यम्। युध्यमानाः।
यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव	अवसे। हवन्ते। यः। विश्वस्य।
यो अच्युतच्युत्स जनास इन्द्रः	प्रतिऽमानम्। बभूव। यः।
॥९॥	अच्युतऽच्युत्। सः। जनासः।
	इन्द्रः ॥९॥

सायणभाष्यम्—यस्मादृते जनासो जना न विजयन्ते विजयं न प्राप्नुवन्ति। अतो युध्यमाना युद्धं कुर्वाणा जना अवसे स्वरक्षणाय यमिन्द्रं हवन्त आह्वयन्ति। यश्च विश्वस्य सर्वस्य जगतः प्रतिमानं

प्रतिनिधिर्बभूव। यश्चाच्युतच्युद् अच्युतानां क्षयरहितानां पर्वतादीनां च्यावयिता स इन्द्र इत्यादि प्रसिद्धम् ॥ ९ ॥

हिन्दी अनुवाद—[यस्मात्] जिस के [ऋते] विना [जनासः] लोग [न विजयन्ते] नहीं जीतते हैं, [युध्यमानाः] युद्ध करते हुए [यम्] जिस को [अवसा] रक्षा के लिये [हवन्ते] पुकारते हैं, [यः] जो [विश्वस्य] सब-कुछ का [प्रतिमानम्] परिमाण निश्चित करने वाला [बभूव] है, [यः] जो [अच्युतच्युत्] स्थिरों में भी गति लाने वाला है, [जनासः] हे पुरुषो, [सः] वह [इन्द्रः] इन्द्र है।

टिप्पणियाँ—१. न ऋते—छन्द की दृष्टि में इस का उच्चारण नर् ऋते होगा। ह्विट्ने लिखते हैं कि ऋग्वेद में अ, आ के पश्चात् ऋ को अविकल रक्खा गया है। यदि ऋ से पहले आ आया हो, तो उसे ह्रस्व कर दिया जाता है—जैसे महा + ऋषिः—महऋषिः।

२. न विजयन्ते जनासः—व्याख्याताओं ने 'जनासः' का भाव 'युद्ध करते हुए लोग' लिया है। इस का भिन्न अभिप्राय भी लिया जा सकता है—अपनी सत्ता के लिए संसार की परिस्थितियों से संघर्ष करते हुए व्यक्ति इन्द्र की कृपा के विना प्रतिकूल परिस्थितियों पर वश नहीं पा सकते हैं। अतः ऐसे व्यक्ति इन्द्र को रक्षा = कृपा के लिए बुलाते हैं।

३. विश्वस्य प्रतिमानम्—सा०—प्रतिनिधि। मै०—समर्थ। तु० क०—'न हि नु अस्य प्रतिमानमस्ति अन्तर्जातेषु उत ये जनित्वाः (ऋ० ४।१८।४)—जो उत्पन्न हो चुके हैं और जो उत्पन्न होंगे—उन सब में उस के लिए कोई समर्थ नहीं है।' भाव यह है कि कोई उस से अधिक समर्थ नहीं है, वह सब से अधिक है। दस०—परिमाणसाधक। अर्थात्—इयत्ता का निर्धारक। सब कुछ को उत्पन्न करने के कारण वही सब की सीमाओं, विस्तार—छोटा-बड़ा, ऊँचा-नीचा, हल्का, भारी आदि का निर्धारक है।

४. अच्युतच्युत्—सा०—क्षयरहित पर्वत आदि का चालक। दस०—स्थिरों में गतिशीलों को चञ्चल करने वाला। मै०—अचरों को चर बनाने

वाला। तु० क०--त्वं च्यावयच्युतानि...चरसि (ऋ० ३।३०।४)--तुम स्थिरों को भी हिलाते हुए वर्तमान हो।

(*ii*) इस पद के बहुविधि व्याख्यान हो सकते हैं। सृष्टि के प्रारम्भ में प्रकृति साम्यावस्था में थी। उस में ब्रह्म ने चञ्चलता उत्पन्न कर दी। परन्तु स्वयं निर्विकार रहा। उत्पन्न वस्तुओं में उन के पूर्व रूपों में पुनः पुनः विकार आता रहता है जिस को कुछ विद्वान् विकास और कुछ ह्रास कहते हैं, परन्तु ईश्वर स्वयं विकारशून्य रहता है। देखो ऊपर मन्त्र ४ अ और उस पर टिप्पणी। यह पद ऋ० ६।१८।५ में भी प्रयुक्त हुआ है।

संहितापाठः	पदपाठः
१६. यः शश्वतो मह्येनो दधानान्	यः। शश्वतः। महि। एनः।
अमन्यमानाञ्छर्वा जघान।	दधानान्। अमन्यमानान्।
यः शर्धते नानुददाति शृध्यां	शर्वा। जघान। यः। शर्धते। न।
यो दस्योर्हन्ता स जनास	अनुऽददाति। शृध्याम्। यः।
इन्द्रः ॥१०॥	दस्योः। हन्ता। सः। जनासः।
	इन्द्रः ॥१०॥

सायणभाष्यम्—यो महि महदेनः पापं दधानान् शश्वतो बहूनमन्यमानान आत्मानमजानत इन्द्रमपूजयतो वा जनान् शर्वा। शृणाति शत्रूननेनेति शरुर्वज्रः। तेनायुधेन जघान। हन्तेर्लिटि रूपम्। यश्च शर्धत उत्साहं कुर्वतेऽनात्मज्ञाय जनाय शृध्यामुत्साहनीयं कर्म नानुददाति न प्रयच्छति। अनुपूर्वात् "डुदाञ् दाने" जौहोत्यादिकः। "अभ्यस्तानामादिः" (पा० ६।१।१८९) इति "तिङि चोदात्तवति" (पा० ८।१।७१) इति गतेर्निघातः। यश्च दस्योरुपक्षपयितुः शत्रोर्हन्ता घातकः स इन्द्र इत्यादि पूर्ववत् ॥१०॥

हिन्दी अनुवाद—[यः] जो [महि] महान् [एनः] पाप को [दधानान्] धारण करने वाले [शश्वतः] बहुसंख्यक [अमन्यमानान्]

(इन्द्र को) न मानने वालों को [शर्वा] बाण से [जघान] मार देता है। [यः] जो [शर्धते] उद्दण्ड की [शृध्याम्] उच्छृङ्खलता को [न अनुददाति] सहन नहीं करता है [यः] जो [दस्योः] दुष्टों का [हन्ता] वध करने वाला (है), [जनासः] हे पुरुषो, [सः] वह [इन्द्रः] इन्द्र (है) ॥

टिप्पणियाँ—१. शश्वतः—वेमा०, सा०—बहुतों को। दस०—अनादि स्वरूप पदार्थों को धारण करने वाला (यः—इन्द्रः—परमेश्वरः का विशेषण)। वेमा० आदि के अर्थों से एक अनभिमत ध्वनि निकलती है—इन्द्र बहुत से पापियों को तो दण्ड दे देता है। शेष को नहीं।

२. महि—महत् का वैदिक रूप। नपुं० द्वितीया एक व०।

३. एनः—'ईयते प्राप्यते दुःखमनेनेत्येनः। देखो उ० ४।१९८।

४ दधानान्—√धा + शानच् का पुल्लिंग द्वितीया बहु व० का रूप। आन् को आँ केवल एक ही समान पाद में होता है। दो पादों की सन्धि पर आने वाले को नहीं होता।

५. अमन्यमानान्—दस०—अज्ञानी शठ पापी (हि० अ०)। सा० —१ अपने आप को न जानने वाले २. इन्द्र की पूजा न करने वाले। वेमा०— इन्द्र (की सत्ता या शक्ति) को न मानने वाले। मै०—यह विचार न करने वाले कि इन्द्र उन्हें मार देगा।

६. शर्वा—शृणाति अनेन इति शरुः। तृतीया एक व०। सा०—वज्र, आयुध। दस०—शासन रूपी वज्र। वेमा०—हिंसक (वज्र ?) से। वैइ०— ऋ० १।१००।१८; १७२।२; १८६।९; २।१२।१०; ४।३।७; २८।३ आदि और अवे० १।२।३; १९।२; ६।६५।२; १२।२।४७ में यह 'अस्त्र' आयुध का, बहुधा निश्चय से 'बाण' का (जैसे ऋ० १०।१२५।६; ८७।६ में), परन्तु सम्भवतः कभी कभी 'बाण, भाला' का द्योतक है।

(*ii*) इन्द्र पापियों का एक दम वध नहीं करता है। उस को न मानने वाले प्राणी भी संसार में बने ही नहीं रहते प्रत्युत बहुधा समृद्धिशाली और

सुखी भी होते हैं। अतः यहाँ पर सायण आदि का अर्थ विचारणीय है। दस० का अर्थ प्रकरण में अधिक संगत होता है। इन्द्र सब को उन के कर्म के अनुसार फल देने वाला है। यदि इस पद का नैरुक्त अर्थ (√शृ से) लिया जाए और इसे 'क्षय' 'क्रमशः ह्रास', 'पुण्यों का और ज्ञान का क्रमपूर्वक होने वाला अत्यन्त क्षय' का द्योतक मान लें तो भाव अधिक संगत हो जाता है।
६ अ० जघान--√हन् का लिट् प्रथम पु० एक व० का रूप। सब भाष्यकारों और अनुवादकों ने इसे हिंसार्थक माना है। शर्वा के ऊपर प्रस्तावित अर्थ की दृष्टि में इसे गत्यर्थक भी माना जा सकता है--'पुण्यों और ज्ञान के क्षय पर अग्रसर करता है।'

७. शर्धते—सा०—उत्साह करने वाला। वेमा०—बल का प्रदर्शन करने वाला (=अकड़ दिखा कर प्रतिरोध करने वाला)। दस०--कुत्सित निन्दित पापयुक्त शब्द का उच्चारण करने वाला। मै०—घमण्डी, दर्पी, उद्दण्ड। विको० ने इस पद के धातु श्र्धु के अर्थों में 'खिल्ली उड़ाना, नियम तोड़ना, कुत्सा करना' भी दिए हैं। दस० का अर्थ इन्हीं अर्थों से मिलता है।

८. अनुददाति--सा० नहीं देता है अर्थात् नहीं करने देता है। तु० क० दस०—अनुकूलता से नहीं देता है। मै०--क्षमा करना (चतुर्थ्यन्त पदों के योग में)। पीटर्सन भी 'स्वीकार करना, सहमत हो जाना, झुक जाना और क्षमा करना' में इसी अर्थ को ले रहे हैं। ये अपने समर्थन में अनानुदो (न झुकने वाला) वृषभः (ऋ० २।२१।४; २३।११) को उद्धृत करते हैं।

९. दस्योः—सा०—उपक्षयिता (=हिंसक, नाशक, दुःखदायी) शत्रु। दस०--दूसरों के पदार्थों का हरने वाला दुष्ट। वेमा०--असुर। मै०--दस्यु, राक्षस। यह पद शम्बर आदि अनेकों राक्षसों का सामान्य निर्देश करता है।

(ii) ऋ० ४।१६।९ में दस्यु को मायावान्, अब्रह्मा १०।२२।८ में अकर्मा, अमन्तु, अन्यव्रत, अमानुष, १।३३।४ में धनी, १।१७५।३, ६।१४।२. ६।४१।२ में अव्रत, ८।७०।११ में अयज्वन्, अदेवयु, २।११।१९ में स्पृध् (स्पर्धा करने वाले), २।२०।८ में आयसी पुरों का (रक्षक या निवासी)

कहा है। अवे० १८।२।२८ में दस्युओं को ज्ञातिमुख, अहुताद, परापुर और निपुर, १२।१।३७ में देवपीयु कहा है। अवे० १८।२।२९ में ये पितरों में प्रविष्ट होने पर दस्यु अग्नि द्वारा यज्ञ से बाहर निकाले जाते हैं। अवे० २०।११।९ (ऋ० ३।३४।९), और ऋ० १।१०३।३ में इन्हें आर्यों से पृथक् बताया गया है। उपरोक्त वर्णन से श्रेष्ठों (आर्यों) से इतर आध्यात्मिकज्ञानशून्य, धर्मरहित, भौतिकवादी, अयज्ञ, सम्बन्धियों के द्वारा अपना इष्ट सिद्ध करने वाले, परम स्वार्थी, प्रजाओं में मिल कर उपजाप करने वाले, छली, कपटी और दूसरों के हित के नाश में तत्पर व्यक्ति ही दस्यु हैं। ऋ० ५।२९।१० में इन्हें मृध्रवाच् भी कहा है। ऋ० ७।१८।१३ में आर्यों को भी मृध्रवाच् कहा है। ऐ० ७।१८ में दस्यु उपरोक्त अर्थों का ही द्योतक माना जा सकता है क्यों कि वहाँ पर विश्वामित्र के कुछ वंशजों को भी दस्यु कहा गया है। अतः आधुनिकों के इस विचार कि कुछ मन्त्रों में दस्यु अलौकिक मानवेतर शत्रु और कुछ मन्त्रों में निश्चित रूप से वे आदिम निवासी हैं— के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता है। ऐसी परिस्थिति में वैदिक दस्यु की ईरानी दंहु, दक्यु से तुलना भी विचारणीय है।

१०. हन्ता—यह पद '(शर्वा) जघान' के ऊपर प्रस्तावित भाव के अनुरूप है। अतः इस का भाव 'दस्युओं को नाश के मार्ग पर अग्रसर करता है।'

संहितापाठः	पदपाठः
१७. यः शम्बरं पर्वतेषु क्षियन्तं चत्वारिंश्यां शरद्यन्वविन्दत्। ओजायमानं यो अहिं जघान दानुं शयानं स जनास इन्द्रः ॥११॥	यः। शम्बरम्। पर्वतेषु। क्षियन्तम्। चत्वारिंश्याम्। शरदि। अनुऽअविन्दत्। ओजायमानम्। यः। अहिम्। जघान। दानुम्। शयानम्। सः। जनासः। इन्द्रः ॥११॥

सायणभाष्यम्--यः पर्वतेषु क्षियन्तम् इन्द्रभिया बहून् संवत्सरान् प्रच्छन्नो भूत्वा पर्वतगुहासु निवसन्तं शम्बरमेतन्नामकं मायाविनमसुरं चत्वारिंश्यां शरदि चत्वारिंशे संवत्सरेऽन्वविन्दतान्विष्यालभत। लब्ध्वा च य ओजायमानम्। 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' (पा० ३।१।११) 'ओजसोऽप्सरसो नित्यम्' (पा० ३।१।११) इति सकारलोपः। बलमाचरन्तमहिमाहन्तारं दानुं दानवं शयानं शम्बरमसुरं जघान हतवान् स इन्द्रो नाहमिति ॥ ११ ॥

हिन्दी अनुवाद--[यः] जिस ने [पर्वतेषु] पहाड़ों में [क्षियन्तम्] रहने वाले [शम्बरम्] शम्बर को [चत्वारिंश्याम्] चालीसवीं [शरदि] शरद् (ऋतु की तिथि) में [अनु अविन्दत्] पा लिया [यः] जिस ने [ओजायमानम्] बल का प्रदर्शन करते हुए [शयानम्] लेटे हुए [दानुम्] दानशील [अहिम्] गतिहीन मेघ को [जघान] मारा [जनासः] हे पुरुषो, [सः] वह [इन्द्रः] इन्द्र (है) ॥ ११ ॥

टिप्पणियां--१. शम्बरम्--सा०, वेमा०--असुर। दस०--मेघ। मै०--वृत्र, वल और शुष्ण को छोड़ कर, शम्बर इन्द्र का बहुत अधिक वर्णित राक्षस शत्रु है। इन्द्र उस पर अपने पर्वत से ही आक्रमण करता है। बहुधा इसे बहुत से दुर्गों का स्वामी कहा गया है। रौथ--जिन मन्त्रों में दिवोदास का नाम आया है, वहीं पर देवों की सहायता से उस की हिंसक शम्बर से मुक्ति का भी वर्णन किया गया है (जैसे ऋ० १।११२।१४; ९।६१।२)। यद्यपि पिछले काल में यह शत्रु मात्र का, विशेषतः इन्द्र के शत्रु का द्योतक है, परन्तु यह सम्भव है कि इस अर्थ में समस्त शत्रुओं में सब से अधिक भयावह शत्रु, मेघों के राक्षस की पुरानी स्मृतियों का प्रतिबिम्ब हो। वैइ०--'शम्बर ऋग्वेद में इन्द्र के एक शत्रु का नाम है'[1]। इस का नाम शुष्ण, पिप्रु और वर्चिन् के साथ आया है। एक मन्त्र[2] में इसे 'कुलितर का पुत्र दास' कहा गया है। एक

१. ऋ० १।५१।६ ; ५४।४ ; ४।२६।३ आदि। २. ऋ० ६।२६।५

मन्त्र[१] में वह अपने आप को 'देवक' मानता है। उस के नंव्वे[२], निन्यान्वें[३] या एक सौ[४] दुर्गों का उल्लेख मिलता है। यह पद स्वयं नपुंसक लिंग बहुवचन में एक बार[५] 'शम्बर के दुर्गों' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। उस का प्रमुख शत्रु दिवोदास अतिथिग्व था जिस ने इन्द्र की सहायता से उसे जीत लिया[६]।

(*ii*) निश्चय से यह कहना असम्भव है कि शम्बर वास्तविक प्राणी था या नहीं। हिलैब्रांड इसे दिवोदास का शत्रु एक जीवित राजा मानते हैं जो पीछे के मन्त्रों में क्रमशः राक्षस का रूप धारण करता गया। इस मत के अतिरिक्त सम्भवतः शम्बर पर्वतनिवासी भारत का मूल निवासी एक शत्रु था।

(*iii*) परन्तु ऋग्वेद के वर्णनों पर दृष्टि डालने से वैइ० की उपरोक्त दो धारणाओं—दिव्य राक्षस और कोई प्राणीविशेष आदिनिवासी दिवोदास का शत्रु—को कोई पुष्टि प्राप्त नहीं होती। दिवोदास और शम्बर के युद्ध का ऋग्वेद में कोई वर्णन नहीं है[७]। केवल इन्द्र दिवोदास अतिथिग्व के लिए शम्बर का हनन करता है। इस वर्णन में शम्बर मानवी शत्रु या दिव्य राक्षस से भिन्न अन्य ही कोई पदार्थ माना जा सकता है। ऋ० १।५४।४ के अनुसार इन्द्र ने द्युलोक की सानु को कम्पित कर शम्बर का नाश किया। ऋ० १।५९।६ में वैश्वानर अग्नि जलों (= काष्ठाः) को हिला कर शम्बर का वध करता है। अन्यत्र इन्द्र शम्बर को अतिथिग्व के गिरि से निकालता है[८]। शम्बर दस्यु है[९]। वह बृहत् पर्वत का अधिवासी कौलीतर दास है[१०]। अतः शम्बर सृष्टि-रचना से पूर्व की मेघवत् आच्छादक स्थिति और तत्पश्चात् वह मेघ का द्योतक है। ऋ० ७।१८।२० में अपने को देव समझने वाले को शम्बर कहा गया

१. ऋ० ७।१८।२० २. ऋ० १।१३०।७ ३. ऋ० २।१९।६
४. ऋ० २।१४।६ ५. ऋ० २।२४।२
६. ऋ० १।५१।६; १३०।७ ; २।१९।६ ; ४।२६।३ आदि।
७. ऋ० १।११२।१४ में शम्बरहत्य इन्द्र के युद्ध का द्योतक है, दिवोदास के युद्ध का नहीं।
८. ऋ० १।१३०।७ ९. ऋ० ६।३१।४ १०. ऋ० ४।३०।१४

है। ऋ० ९।६१।२ में सोम शम्बर तुर्वश यदु को प्रकाशदान (=दिवोदासाय) के लिए वशीभूत करता है। इन में शम्बर के आध्यात्मिक पक्ष का चित्रण स्पष्ट है। डा० फतहसिंह अपने वैदिक दर्शन (पृ० १५५) में लिखते हैं—'परन्तु, सोम का वास्तविक स्थान तो स्वयं आनन्दमय ब्रह्म ही है। वहीं सोम सुरक्षित है। उस के चारों ओर निष्क्रिय वाक् कद्रू का पहरा रहता है। यही वृत्र है—जो इस को घेरे हुए है—सोम के दोनों तत्त्व (प्रकाश तथा जल) इसी से आवृत रहते हैं। इसी को मार कर इन्द्र प्रकाश तथा जल की मुक्ति करता है। यह शान्ति के साथ आवरण करने वाला है; अतः इस का नाम शम्बर है, सोम (आपः) को चुरा लेने से यह सभी कुछ को शुष्क कर देता है; इस लिए यह शुष्ण कहलाता है।......' अतः शम्बर अज्ञान, अभिमानी जन आदि का भी द्योतक है। दस० के अर्थों बल, सुखावरक मेघ और शत्रु, अधर्मसम्बन्धी और कल्याणकारी में ये दृष्टियां परिलक्षित होती हैं। दस० ने इसे √शम्ब् से व्युत्पन्न किया है। ऋ० १०।४२।७ में 'शम्बः' (सा०—वज्र) का प्रयोग भी हुआ है[1]।

२. पर्वतेषु—भाष्यकारों ने इस का अर्थ पर्वत=पहाड़ लिया है। इस वर्णन में पर्वत के स्थान पर गिरि का भी प्रयोग किया गया है। निघं० १।१०।१० में गिरि को और १।१०।६ में पर्वत को मेघवाची कहा है। प्रत्येक पर्ववान् वस्तु पर्वत और उद्गूर्ण वस्तु गिरि है। अतः ये प्रलय की स्थिति और सृष्टि की स्थिति की सन्धि का द्योतक है। आध्यात्मिक जगत् में बुद्धि और मन आदि का वाचक है।

---

१. अवे० २०।३४।१२ में—'अन्तर्गिरौ यजमानं बहुं जनं यस्मिन्नामूर्छत्' में भी प्रस्तावित आध्यात्मिक दृष्टि लक्षित हो रही है। यह मन्त्र वहाँ पर विचार्यमाण मन्त्र के तुरन्त पश्चात् पढ़ा गया है। निघं० १।१०।१४ में शम्बर मेघनाम है, १।१२।८८ में उदकनाम और २।९।२८ में बलनाम। निघं० ४।२।७२ में शम्बः पदनाम है।

३. चत्वारिंश्यां शरदि अन्वविन्दत्—सामान्यतः इस का अर्थ 'चालीसवें वर्ष[1] या चालीसवीं शरद् ऋतु में' किया जाता है। तिलक ने इस का अर्थ 'शरद् ऋतु की चालीसवीं तिथि' किया है। शम्बर के अर्थ के समान इस पदावली का अर्थ भी एक समस्या है। शम्बर का जैसा अर्थ किया जाए उसी के अनुसार इस का अर्थ करना पड़ेगा। संशकौको० में इसे चतुर् और दशन् से व्युत्पन्न किया है। चतुर् √चत् (मांगना) और दशन् √दंश् (ग्रसना) से बनते हैं। शरद् √शॄ (शीर्ण करना—होना) से व्युत्पन्न है। अतः यह दयनीय क्षीण होती हुई अवस्था के द्योतक माने जा सकते हैं। यह अवस्था प्रलय काल की समाप्ति और जिज्ञासु के मन में ज्ञान की पिपासा जागृत होने पर पाई जाती है।

४. ओजायमानम्—ओजस्=बल दिखाने वाले। फैलने वाले, सब को अपने वश में कर इन्द्र की शक्तियों का विरोध करने वाले।

५. अहिम्—मेघ। ऊपर मन्त्र ३ में अहि पर टिप्पणी देखें।

६. दानुम्—ददातीति दानुः। देने वाला। सा० आदि ने दानु को शम्बर की माता का नाम माना है। वर्षा करने के कारण मेघ दानु है, ज्ञान के लिए स्थान छोड़ने वाला अज्ञान भी दानु है।

७. शयानम्—√शी+शानच् से। सोते हुए, लेटे हुए, अकर्मण्य बने हुए। शम्बर के प्रस्तावित अर्थों की दृष्टि में इस का अर्थ 'फैले हुए' भी किया जा सकता है। लेटा हुआ व्यक्ति फैला हुआ ही होता है।

(*ii*) हिअ० में इस का मूल अर्थ लेटा हुआ=आराम करता हुआ=गतिहीन लिया गया है। परोपकार करने में समर्थ व्यक्ति यदि गतिहीन हो जाए तो लोक का बड़ा अनिष्ट हो जाता है। इसी लिए यज्ञमय उन्नत पुरुषों को

---

१. शरद् के वैदिक प्रयोग से ऐसा लक्षित होता है कि उस काल में वर्ष शरद् ऋतु से प्रारम्भ होता रहा होगा। शरद् का बहुवचन में प्रयोग स्पष्टतः समस्त वर्ष का द्योतक है।

परोपकार में रत न रहने पर रसहीन, स्वार्थी = केवलादी = केवलाघ कहा है। ऐसे जन इन्द्र के नियमों को पूर्ण न करने से वध्य होते हैं। वर्षा करने में समर्थ होने पर भी न बरसने वाला मेघ ईश्वर का सूर्य द्वारा वध्य है।

संहितापाठः	पदपाठः
१८. यः सप्तरश्मिर्वृषभस्तुविष्मान् अवासृजत्सर्तवे सप्त सिन्धून् । यो रौहिणमस्फुरद्वज्रबाहु-र्द्यामारोहन्तं स जनास इन्द्रः ॥१२॥	यः । सप्तऽरश्मिः । वृषभः । तुविष्मान् । अवऽअसृजत् । सर्तवे । सप्त । सिन्धून् । यः । रौहिणम् । अस्फुरत् । वज्रऽबाहुः । द्याम् । आऽरोहन्तम् । सः । जनासः । इन्द्रः ॥१२॥

सायणभाष्यम्—यः सप्तरश्मिः सप्तसङ्ख्याकाः पर्जन्या रश्मयो यस्य। ते च रश्मयो "वराहवः स्वतपसो विद्युन्महसो धूपयः श्वापयो गृहमेधाश्चेत्येते ये चेमेऽशिमिविद्विषः पर्जन्याः सप्त पृथिवीमभिवर्षन्ति वृष्टिभिः" (तै० आ० १।९।४।५) इति तैत्तिरीयारण्यके ह्याम्नाताः। वृषभो वर्षकस्तुविष्मान् वृद्धिमान् बलवान् वा सप्त सर्पणस्वभावान् सिन्धूनपः सर्तवे सरणायावासृजद् अवसृष्टवान्। यद्वा। गङ्गाद्याः सप्त मुख्या नदीरसृजत्। यश्च वज्रबाहुः सन् द्यां दिवमारोहन्तं रौहिणमसुरमस्फुरज्जघान। "स्फुर स्फुरणे" तुदादिः ॥ १२ ॥

हिन्दी अनुवाद—[सप्तरश्मिः] सात किरणों वाला [वृषभः] कामनाओं का पूरक [तुविष्मान्] शक्तिशाली [यः] जो [सर्तवे] बहने के लिए [सप्त] सात [सिन्धून्] धाराओं को [अवासृजत्] मुक्त करता है, [वज्रबाहुः] वज्र के सदृश भुजाओं वाला [यः] जो [द्याम्] स्वर्ग में [आरोहन्तम्] चढ़ते हुए [रौहिणम्] रौहिण को [अस्फुरत्] मारता है, [जनासः] हे पुरुषो, [सः] वह [इन्द्रः] इन्द्र (है) ॥

टिप्पणियाँ—१. सप्तरश्मिः—सा०—सात पर्जन्यों वाला। मै०—सात नाथों वाला। सम्भवतः इस का अर्थ दुर्धर्ष, अप्रतिहत है। पीटर्सन—रस्सियों से युक्त जो उस का नेतृत्व करती हैं और उस की सामर्थ्य को प्रकाशित करती हैं। बहुधा देवताओं को इस प्रकार प्रगल्भ रूप में वर्णित किया गया है। दस०—सात प्रकार की किरणों वाला (सूर्यलोक)। ये रक्तादि सात रंगों वाली किरणें ही हैं।

(*ii*) उ० ४।४६ में 'रश्मिः' को √अश् (व्याप्त होना) से सिद्ध किया गया है। सूर्य की किरणें आरोग्यप्रद मानी गई हैं। जल चिकित्सा करने वाले इन किरणों को अलग-अलग रंग को बोतलों में रक्खे हुए जल में डाल कर उन से चिकित्सा करते हैं। सूर्य इन्द्र की शक्ति से ही गति करता है। अतः यहाँ पर ब्रह्म के सृष्टिवर्णन में प्राणियों को प्राण देने के वर्णन में उसे सप्तरश्मि सूर्य के रूप में स्मरण किया गया है। व्युत्पत्ति के आधार पर इस का अर्थ 'गतियाँ, शक्तियाँ' भी किया जा सकता है।

२. वृषभः—वेमा०, सा०—वर्षक। मै०—बैल। वृषभपद देवताओं के लिए, विशेषतः इन्द्र के लिए अनेक बार प्रयुक्त हुआ है। यह महान् शक्ति और उर्वरता, अमोघ वीर्यत्व का द्योतक है। दस०—मेघ की शक्ति को रोकने वाला। ऊपर १।१५४।३ में वृष्णे पर टिप्पणी भी देखें। वहाँ प्रस्तावित अर्थ भी यहाँ लगाया जा सकता है।

३. तुविष्मान्—वेमा०—बलवान्। सा०—वृद्धिमान्। दस०—बहुत बल से खींचने की शक्ति से युक्त सूर्यलोक। मै० लिखते हैं कि पदपाठ में मन्त् प्रत्यय को केवल अजन्त प्रकृतियों के आगे आने पर ही अवगृहीत किया जाता है (जैसे गोऽमान्)।

४. सर्तवे— √सृ से तुमुन्नर्थ में तवेन्-प्रत्यय। गति करने के लिए।

५. सप्त सिन्धून्—ऊपर २।१२।३ में सप्तसिन्धून् पर टिप्पणी देखें। जैउब्रा० १।२६।९ में सिन्धु की निरुक्ति 'तद्यदेतैरिदं सर्वं सितं तस्मात् सिन्धवः' दी है। इस के आधार पर यह पद धमनियों (=शरीरस्थ सफेद रक्तवाहिनी

नाड़ियाँ) का द्योतक है और यह अर्थ ऋ० ८।६६।१२ में संगत होता है[1]। मानव को क्लोम (=फेफड़े) पर आने वाली रक्तवाहिनी नाड़ियों से ही जीवनशक्ति प्राप्त होती है।

६. रौहिणम्—सा०—असुर। वैको०—इन्द्र का राक्षस शत्रु। यह ऋग्वेद के एक और मन्त्र (१।१०३।२) तथा अवे० २०।१२८।१३ में भी प्रयुक्त हुआ है। हिलेब्राण्ड ने इसे रोहिणी नक्षत्र का नाम माना है, परन्तु इस के लिए कोई स्पष्ट युक्ति नहीं है। यास्क—मेघ (निघं० १।१०।१५)। दस०—रोहणशील मेघ।

(*ii*) ऋ० १।१०३।२ में अहि को मारने और रौहिण को फाड़ने का कथन किया गया है—अहन्नहिमभिनद्रौहिणम्। अवे० २०।१२८।१३ में वृत्र के शिर को फाड़ने और रौहिण को निकालने, ऊपर फेंकने का वर्णन है—त्वं रौहिणं व्यास्यो (वि + आ + √अस् फेंकना + लङ् मध्यम पु० एक व०) वि वृत्रस्याभिनच्छिरः। उ० २।५५ में इसे √रुह् से व्युत्पन्न किया है—रोहति बीजेन जायते यः स रोहिणः। अर्थात्—वनस्पतियाँ—वृक्ष, लता, पौधे आदि। रौहिण-रोहिण से स्वार्थ में या जात-अर्थ में (औणादिकपदार्णव ३।६४।२९९, पृ० १४६)।

७. अस्फुरत्—सा०—मार दिया। दस०—फुरती देता या चलाता है। रौहिण के प्रस्तावित अर्थ में—विकसित करता है, बढ़ाता है।

८. वज्रबाहुः—मै०—वज्र धारण करने वाला। सा०—वज्र के सदृश भुजाओं वाला। दस०—भुजाओं के समान (वज्र=) किरणसमूह वाला।

---

१. देखो—हमारा ग्रन्थ—ए क्रिटिकल स्टडी औफ दी कमैण्टरी औन दी ऋग्वेद बाई स्वामी दयानन्द (सीएसडी० नाम से उद्धृत) (अप्रकाशित), पृ० ३११—३१४। नि० ५।२७ में यास्क ने इस मन्त्र के अर्थ में 'यस्य तव देव सप्त सिन्धवः प्राणायानुक्षरन्ति' लिखते हुए 'प्राणाय' पद से हमारे प्रस्तावित अर्थ का समर्थन किया है। हमारा लेख ए स्टडी औफ दयानन्द (२), पूना ओरियण्टलिस्ट १३।३–४ लेख पृ० ८ संदर्भ ३ भी देखें।

९. द्याम् आरोहन्तम्—मै०—इन्द्र पर आक्रमण करने के लिए स्वर्ग में चढ़ते हुए को। प्रस्तावित अर्थों में—उगते हुए, आकाश में चढ़ते हुए, निकलते हुए।

९. भाव यह है कि इन्द्र सूर्य की किरणों द्वारा प्राणियों को जीवनशक्ति देता है और समस्त उगने वाली वनस्पति आदि वस्तुओं को उगाता, बढ़ाता और खिलाता है।

संहितापाठः	पदपाठः
१९. द्यावा चिदस्मै पृथिवी नमेते शुष्मांच्चिदस्य पर्वता भयन्ते। यः सोमपा निचितो वज्रबाहु- र्यो वज्रहस्तः स जनास इन्द्रः ॥१३॥	द्यावा। चित्। अस्मै। पृथिवी इति। नमेते इति। शुष्मात्। चित्। अस्य। पर्वताः। भयन्ते। यः। सोमऽपाः। निऽचितः। वज्रऽबाहुः। यः। वज्रऽहस्तः। सः। जनासः। इन्द्रः॥१३॥

सायणभाष्यम्—अस्मै इन्द्राय द्यावा पृथिवी। इतरेतरापेक्षया द्विवचनं "प्र मित्रयोर्वरुणयोः" (ऋ० ७।६६।१) इतिवत्। नमेते स्वयमेव प्रह्वीभवतः। "णमु प्रह्वत्वे"। कर्मकर्तरि "न दुहस्नुनमां यक्चिणौ" (पा० ३।१।८९) इति यकः प्रतिषेधः। चिद् अपि च अस्येन्द्रस्य शुष्माद् बलात् पर्वता भयन्ते बिभ्यति। यः सोमपाः सोमस्य पाता निचितः सर्वैः। यद्वा। अन्येभ्योऽपि देवेभ्यो दृढाङ्गः। वज्रबाहुर्वज्रसदृशबाहुः। यश्च वज्रहस्तो वज्रयुक्तः स इन्द्र इत्यादि प्रसिद्धम्॥ १३॥

हिन्दी अनुवाद—[अस्मै] इस (इन्द्र) के लिए [द्यावा] द्युलोक (और) [पृथिवी] पृथिवी लोक [चित्] भी [नमेते] झुकते हैं, [अस्य] इस के [शुष्मात्] बल से [पर्वताः] पर्वत [चित्] भी [भयन्ते] डरते हैं [यः] जो [वज्रबाहुः] वज्र के समान भुजाओं वाला

[सोमपाः] सोम का पीने वाला [निचितः] निश्चय किया गया है, (और) [यः] जो [वज्रहस्तः] हाथ में वज्र धारण करने वाला है, [जनासः] हे पुरुषो, [सः] वह (ही) [इन्द्रः] इन्द्र है ॥

टिप्पणियाँ—१. द्यावा...पृथिवी—देवता द्वन्द्व समास के दोनों पद बहुधा अन्य पदों के व्यवधान से पृथक्-पृथक् किये हुए भी मिलते हैं। इन समासों में दोनों पदों का अपना-अपना स्वर सुरक्षित पाया जाता है। अतः इन में दो उदात्त अक्षर होते हैं। सा० के अनुसार एक दूसरे की अपेक्षा से 'मित्रयोर्वरुणयोः' के समान ये दोनों ही पद द्विवचनान्त हैं।

२. चित्—सा०—भी। दस०—इव, समान। निघं० ४।२।३१ में इसे पदनाम माना गया है। नि० १।४ में इसे पूजार्थक और उपमार्थक भी बताया है। यह √चि चुनना से निष्पन्न है। अतः इसे अस्मै और अस्य का विशेषण भी बनाया जा सकता है।

३. नमन्ते—झुकते हैं। दस०—अतिसामर्थ्ययुक्त शब्दायमान होते हैं।

४. शुष्मात्—सा०, दस०—बल। मै०—वेग, प्रचण्डता। पीटर्सन—सांस। ऊपर मन्त्र १ में शुष्मात् पर टिप्पणी देखें।

५. पर्वताः—भाष्यकार और अनुवादक इसे पहाड़ के अर्थ में लेते हैं। जैसा ऊपर मं० ११ में पर्वतेषु की टिप्पणी में लिखा है प्रत्येक पर्व = जोड़ से युक्त वस्तु पर्वत है। अतः संगमनशक्ति, एकता की शक्ति। एकता और संगमन से शक्ति अप्रतिहत, दुर्धर्ष हो जाती है। इन्द्र के सामने ऐसी शक्ति भी निर्वीर्य हो कर भीरुवत् हो जाती है।

(*ii*) ऊपर द्यावा प्रकाश, तेज का और पृथिवी विस्तार का प्रतीक हैं। तेजस्वी और प्रवृद्ध शक्तियाँ भी इन्द्र के सामने हीन हैं।

६. सोमपाः—सा०—सोम रस का पीने वाला। दस०—पदार्थों के रस को पीने = खींचने वाला। ऊपर म० ६ में सुतसोमस्य पर टिप्पणी भी देखें।

(*ii*) सोमपाः में उत्तरपद को √पा रक्षणे का भी रूप माना जा सकता है। इन्द्र प्राणों की रक्षा करने वाला और अपनी सामर्थ्य से सब को नियमित

करने वाला, क्रमशः क्षीण करने वाला है। नीचे वज्रहस्तः पर टिप्पणी भी देखें।

७. निचितः—मै०—समझा गया है। दस०—निरन्तर अनेक पदार्थों से इकट्ठा किया गया। नि + √चि + क्त का रूप। वेमा०—दृढ़ शरीर वाला।

८. वज्र॑बाहुः—सा०—वज्र के समान भुजाओं वाला। मै०—भुजा में वज्र को धारण करने वाला। दस०—बाहुओं के समान किरणों का बल।

९. वज्र॑हस्तः—सा०—वज्रयुक्त। मै०—हाथ में वज्र को धारण करने वाला। दस०—किरण रूप हाथों वाला।

(*ii*) यहाँ पर वज्रबाहुः और वज्रहस्तः दोनों लगभग एक ही भाव के द्योतक प्रतीत होते हैं, इस कारण इन में से एक का प्रयोग पर्याप्त था। अतः इन दोनों का युगपत् प्रयोग साभिप्राय है—वज्रबाहुः—प्राणशक्ति की सम्पन्नता, पोषक शक्ति का और वज्रहस्तः—संहारक, क्षीण करने वाली शक्ति का द्योतक हैं। ये ही दोनों भाव ऊपर सोमपाः से निकाले गए हैं।

संहितापाठः	पदपाठः
२०. यः सु॒न्वन्त॒मव॑ति॒ यः पच॑न्तं॒ यः शंस॑न्तं॒ यः श॑शमा॒नमू॒ती। यस्य॒ ब्रह्म॒ वर्ध॑नं॒ यस्य॒ सोमो॒ यस्ये॒दं राधः॒ स जना॑स॒ इन्द्रः॑ ॥१४॥	यः। सु॒न्वन्त॑म्। अव॑ति। यः। पच॑न्तम्। यः। शंस॑न्तम्। यः। श॒श॒मा॒नम्। ऊ॒ती। यस्य॑। ब्रह्म॑। वर्ध॑नम्। यस्य॑। सोम॑ः। यस्य॑। इ॒दम्। राध॑ः। सः। ज॒ना॒सः॒। इन्द्रः॑ ॥१४॥

सायणभाष्यम्—यः सुन्वन्तं सोमाभिषवं कुर्वन्तं यजमानमवति रक्षति। यश्च पुरोडाशादीनि हवींषि पचन्तं यश्च ऊती ऊतये। "सुपां सुलुक्" (पा० ७।१।३९) इति चतुर्थ्याः पूर्वसवर्णदीर्घः। स्वरक्षार्थे शस्त्राणि शंसन्तं यश्च शशमानमवति स्तोत्रं कुर्वाणं रक्षति। ब्रह्म परिवृढं स्तोत्रं यस्य वर्धनं वृद्धिकरं भवति। तथा यस्य सोमो वृद्धिहेतुर्भवति। यस्य

चेदमस्मदीयं राधः पुरोडाशादिलक्षणमन्नं वृद्धिकरं भवति। स इन्द्र इत्यादि प्रसिद्धम् ॥ १४ ॥

हिन्दी अनुवाद--[यः] जो [ऊती] अपनी रक्षा से [सुन्वन्तम्] सोमरस निकालने वाले की, [यः] जो [पचन्तम्] (इन्द्र) के लिए पकाने वाले की [यः] जो [शंसन्तम्] स्तुति करने वाले की (और) [यः] जो [शशमानम्] प्रार्थना करने वाले की [अवति] रक्षा करता है, [यस्य] जिस के [ब्रह्म] प्रार्थनाएँ [सोमः] सोमरस और [यस्य] जिस का [इदम्] यह [राधः] धन [वर्धनम्] वर्धक (हैं), (हे) [जनासः] पुरुषो, [सः] वह [इन्द्रः] इन्द्र है ॥ १४ ॥

टिप्पणियाँ —१. इस मन्त्र का भाव यह है--कर्मशील, परोपकारी, इन्द्र के भक्त, सदैव इन्द्र को प्रिय रहते हैं। जो इस के विपरीत आलसी, स्वार्थी, इन्द्र की सत्ता को न मानने वाले इन्द्र द्वारा प्रेयः और श्रेयः के सतत दान द्वारा रक्षित नहीं होते हैं। ऐसे जनों को इन्द्र क्षीण करता रहता है। इन्द्र की प्राप्ति स्तोत्रों के पाठ, दूसरों को सुख देने और परोपकार में लगे हुए धन से सम्भव है। इन्हीं कर्मों से प्रसन्न हो कर वह अपने आप को जिज्ञासुओं के सामने प्रकाशित कर देता है। तु० क०—उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः। (ऋ० १०।७१।४) आदि।

२. सुन्वन्तम्—सा०—सोम रस निकालने वाला। दस०—सत्र के लिए सुखों की सृष्टि करने वाला।

३. पचन्तम्—सा०—पुरोडाश आदि हवियों का पकानेवाला। वेमा०—चरु और पशुओं के अंगों को पकाने वाला। पीटर्सन—सोम को (पका कर) शराब बनाने वाला।

(*ii*) सब भाष्यकारों का विचार है कि सोम निकालना आदि क्रियाएँ इन्द्र के लिए की जा रही हैं। जिस से वह प्रसन्न हो जाए। अपनी सेवा और प्रशंसा से सभी प्रफुल्लित होते हैं। इन्द्र इस का अपवाद कैसे हो सकते हैं।

(*iii*) परन्तु वेद में पुरुषसूक्त, यज्ञसूक्त आदि में यज्ञ = संसार का कल्याण करने का विधान दिखाई पड़ता है। ऋग्वेद में कहा भी है—केवलाघो भवति

केवलादी (ऋ० १०।११७।६)। अतः यह पाचन इन्द्र के लिए नहीं प्रत्युत अतिथि यज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ और देवयज्ञ के निमित्त है।

४. शंसन्तम्—सा०--शस्त्र[1]पाठ करते हुए। पीटर्सन--गायक, स्तोता। मै०--देवताओं के प्रशंसक।

(*ii*) इस में नीति के वचन 'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्। न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्। प्रियं च नानृतम्' का भाव निहित है। दूसरों की निन्दा से न अपने को शान्ति मिलती है, न अन्यों को ही।

५. शशमानम्--सा०—स्तोत्रं[2] पढ़ने वाला। वेमा०--स्तुतियों से पूजा करने वाला। मै०--यज्ञ निष्पन्न कर देने वाला। ग्रा०—√शम्+कानच् से। इस के मूल अर्थ--'काम करना, परिश्रम करना, गतिशील होना' ही ऋग्वेद में सर्वत्र मिलते हैं। इसी से पिछले अर्थ 'थकना, विश्राम करना' निकले हैं। तु० क० ग्रीक कम्-नो के अर्थों का विकास। अन्य अर्थों के साथ यह '(यज्ञ द्वारा) देवताओं की सेवा में तत्पर रहना, श्रद्धा से प्रार्थना करना' का भी द्योतक है। नि० ६।८--प्रशंसा करते हुए। निघं० ३।१४।२२—अर्चा करते हुए; ४।३।३८—पदनाम[3]।

६. अवति--√अव् के अर्थ रक्षा, गति, कान्ति, दीप्ति, प्रीति, तृप्ति, श्रवण आदि हैं। अतः इन्द्र परसुख निरत को गति और तृप्ति देता है, परार्थ के लिए पकाने वाले को दीप्ति, ऐश्वर्यदान आदि देता है। प्रिय बोलने वालों में प्रीति उत्पन्न करता है और परिश्रमी को क्रिया और भागवृद्धि देता है।

७. ऊती—मै० √अव्+क्तिन्=ऊतिः, तृतीया एक व०, स्त्रीलिंग। वैदिक रूप। मै० इसे अवति के साथ लगा कर 'सहायता से' अर्थ करते हैं। सा० ने इसे चतुर्थ्यन्त मान कर शंसन्तम् कर्म का प्रयोजन माना है।

---

१. अप्रगीतमन्त्रसाध्यगुणिनिष्ठगुणाभिधानं शस्त्रम्। २. प्रगीतमन्त्रसाध्यगुणिनिष्ठगुणाभिधानं स्तोत्रम्। ३. निघं० के समस्त पदनाम गति, प्राप्ति और ज्ञानार्थक होते हैं। देखो हमारा लेख दयानन्द एण्ड दी निघण्टु औफ़ यास्क, आइओवा (सं०) १६५३ (अहमदाबाद)।

(ii) 'उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे' के भाव के अनुसार इस का अर्थ 'अपने स्वरूप का प्रकाशन' भी किया जा सकता है।

८. ब्रह्म— √बृंह् बढ़ना से। ऊपर मन्त्र ६ में ब्रह्मणः पद पर टिप्पणी देखें। सा०—परिवृढ स्तोत्र। पीटर्सन—प्रार्थना। ब्राह्मण ग्रन्थों में इस के यज्ञ, मन्त्र, ऋक्, गायत्री, प्रणव आदि अर्थ दिए गए हैं। अतः वेदज्ञान, प्रणवजप रूप यज्ञ आदि।

९. सोमः—ऊपर मन्त्र ६ में सुतसोमस्य पर टिप्पणी देखें। सोम शान्ति और मनःसंयम का द्योतक है। तु० क० सौम्य-पद। श० ३।३।२।३ में सोम के वासः को शोभन बताया है। यह ब्राह्मणों का भक्ष है (ऐ० ७।२९)। दस०—चन्द्रमा और ओषधियों का समूह।

१०. राधः—सा०—पुरोडाश आदि अन्न। मै०—भेंट। दस०—धन।

(ii) यह √राध् सिद्ध करना, प्रसन्न करना आदि से बना है। दूसरों की सिद्धि करने वाला, प्रसन्न करने वाला, अतः परोपकार में लगाया हुआ धन।

संहितापाठः	पदपाठः
२१. यः सुन्वते पचते दुध्र आ चिद्	यः। सुन्वते। पचते। दुध्रः।
वाजं ददर्षि स किलासि सत्यः।	आ। चित्। वाजम्। ददर्षि।
वयं त इन्द्र विश्वह प्रियासः	सः। किल। असि। सत्यः।
सुवीरासो विदथमा वदेम॥१५॥	वयम्। ते। इन्द्र। विश्वह।
	प्रियासः। सुऽवीरासः। विदथम्।
	आ। वदेम॥१५॥

सायणभाष्यम्—इदानीमृषिः साक्षात्कृतमिन्द्रं प्रति ब्रूते। हे इन्द्र यो दुध्रो दुर्धरः सन् सुन्वते सोमाभिषवं कुर्वते पुरोडाशादिहवींषि पचते यजमानाय वाजमन्नं बलं वा ददर्षि भृशं प्रापयसि स तादृशस्त्वं सत्यो

यथार्थभूतोऽसि। न पुनर्नास्तीति बुद्धियोग्योऽसि। किलेति प्रसिद्धौ। ते तव प्रियासः सुवीरासः कल्याणपुत्रपौत्राः सन्तो वयं विश्वह सर्वेष्वहःसु विदथं स्तोत्रम् आ वदेम ब्रूयाम ॥ १५ ॥

हिन्दी अनुवाद—[दुध्रः] घोर [यः] जो [सुन्वते] सोम रस निकालने वाले [पचते] (परोपकार के लिए) पकाने वाले के लिए [वाजम्] अन्न [चित्] भी [आदर्दर्षि] देते हो [सः] वह (तुम) [किल] निःसन्देह [सत्यः] सच्चे [असि] हो। [इन्द्र] हे इन्द्र, [सुवीरासः] उत्तम वीर सन्तानों वाले [ते] तुम्हारे [प्रियासः] प्रिय [वयम्] हम [विश्वह] सदा ही [विदथम्] प्रार्थना के वाक्य [आवदेम] बोलते रहें ॥ १५ ॥

टिप्पणियाँ—दुध्रः—सा॰—दुर्धर। दस॰—कठिनता से जान कर हृदय में धारण करने योग्य (ईश्वर)। मै॰—परम उग्र।

(*ii*) इस सूक्त में जैसा ऊपर दिखाया गया है इन्द्र-परमेश्वर के सृष्टि रचना विषयक वीरकर्मों का वर्णन किया गया है। जिस की शक्ति इतनी महान् है जितनी ऊपर वर्णित की जा चुकी है और जो इन्द्रियों को प्रत्यक्ष नहीं है उसे जानना और अनुभव करना सरल नहीं। वह सब को अपने शासन में रखने वाला और दण्ड्यों को दण्ड देने वाला है। अतः वह 'दुध्र' (दूर् + √धृ से) है।

२. वाजम्—सा॰—अन्न, बल। दस॰—सब के वेग को। मै॰—लूट का माल। मैमू॰—वाज का सम्बन्ध वेजेओ, विजेओ, विजिल्, वाक्र से है। यह वेद के उन कठिनतम पदों में से है जिस के सामान्य अर्थ की कल्पना की जा सकती है, परन्तु अधिकांश स्थलों पर निश्चित रूप से समझना सम्भव नहीं। सेंट पीर्टस्वर्ग कोष में ये अर्थ दिए गए हैं—तीव्रता, दौड़, दौड़ का विजय धन (=पारितोषिक), लाभ, निधि, (भाष्यकारों के अनुसार बहुधा अन्न, हवि), दौड़ का घोड़ा आदि। इन सब अर्थों के एक समान मूल की खोज कठिन है। तो भी हम—बल, झगड़ा, संघर्ष, दौड़—चाहे मैत्रीपूर्ण हो,

चाहे शत्रुता के कारण अर्थों से प्रारम्भ कर सकते हैं और तब हम--जो कुछ दौड़ या युद्ध में जीता जाय अर्थात् लूट का माल, निधि पर पहुँच कर अन्त में वाजाः को उपार्जित धन, भेंट में प्रदत्त वस्तुओं--के अधिक व्यापक अर्थों में ले सकते हैं। (इण्डिया व्हाट कैन इट टीच अस, पृ० १६४)। विको०—ने ये अर्थ भी दिए हैं--उत्साह, शक्ति, प्राणशक्ति, गति (विशेष रूप से घोड़े की), बाण पर लगे हुए पर, पर, ध्वनि, ऋभु, चैत्रमास आदि। ब्राह्मणग्रन्थों में इस के वीर्य, ओषधियाँ, पशु, स्वर्गलोक, अन्न और वाक् अर्थ मिलते हैं। गो० २।१।२० में छन्दांसि को और गो० २।१।२२ में उक्थ्याः को वाजिनः कह कर वाज का अर्थ ज्ञान किया है (तै० १।३।२।५ भी देखें)। पाउ० सूसं० १७,४८ में वाज पर टिप्पणी भी देखें। निघं० २।७।२ में यह अन्न नाम है, २।६।१४ में बलनाम। निघं० ४।२।५० में वाजगन्ध्यम् को और ५।६।३० में वाजिनः को पदनाम मान कर वाज को भी पदनाम माना गया है (सीएसडी० पृ० ३९४ भी देखें)। अतः भारतीय परम्परा इसे √वज् जाना से व्युत्पन्न कर के समस्त अर्थों को गति-अर्थ से ही विकसित करती है। डा० ऋतहसिंह ने वैए० ६२८ में माना है कि ऋ० १।४।६ 'तं त्वा वाजेषु वाजिनं वाजयामः शतक्रतो' में भी वाज को √वज् से व्युत्पन्न किया गया है। दस० ने इसी आधार पर अपने अर्थ दिए हैं।

(*ii*) सूक्त में प्रस्तावित भावों और पिछले मन्त्र में सुन्वन्तम् आदि की दृष्टि में इस का अर्थ उत्साह, बल, शक्ति, धन, अन्न और ज्ञान किए जा सकते हैं।

३. आ दर्दर्षि—आ + √दृ + यङ् + लट् मध्यम पु० एक व०। सा०—प्रभूत रूप में प्राप्त कराते हो। मै०—(छीन कर) देते हो। दस०—सब ओर से पूर्ण रूप से नष्ट करते हो। यहाँ पर सायणीय अर्थ ही ग्राह्य है।

४. विदथम्—ओल्डनबर्ग इसे वि + √धा से० व्युत्पन्न मानते हैं। वि √धा का अर्थ 'बांटना, प्रबन्ध करना, विधान करना' हैं। अतः विदथ का मूल अर्थ विधान के अर्थों के सदृश 'विभाजन, प्रबन्ध, नियम, विधान....' रहे

होंगे। वैदिक ऋषियों की दृष्टि में यज्ञ ही परम कृत्रिमता से विहित था। अतः यज्ञ (हवन) और विदथ (नियम, विधान) लगभग पर्याय बन गए। अन्त में विदथ का अर्थ 'किसी काम को पूरा करना' आदि मालूम पड़ता है। बृहद् वदेम विदथे सुवीराः आदि संदर्भों में यह अर्थ उपलब्ध होता मालूम देता है। इस प्रकार 'विदथ' और 'सभा' अर्थों में एक दूसरे के समीप पहुँचते हैं। सभा में प्रभावशाली पुरुष को विदथ्य भी कहा गया है और सभेय भी। (वैदिक हिम्ज़)।

(*ii*) मै० लिखते हैं कि इस पद की व्युत्पत्ति और ठीक-ठीक अर्थों पर बड़ी ऊहापोह की गई है। अब इस में कोई सन्देह नहीं रहा है कि यह √विध् पूजा करने से निष्पन्न है और इस का अर्थ दिव्य पूजा (=देवपूजा) है। इस का यज्ञ से भेद करना अति कठिन है। निघं० ३।१७ में यह यज्ञनाम भी है।

(*iii*) निघं० ३।१७।५ में विदथः यज्ञनाम है और ४।३।३३ में पदनाम। यज्ञनाम होने से इस पद के देवपूजा, संगतिकरण और दान तथा पदनाम होने से गति, ज्ञान और प्राप्ति अर्थ भी अभिप्रेत हैं। (देखो वेभाप० १३ ; ३०)। नि० ६।७ में इसे √विद् जानना से व्युत्पन्न किया गया है। एया० में इस के अनुरूप भायो० उ̆इद्—देखना दिया गया है और विदथे को गैलिक द्रुइदिस्—परम मेधावी (द्रु + उ̆इद) से तुलित किया गया है। यहाँ इस निर्वचन को आधुनिक भाषाविज्ञान के नियमों के अनुकूल माना गया है।

५. यः सुन्वते०— केवल यह अन्तिम मंत्र ही 'स जनास इन्द्रः' से समाप्त नहीं होता है। इस में वर्णन मध्यम पुरुष में किया गया है। पाद २ में 'स किलासि सत्यः' का प्रयोग किया गया है। शेष मन्त्रों की दृष्टि में यहाँ मध्यम पुरुष का प्रथम पुरुष में पर्यवसान अभीष्ट है[1]। मन्त्र के पाद ४ में गृत्समद ने अपना प्रिय वाक्य 'बृहद्वदेम विदथे सुवीराः' रक्खा है।

---

१. वेभाप० ४।३२–४४ भी देखें।

--०--

ॐ

ऋ० १०।९०—पुरुषसूक्तम्

ऋषिः—नारायणः। देवता—पुरुषः। छन्दः—१–१५ अनुष्टुप्; १६ त्रिष्टुप्।

संहितापाठः

२२. सहस्रशीर्षा पुरुषः
सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वा-
त्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥१॥

पदपाठः

सहस्रऽशीर्षा। पुरुषः।
सहस्रऽअक्षः। सहस्रऽपात्।
सः। भूमिम्। विश्वतः। वृत्वा।
अति। अतिष्ठत्। दशऽअङ्गुलम् ॥१॥

यजुर्वेदे तृतीयपादस्त्वेवम्—

स भूमिं ँ सर्वतः स्पृत्वा-००००

यजुर्वेदीयः पदपाठः—

सहस्रशीर्षेति सहस्रऽशीर्षा। पुरुषः। सहस्राक्षऽ इति सहस्रऽअक्षः। सहस्रपादिति सहस्रऽपात्। सः। भूमिम्। सर्वतः। स्पृत्वा। अति। अतिष्ठत्। दशाङ्गुलमिति दशऽअङ्गुलम् ॥१॥

सायणभाष्यम्—"सहस्रशीर्षा" इति षोडशर्चं षष्ठं सूक्तम्। नारायणो नामर्षिरन्त्या त्रिष्टुप् शिष्टा अनुष्टुभः। अव्यक्तमहदादिविलक्षणश्चेतनो यः पुरुषः

"पुरुषान्न परं किंचित्" (क. उ. ३ । ११) इत्यादिश्रुतिषु प्रसिद्धः स देवता। तथा चानुक्रान्तं—"सहस्रशीर्षा षोळश नारायणः पौरुषमानुष्टुभं त्रिष्टुबन्तं तु" इति । गतो विनियोगः ।

१. सर्वप्राणिसमष्टिरूपो ब्रह्माण्डदेहो विराडाख्यो यः पुरुषः सोऽयं सहस्रशीर्षा । सहस्रशब्दस्योपलक्षणत्वादनन्तैः शिरोभिर्युक्त इत्यर्थः । यानि सर्वप्राणिनां शिरांसि तानि सर्वाणि तद्देहान्तःपातित्वात् तदीयान्येवेति सहस्रशीर्षत्वम् । एवं सहस्राक्षित्वं सहस्रपादत्वं च । सः पुरुषः भूमिं ब्रह्माण्डगोलकरूपां विश्वतः सर्वतः वृत्वा परिवेष्टय दशाङ्गुलं दशाङ्गुलपरिमितम् देशम् अत्यतिष्ठत् अतिक्रम्य व्यवस्थितः । दशाङ्गुलमित्युपलक्षणम् । ब्रह्माण्डाद् बहिरपि सर्वतो व्याप्यावस्थित इत्यर्थः ॥ १ ॥

हिन्दी अनुवाद—[पुरुषः] पुरुष [सहस्रशीर्षाः] हज़ारों सिरों वाला [सहस्राक्षः] हज़ारों आंखों वाला [सहस्रपात्] हज़ारों पैरों वाला (है)। [सः] वह [भूमिम्] विद्यमान उत्पन्न सब कुछ को [विश्वतः] सब ओर से [वृत्वा] आच्छादित कर के [दशाङ्गुलम्] दस अंगुलियों की दूरी पर [अत्यतिष्ठत्] वर्तमान है ॥ १ ॥

टिप्पणियां—१. सहस्रशीर्षा, सहस्राक्षः, सहस्रपात्—सा०—सहस्र में उपलक्षण है । अतः असख्य सिर आंखों और पैरों वाला । उत्पादित प्राणियों के सिर, पैर, और आंखें हैं । दस० का विचार है कि समस्त प्राणियों के ईश्वर में निवास करने के कारण ही ईश्वर को ये विशेषण प्राप्त हुए हैं ।

(ii) यहां पर सिर, आंख और पैर को ब्रह्म की इन पदों से द्योतित शक्तियां—१. चिति=ज्ञान, अनुभव २. दर्शन, निरीक्षण, शासन ३. गति, धारण, रक्षण, प्रापण अभिप्रेत हैं । ब्रह्म इन्हीं के द्वारा समस्त जगत् का संचालन आदि करता है । इसी लिए उपनिषदों में लिखा है कि—

"सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥" श्वेउ० ३।१६।

वेद में भी कहा है—

"विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात् ।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ॥"

ऋ० १०।८१।३; य० १७।१९ ।

२. पुरुषः—सा०—सर्व प्राणियों की समष्टि रूप ब्रह्माण्डदेह विराट् । दस०—सर्वत्र परिपूर्ण व्यापक जगदीश्वर (यभा०) । 'पुरुष उस को कहते हैं कि जो इस सब जगत् में पूर्ण हो रहा है, अर्थात् जिस ने अपनी व्यापकता से इस जगत् को पूर्ण कर रक्खा है । पुर कहते हैं ब्रह्माण्ड और शरीर को । उस में जो सर्वत्र व्याप्त और जो जीव के भीतर भी व्यापक और अन्तर्यामी है ।' ऋभाभू० पृ० १५१ ॥

(ii) डा० फतहसिंह ने वैए० ४४७ में वैदिक साहित्य से इस के ये निर्वचन और अर्थ संकलित किए हैं—

१. पुरि शेते इति । पुर् + √शी । प्राण अथवा शरीरस्थ आत्मा, वायु, भौतिक जगत् में रहने वाला प्राण ।

२. √पॄ भरना से—सब वस्तुओं में व्याप्त ब्रह्म ।

३. पूर्व + √अस् (होना से)—सब पदार्थों से पूर्व विद्यमान प्रजापति ।

(iii) ब्राह्मण ग्रन्थों में पुरुष को वायु, प्राण, सब पापों का दाहक, साम, ब्रह्म, अमृत, प्रजापति, पशुओं का अधिपति, पशु, यज्ञ, अग्नि, सुपर्ण, संवत्सर आदि कहा है ।

३. भूमिम्—भवतीति भूमिः । सा०—ब्रह्माण्डगोलक । मै०—पृथिवी । दस०—पृथिवी से प्रकृति पर्यन्त समस्त जगत् ।

४. विश्वतो वृत्वा—सब ओरसे ढ़क कर व्याप्त कर के। सब को व्याप्त करने के साधन प्रथम दो पादों के प्रस्तावित अर्थों में वर्णित किए गए हैं । यजुर्वेद के 'सर्वतः स्पृत्वा' का भी यही अर्थ है ।

५. दशाङ्गुलम्—मै०—यह कहने का एक प्रकार है कि उस का आकार पृथिवी के आकार से भी बड़ा था । पीटर्सन—'दस अंगुलियों की लम्बाई' ।

यह पद ऋग्वेद में अन्यत्र नहीं आया है। रौथ ने इस अर्थ की पुष्टि में मनु० ८।२७१ उद्धृत किया है जिस में दशांगुल (दस अंगुल लम्बे) शंकु का वर्णन है। सा०—दश अंगुलों से नपा हुआ स्थान। यह उपलक्षण है। अतः ब्रह्माण्ड से बाहर भी। शौनक—१ दस इन्द्रियां (२) दस अंगुल के माप का (नाभि से) हृदय (तक का) स्थान; (३) नासिका का अग्र भाग। दस—१. पांच स्थूल और पांच सूक्ष्म भूतों रूपी अंगों वाला जगत्। २. पांच प्राण, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार, जीव ३. दश अंगुल के परिमाण वाला हृदयदेश। इस प्रकार यह ब्रह्माण्ड और हृदय का उपलक्षण है, इन सब को।

(ii) इन में से कुछ व्याख्यानों में 'भूमिम्' के भाव का ही विस्तार है। आगे मन्त्र ३ में भी ऐसा ही भाव है। अतः उन में या तो दशाङ्गुलम् को भूमिम् का लिंग व्यत्यय कर के विशेषण माना जाए अथवा उन को विचारणीय माना जाए।

(iii) भारतीय विचार के अनुसार सृष्टि में शनैः शनैः ह्रास होता रहता है और वह विनाशोन्मुख रहती है और अन्त में प्रलय हो जाती है। अतः इस विचारधारा में ब्रह्म या पुरुष इस ब्रह्माण्ड को व्याप्त तो करता है, परन्तु उस की ग्रसनशक्ति भी साथ-साथ कार्य करती है। यही भाव इस पद का प्रतीत होता है—दशतीति दश (उ० १।१५६ दस०) ग्रसित करने वाला। अंगति चेष्टतेऽनेन तदंगुलम् (तु. क. उ. ४।२) चेष्टा, गति करने का साधन (=शक्ति)। दश च तत् अंगुलं चेति दशांगुलम्। ग्रसन करने वाली चेष्टा का साधन (=शक्ति)। तत् वर्तते यस्मिन् कर्मणि तद्यथा स्यात् तथा। क्रिया-विशेषण। अतः ग्रसनशील शक्ति के साथ (अत्यतिष्ठत्) सब कुछ को अतिक्रान्त कर के वर्तमान है।

१. देखो महीधर का भाष्य—नाभेः सकाशाद् दशाङ्गुलमतिक्रम्य हृदि स्थितः।

संहितापाठः	पदपाठः
२३. पुरुष एवेदं सर्वं	पुरुषः । एव । इदम् । सर्वम् ।
यद् भूतं यच्च भव्यम् ।	यत् । भूतम् । यत् । च । भव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो	उत । अमृतऽत्वस्य । ईशानः ।
यदन्नेनातिरोहति ॥ २ ॥	यत् । अन्नेन । अतिऽरोहति ॥२॥

यजुर्वेदे 'वेदं'–स्थाने 'वेदꣳ' 'भव्यम्'–स्थाने 'भाव्यम्' वर्तते ।

सायणभाष्य—यत् इदं वर्तमानं जगत् तत् सर्वं पुरुष एव । यत् च भूतम् अतीतं जगत् यच्च भव्यं भविष्यज्जगत् तदपि पुरुष एव । यथास्मिन् कल्पे वर्तमानाः प्राणिदेवाः[1] सर्वेऽपि विराट्पुरुषस्यावयवाः तथैवातीतागामिनोरपि कल्पयोर्द्रष्टव्यमित्यभिप्रायः । उत अपि च अमृतत्वस्य देवत्वस्य अयम् ईशानः स्वामी । यत् यस्मात् कारणात् अन्नेन प्राणिनां भोग्येनान्नेन निमित्तभूतेन अतिरोहति स्वकीयां कारणावस्थामतिक्रम्य परिदृश्यमानां जगदवस्थां प्राप्नोति तस्मात् प्राणिनां कर्मफलभोगाय जगदवस्थास्वीकारान्नेदं तस्य[2] वस्तुत्वमित्यर्थः ॥ २ ॥

हिन्दी अनुवाद—[इदम्] यह [सर्वम्] सब कुछ—[यत्] जो [भूतम्] उत्पन्न हो चुका है [च] और [यत्] जो [भव्यम्] उत्पन्न होगा [उत] और [अमृतत्वस्य] अमरता का [ईशानः] स्वामी (और) [यत्] जो [अन्नेन] अन्न से [अति रोहति] बढ़ता है—[पुरुषः] पुरुष [एव] ही (है) ॥ २ ॥

टिप्पणियां—१. पुरुष एव—द०स०ने 'रचयति' क्रिया का अध्याहार किया है।

२. यद् भूतं यच्च भव्यम्[3]—(यत्) ब्रह्म, जीव, परमाणुओं और पदार्थों आदि के मेल से उत्पन्न (भूतम्) अतीत से वर्तमान काल पर्यन्त सत्ता में

---

१. प्राणिदेहाः । २. वस्तुतत्त्वम् ।

३. यजुर्वेद के भाव्यम् के और ऋग्वेद के भव्यम् के अर्थ में कोई अन्तर नहीं है। भाव्यम् के व्यम् में स्वतन्त्र स्वरित है ।

आया हुआ और (यत्) ब्रह्म, जीव, परमाणुओं और पदार्थों के मेल से (भव्यम्)भविष्य में सत्ता में आने वाला (इदम्) प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष जगत्।

(ii) मही० और दस० (ऋभाभू० १५२) ने 'च' में 'वर्तमान जगत्' का वर्णन माना है।

(iii) सा० और मही० का भाव यह है—भूत, वर्तमान और भविष्यत्—सदा ही सब प्राणी विराट् पुरुष के अवयव हैं। दस०—पुरुष ही सब कालों में सृष्टि का रचयिता है, अन्य कोई नहीं।

३. उतामृतत्वस्येशानः—सा०—और देवत्व का भी स्वामी है क्यों कि वह प्राणियों के भोग्य (फल) के कारण कारणावस्था को छोड़ कर दृश्यमान जगत् का रूप धारण करता है। उवट—मोक्ष का भी स्वामी है। मही० १. देवों का स्वामी है। २. मोक्ष का स्वामी है, अतः वह कभी नहीं मरता है। दस० १. अविनाशी मोक्षसुख वा कारण का अधिष्ठाता (यभा०)। २. सब का ईश्वर (होने से) मोक्षभाव का स्वामी (=) दाता है। इस मोक्ष को देने में किसी का भी सामर्थ्य नहीं है। मै०—अमरत्व अर्थात् देवताओं का स्वामी है। पुरुष देवों सहित समस्त जगत् के साथ-साथ फैला हुआ है।

(ii) पाद २, ३, ४, में पाद १ के 'इदं सर्वम्' का विस्तार है। अतः विचार्यमाण अंश (पाद ३) भी सृष्टि के अंग का वर्णन करता है जिस को यदन्नेनातिरोहति से भिन्न बताना अभीष्ट है। पाद २ में कालविषयक वर्णन है। अतः यहां उत्तरार्ध में देशपरिच्छिन्न वर्णन है—(उत) रसयुक्त (अमृतत्वस्य) अन्न आदि की अपेक्षा से मुक्त सूक्ष्म शरीर के धारक जन्ममृत्यु आदि के बन्धन से हीन मुक्त जीवों का स्वामी है। उत—पद 'उत्सः' (उ० ३।६८) के समान √उन्द् भिगोना से व्युत्पन्न हो कर भीगा हुआ, गीला, पानीयुक्त, अतः रसयुक्त। इस में आगे मन्त्र ३ के त्रिपादस्यामृतं दिवि में विशेषित अमृतत्व का निर्देश भी माना जा सकता है।

४. यदन्नेनातिरोहति—मन्त्र में इस की योजना और अर्थ अनेक प्रकार से किए गए हैं। उवट का कहना है कि पुरुष मोक्ष का स्वामी है '(यत्) कर्म

कि (वह) (अन्नेन) अमृत से (अतिरोहति) अतिरोध करता है ।' मही० दो अर्थ देते हैं–१. पुरुष देवों का स्वामी है '(यत्) क्यों कि (वह) (अन्नेन) प्राणियों के भोग्य फल के कारण (अतिरोहति) अपनी कारणावस्था को छोड़ कर दृश्यमान जगत् के रूप को प्राप्त होता है ।' सा० ने इस व्याख्यान को अक्षरशः अपनाया है । २. '(यत्) जो कुछ भी जीवजात (अन्नेन) अन्न से (अतिरोहति) उत्पन्न होता है उस सब का स्वामी है ।' दस० ने यजुर्वेदभाष्य में पाद ३ को 'पुरुषः' का विशेषण माना है । उन का अर्थ यह है—जो उत्पन्न हुआ और जो उत्पन्न होने वाला (उत) और '(यत्) जो (अन्नेन) पृथिवी आदि के सम्बन्ध से (अतिरोहति) अत्यन्त बढ़ता है उस' (इदम्) इस प्रत्यक्ष परोक्ष रूप समस्त जगत् को (अमृतत्वस्य) अविनाशी मोक्षसुख वा कारण का (ईशानः) अधिष्ठाता (पुरुषः) सत्य गुणकर्म स्वभावों से परिपूर्ण परमात्मा ही रचता है । उन्हों ने ऋभाभू. (पृ० १५२–१५३) में भिन्न भाव लिया है—'(यत्) क्यों कि (अन्नेन) पृथिवी आदि जगत् के साथ (अतिरोहति) व्यापक हो कर स्थित है और इस से अलग भी ।

(ii) म्यूर लिखते हैं कि भागवत पुराण के व्याख्यान में इस का भाव 'देखते हुए उस ने मानवी अन्न का अतिक्रमण किया है' है । अवे० १९।६।४ में इस का पाठ—'उतामृतत्वस्येश्वरो यदन्येनाभवत् सह–वह अमरत्व का स्वामी है क्यों कि वह दूसरे से मिल गया है' है ।

(iii) म्मूर ने इस का अर्थ 'क्यों कि वह अन्न से फैलता है' किया है । ग्रास० इसे अमृतत्वस्य से सम्बद्ध करते हैं—(अमरता) 'जो हमारे यज्ञों से पुष्ट की जाती है ।' पीटर्सन इस का अर्थ चेतन जगत् (= और जो कुछ अन्न से पुष्ट होता है या बढ़ता है) करते हैं और इदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम् का जड़ जगत् (तु॰ क॰ आगे मन्त्र ४) । पाद ३ को वे अपने अनुवाद में पुरुषः का ही विशेषण रखते हैं ।

(iv) मै० का विचार है कि मन्त्र १ के अत्यतिष्ठत्, मन्त्र ५ के अत्यरिच्यत से अतिरोहति की तुलना इंगित करती है कि पुरुष कर्त्ता है और यद् (देवता) कर्म और यह कि पहला (= पुरुष) पिछलों (= देवों) को अन्न से, अर्थात्

यज्ञान्न द्वारा अतिक्रान्त करता है। 'जो (देवता) (यज्ञ के) अन्न से बढ़ते हैं', तथा 'और जो कुछ अन्न से उत्पन्न होता है उस का'—इन दोनों व्याख्यानों में 'अति' का भाव पूरा-पूरा प्रकट नहीं होता है।

(v) जैसा ऊपर पाद ३ की टिप्पणी में लिखा गया है यहां पर भी देश-परिच्छिन्न सृष्टि का उल्लेख है जो अमर– मुक्तों की अपेक्षा स्थूल शरीर धारण करती है। अतः इस का सीधा अर्थ 'जो कुछ भी अन्न = भोजन आदि पोषक पदार्थों से उत्पन्न, वृद्ध और विकसित होता है'— प्रतीत होता है।

संहितापाठः	पदपाठः
२४. एतावानस्य महिमा-	एतावान् । अस्य । महिमा ।
ऽतो ज्यायाँश्च पूरुषः ।	अतः । ज्यायान् । च । पुरुषः ।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि	पादः । अस्य । विश्वा । भूतानि।
त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥३॥	त्रिऽपात् । अस्य । अमृतम् । दिवि॥३॥

सायणभाष्यम्—अतीतानागतवर्तमानरूपं जगद्यावदस्ति एतावान् सर्वोऽपि अस्य पुरुषस्य महिमा स्वकीयसामर्थ्यविशेषः। न तु तस्य वास्तवस्वरूपम्। वास्तवस्तु पुरुषः अतः महिम्नोऽपि ज्यायान् अतिशयेनाधिकः। एतच्चोभयं स्पष्टीक्रियते। अस्य पुरुषस्य विश्वा सर्वाणि भूतानि कालत्रयवर्तीनि प्राणिजातानि पादः चतुर्थोऽशः। अस्य पुरुषस्य अवशिष्टं त्रिपात् स्वरूपम् अमृतं विनाशरहितं सत् दिवि द्योतनात्मके स्वप्रकाशस्वरूपे व्यवतिष्ठत इति शेषः। यद्यपि "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै० आ० ८।१; तैउ० २।१) इत्याम्नातस्य परब्रह्मण इयत्ताभावात् पादचतुष्टयं निरूपयितुमशक्यं तथापि जगदिदं ब्रह्मस्वरूपापेक्षयाल्पमिति विवक्षितत्वात् पादत्वोपन्यासः ॥ ३ ॥

हिन्दी अनुवाद—[अस्य] इस (पुरुष) का [महिमा] विस्तार [एतावान्] इतना है। [च] और [पूरुषः] पुरुष [अतः] इस से भी अधिक [ज्या-

यान्] बड़ा है । [विश्वा] सम्पूर्ण [भूतानि] उत्पन्न पदार्थ आदि [अस्य] इस का [पादः] एक चौथाई (भाग हैं), [दिवि] द्युलोक में [अमृतम्] अमर [अस्य] इस का [त्रिपात्] तीन–चौथाई भाग है ॥ ३ ॥

१. टिप्पणियां—आधे भाग से विश्व की रचना–अवे० १० । ७ । ८–९ में जिज्ञासा की गई है कि स्कम्भ = ब्रह्म ने विश्वरूप जिस परम अवम और मध्यम, तथा भूत और भविष्यत् की रचना की उस में उस का कितना अंश प्रविष्ट हुआ । अवे० १०।८।७ में कहा है कि ब्रह्म ने अपने एकनेमि सहस्राक्षर एकचक्र रूप के आधे भाग से सम्पूर्ण विश्व की रचना की । उस का शेष आधा भाग कहां है— अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं क्व तद् बभूव । इस भाव को यहां भिन्न रूप से वर्णित किया गया है ।

२. एतावानस्य—ऋग्वेद के प्राचीन भाग में यह सन्धि नहीं मिलती है । वहां पर ऐसे स्थलों पर आन् को आँ हो जाता है । अतः प्रकृत सन्धि सूक्त की रचना के काल को इंगित करती है ।

३. पूरुषः—संहिता में दीर्घ हो गया है । पदपाठ में 'पुरुषः' होगा ।

४. अमृतम्—सा०–विनाशरहित पुरुष । उ०—१. ऋक् , यजुः और साम रूप वाला २. आदित्य रूप । दस०—नाशरहित महिमा ।

५. दिवि—मही०–द्योतनात्मक स्वप्रकाश स्वरूप में ।

६. भाव यह है कि प्रकाश्यमान जगत् एक अंश मात्र है । प्रकाशक स्वरूप इस से तीन गुना है । इस से ब्रह्म की अनन्तता समाप्त नहीं होती । यह वर्णन तो ससीम मानव की बुद्धि को अवगत कराने की दृष्टि से किया गया है ।

संहितापाठः	पदपाठः
२५. त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादो ऽस्येहाभवत्पुनः । ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि ॥४॥	त्रिऽपात् । ऊर्ध्वः । उत् । ऐत् । पुरुषः । पादः । अस्य । इह । अभवत् । पुनरिति । ततः । विष्वङ् । वि । अक्रामत् । साशनानशने इति । अभि ॥ ४ ॥

यजुर्वेदे 'व्यं'–इत्यस्य स्थाने 'व्य' इति वर्तते ।

सायणभाष्यम्—योऽयं त्रिपात् पुरुषः संसाररहितो ब्रह्मस्वरूपः सोऽयं ऊर्ध्व उदैत् अस्मादज्ञानकार्यात् संसाराद् बहिर्भूतोऽत्रत्यैर्गुण-दोषैरस्पृष्ट उत्कर्षेण स्थितवान्। तस्य अस्य योऽयं पादः लेशः सोऽयम् इह मायायां पुनः अभवत् सृष्टिसंहाराभ्यां पुनः पुनरागच्छति। अस्य सर्वस्य जगतः परमात्मलेशत्वं भगवताप्युक्तं—"विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्" (भ० गी० १०।४२) इति! ततः मायायामागत्यानन्तरं विष्वङ् देवमनुष्यतिर्यगादिरूपेण विविधः सन् व्यक्रामत् व्याप्तवान्। किं कृत्वा। साशनानशने अभिलक्ष्य। साशनं भोजनादिव्यवहारोपेतं चेतनं प्राणिजातम् अनशनं तद्रहितमचेतनं गिरिनद्यादिकम्। तदुभयं यथा स्यात् तथा स्वयमेव विविधो भूत्वा व्याप्तवानित्यर्थः ॥ ४ ॥

हिन्दी अनुवाद—[पूरुषः] पुरुष [त्रिपात्] तीन–चौथाई [ऊर्ध्वः] ऊपर को [उदैत्] फैला हुआ है [पुनः] और [अस्य] इस का [पादः] एक-चौथाई अंश [इह] यहां (इस जगत् में) [अभवत्] है। [ततः] उस से [विश्वङ्] सब कुछ का अन्तर्भाव करने वाला [व्यक्रामत्] प्रादुर्भूत हुआ (और) [साशनानशने] खाने वाले और न खाने वाले [अभि (अक्रामत्)] उत्पन्न हुए ॥

टिप्पणियां—१. त्रिपात्—सा०—संसाररहित ब्रह्मस्वरूप पुरुष जो समस्त पुरुष का तीन–चौथाई भाग है।

२. ऊर्ध्व उदैत्—उवट—ऊपर प्रकाशमान है। मही०—इस अज्ञान कार्य संसार से पृथक् इस संसार के गुण दोषों से अछूता उत्कर्ष से विद्यमान है। दस०—पालक परमेश्वर 'सब से उत्तम मुक्तिस्वरूप संसार से पृथक् उदय को प्राप्त होता है (य० भाष्य)। मै०—ऊपर अमरों के लोक में।

३. पादोऽस्येहाभवत् पुनः—उवट—एक भाग तीनों लोकों में बीजरूप हो गया। मही०—जगत् रूप ब्रह्म यहां माया में सृष्टि और संहार के द्वारा बार-बार आता है। दस०—इस पुरुष का एक भाग इस जगत् में बार-बार उत्पत्ति-प्रलय के चक्र से होता है (य० भाष्य)। पूर्वोक्त संसाररूप एक अंश से पृथक् ही है। मै०—पुनः = अर्थात् अपने मूल रूप से।

४. विष्वङ्—उवट—भुवनकोश। मही०—विषु सर्वत्राञ्चतीति विष्वङ्। देव, तिर्यक् आदि अनेक रूपों वाला। दस०—(जड़ और चेतन के प्रति) सर्वत्र प्राप्त होता हुआ (=व्यापक) (य० भाष्य)। विश्व = सम्पूर्ण जड़-चेतन जगत् (ऋभाभू० पृ० १५४)।

५. साशनानशने—उवट—साशन = स्वर्ग। अनशन = मोक्ष। मही०—खाने आदि व्यवहार वाले चेतन प्राणी और न खाने आदि व्यवहार से रहित जड़ पदार्थ। मै०—यह समास ऋग्वेद में द्वन्द्वसमासों की अर्वाचीनतम अवस्था का द्योतक है।

संहितापाठः	पदपाठः
२६. तस्माद्विराळजायत	तस्मात्। विऽराट्। अजायत।
विराजो अधि पूरुषः।	विऽराजः। अधि। पुरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत	सः। जातः। अति। अरिच्यत।
पश्चाद्भूमिमथो पुरः ॥ ६ ॥	पश्चात्। भूमिम्। अथो इति। पुरः ॥ ६ ॥

यजुर्वेदे प्रथमः पादस्त्वेवम्—

'ततो विराडजायत' ततः। विऽराट्। अजायत।

सायणभाष्यम्—विष्वङ् व्यक्रामदिति यदुक्तं तदेवात्र प्रपञ्च्यते । तस्मात् आदिपुरुषात् विराट् ब्रह्माण्डदेहः अजायत उत्पन्नः । विविधानि राजन्ते वस्तून्यत्रेति विराट् । विराजोऽधि विराड्देहस्योपरि तमेव देहमधिकरणं कृत्वा पुरुषः तद्देहाभिमानी कश्चित् पुमान् अजायत । सोऽयं सर्ववेदान्तवेद्यः परमात्मा स्वयमेव स्वकीयया मायया विराड्देहं ब्रह्माण्डरूपं सृष्ट्वा यत्र जीवरूपेण प्रविश्य ब्रह्माण्डाभिमानी देवतात्मा जीवोऽभवत् । एतच्चाथर्वणिका उत्तरतापनीये विस्पष्टमामनन्ति—"स वा एष भूतानीन्द्रियाणि विराजं देवताः कोशांश्च सृष्ट्वा प्रविश्यामूढो मूढ इव व्यवहरन्नास्ते माययैव" (नृता० २ । १ । ९) इति । स जातः विराट् पुरुषः अत्यरिच्यत अतिरिक्तोऽभूत् । विराड्व्यतिरिक्तो देवतिर्यङ्मनुष्यादिरूपोऽभूत् । पश्चात् देवादिजीवभावादूर्ध्वं भूमिं ससर्जेति शेषः । अथो भूमिसृष्टेरनन्तरं तेषां जीवानां पुरः ससर्ज । पूर्यन्ते सप्तभिर्धातुभिरिति पुरः शरीराणि ।५।

हिन्दी अनुवाद—[तस्मात्] उस से [विराट्] विराट् [अजायत] उत्पन्न हुआ । [विराजः] विराट् से [अधि] श्रेष्ठ [पुरुषः] पुरुष (है) । [अथो] और [पुरः] पहले [जातः] उत्पन्न हुआ [सः] वह [पश्चात्] पीछे [भूमिम्] उत्पन्न पदार्थों से [अत्यरिच्यत] सर्वोपरि हो गया ॥

टिप्पणियां—१. तस्मात्[1]—तद् को उ० १ । १३२ में √तन् से निष्पन्न किया गया है । अतः उस विस्तृत सर्वव्यापक ऊपर वर्णित पुरुष से । मै०—पुरुष के अव्याकृत चतुर्थांश से । दस०—पूर्ण आदि पुरुष से । (य० भाष्य) कला रूप परमेश्वर के सामर्थ्य से (ऋभाभू० पृ० १५६) ।

२. विराट्—मही०—विविधं राजन्ते वस्तून्यत्रेति विराट् । ब्रह्माण्डदेह । दस०—विविधैः पदार्थैः राजते प्रकाशते स विराट्—विविध प्रकार के पदार्थों से । प्रकाशमान ब्रह्माण्ड रूप संसार (य० भाष्य) । इस भाव का विस्तार करते हुए ऋभाभू० पृ० १५५ पर लिखते हैं— जिस का ब्रह्माण्ड के अलंकार से वर्णन किया है, जो उसी पुरुष के सामर्थ्य से उत्पन्न हुआ है, जिस को 'मूल प्रकृति'

---

१. यजुर्वेद में इस के स्थान पर (ततः) पाठ है । दोनों का अर्थ एक ही है ।

कहते हैं, जिस का शरीर ब्रह्माण्ड के समतुल्य, जिस के सूर्य चन्द्रमा नेत्रस्थानी हैं, वायु जिस का प्राण और पृथिवी जिस का पग हैं, इत्यादि लक्षण वाला [सब शरीरों का समष्टि देह (—संस्कृत मूल से)] जो यह आकाश है सो 'विराट्' कहाता है।

(ii) डा० फतहसिंह ने वैदिक दर्शन पृ० २०६ पर इस स्थल के विराज् को परम पुरुष से उत्पन्न प्रकृतिपुरुष माना है जिस का होम हो जाने पर नाना-रूपात्मक विश्व उत्पन्न हुआ है। मै० ने आदि पुरुष और व्याकृत पुरुष के बीच की स्थिति को विराज् कहा है।

(iii) अवे० १०।७–८ में इस विराज् का विस्तृत वर्णन किया गया है। ऋ० १०।७।२८ में इसे हिरण्यगर्भ कहा है—हिरण्यगर्भं परममनत्युद्यं जना विदुः। यह तप से उत्पन्न होता है—यः श्रमात् तपसो जातो लोकान्सर्वान्त्स-मानशे। यह उत्पन्न वस्तु अप्रकेत सलिल ही थे जो ब्रह्म के तप से उत्पन्न आदि सृष्टि कहे गए हैं। व्याकृत होने की स्थिति में वर्तमान ये अव्याकृत सलिल ही यहां विराज् नाम से कहे गये हैं। अवे० १०।७।४१; और ८।३९–४० भी देखें।

(iv) विराळजायत—सन्धि के कारण ट् को 'ड्' हुआ। पहले और पीछे दो स्वरों के आने से इस ड् को 'ळ' हो गया है। तु. क.—पदमध्यस्थडकारस्य ळकारं बह्वृचा जगुः। पदमध्यस्थढकारस्य ळहकारं बह्वृचा जगुः॥

३. विराजो अधि पूरुषः—मै०—विराजः में पञ्चमी को उत्पादकत्व का द्योतक मानते हैं—विराज् से पुरुष उत्पन्न हुआ। उवट—अधिपूरुषः को एक मान कर 'प्रधान तेज क्षेत्रज्ञ ब्रह्मा सृष्टिकृत' अर्थ करते हैं तथा 'स जातः' में इसी का निर्देश मानते हैं। महीधर–विराज् के शरीर पर उसे अधिकरण बना कर उस शरीर का एक अभिमानी (=कल्पित चेतन ?) पुरुष नामक पुमान् उत्पन्न हुआ। यह पुमान् अपनी माया से जीवरूप बना हुआ ब्रह्माण्डाभिमानी देवतात्मा जीव रूप ब्रह्म ही था। दस० य०भाष्य में इस में विराज् के उत्पत्तिकारण आदि पुरुष की उत्कृष्टता मानते हुए यह अर्थ देते हैं—'(विराजः) विराट

संसार के (अधि) ऊपर अधिष्ठाता (पूरुषः) परिपूर्ण परमात्मा होता है।' परन्तु ऋभाभू० पृ० १५५–१५६ पर भिन्न विचार रखते हैं और पुरुष का अर्थ समस्त प्राणियों के शरीर मानते हैं—'उस विराट् के तत्त्वों के पूर्वभागों से सब अप्राणी और प्राणियों का देह पृथक्-पृथक् उत्पन्न हुआ है। जिस में सब जीव वास करते हैं और जो देह उसी पृथिवी आदि के अवयव अन्न आदि ओषधियों से वृद्धि को प्राप्त होता है।'

(ii) अवे० १०।७-८ तथा ऋग्वेद के हिरण्यगर्भ आदि सूक्तों में विराज् हिरण्यगर्भ से ही समस्त सृष्टि की उत्पत्ति मानी है। वेद में—द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते[1] आदि सुप्रसिद्ध मन्त्र में तथा 'त्रयः केशिन ऋतुथा वि चक्षते संवत्सरे वपत एक एषाम्। विश्वमेको अभि चष्टे शचीभिर्ध्राजिरेकस्य ददृशे न रूपम्' ।[2] में ब्रह्म, जीव और प्रकृति को पृथक्-पृथक् माना गया है। अतः यहां विराजो अधि पूरुषः में जीव की उत्पत्ति की कल्पना अनावश्यक प्रतीत होती है। अधि 'अधिक, उत्कर्ष, स्वामित्व' का द्योतक भी है। विराजः में षष्ठी विभक्ति है, पञ्चमी नहीं। अतः यहां पर पूर्ण आदि पुरुष के विराज् से श्रेष्ठत्व का वर्णन मानना अनुचित न होगा।

४. स जातो अत्यरिच्यत०—मै०—जब वह पैदा हुआ तो वह पृथिवी से परे आगे और पीछे पहुँच गया। उवट–वह क्षेत्रज्ञ सृष्टिकृत् ब्रह्मा उत्पन्न होते ही प्रमुख हो गया। फिर इस के पहले पृथिवी और उस के बाद १४ प्रकार के भूतों के शरीर उत्पन्न हुए। मही०—यह विराट् पुरुष देव मनुष्य आदि रूप वाला हो गया। फिर देवादि के जीवभाव के उपरान्त भूमि और उस के पश्चात् शरीरों की सृष्टि की। दस०—'(पुरः) पहिले से (जातः) प्रसिद्ध हुआ (अति, अरिच्यत) जगत् से अतिरिक्त होता है (पश्चात्) पीछे (भूमिम्) पृथिवी को उत्पन्न करता है।' ऋभाभू० में प्रधान भाव तो यही लिया है, परन्तु

---

१. ऋ० १।१६४।२०

२. ऋ. १।१६४।४४–व्याख्या के लिए देखो बुद्धदेवविद्यालंकार—त्रैतवाद का महावाक्य, वेवा० ६।४।

'पश्चात्' का अर्थ संस्कृत मूल में 'फिर उस पुरुष के सामर्थ्य से जीव ने भी शरीर धारण किया और वह परमात्मा उस जीव से भी पृथक् है' है। हिन्दी अनुवाद में यजुर्वेद भाष्य के भाव को ही लिया गया है।

५. भूमिम्—समस्त उत्पन्न पदार्थ आदि। भविष्य में होने वाले पदार्थ आदि पहले भी हो चुके हैं। अतः इस पद से तीनों कालों के पदार्थों आदि का बोध होता है।

संहितापाठः	पदपाठः
२७. यत्पुरुषेण हविषा	यत् । पुरुषेण । हविषा ।
देवा यज्ञमतन्वत ।	देवाः । यज्ञम् । अतन्वत ।
वसन्तो अस्यासीदाज्यं	वसन्तः । अस्य । आसीत् । आज्यम् ।
ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः ॥६॥	ग्रीष्मः । इध्मः । शरत् । हविः ॥६॥

यजुर्वेदेऽयं मन्त्रश्चतुर्दशः। तत्र तृतीयपाद एवमस्ति—

वसन्तोऽस्यासीदाज्यं	वसन्तः। अस्य। आसीत्। आज्यम्।

सायणभाष्यम्—यत् यदा पूर्वोक्तक्रमेणैव शरीरेषूत्पन्नेषु सत्सु देवाः उत्तर-सृष्टिसिद्ध्यर्थं बाह्यद्रव्यस्यानुत्पन्नत्वेन हविरन्तरासंभवात् पुरुषस्वरूपमेव मनसा हविष्ट्वेन संकल्प्य पुरुषेण पुरुषाख्येन हविषा मानसं यज्ञम् अतन्वत अन्व-तिष्ठन् तदानीम् अस्य यज्ञस्य वसन्तः वसन्तर्तुरेव आज्यम् आसीत् अभूत्। तमेवाज्यत्वेन संकल्पितवन्त इत्यर्थः। एवं ग्रीष्म इध्मः आसीत्। तमेवेध्मत्वेन संकल्पितवन्त इत्यर्थः। तथा शरद्धविः आसीत्। तामेव पुरोडाशादिहविष्ट्वेन संकल्पितवन्त इत्यर्थः। पूर्वं पुरुषस्य हविः सामान्यरूपत्वेन संकल्पः। अनन्तरं वसन्तादीनामाज्यादिविशेषरूपत्वेन संकल्प इति द्रष्टव्यम् ॥ ६ ॥

हिन्दी अनुवाद—[यत्] जब [देवाः] देवताओं ने [पुरुषेण] पुरुष-रूप [हविषा] हविः से [यज्ञम्] यज्ञ का [अतन्वत] विस्तार किया [अस्य]

उस यज्ञ (के लिए) [**वसन्तः**] वसन्त ऋतु [**आज्यम्**] तपा हुआ घी [**आसीत्**] थी, [**ग्रीष्मः**] गरमी [**इध्मः**] समिधाएँ (और) [**शरद्**] शरद् ऋतु [**हविः**] आहुतियां ॥ ६ ॥

टिप्पणियां—१. भाष्यकारों के विभिन्न भाव—भाष्यकारों ने इस मन्त्र में देवताओं द्वारा पुरुष को हविस् बना कर बाह्य द्रव्यों के अनुपलब्ध होने के कारण उत्तर सृष्टि की सिद्धि के लिए मानस यज्ञ का विस्तार माना है। मही० लिखते हैं कि पहले पुरुष का सामान्य हविः के रूप में संकल्प किया गया, फिर आज्य इध्म और हविः—इन विशेष अंगों की पूर्ति के लिए वसन्त आदि ऋतुओं का संकल्प किया गया। उवट ने इस में योगियों द्वारा अमृतभूत दीपित आत्मा से आत्मयज्ञ के विस्तार का भाव भी ग्रहण किया है। इस यज्ञ में वसन्त, ग्रीष्म और शरद् के अर्थ क्रमशः सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण किए हैं। दस० ने भी घृत आदि सामग्री के अभाव में '(हविषा) ग्रहण करने योग्य (पुरुषेण) पूर्ण परमात्मा के साथ (देवाः) विद्वान् लोगों का मानस यज्ञ' माना है जिस में '(वसन्तः) पूर्वाह्णकाल (ग्रीष्मः) मध्याह्न काल और (शरद्) आधी रात' को घी आदि माना है। भाव यह है कि इस यज्ञ में ये 'काल ही साधन रूप से कल्पना करने चाहियें।' ऋभाभू० पृ० १६१–१६२ पर भिन्न भाव लिया गया है—(देवाः) देव अर्थात् जो विज्ञानवान् लोग होते हैं उन को (पुरुषेण) ईश्वर ने अपने-अपने कर्मों के अनुसार उत्पन्न किया है, और वे ईश्वर के (हविषा) दिए पदार्थों का ग्रहण कर के (यद् यज्ञम्) पूर्वोक्त यज्ञ का (अतन्वत) विस्तारपूर्वक अनुष्ठान करते हैं, और जो ब्रह्माण्ड का रचन, पालन और प्रलय करना रूप यज्ञ है उसी को जगत् बनाने की सामग्री कहते हैं। देवा विद्वांसः पूर्वोक्तेन पुरुषेण हविषा गृहीतेन दत्तेन चाग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तं शिल्पविद्यामयं च यज्ञं यज्ञं प्रकाशितमतन्वत विस्तृतं कृतवन्तः कुर्वन्ति करिष्यन्ति च।' मन्त्र के उत्तरार्द्ध में ब्रह्माण्डयज्ञ से जगदुत्पत्ति के लिए वसन्त आदि को कालावयव माना है। आप ने इध्मः का अर्थ प्रदीप्त करने वाली या अग्नि किया है। मै० के विचार में यहां देवता व्याकृत पुरुष को हवि बना कर आदि पुरुष के लिए आदर्श पुरुष (मेध) यज्ञ करते हुए वर्णित किए गए हैं।

२. सम्भावित अर्थ—इस मन्त्र से यह लक्षित होता है कि भूमि आदि लोकों की रचना के पश्चात् प्राणियों की उत्पत्ति और स्थिति को सम्भव बनाने के लिए ऋतुओं की उत्पत्ति हुई। ऋतुओं से ही उत्पत्ति, वृद्धि और क्षय होते हैं। वसन्त में उत्पत्ति होती है, शरद् में वृद्धि, रस का विकास आदि और ग्रीष्म में पक कर तेजस्वी हो सूखना क्रियाएं लक्षित होती हैं। आज्य को प्राण (तै० ३। ८। १९। २३), हवि = को यज्ञ की आत्मा (श० १। ६। ३। ३९) और इध्म को अग्नि का प्रदीपक (श० १। ३। ५। १) कहा है। अतः यहां पर ऋतुओं के द्वारा उत्पत्ति, विकास और पाक (=ह्रास)—इन तीन शक्तियों का वर्णन किया गया है।

(ii) पूर्वार्द्ध में पुरुष विराज का द्योतक है, आदि पूर्ण परमात्मा का नहीं यह विराज् ही जगत् की उत्पत्ति की सामग्री (= हवि) है।

३. देवाः—ऊपर ऋ० २। १२। १ में देवो देवान् पर टिप्पणी देखें। ब्रह्माण्ड में प्रकाश आदि गुणों से युक्त समस्त पदार्थ भाव और स्थितियां 'देव' हैं। अतः सृष्टि की रचना में लगी हुई समस्त शक्तियां भी देवता हैं। वे ही विराज् रूप सामग्री से सृष्टिरचना रूपी यज्ञ का विस्तार करती हैं।

(ii) अवे० १०। ७। २४ में ब्रह्मवेत्ताओं को 'देव' कहा है—'यत्र देवा ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते।' इस आधार पर यहां 'देवाः' का अर्थ वेदज्ञाता विद्वान् भी किया जा सकता है। इस में 'जत्र विद्वानों ने विराज् पुरुष रूप सामग्री से सम्पन्न सृष्टियज्ञ पर विचार किया तब उन्हों ने उस में वसन्त आदि के योग को जाना' ऐसा भाव लेना होगा।

४. यज्ञम्—मै०—होम, बलि। सामान्यतः इस पद का यही अर्थ समझा जाता है। परन्तु वैदिक और संस्कृत वाङ्मय में इस का अर्थ बहुत विस्तृत है। यह पद देवपूजा संगतिकरण और दान अर्थ वाली √यज् से बनता है। अतः इस के अर्थों में ये तीनों भाव व्यष्टि या समष्टि रूप में पाए जाते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों के यज्ञ के अर्थों—प्राण, अध्वर, नमः, भगः, बृहन् विपश्चित्, अर्यमा, सुम्न, श्रेष्ठतम कर्म, विट्, ब्रह्म, त्रयी विद्या, प्रजापति, विष्णु, अन्न, अग्नि, वाक्,

वायु, संवत्सर आदि में, गीता के यज्ञवर्णन में जपयज्ञ, प्राणापानयज्ञ आदि में यह स्थिति नितान्त स्पष्ट हो रही है। अतः सृजन भी यज्ञ है, सृजक भी यज्ञ है और सृजन की सामग्री भी यज्ञ है। परन्तु यह स्थिति तब तक ही है जब तक वे कर्म, कर्त्ता और सामग्री आदि श्रेष्ठतम कर्म = परोपकार के साधक हैं, अन्यथा नहीं। विद्वान् ऐसे ही अङ्गों से यज्ञ कर के शाश्वत नियमों और सुख आदि की व्यवस्था करते हैं (देखो आगे मन्त्र १६)।

संहितापाठः	पदपाठः
२८. तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्	तम्। यज्ञम्। बर्हिषि। प्र। औक्षन्।
पुरुषं जातमग्रतः।	पुरुषम्। जातम्। अग्रतः।
तेन देवा अयजन्त	तेन। देवाः। अयजन्त।
साध्या ऋषयश्च ये ॥ ७ ॥	साध्याः। ऋषयः। च। ये ॥७॥

यजुर्वेदे मन्त्रोऽयं नवमः।

सायणभाष्यम्—यज्ञं यज्ञसाधनभूतं तं पुरुषं पशुत्वभावनया यूपे बद्धं बर्हिषि मानसे यज्ञे प्रौक्षन् प्रोक्षितवन्तः। कीदृशमित्यत्राह। अग्रतः सर्वसृष्टेः पूर्वं पुरुषं जातं पुरुषत्वेनोत्पन्नम्। एतच्च प्रागेवोक्तं "तस्माद् विराळजायत विराजो अधि पूरुषः" इति। तेन पुरुषरूपेण पशुना देवा अजयन्त मानसयागं निष्पादितवन्त इत्यर्थः। के ते देवा इत्यत्राह। साध्याः सृष्टिसाधनयोग्याः प्रजापतिप्रभृतयः तदनुकूलाः ऋषयः मन्त्रद्रष्टारः च ये सन्ति ते सर्वेऽप्ययजन्तेत्यर्थः ॥ ७ ॥

हिन्दी अनुवाद—[अग्रतः] सब से पहले [जातम्] उत्पन्न हुए [तम्] उस [यज्ञम्] यज्ञ (= पूजनीय) [पुरुषम्] (विराज्-) पुरुष को [बर्हिषि] बर्हि (से आच्छादित यज्ञवेदी) पर [प्रौक्षन्] जल से छिड़का। [तेन] (उस यज्ञमय पुरुष से) [देवाः] देवता विद्वान्। [साध्याः] साध्य (च) और [ये] जो [ऋषयः] ऋषि थे (उन्हों ने) [अयजन्त] यज्ञ किया ॥७॥

टिप्पणियां—१. तम्—उवट ने यहां पर योगियों के आत्मयज्ञ का ही वर्णन माना है। भाष्यकारों ने 'तम्' के भाव का व्याख्यान नहीं किया है। मै० ने जातमग्रतः का भाव विराज् से उत्पन्न व्याकृत पुरुष = अधि पुरुष (मन्त्र ५) लिया है। उवट ने 'उत्पन्न दिव्य ज्ञान' भाव लिया है। और दस० ने पूर्ण परमात्मा।

(ii) परन्तु यहाँ पर सृष्टिरचना चालू हो चुकी है। विराज् पुरुष को हविः बनाया जा चुका है। सृजक शक्तियां उत्पन्न हो चुकी हैं। अतः यहां विराज् पुरुष का ही वर्णन चल रहा है।

२. यज्ञम्—विराज् पुरुष जीवों के कल्याण के लिए सृष्टि रचता है, अतः वह यज्ञ है। पिछले मन्त्र में 'यज्ञम्' पर टिप्पणी भी देखें।

३. बर्हिषि—उवट–तृतीयान्त मान कर प्राणायाम से दीपित अर्थ लेते हैं। मही०—मानस यज्ञ। दस०–मानस ज्ञान यज्ञ (य०भाष्य); हृदयान्तरिक्ष (ऋभाभू० पृ० १५८)। मै०–घास।

(ii) ब्राह्मण ग्रन्थों में इस के अर्थों में प्रजा, पशु, ओषधियां, और भूमा भी दिए हैं। इस से अगले मन्त्र में प्राणियों की उत्पत्ति का वर्णन है। अतः 'पशुओं की सृष्टि रूप महान् यज्ञ' अर्थ करना समीचीन होगा।

४ प्रौक्षन्—प्र + √उक्ष् + लङ् प्रथम पु० बहुवचन। मै०–छिड़का। मही०—संस्कारों से संस्कृत किया। दस०—सींचते हैं अर्थात् धारण करते हैं।

(ii) यहां पर 'लगाया, नियोजित किया' अर्थ अभिप्रेत है।

५. पुरुषं जातमग्रतः—ऊपर तम् पर टिप्पणी देखें। लोकों, कालविभाग आदि की रचना से पूर्व उत्पन्न विराज् पुरुष।

६. देवाः—पिछले मन्त्र में देवाः पर टिप्पणी देखें।

७. साध्या ऋषयश्च ये—मै० ने साध्याः को एक पुरानी दिव्य योनि या जाति माना है और ऋषयः को 'ऋषि, मन्त्ररचयिता कवि'। मही० ने साध्याः का अर्थ सृष्टिसाधनयोग्य प्रजापति आदि और दस० ने योगाभ्यासी ज्ञानी किया है।

ये दोनों ऋषि को मन्त्रद्रष्टा और मन्त्रार्थवित् मानते हैं। मै० का सुझाव है कि साध्याः को देवाः का विशेषण भी माना जा सकता है।

(ii) श० १० । २ । २ । ३ में मन्त्र १६ के साध्याः देवाः को विशेष्य-विशेषण मान कर 'प्राण' अर्थ किया है। ऐ० १ । १६ में इन्हें 'छन्दांसि' कहा गया है। ऋषयों को श० ६ । १ । १ । १ में तप से उत्पन्न बताया गया है—ते यत्पुरास्मात् सर्वस्मादिदमिच्छन्तः श्रमेण तपसारिषंस्तस्मादृषयः। यह पद गत्यर्थक √ऋष् धातु से बनता है। निघं० । ५ । ५ । १४ अ में ऋषयः को पदनाम माना गया है। अतः इस भाग का अर्थ—(देवाः) सृजक शक्तियां (साध्याः) प्राण (च) और (ये)[1] यज्ञशील (ऋषयः) तप और श्रम-हुआ। इस की योजना—ये साध्याः ऋषयः च देवाः सन्ति ते—जो प्राणरूप यज्ञशील तप और श्रम से युक्त सृजक शक्तियां—करने पर अर्थ सुसंगत हो जाता है।

संहितापाठः	पदपाठः
२९. तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः	तस्मात् । यज्ञात् । सर्वऽहुतः ।
संभृतं पृषदाज्यम् ।	सम्ऽभृतम् । पृषत्ऽआज्यम् ।
पशून् ताँश्चक्रे वायव्यान्	पशून् । तान् । चक्रे । वायव्यान् ।
आरण्यान् ग्राम्याश्च ये ॥८॥	आरण्यान् । ग्राम्याः । च । ये ॥८॥

यजुर्वेदेऽयं मन्त्रः षष्ठः। तत्र च तृतीयचतुर्थपादावेवम्—

पशूँस्ताँश्चक्रे वायव्यान्	पशून् । तान् । चक्रे । वायव्यान् ।
आरण्या ग्राम्याश्च ये ॥	आरण्याः । ग्राम्याः । च । ये ॥

सायणभाष्यम्—सर्वहुतः। सर्वात्मकः पुरुषः यस्मिन् यज्ञे हूयते सोऽयं सर्वहुत्। तादृशात् तस्मात् पूर्वोक्तात् मानसात् यज्ञात् पृषदाज्यं दधिमिश्रमाज्यं संभृतं संपादितम्। दधि चाज्यं चेत्येवमादिभोग्यजातं

१. यद पद √यज् धातु से निष्पन्न है। देखो उ० १।१३२।

सर्वं संपादितमित्यर्थः। तथा वायव्यान् वायुदेवताकाँल्लोकप्रसिद्धान् आरण्यान् पशून् चक्रे उत्पादितवान्। आरण्या हरिणादयः। तथा ये च ग्राम्याः गवाश्वादयः तानपि चक्रे। पशूनामन्तरिक्षद्वारा वायुदेवत्यत्वं यजुर्ब्राह्मणे समाम्नायते—"वायवः स्थेत्याह वायुर्वा अन्तरिक्षस्याध्यक्षाः। अन्तरिक्षदेवत्याः खलु वै पशवः। वायव एवैनान् परिददाति" (तै० ३।२।१।३) इति ॥ ८ ॥

हिन्दी अनुवाद—[**तस्मात्**] उस [**सर्वहुतः**] अच्छी प्रकार होम किए गए [**यज्ञात्**] (हवि बनाए हुए विराज् पुरुष रूप) यज्ञ से [**पृषदाज्यम्**] पशु [**संभृतम्**] उत्पन्न हुए। [**तान्**] उन [**पशून्**] पशुओं को [**वायव्यान्**] वायु में निवास करने वाला [**आरण्यान्**] जंगल में रहने वाला [**च**] और [**ये**] जो [**ग्राम्याः**] गाँव (आदि) में रहने वाले (हैं उन को वैसा) [**चक्रे**] बनाया ॥

टिप्पणियां—१, यजुर्वेद के पाठ में अर्थ में कोई अन्तर नहीं होगा।

२. यज्ञात्—देखो ऊपर मन्त्र ६ में यज्ञम् पर टिप्पणी। यहां पर मन्त्र ७ में वर्णित 'पशुरचना रूप यज्ञ' का भाव लेना अधिक संगत रहेगा। दस०—ने इस में पूजनीय पुरुष परमात्मा = आदि पुरुष का वर्णन माना है (य० भाष्य)। यह विचारणीय है।

३. सर्वहुतः—मही०—सर्वं हूयते यस्मिन् स सर्वहुत्। तस्मात्। सब कुछ की आहुति को प्राप्त करने वाला पुरुषमेधयज्ञ। दस०—सब से ग्रहण किये जाने वाला (पूजनीय परमात्मा)।

(ii) यज्ञ की सिद्धि तब ही होती है जब वह अच्छी प्रकार सम्पन्न हो। अग्नि में पदार्थों को डालने का एक प्रयोजन उन्हें सूक्ष्मतम बना कर वायु द्वारा सर्वत्र फैला देना है। यह तब ही सम्भव है जब अग्नि खूब प्रज्वलित हो। यह भाव यहां भी अभिप्रेत है। अतः इस का अर्थ—'सृजक शक्तियों के योग से विराज् रूप सामग्री से किए जा रहे प्राणिरचना रूप यज्ञ की अग्नि खूब प्रज्वलित थी। उस समय उस विराज् सामग्री के सूक्ष्म तत्त्वों से' अभिप्रेत है।

४. **संभृतम्**—सम् + √हृ + क्त। वेद में √हृ और √ग्रह् के ह् को भ् हो जाता है। अच्छी प्रकार सम्पन्न, सम्यक् सिद्ध, सम्यक् उत्पन्न। यहां क्रिया के रूप में प्रयुक्त हुआ है।

५. **पृषदाज्यम्**—मही०—दधि से युक्त आज्य अर्थात् दध्यादि भोग्य पदार्थों का समूह। मै०—घी। दस० भी मही० का ही भाव लेते हैं।

(ii) ब्राह्मण ग्रन्थों में इस के अर्थ अन्न, प्राण, पयः और पशु मिलते हैं। यहां प्राणिरचना यज्ञ हो रहा है। उस से पहले प्राणी उत्पन्न होंगें, तब दधि आदि से उपलक्षित भोग्य पदार्थ उत्पन्न हो सकेंगे। यद्यपि यहां कार्य-कारण के पौर्वापर्य का व्यत्यास रूप अतिशयोक्ति अलंकार माना जा सकता है, परन्तु मन्त्र की रचना इस के विरुद्ध है। पाद ३ में 'तान्' 'पृषदाज्यम्' का निर्देश करता है और उस का अर्थ 'पशून्' देता है। इन पशुओं के तीन विभाग किए गए वायव्य, आरण्य और ग्राम्य।

६. **तान्**—मै०—तत् के स्थान पर पशून् के प्रभाव से 'तान्' का प्रयोग हुआ है।

७. **वायव्यान्**—यह उन विरल पदों में से है जहां उच्चारण काल में भी स्वतन्त्र स्वरित की सत्ता बनी रहती है। इस के आन् को आगे आने वाले 'आ' के कारण आँ नहीं हुआ क्यों कि यह पाद के अन्त में है। इस से ऐसा आभास मिलता है कि पहले मन्त्रों का प्रत्येक पाद अन्य पादों से स्वतन्त्र समझा जाता था (मै०)।

संहितापाठः	पदपाठः
३०. तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ॥ ९ ॥	तस्मात्। यज्ञात्। सर्वऽहुतः। ऋचः। सामानि। जज्ञिरे। छन्दांसि। जज्ञिरे। तस्मात्। यजुः। तस्मात्। अजायत ॥९॥

मन्त्रोऽयं यजुःसंहितायां सप्तमः। तत्र 'छन्दांसि'—इत्यत्र 'छन्दा ँ सि'—इति पाठः।

सायणभाष्यम्—सर्वहुतः तस्मात् पूर्वोक्तात् यज्ञात् ऋचः सामानि च जज्ञिरे उत्पन्नाः। तस्मात् यज्ञात् छन्दांसि गायत्र्यादीनि जज्ञिरे। तस्मात् यज्ञात् यजुः अपि अजायत ॥ ९ ॥

हिन्दी अनुवाद—[तस्मात्] उस [सर्वहुतः] अच्छी प्रकार निष्पन्न [यज्ञात्] (विराज् पुरुष रूप सामग्री वाले) सृष्टियज्ञ से [ऋचः] ऋचाएं (और) [सामानि] सामन् [जज्ञिरे] उत्पन्न हुए। [तस्मात्] उस से (ही) [छन्दांसि] छन्द और [तस्मात्] उस से (ही) [यजुः] यजुष् [अजायत] उत्पन्न हुए ॥

टिप्पणियां—१. यज्ञात् सर्वहुतः—दस०—सच्चिदानन्दस्वरूप पूर्ण पुरुष (सर्वहुतः) सब के पूजनीय, सब के उपास्य सर्वशक्तिमान् ब्रह्म से। ये इसे ऋचः आदि का विशेषण भी मानते हैं क्यों कि चारों वेद सब मनुष्यों द्वारा ग्रहण किए जाने योग्य हैं। उवट के विचार में (१) प्रज्वालित (पुरुषयज्ञ) से देव ऋक्साम यजुः और छन्दों को उत्पन्न करते हैं। २. प्रणव से आत्मयज्ञ के प्रदीप्त हो जाने पर स्वयमेव ज्ञान से (ऋक् आदि) अवस्थित हो जाते हैं।

२. ऋचः, सामानि, छन्दांसि, यजुः—दस० ने ऋक् आदि का अर्थ ऋग्वेद, सामवेद, अथर्ववेद और यजुर्वेद लगाया है। उन का विचार है कि ऋचः सामानि और यजुः में ही समस्त छन्दों का अन्तर्भाव हो जाता है, अतः छन्दांसि का प्रयोग निरर्थक होने से यह अथर्ववेद का द्योतक है। सेंट पीटर्सबर्ग कोष में छन्दस् का अर्थ ऋक्, यजुः और साम से भिन्न, सम्भवतः मूलतः, एक जादू-टोने का वाक्य किया है। इस आधार पर पीटर्सन भी दस० के निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। मै० समझते हैं कि इस में केवल तीन वेदों का ही सीधा और साक्षात् वर्णन है, अथर्ववेद बहुत पीछे तक चतुर्थ वेद के रूप में स्वीकार नहीं किया गया।

(ii) ऋ० १०।१४।१६ में त्रिष्टुभ्, गायत्री और छन्दांसि को यम में निहित बताया गया है। ऋ० १०।११४।५ में विप्र एक सुपर्ण को अध्वरों में छन्दों को युक्त करते हुए बहुधा कल्पित करते हैं। मन्त्र ८ में छन्दों को धारण

करते हुए विद्वान् ऋक् और सामन् से यज्ञ का सम्पादन करते हैं, मन्त्र ९ में प्रश्न है कि छन्दों के योग को कौन जानता है। ऋ० १०।१३०।३ में मन्त्रों को छन्द कहा है, मन्त्र ७ में इन के दो विभाग किए हैं—स्तोम और छन्द। अतः छन्द समस्त मन्त्रों का द्योतक पद है। यहां पर ऋक्, साम और यजुः से बचे हुए मन्त्रसमूह का अभिप्राय है, और वह अथर्ववेद ही है।

३. **मन्त्र की समस्या**—परन्तु अभी मानवसृष्टि का वर्णन नहीं किया गया है। इस से पहले मन्त्र में पशु शब्द से मानव का भी ग्रहण तो किया जा सकता है, परन्तु अगले मन्त्र में पशुओं का पुनः विस्तार किया गया है। मानवों का वर्णन केवल मन्त्र १२ में आया माना जा सकता है, फिर ऋग्वेद आदि की उत्पत्ति कैसे हुई। क्या इस में नित्य वाणी के प्रकाश का भाव ले कर वाणी के अंग होने के कारण ही ऋग्वेद आदि का वर्णन किया गया है, अथवा अन्य किसी दृष्टि से यह विचारणीय है। उधर ब्राह्मणग्रन्थों में ऋक् आदि के कुछ अर्थ मिलते हैं, क्या उन में से भी कोई अर्थ यहां अभिप्रेत हैं।

संहितापाठः	पदपाठः
३१. तस्मादश्वा अजायन्त	तस्मात् । अश्वाः । अजायन्त ।
ये के चोभयादतः ।	ये । के । च । उभयादतः ।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्	गावः । ह । जज्ञिरे । तस्मात् ।
तस्माज्जाता अजावयः ॥१०॥	तस्मात् । जाताः । अजावयः ॥१०॥

यजुःसंहितायां मन्त्रोऽयमष्टमः।

सायणभाष्यम्—तस्मात् पूर्वोक्ताद्यज्ञात् अश्वा अजायन्त उत्पन्नाः। तथा ये के च अश्वव्यतिरिक्ता गर्दभा अश्वतराश्च उभयादतः ऊर्ध्वाधोभागयोरु र् + उभयोः दन्तयुक्ताः सन्ति तेऽप्यजायन्त। तथा तस्मात् यज्ञात् गावः च जज्ञिरे। किं च तस्मात् यज्ञात् अजावयः च जाताः ॥१०॥

हिन्दी अनुवाद—[च] और [ये] जो [के] कोई (भी) [उभयादतः] (ऊपर नीचे —) दोनों ओर दान्तों वाले (हैं वे) [अश्वाः] घोड़े

[तस्मात्] उसी (यज्ञ) से [अजायन्त] उत्पन्न हुए। [ह] निश्चय से [गावः] गौएं [तस्मात्] उसी (यज्ञ) से [जज्ञिरे] उत्पन्न हुईं [अजावयः] बकरी और भेड़ [जाताः] उत्पन्न हुईं ॥ १० ॥

टिप्पणियां—१. भाष्यकारों का अर्थ—भाष्यकारों ने पहले दो पादों को एक साथ ले कर घोड़ों और दोनों ओर दान्तों वाले गधे आदि की उत्पत्ति का वर्णन माना है। परन्तु गावः के ऊपर और नीचे तथा दोनों ओर दंष्ट्राएं होती हैं, तथा बकरियों के ऊपर और नीचे दान्त होते हैं, अतः ये सब ही 'उभयादतः' हैं। ऐसी स्थिति में हिअ० की योजना उचित जान पड़ती है। भाष्यकारों का अर्थ यह है—

उस से घोड़े उत्पन्न हुए और ये जो कोई भी दोनों ओर दान्तों वाले हैं। उस से गाएं उत्पन्न हुईं। उस से बकरी और भेडें उत्पन्न हुईं।

२. अजावयः—द्वन्द्व समासों को पदपाठ में अवगृहीत नहीं किया जाता है।

संहितापाठः	पदपाठः
३२. यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्। मुखं किमस्य कौ बाहू का ऊरू पादा उच्येते ॥११॥	यत्। पुरुषम्। वि। अदधुः। कतिधा। वि। अकल्पयन्। मुखम्। किम्। अस्य। कौ। बाहू इति। कौ। ऊरू इति। पादौ। उच्येते इति॥ ११ ॥

यजुःसंहितायामयं दशमो मन्त्रः। तत्र तृतीयचतुर्थपादौ त्वेवं स्तः—

मुखं किमस्यासीत्किं बाहू किमूरू पादा उच्येते ॥	मुखम्। किम्। अस्य। आसीत्। किम्। बाहू इति। किम्। ऊरू इति। पादौ। उच्येते इति॥

सायणभाष्यम्—प्रश्नोत्तररूपेण ब्राह्मणादिसृष्टिं वक्तुं ब्रह्मवादिनां प्रश्ना उच्यन्ते। प्रजापतेः प्राणरूपा देवाः यत् यदा पुरुषं विराड्रूपं व्यदधुः संकल्पेनोत्पादितवन्तः तदानीं कतिधा कतिभिः प्रकारैः व्यकल्पयन् विविधं कल्पितवन्तः। अस्य पुरुषस्य मुखं किम् आसीत्। कौ बाहू अभूताम्। का ऊरू। कौ च पादावुच्येते। प्रथमं सामान्यरूपः प्रश्नः पश्चात् मुखं किमित्यादिना विशेषविषयाः प्रश्नाः ॥ ११ ॥

हिन्दी अनुवाद—[**यत्**] जब (देवों ने) [**पुरुषम्**] विराज् पुरुष को [**व्यदधुः**] (सृष्टियज्ञ में) आहुति दी (तब उस को) [**कतिधा**] कितने प्रकार से [**व्यकल्पयन्**] वर्णन किया ? [**अस्य**] उस का [**मुखम्**] मुख [**किम्**] क्या (था) [**बाहू**] दो भुजाएं [**कौ**] कौन-कौन सी (थीं) [**ऊरू**] जंघाएं (और) [**पादा**] पैर [**का**] कौन-कौन [**उच्येते**] कहे जाते हैं ?

टिप्पणियां—**१. अगले मन्त्र की भूमिका**—यह मन्त्र अगले मन्त्र के वर्णन की प्रश्नात्मक पृष्ठभूमि है।

२. यत्—मही०—जब। दस०—क्यों कि (ऋभाभू०); उस (पुरुष) को (य०भाष्य)।

३. पुरुषम्—सा०—विराज् पुरुष। दस०—पूर्ण पुरुष।

४. वि अदधुः—मै०—जब देवों ने पुरुष को हवनीय पशु के रूप में काटा। मही०—काल से उत्पन्न किया। दस०—(य०भाष्य)—विविध प्रकार से धारण करते हैं। (ऋभाभू०)—विविध प्रकार से व्याख्यान करते हैं।

(ii) आश्रित वाक्य होने पर भी पदपाठ ने 'वि' को अदधुः से पृथक् किया है। इस से ज्ञात होता है कि 'वि' को पदकार उपसर्ग नहीं मान रहे हैं।

५. कतिधा—कितने प्रकार से। इस के उत्तर अगले मन्त्रों में पाए जाते हैं। मन्त्र १२–१४ में चार-चार प्रकारों का उल्लेख है और मन्त्र १५ में दो प्रकारों का।

६. वि अकल्पयन्—मै०—बांटा, उ०—विचार किया। मही०—(कितने प्रकार) कल्पना की। दस०—विशेष कर कहते हैं (य० भाष्य)। उस के सामर्थ्यगुणों की कल्पना करते हैं (ऋभाभू०)।

(ii) इस धातु का कल्पना करने, सोचने, विचारने, व्याख्यान करने के अर्थ में ऋ० १०।११४।५ में भी प्रयोग हुआ है—

'सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।' ऋ० १।१६४।४६—'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' से तुलना करने पर उपरोक्त अर्थ सुपुष्ट हो जाता है। अतः—कितने रूपों में व्याख्यान किया—यह भाव हुआ।

७. मुखम्—सा०—मन्त्र के पूर्वार्द्ध में सामान्य प्रश्न किया गया है और इस भाग में उस प्रश्न का विस्तार किया है। सा० आदि ने इस का अर्थ—पुरुष के मुख, बाहू, ऊरू और पैर क्या थे—लिया है। दस० ने य० भाष्य में "(मुखम्) के समान श्रेष्ठ, (बाहू) भुज बल को धारण करने वाला, (ऊरू) घोंटू के कार्य करने हारे और (पादौ) पांव के समान नीच कौन थे" और ऋभाभू० पृ० १५८ में (i) मुख्य गुणों से, (ii) बल, वीर्य, शूरता और युद्ध आदि विद्यागुणों से, (iii) व्यापार आदि मध्यम गुणों से और (iv) मूर्खपन आदि नीच गुणों से किस की उत्पत्ति हुई—अर्थ किया है।

(ii) इस मन्त्र के पूर्वार्ध में पूछा गया है कि विराट् का विद्वानों ने कितने प्रकार व्याख्यान किया। अतः उत्तरार्द्ध में मुख, बाहु, ऊरु और पाद की दृष्टि से विराज् के चार प्रकार से अर्थात् चार व्याख्यान अभिप्रेत हैं। ये चारों व्याख्यान और इन में प्राप्त नाम उसी प्रकार एक विराज् के द्योतक हैं जिस प्रकार 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः' में अग्नि, यम और मातरिश्वा 'एकं सत्' के द्योतक हैं। विराज् के मुख आदि साक्षात् नहीं हैं। उस की शक्तियों को ही मुख आदि नाम दिया है। मुख = मुख के सदृश सुख-निरपेक्ष, ज्ञान प्रवचन और नेतृत्व आदि के गुण। बाहू—√ वह् धारण करना से। धारक, शक्ति, बल, वीर्य, रक्षा, संहार आदि गुण। ऊरु—√ ऊर्ण् ढकना से। अतः आच्छादन, पालन, विस्तार करना आदि गुण। पद् (पाद)—

√पद् जाना से। अतः गति, प्राप्ति, ज्ञान, श्रम और तप आदि। भाव यह है
इन शक्तियों की दृष्टि से विराज् के क्या-क्या नाम हुए। यजुर्वेद के पाठ में
और 'का' के स्थान पर 'किम्' पाठ से भी यही निष्कर्ष निकलता है। वहां
यह है--इस का मुख किस नाम का था, बाहू, ऊरू और पाद किस नाम के

८. कौ—डा० मै० लिखते हैं कि व्यञ्जनों से पूर्व द्विवचन के 'औ'
स्थान पर ऋग्वेद के प्राचीनतर भागों में 'आ' का प्रयोग पाया जाता है।

संहितापाठः	पदपाठः
३३. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्	ब्राह्मणः। अस्य। मुखम्। आसी
बाहू राजन्यः कृतः।	बाहू इति। राजन्यः। कृतः
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः	ऊरू इति। तत्। अस्य। यत्। वै
पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥१२॥	पत्ऽभ्याम्। शूद्रः। अजायत॥१

यजुःसंहितायामयं मन्त्र एकादशः। तत्र ब्राह्मणो, राजन्यः इत्युभयत्र
० णो, ०न्यः एवं पाठः। 'पद्भ्यामित्यस्य स्थाने 'पद्भ्याꣳ'पाठो वर्तते।

सायणभाष्यम्—इदानीं पूर्वोक्तानां प्रश्नानामुत्तराणि दर्शयति। अस्य
प्रजापतेः ब्राह्मणः ब्राह्मणत्वजातिविशिष्टः पुरुषः मुखमासीत् मुखादुत्पन्न
इत्यर्थः। योऽयं राजन्यः क्षत्रियत्वजातिमान् पुरुषः सः बाहू कृतः बाहुत्वेन
निष्पादितः। बाहुभ्यामुत्पादित इत्यर्थः। तत् तदानीम् अस्य प्रजापतेः
यत् यौ ऊरू तद्रूपः वैश्यः संपन्नः ऊरूभ्यामुत्पन्न इत्यर्थः। तथास्य पद्भ्यां
पादाभ्यां शूद्रः शूद्रत्वजातिमान् पुरुषः अजायत। इयं च मुखादिभ्यो ब्राह्म
णादीनामुत्पत्तिर्यजुःसंहितायां सप्तमकाण्डे "स मुखतस्त्रिवृतं निरमिमीत" (तै०
७।१।१।४) इत्यादौ विस्पष्टमाम्नाता। अतः प्रश्नोत्तरे उभे अपि तत्परतया
योजनीये ॥ १२ ॥

हिन्दी अनुवाद—[ब्राह्मणः] ब्रह्मज्ञानी [अस्य] उस (विराज्-पुरुष
का [मुखम्] मुख [आसीत्] था। [राजन्यः] शासक [बाहू] दो

भुजाएं [कृतः] बनाया गया । [यत्] जो [वैश्यः] (सामान्य) प्रजाजन (थे) [तत्] वे [अस्य] इस की [ऊरू] दोनों जंघाएं (कल्पित किए गए)। [पद्भ्याम्] पैरों से (वह) [शूद्रः] शूद्र (= तपस्वी) [अजायत] हो गया।

टिप्पणियां—१. वर्णों की उत्पत्ति—इस मन्त्र के आधार पर सब भाष्यकारों ने ब्रह्म के मुख से ब्राह्मणों की, भुजाओं से क्षत्रियों की, जंघाओं से वैश्यों की और पैरों से शूद्रों की उत्पत्ति मानी है, और समाज में उन का स्थान भी उत्तरोत्तर अवर माना है। मध्यकालीन और उस विचार के अनुयायी पण्डित इन वर्णों को जन्मगत मानते हैं और दस० गुणकर्मस्वभाव के अनुसार वर्णसंज्ञा मान कर एक दूसरे वर्ण में परिवर्तन का सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं।

(ii) जैसा पहले मन्त्र (११) की टिप्पणियों में लिखा गया है यहां पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र विराज् के ही विभिन्न दृष्टियों से अनेक नाम हैं। भाव यह है कि मुखवत् ज्ञान और प्रवचन की दृष्टि से विराज् का नाम ब्राह्मण है, बल, वीर्य आदि की दृष्टि से क्षत्रिय या राजन्य, विस्तार करने और सर्वत्र व्यापक होने की दृष्टि से वैश्य और गति, ज्ञान और प्राप्ति की दृष्टि से शूद्र नाम है। लक्षणा से लोक में इन गुणों के आधार पर विशः (= प्रजा) के भी पृथक्-पृथक् नाम कल्पित कर लिए गए। ऊपर मन्त्र ऋ० २ । १२ । ६ (क्रमसंख्या २) में भी टिप्पणियां देखें।

(iii) प्रचलित शैली के अर्थों के अनुसार भी चार वर्णों के प्रसिद्ध नाम ऋग्वेद में केवल इसी मन्त्र में आए हैं। यही नहीं, चारों संहिताओं में इस क्रम से चारों वर्णों के ये नाम इसी मन्त्र में मिलते हैं और किसी में नहीं। डा० अम्बेदकर इस मन्त्र को विशेष रूप से प्रक्षिप्त मानते हैं।

२. **कृतः**—मै० ने इसे कृतौ के स्थान पर राजन्यः से प्रभावित प्रयोग माना है, परन्तु यह विचार ठीक नहीं। कृतः और राजन्यः समानाधिकरण हैं।

३. **यद्वैश्यः**—मै० ने इस का अर्थ–उस की दो जंघाएं जो वैश्य था हो गईं–किया है। ऊपर के व्याख्यान की दृष्टि में यह अर्थयोजना उलटी है।

४. **पद्भ्याम्**—में जनन की प्रकृति की द्योतक पञ्चमी मानी गई है। पिछले मन्त्र की दृष्टि में 'अजायत' का भाव 'उच्यते' है। अतः अहां पञ्चमी नहीं मानी जा सकती। जटाभिस्तापसः के समान इत्थंभूतलक्षण में तृतीया है—गतिशीलता, श्रम और तप के कारण विराज् शूद्र कहलाता है।

(ii) गति दो प्रकार की होती है—१. श्रेय की ओर और २. प्रेय की ओर। अतः पद्भ्याम् में द्विवचन का प्रयोग किया गया है।

(iii) शक्ति भी दो प्रकार की होती है—१. पोषक और संहारक। संसार और राष्ट्र के धारण में दोनों प्रकार की शक्तियां काम आती हैं। अतः 'बाहू' में द्विवचन का प्रयोग हुआ है।

(iv) विस्तार भी अपना और दूसरों का होने से दो प्रकार का है। अतः ऊरू में भी द्विवचन का प्रयोग किया गया है।

संहितापाठः	पदपाठः
३४. चन्द्रमा मनसो जात-	चन्द्रमाः। मनसः। जातः।
श्चक्षोः सूर्यो अजायत।	चक्षोः। सूर्यः। अजायत।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च	मुखात्। इन्द्रः। च। अग्निः। च।
प्राणाद्वायुरजायत ॥ १३ ॥	प्राणात्। वायुः। अजायत ॥ १३ ॥

अयं मन्त्रो यजुःसंहितायां द्वादशः। तत्र च तृतीयचतुर्थपादावेवम्-

श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च	श्रोत्रात्। वायुः। च। प्राणः। च।
मुखादग्निरजायत ॥१२॥	मुखात्। अग्निः। अजायत ॥ १२ ॥

सायणभाष्यम्—यथा दध्याज्यादिद्रव्याणि गवादयः पशव ऋगादि वेदा ब्राह्मणादयो मनुष्याश्च तस्मादुत्पन्ना एवं चन्द्रादयो देवा अपि तस्मादेवोत्पन्ना इत्याह। प्रजापतेः मनसः सकाशात् चन्द्रमाः जातः। चक्षोः च चक्षुषः सूर्यः अपि अजायत। अस्य मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च देवावुत्पन्नौ। अस्य प्राणात् वायुरजायत ॥ १३ ॥

हिन्दी अनुवाद—(उसके) [**मनसः**] मन से [**चन्द्रमाः**] चन्द्रमा [**जातः**] बना । [**चक्षोः**] आंख से [**सूर्यः**] सूर्य [**अजायत**] उत्पन्न हुआ । [**मुखात्**] मुख से [**इन्द्रः**] इन्द्र [**च**] और [**अग्निः**] अग्नि [**च**] और [**प्राणात्**] प्राणों से [**वायुः**] वायु [**अजायत**] उत्पन्न हुए ।। १३ ।।

टिप्पणियां—१. **चन्द्रमाः**—चन्दति हर्षयति दीपयति वा स चन्द्रः (उ० २।१३ दभा०)। चन्द्रं मिमीतेऽसौ चन्द्रमाः (उ० ४।२२८)। आनन्दप्रद, प्रकाशक। चन्द्रमा को चन्द्रमा भी इन्हीं गुणों के कारण कहते हैं। इस की एक अन्य व्युत्पत्ति भी सम्भव है—चन्दति चन्दयति वा चन्दः। चन्दे आनन्दे प्रकाशे वा रमतेऽसौ चन्द्रमाः। आनन्द और प्रकाश में रमण करने वाला, अतः आनन्दमय, प्रकाशस्वरूप। निघं० ५।५।३ में इसे पदनामों में पढ़ा गया है। शाकल्य ने इसे पदपाठ में अवगृहीत नहीं किया है। सम्भवतः वे इस की दूसरी व्युत्पत्ति मानते हों जिस में पूर्वपद में विकार होने के कारण यह पद अवगृहीत नहीं हो सकता। तैत्तिरीय ब्राह्मण में इसे चन्द्र + मे से और नि० ११।५ में चाय + √द्रम् आदि से व्युत्पन्न किया गया है। इस के अर्थों में सोम, वृत्र, वरेण्य, सविता, मनस, रेतस्, अन्न, प्राण, प्रजापति, ब्रह्म, धाता, विधाता, रात्रि, उदान, मनुष्य लोक, वाक्, भर्गः, सब कुछ आदि मिलते हैं।

२. **मनसः**—चन्द्रमा और मन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। चन्द्रमा की किरणों के विशेष प्रकार से पड़ने पर मन में अनेकविध विकारों की उत्पत्ति बताई जाती है। शुक्ल पक्ष में कृष्ण पक्ष की अपेक्षा मानसिक गति अधिक व तीव्र होती है तु० क० तै० ३।१०।८।५--चन्द्रमा में मनसि श्रितः। तथा जै० उब्रा० १।२८।५- तद्यत्तन्मनश्चन्द्रमास्सः। अतः यहां पर पुरुष के मन से चन्द्रमा की उत्पत्ति कही गई है। मनस्-पद √मन् जानना, मनन करना से बनता है। जानने का साधन, अतः ज्ञानशक्ति, अनुभवशक्ति आदि। ब्राह्मण ग्रन्थों में इसे सविता, इन्द्र, ऋत, समुद्र, देव, वृषा, वाक्, प्राणों का अधिपति, यजुः, अध्वर्यु आदि कहा गया है। बृहत्, परं ब्रह्म, होता, प्रजापति, सब कुछ, पितर, अन्तरिक्ष, वायु, अग्नि।

३. चक्षोः—डा० मै० लिखते हैं कि चक्षु का पञ्चम्यन्त यह रूप केवल इसी मन्त्र में आया है। सामान्यतः यह पद चक्षुष् है। सूर्य के कारण ही आलोक प्राप्त कर के मनुष्य देखने में समर्थ होता है। सूर्य स्वयं सब जगत् को अपने प्रकाश से देखता है।

(ii) ब्राह्मण ग्रन्थों में इस के अर्थ सत्य, निवित्, रुक्, बृहस्पति, जमदग्नि ऋषि, मैत्रावरुण, अध्वर्यु, उद्गाता, ब्रह्मा, देव, आदित्य, अर्क, सूर्य, यश, त्रैष्टुभ, उष्णिक् आदि दिए गए हैं।

४. मुखात्—पिछले मन्त्र में मुख पर टिप्पणी देखें। श० १४।४।३।७ में मुख को 'प्रतीक' कहा है।

५. इन्द्रः—पीछे ऋ० २।१२।१ में इन्द्रः पर टिप्पणी देखें। पाउ० सू. सं० ३१ में इन्द्रः पर भी टिप्पणी देखें।

६. अग्निः—डा० फतह सिंह ने वैए० ७ में इसे मूलतः अ – √क्नूय् से व्युत्पन्न माना है। वैदिक वर्णनों में इस के अग्रणीत्व, प्रकाश और गतिशीलता गुण ही विशेष लक्षित होते हैं। मुख में भी अग्रणीत्व, प्रकाश और मानसिक गति सुविदित हैं। वे भाप० ४।१३; तथा परिशिष्ट २।१ भी देखें। पाउ० सूसं० ३१ में अग्नि पद पर टिप्पणी देखें।

७. प्राणात्—यह पद प्र + √अन् श्वास लेना से बनता है। श्वासक्रिया और उस में अन्दर आने और बाहर जाने वाली वायु ही प्राण है। प्राण शब्द से स्वयं प्राण का और प्राण, अपान, व्यान आदि दसों प्राणवायुओं का द्योतक है। ब्राह्मण ग्रन्थों में प्राणों को प्र, आदित्य, अर्क, सविता, सोम, चन्द्रमा, अग्नि, अमृत, जातवेदस्, वायु, वात, मातरिश्वा, वनस्पति, वरुण, रुद्र, वसु, मित्र, साध्य देव, विश्वे देवाः, ऋषि, वसिष्ठ ऋषि, ऋक्, यजुः, रश्मि, होता, सत्य, संवत्सर, मधु, ज्योति, हिरण्यय, क, प्रजापति, तनूनपात्, पिता, अर्णव, अन्न, सामवेद, आपः आदि कहा गया है। देखो वैको०।

८. वायुः—√वा जाना, बहना से। गतिशील, ज्ञानवान्, प्राप्त वस्तु आदि वायु शब्दद्योत्य होते हैं। पिछले साहित्य में यह पद योगरूढि हो कर

'हवा' का द्योतक बन गया है। अभिज्ञानशाकुन्तल अंक ७ में वायु के मार्गों का उल्लेख मिलता है।

(ii) ब्राह्मणग्रन्थों में वायु के अर्थों में हवा, सब को पृथक्-पृथक् व्यक्त करने वाली, देव, ब्रह्म, बृहस्पति, पवित्र, प्रजापति, इन्द्र, तेज, पूषा, तार्क्ष्य, सविता, विश्वकर्मा, पशुपति, उग्र, पुरोहित, वाक्, देवों की आत्मा, यजुः, अध्वर्यु, शान्ति आदि दिए हैं।

९. जैसा ऊपर मन्त्र ११ की टिप्पणियों में लिखा है वहां से आहुत पुरुष के नामों या व्याख्यानों का प्रकरण चल रहा है। वही विषय प्रकृत मन्त्र में तथा अगले मन्त्र में चल रहा है। इस प्रकरण का उपसंहार अगले मन्त्र (सं० १४) के पाद ४ में—तथा लोकाँ अकल्पयन्—इस प्रकार लोकों = स्वरूपों का व्याख्यान किया—में किया है।

(ii) ऊपर टिप्पणियों में विभिन्न पदों के ब्राह्मणग्रन्थों के अर्थों के अध्ययन और तुलनात्मक विश्लेषण से यह सुव्यक्त हो जाता है कि सब पदों के कतिपय अर्थ समान हैं। यह तब ही सम्भव है जब वे एक ही सत्ता के विभिन्न पक्षों के द्योतक हों। इस दृष्टि से भी यहां पुरुष के स्वरूपों का वर्णन ही अभिप्रेत है। इस की पुष्टि चन्द्रमा और मन के, सूर्य और चक्षु के, मुख तथा इन्द्र और अग्नि के तथा प्राण और वायु के घनिष्ठ सम्बन्ध से भी होती है।

(iii) परन्तु मनसः, चक्षोः, मुखात् और प्राणात् में पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग विचारणीय है। पिछले मन्त्र १२ में पद्भ्याम् में इत्थंभूतलक्षण में तृतीया लेने से समस्या हल हो गई है। परन्तु प्रस्तावित अर्थों की दृष्टि में यहां हेतु में पञ्चमी माननी समीचीन रहेगी। मननशक्ति, दर्शनशक्ति, सहनशीलता और धारण करने की शक्ति के कारण उस के नाम क्रमशः चन्द्रमा, सूर्य, इन्द्र और अग्नि तथा वायु पड़े। √जन् धातु का प्रयोग उत्पत्ति-द्योतक ही नहीं है, प्रसिद्धि का द्योतक भी है।

१०. श्रोत्रात्—यजुर्वेद में प्राण और वायु को श्रोत्र से उत्पन्न कहा गया है। अतः श्रवणशक्ति के कारण वह पुरुष वायु और प्राण कहलाया।

संहितापाठः	पदपाठः
३५. नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत । पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात् । तथा लोकाँ अकल्पयन् ॥१४॥	नाभ्याः । आसीत् । अन्तरिक्षम् । शीर्ष्णः । द्यौः । सम् । अवर्तत । पत्ऽभ्याम् । भूमिः । दिशः । श्रोत्रात् । तथा । लोकान् । अकल्पयन् ॥ १४ ॥

यजुःसंहितायां त्रयोदशोऽयं मन्त्रः । तत्र 'अन्तरिक्षम्' इति 'लोकाँ', इति च स्थाने 'अन्तरिक्ष ँ' इति, 'लोकाँ २' इति च पाठौ । पदपाठस्तु ऋग्वेदवत् ।

सायणभाष्यम्—यथा चन्द्रादीन् प्रजापतेः मनःप्रभृतिभ्योऽकल्पयन् तथा अन्तरिक्षादीन् लोकान् प्रजापतेः नाभ्यादिभ्यो देवाः अकल्पयन् उत्पादितवन्तः । एतदेव दर्शयति । नाभ्याः प्रजापतेर्नाभेः अन्तरिक्षमासीत् । शीर्ष्णः शिरसः द्यौः समवर्तत उत्पन्ना । अस्य पद्भ्यां पादाभ्यां भूमिः उत्पन्ना । अस्य श्रोत्रात् दिशः उत्पन्नाः ॥ १४ ॥

हिन्दी अनुवाद—[नाभ्याः] (उस की) नाभि से [अन्तरिक्षम्] आकाश [आसीत्] हुआ [शीर्ष्णः] सिर से [द्यौः] द्युलोक [समवर्तत] बना । [पद्भ्याम्] पैरों से [भूमिः] पृथिवी [श्रोत्रात्] कानों से [दिशः] दिशाओं [तथा] और [लोकान्] (शेष सब) लोकों को [अकल्पयन्] कल्पित किया ॥ १४ ॥

टिप्पणियां—१. नाभ्याः—यह पद √नह् बांधना से बनता है । जो सब कुछ को बांधे हुए है, व्याप्त किए हुए है । ब्राह्मणग्रन्थों की दृष्टि में नाभि में प्राण, अन्न और रेतस् स्थित हैं । नाभि पदार्थों का मध्य भाग होती है, जो भयरहित होती है । अन्तरिक्ष—आकाश सब को व्याप्त किए हुए है । इसे मध्य लोक भी कहते हैं । वायु और वृष्टिजल की स्थिति भी इसी में रहती है ।

२. अन्तरिक्षम्—डा० फतहसिंह ने दो व्युत्पत्तियां (१. अन्तरा + √क्षि से २. अन्तर + यक्ष्म् से) ब्राह्मणों से और तीन (—१. अन्तरा + क्षान्त

२. अन्तरा + √क्षि ३. अन्तर् + क्षयम्) निरुक्त से संकलित की हैं । आकाश के अर्थ में वे इसे अन्तर् + √ईक्ष् से व्युत्पन्न करना उचित समझते हैं। ताण्ड्यमहाब्राह्मण में एक अन्य व्युत्पत्ति अन्तर् + ख का संकेत भी मिलता है (देखो वैए० ५६) । ऊपर टिप्पणी १ में वर्णित अन्तरिक्ष के रूप की दृष्टि में अन्तर् + √क्षि व्युत्पत्ति अधिक उपयुक्त मानी जा सकती है । इसी से यह पुरुष का उस के सब कुछ को अपने अन्दर धारण करने और सब कुछ के अन्दर व्याप्त होने के कारण नाम बन जाता है ।

३. **शीर्ष्णः**—इसे √श्रि से व्युत्पन्न किया गया है । सब का धारक, सब का शरणभूत, अतः उन्नत, परम कमनीय । तु. क. असीरी भाषा का सिरि । इस का सामान्य अर्थ शिरस् होता है । इसे प्राणों की योनि, प्राण, अग्नि, गायत्री छन्द, त्रिधातु, त्रिवृत् आदि कहा गया है (देखो वैको० पृ० ५४४) ।

४. **द्यौः**—यह क्रीडा, विजिगीषा, कान्ति, गति, मोद, मद, स्वप्न, व्यवहार, द्युति, स्तुति अर्थों में प्रयुक्त √दिव् धातु से व्युत्पन्न किया गया है । तां० २० । १४ । २ में इसे √द्युत् से व्युत्पन्न किया गया है । ब्राह्मणग्रन्थों ने इसे प्रजापति द्वारा फैलाया हुआ, हरिणी (=सुवर्णमयी), प्राण, बृहत्, अक्षर-पंक्ति छन्द, विश्वकर्मा, वरुण, वैश्वानर, वाक् आदि कहा है ।

५. **पद्भ्याम्**—ऊपर मन्त्र १२ में पद्भ्याम् पर टिप्पणी देखें । वहां भी हेतु में पञ्चमी मानी जा सकती है ।

६. **भूमिः**—भवतीति भूमिः । सब कुछ का उत्पत्तिस्थान होने से पृथिवी भूमि कहलाती है । सब को जन्म और सुख आदि प्राप्त कराने वाला होने के कारण वह पुरुष भूमि कहलाया ।

७. **दिशः**—√दिश् से बनता है । प्रज्ञापक, निर्देशक । ब्राह्मणग्रन्थों में स्वर्गलोक, नाक, अग्नि, विश्वेदेवाः, ऋतुएं, श्रोत्र, श्रवणशक्ति, छन्दस्, परिधियां, प्राण, समान, वैरूप साम आदि को 'दिशः' कहा गया है । अतः प्रकरण में इस का बहुवचन रूप कोई समस्या उत्पन्न नहीं करता है । वैदिक पदों की योजना परम कृत्रिम है । वे कवि के काव्य के पदों के समान नहीं हैं । उन की योजना अनेक दृष्टियों को ध्यान में रख कर की गई है ।

८. **तथा लोकाँ अकल्पयन्**—√ कल्प् का अर्थ ऊपर मन्त्र ११ में व्याख्यान करना, बताना, कल्पना करना निर्धारित किया जा चुका है । लोक पद √ लोक् देखना, प्रकाशित होना से बनता है । अतः प्रकाशित, प्रकाशमय, प्रकाशप्रद। अतः ज्ञापक = स्वरूप = नाम । इसी आधार पर इस का अर्थ 'पक्ष' भी किया जा सकता है । पुरुष के विभिन्न नामों, पक्षों, स्वरूपों का व्याख्यान ऊपर वर्णित रूप में किया ।

९. ऊपर मन्त्र ११-१४ में सुझाए गए अर्थों के साथ-साथ इन मन्त्रों से पशु आदि की सृष्टि के समान जगत् के पदार्थों की शक्तियों और कर्मों की सृष्टि का बोध भी आलंकारिक शैली में होता है । वर्णन के क्रम में अव्यवस्था होने से यहां सृष्टिरचना का प्रकरण संग्रहकर्त्ता का मूलतः अभिप्रेत प्रतीत नहीं होता ।

संहितापाठः	पदपाठः
३६, सप्तास्यासन् परिधयस्	सप्त । अस्य । आसन् । परिऽ-
त्रिः सप्त समिधः कृताः ।	धयः । त्रिः । सप्त । सम्ऽइधः ।
देवा यद्यज्ञं तन्वाना	कृताः । देवाः । यत् । यज्ञम् ।
अबध्नन् पुरुषं पशुम् ॥ १५ ॥	तन्वानाः । अबध्नन् । पुरुषम् ।
	पशुम् ॥ १५ ॥

सायणभाष्यम्—अस्य सांकल्पिकयज्ञस्य गायत्र्यादीनि सप्त छन्दांसि परिधयः आसन् । ऐष्टिकस्याहवनीयस्य त्रयः परिधय उत्तरवेदिकास्त्रय आदित्यश्च सप्तमः परिधिप्रतिनिधिरूपः । अत एवाम्नायते—"न तस्य पुरस्तात् परि दधात्यादित्यो ह्येवोद्यन् पुरस्ताद् रक्षांस्यपहन्ति" (तैसं० २।६।६।३) इति । तत एत आदित्यसहिताः सप्त परिधयोऽत्र सप्त छन्दोरूपाः । तथा समिधः त्रिः सप्त त्रिगुणीकृतसप्तसंख्याकाः एकविंशतिः कृताः । "द्वादश मासाः पञ्चर्तवस्त्रय इमे लोका असावादित्य एकविंशः" (तैसं० ५।१।१०।३) इति श्रुताः पदार्था एकविंशतिदारुयुक्तेध्मत्वेन भाविताः । यत् यः

पुरुषो वैरोजोऽस्ति तं पुरुषं देवाः प्रजापतिप्राणेन्द्रियरूपाः यज्ञं तन्वानाः मानसं यज्ञं तन्वानाः कुर्वाणाः पशुम् अबध्नन् विराट्पुरुषमेव पशुत्वेन भावितवन्तः। एतदेवाभिप्रेत्य पूर्वत्र "यत्पुरुषेण हविषा" इत्युक्तम्॥ १५॥

हिन्दी अनुवाद—[**यत्**] जब [**देवाः**] देवों ने [**यज्ञम्**] (सृष्टि-) यज्ञ का [**तन्वानाः**] विस्तार करते हुए [**पुरुषम्**] (विराज्) पुरुष को [**पशुम्**] (हवि रूप) प्राण [**अबध्नन्**] बनाया (तब) [**अस्य**] इस यज्ञ की [**परिधयः**] सीमाएं [**सप्त**] सात [**आसन्**] थीं, (और) [**समिधः**] समिधाएं [**त्रिः सप्त**] इक्कीस [**कृताः**] बनाई गईं॥ १५॥

टिप्पणियां—१. **सप्त परिधयः**—परिधि—परि + √धा से। धारक, अतः सीमा। ब्राह्मणग्रन्थों में दिशाओं और लोकों को परिधि कहा है। सा० ने १) गायत्री आदि सात छन्दों और २. आहवनीय की तीन परिधियों, तीन उत्तर वेदिकाओं और आदित्य को परिधि बताया है। ऋभाभू० में दस० ने ब्रह्माण्ड के एक के ऊपर एक के क्रम से स्थित १. समुद्र २. त्रसरेणु सहित वायु ३. मेघमण्डलस्थ वायु ४. वृष्टिजल ५. वृष्टिजल के ऊपर वायु ६. अत्यन्त सूक्ष्म धनञ्जय और ७. सर्वत्र व्याप्त सूत्रात्मा—इन सात आवरकों को परिधि माना है। मै० ने यज्ञाग्नि के चारों ओर रक्खी जाने वाली तीन हरी समिधाओं को परिधि बताया है। सृष्टियज्ञ के वर्णन में दस० का अर्थ अधिक समीचीन है सात छन्दों का भाव वाग्ब्रह्म से सृष्टि की उत्पत्ति में अधिक संगत होता है। वेद के कतिपय मन्त्रों में सृष्टिरचना से छन्दों का सम्बन्ध बताया गया है। (वेभाप० ४। १६२; १७३, १७६-१८० देखें।)

२. **त्रिः सप्त समिधः**—इक्कीस समिधाएं। सा०—१२ मास, ५ ऋतुएं, ३ लोक और आदित्य। दस०—इक्कीस पदार्थों (१ प्रकृति, महत्, बुद्धि, अन्तःकरण और जीव का समुदाय, १० इन्द्रिय,—५ तन्मात्राएं, और ५ भूत) रूप सामग्री। यभा० में यह परिगणन इस प्रकार दिया है—१ प्रकृति, १ महत् १ अहंकार, ५ सूक्ष्म भूत, ५ स्थूल भूत, ५ ज्ञानेन्द्रिय, और ३ गुण—सत्त्व, रजस् और तमस्। ब्राह्मणग्रन्थों में प्राणों, वसन्त, गर्भ और अस्थियों को समित् कहा गया है। तै० २। १। ३। ८ के अनुसार यह पद सम् + √दा (= यच्छ्)

से बनता है। श० ९।२।३।४४ में इसे सम् + √इन्ध् से व्युत्पन्न किया गया है।

(ii) ऋ० १।१६४।२५ में गायत्र की तीन समिधाएं बताई हैं। ऋ० ३।२।९ में परिज्मन् यह्व अग्नि की तीन समिधाओं का वर्णन है। इन में से एक मृत्युलोक में स्थापित की गई है और दो ऊपर अन्तरिक्ष में। ऋ० १०।५१।२ में अग्नि की समिधाओं को देवयानी कहा है। अवे० ५।२६।१ में यजुष् ही समिधाएं हैं, ५।२९।१४ में अग्नि की समिधाएं पिशाचजम्भनी हैं, और १९।६४।४ में अग्नि समिधाओं से समित् बन कर अमर आयु देता है। अवे० ८।९।१८ में समिधाओं की संख्या सात बताई है।

(iii) त्रिः सप्त का प्रयोग भी एक समस्या है। ऋग्वेद में यह संख्या अग्नि के गुह्य पदों (१।७२।६), विष्णुलिंगको (१।१९१।१२), सात मोरनियों (१।१९१।१४), अघ्न्या के नामों (७।८७।४), सोमपा की उस्राओं (८।४६।२६), सखा के पद में सुखों (?) आदि (८।६९।७), गिरिओं की सानुओं (८।९६।२), पूर्व्य व्योम में सत्य आशिर की दोहक धेनुओं (९।७०।१; ८६।२१), नदियों (१०।६४।८) की संख्या की द्योतक है और अवे० १२।२।२९ में ऋषियों की संख्या की।

(iv) यहाँ पर सृष्टियज्ञ का वर्णन है। त्रिः सप्त और समिधः के ऊपर दिए गए वैदिक और ब्राह्मणों के वर्णनों की दृष्टि में इन का भाव 'सृष्टिरचना को सम्पन्न करने वाले २१ पदार्थ या शक्तियां या कारण' लेना उचित होगा। इस दृष्टि से दस० का व्याख्यान हमारी सहायता करता है।

३. देवाः—ऊपर मन्त्र ७ में देवाः पर टिप्पणी देखें।

४. यज्ञम्—ऊपर मन्त्र ६, ७ में यज्ञम् पर टिप्पणी देखें। यह यज्ञ मानस भी माना गया है। अभिप्राय यह है कि विद्वान् लोग परम पुरुष का चिन्तन करते हैं (देखो ऋभाभू० पृ० १६३)।

५. तन्वानाः—√तन् + शानच्। विस्तार करते हुए।

६. पशुम्—सा० आदि ने इस का अर्थ बलि का पशु ही समझा है, यह भिन्न बात है कि वह पशु 'पुरुष' है जो अस्थिमांस की देह वाला नहीं है। दस० ने इसे √ दृश् धातु से मान कर इस का अर्थ 'सर्वद्रष्टा, सर्वपूजनीय और द्रष्टव्य' ग्रहण किया है। इस अर्थ की पुष्टि ब्राह्मणों के पशुपद के अर्थों से होती है जहां केवल गाय आदि को ही पशु नहीं कहा है प्रत्युत अग्नि, सविता, वैश्वदेव शस्त्र, दैवी विश्, सोम, श्री, यश, शान्ति, पूषा, प्रजापति की कल्याणी तनू, अन्न, वाज, मेध, धान, इडा, प्राण, आत्मा, यजमान, वज्र, ग्रावन्, उक्थ, ऊषाः, स्वर, यज्ञ आदि को भी पशु कहा है।

संहितापाठः	पदपाठः
३७. यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास् तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥ १६ ॥	यज्ञेन। यज्ञम्। अयजन्त। देवाः। तानि। धर्माणि। प्रथमानि। आसन्। ते। ह। नाकम्। महिमानः। सचन्त। यत्र। पूर्वे। साध्याः। सन्ति। देवाः ॥ १६ ॥

सायणभाष्यम्—पूर्वं प्रपञ्चेनोक्तमर्थं संक्षिप्यात्र दर्शयति। देवाः प्रजापतिप्राणरूपाः यज्ञेन यथोक्तेन मानसेन संकल्पेन यज्ञं यथोक्तयज्ञस्वरूपं प्रजापतिम् अजयन्त पूजितवन्तः। तस्मात् पूजनात् तानि प्रसिद्धानि धर्माणि जगद्रूपविकाराणां धारकाणि प्रथमानि मुख्यानि आसन्। एतावता सृष्टिप्रतिपादकसूक्तभागार्थः संगृहीतः। अथोपासनतत्फलानुवादकभागार्थः संगृह्यते। यत्र यस्मिन् विराट्प्राप्तिरूपे नाके पूर्वे साध्याः पुरातना विराडुपास्तिसाधकाः देवाः सन्ति तिष्ठन्ति तत् नाकं विराट्प्राप्तिरूपं स्वर्गं ते महिमानः तदुपासका महात्मानः सचन्त समवयन्ति प्राप्नुवन्ति॥ १६॥

हिन्दी अनुवाद—[देवाः] देवों ने [यज्ञेन] (पुरुषरूप) यज्ञमय (हविः) से [यज्ञम्] (सृष्टि—) यज्ञ का [अयजन्त] सम्पादन किया।

[तानि] वे [धर्माणि] नियम [प्रथमानि] प्रमुख [आसन्] हो गए। [ह] निश्चय से [ते] वे [महिमानः] (प्रमुख धर्म रूप) कीर्तियां [नाकम्] (उस) सुखमय (मोक्षस्थान) में [सचन्त] विद्यमान हैं [यत्र] जहां [पूर्वे] पुराने [साध्याः] सृष्टि के साधक [देवाः] देव [सन्ति] विद्यमान हैं ॥ १६ ॥

टिप्पणियां—१. देवाः—सृष्टि की उत्पादक शक्तियाँ–पुरुष के मन में कामनारूपी यज्ञमय बीज, अप्रकेत सलिल आदि। सा०—प्रजापति के प्राणरूप देव।

२. यज्ञेन—सा०—मानस यज्ञ। दस०—ज्ञान यज्ञ (यभा०); स्तुति प्रार्थना उपासना आदि पूजन से (ऋभाभू०)। सूक्त के वर्णन से यह पद 'पुरुष' का निर्देश करता प्रतीत होता है। परन्तु यह पुरुष विराज् है या अव्याकृत परम पुरुष। विराज् तो यह सृष्टि ही है। पहले परम पुरुष को ही यज्ञ की हवि = सामग्री बनाया गया है। उसी से सब उत्पत्ति बताई गई है। वह उत्पत्ति 'विराडजायत' का व्याख्यान कही जा सकती है। अतः अनुवाद में इस का अर्थ 'पुरुष रूप यज्ञमय हविस्' किया गया है। पाउ० सूसं० १४ में यज्ञपद पर टिप्पणी भी देखें।

३. यज्ञम्—मै०—जिस प्रकार ब्राह्मणग्रन्थों में विष्णु को यज्ञ के रूप में कल्पित किया गया है वैसे ही यहां पुरुष को भी यज्ञ के रूप में कल्पित किया गया है। सा०—यज्ञस्वरूप प्रजापति। दस०—यजनीय पूजनीय परमेश्वर। इन दोनों ने अयजन्त को देवपूजा के अर्थ में लिया है। यद्यपि ये अर्थ अनुचित नहीं, तो भी प्रकरण की दृष्टि में यहाँ हिन्दी अनुवाद का अर्थ—सृष्टियज्ञ अधिक उपयुक्त रहेगा। √ यज् धातु का अर्थ संगतिकरण भी होता है अतः अयजन्त = किया।

४. तानि—इस में पूर्व पाद—'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः' में वर्णित धर्मों = नियमों की ओर ही निर्देश माना जा सकता है। सा० ने 'प्रसिद्ध जगद्रूप विकारों के धारक धर्म' लिख कर इस भाव का प्रकाशन किया है। पाद १ में

ये धर्म केवल 'देवाः' पद से ही निर्दिष्ट माने जा सकते हैं। दस० ने तानि में अयजन्त के भाव का निर्देश माना है।

५. धर्मा॑णि—सा०—धारक। दस०—धारणात्मक (यभा०); करने योग्य (ऋभाभू० १६४)। यह पद √धृ से बनता है। अतः धारक नियम, शक्तियां आदि।

६. प्र॒थ॒मानि॑—√प्रथ् से। अतः विस्तृत, प्रमुख। दस०—१. अनादि-भूत मुख्य। २. सब कर्मों के आदि में करने योग्य (ऋभाभू०)। पहला अर्थ अधिक संगत है।

७. नाक॑म्—सा०—विराट् प्राप्ति रूप स्वर्ग। दस०—१. दुःखविहीन मुक्तिसुख २. सर्वदुःखरहित परमेश्वर।

८. म॒हि॒मान॑ः—सा०—प्रजापति के उपासक महात्मा जन। दस०—महत्त्व से युक्त। विद्वान्, पूज्य। मै०—संभवतः यज्ञ में निहित शक्तियाँ।

(ii) यह पद √मह् से बनता है। अतः पूजनीय, महान्। इस का विशेषण पद 'ते' पूर्वपादस्थ तानि का ही निर्देशक हो सकता है। अतः हिन्दी अनुवाद में ऊपर वर्णित 'प्रमुख धर्म रूप कीर्तियाँ' अर्थ ग्रहण किया गया है।

९. स॒च॒न्त॒—√सच् से लङ् प्रथम पु० बहुवचन का अट् से हीन रूप। प्राप्त होती हैं, मिलती हैं, विद्यमान हैं।

१०. यत्र॑—सा०—विराट्प्राप्ति रूप स्वर्ग। दस०—मोक्ष। यह पूर्वपादस्थ 'नाकम्' की ओर संकेत करता है।

११. पूर्वे॑ सा॒ध्या दे॒वाः—सा०—पुरातन विराट् की उपासना के साधक देवता। दस०—साधनों से युक्त (योग–) साधन कर लेने वाले प्राचीन देदीप्य-मान विद्वान्। मै०—प्राचीन साध्य, देवता। ऊपर मन्त्र ७ में साध्याः पर टिप्पणी भी देखें। यह पद √साध् से बनता है। अतः साधक। इसे 'देवाः' से पृथक् लेने के लिए मन्त्र में कोई समुच्चय बोधक पद नहीं है। अतः इसे 'देवाः' का विशेषण बनाया गया है।

संहितापाठः

३८.

अद्भ्यः सम्भृतः पृथिव्यै रसाच्च
विश्वकर्मणः समवर्त्तताग्रे।
तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति
तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानमग्रे ॥
य० ३१।१७ ॥

पदपाठः

अद्भ्यऽइत्यत्ऽभ्यः। सम्भृतऽइति
सम्ऽभृतः। पृथिव्यै। रसात्। च।
विश्वकर्मणऽ इति विश्वऽ-
कर्मणः। सम्। अवर्त्तत। अग्रे।
तस्य। त्वष्टा। विदधदिति वि-
ऽदधत्। रूपम्। एति। तत्।
मर्त्यस्य। देवत्वमिति देवऽत्वम्।
आजानमित्याऽजानम्। अग्रे ॥
य० ३१।१७ ॥

महीधरभाष्यम्—"अद्भ्यः सम्भृत इत्युत्तरनारायणेनादित्यमुपस्थाय" (१।३।६।२।२०) इति षट् कण्डिका उत्तरनारायणम्। उपान्त्ये द्वे अनुष्टुभौ शेषास्त्रिष्टुभ आदित्यदेवत्याः। पूर्वकल्पे पुरुषमेधयाजी आदित्यरूपं प्राप्तः स्तूयते ॥

अद्भ्यो जलात् पृथिव्याः सकाशाच्च। पृथिव्यपां ग्रहणं भूतपञ्चकोपलक्षकम्। भूतपञ्चकाद् यो रसः सम्भृतः पुष्टः। तथा विश्वं कर्म यस्य विश्वकर्मणः कालस्य रसात् प्रीतेर्यो रसोऽग्रे प्रथमं समवर्तत समभवत्। भूतपञ्चकस्य कालस्य च सर्वं प्रति कारणत्वात् पुरुषमेधयाजिनो लिङ्गशरीरे पञ्च भूतानि तुष्टानि कालश्च। ततस्तुष्टेभ्यः कश्चिद्रसविशेषफलस्य उत्तमजन्मप्रद उत्पन्न इत्यर्थः। तस्य रसस्य रूपं विदधद् धारयंस्त्वष्टादित्य एति प्रत्यहमुदयं करोति। अग्रे प्रथमं मर्त्यस्य मनुष्यस्य सतस्तस्य पुरुषमेधयाजिन आजानदेवत्वं मुख्यं देवत्वं सूर्यरूपेण। द्विविधा देवाः कर्मदेवा आजानदेवाश्च। कर्मणोत्कृष्टेन देवत्वं प्राप्ताः कर्मदेवाः। सृष्ट्यादावुत्पन्ना आजानदेवाः। ते कर्मदेवेभ्यः श्रेष्ठाः—"ये शतं कर्मदेवानामानन्दाः स एक आजानदेवानामानन्दः" (बृउ० ४।३।३३) इति श्रुतेः सूर्यादय आजानदेवाः ॥ १७ ॥

हिन्दी अनुवाद—[**च**] और [**पृथिव्यै**] सुविस्तृत सृष्टि (रचना) के लिए [**अद्भ्यः**] (आदिकारण) जलों से [**सम्भृतः**] निकाले हुए [**विश्वकर्मणः**] समस्त (रचना रूप) कर्म में समर्थ [**रसात्**] सार से [**अग्रे**] सृष्टिरचना के समय [**समवर्तत**] (यह सृष्टि) उत्पन्न हुई। [**त्वष्टा**] सृजक पुरुष [**तस्य**] उस (दृश्यमान जगत्) को [**रूपम्**] रूप [**विदधत्**] देते हुए [**एति**] (सर्वत्र) पहुँचा हुआ है। [**अग्रे**] आरम्भ से [**तत्**] वह ही [**मर्त्यस्य**] मरणशील प्राणियों में [**आजानम्**] सब ओर से (समस्त कर्त्तव्य कर्मों आदि का) उत्पादक [**देवत्वम्**] दिव्य गुण (है) ॥ १७ ॥

टिप्पणियां—१. अद्भ्यः सम्भृतः पृथिव्यै०—भाष्यकारों का इस मन्त्र का व्याख्यान इस प्रकार है—दस०—पृथिवी की उत्पत्ति के लिए जलों से रस निकाल कर पृथिवी बनाई। इन्हों ने इसे उपलक्षण मान कर जल आदि की सृष्टि का व्याख्यान किया है। विश्वकर्मा परमेश्वर है जिस के सामर्थ्य में कारण रूप जगत् कार्यरूप जगत् से भी पहले विद्यमान रहता है। उसी कारणरूप जगत् के अंशों से सृष्टिरचयिता इस जगत् को रचता है। सृष्टि के आदि में वह मनुष्यों को अपने कर्मों से सुख प्राप्त करने के लिए वेद की आज्ञा देता है (– देवत्वमाजानमग्रे) (ऋभाभू०)।

(ii) उवट—जलों और पृथिवी के रस से उत्पन्न विश्वकर्मा से पूर्व संयोग-रूप में विद्यमान प्रजापति अपने एकांश रूप मर्त्यलोक में प्राप्त प्रभुत्व है। मही०—जल और पृथिवी आदि पांच भूतों और काल के रस को धारण करता हुआ सूर्य प्रतिदिन उदय होता है। वह आजान देव = मुख्य देव है।

(iii) उवट और महीधर ने पृथिव्यै को पञ्चम्यर्थ में चतुर्थी माना है। हिन्दी अनुवाद के अनुसार ऐसा मानना अनावश्यक है। यहां पर तादर्थ्ये चतुर्थी का प्रयोग है। पृथिवी-पद √प्रथ् से बनता है। अद्भ्यः को सब भाष्यकारों ने पांच भूतों का द्योतक माना है। यदि इन जलों को आदिकारण 'सलिल' मान लें तो इसे उपलक्षण मानने की आवश्यकता न रहेगी। सम्भृतः का रसात् से सम्बन्ध सीधा और स्वाभाविक है। अतः इसे पञ्चम्यन्त लिया गया है। इसे प्रथमान्त मान कर भाष्यकारों की योजना क्लिष्ट है।

२. विश्वकर्मणः—व्युत्पत्ति और मूल अर्थ में तो सब भाष्यकारों का एक मत है, परन्तु व्याख्यान में भेद है। वे सब इसे स्वतन्त्र विशेष्य पद मानते हैं। परन्तु प्रकरण और मन्त्र की रचना में यह रसात् का विशेषण और पञ्चम्यन्त मालूम पड़ता है।

३. त्वष्टा—भाष्यकारों ने इस का अर्थ सूर्य किया है। परन्तु यहां पुरुष रूप सामग्री से सृष्टि की रचना का वर्णन किया गया है। अतः सूर्य अर्थ अप्रासंगिक है।

४. तत्—तु० क०—एकं सत् (ऋ० १।१६४।४६) और तदेकम् (ऋ० १०।१२९।२)।

५. आजानम्—मही०—आजान श्रेणी के अर्थात् प्रमुख श्रेष्ठ देवता। दस०—समन्ताज्जनानां मनुष्याणामिदं कर्त्तव्यं कर्म—आ+जन से। हिन्दी अनुवाद में इसे आ+√जन् (आ समन्तात् जनयति कारयति कर्माणि) से लिया गया है।

६. तस्य—√तन् से तद् शब्द का षष्ठ्यन्त रूप। सामान्यतः यह निर्देशक सर्वनाम के रूप में आता है। यहां यह 'पृथिव्यै' पद से संकेतित सृष्टि-रचना का द्योतक है। इसे मर्त्यस्य के साथ भी जोड़ा जा सकता है।

संहितापाठः	पदपाठः
३६. वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥ य० ३१।१८॥	वेद। अहम्। एतम्। पुरुषम्। महान्तम्। आदित्यवर्णमित्यादित्यऽवर्णम्। तमसः। परस्तात्। तम्। एव। विदित्वा। अति। मृत्युम्। एति। न। अन्यः। पन्थाः। विद्यते। अयनाय॥ य० ३१।१८॥

महीधरभाष्यम्—एतं महान्तं सर्वोत्कृष्टं पुरुषं सूर्यमण्डलस्थमहं वेद जानामीति ऋषेर्वचनम् । कीदृशम् ? आदित्यवर्णमादित्यस्येव वर्णो यस्य तम् । उपमान्तराभवात् स्वोपमम् । तथा तमसः परस्ताद् दूरतरम् । तमोरहितमित्यर्थः । तमःशब्देनाविद्योच्यते । तमेवादित्यं विदित्वा ज्ञात्वा मृत्युमत्येत्यतिक्रामति परं ब्रह्म गच्छति । अयनायाश्रयायान्यः पन्था मार्गो न विद्यते । सूर्यमण्डलान्तःपुरुषमात्मरूपं ज्ञात्वैव मुक्तिः ॥ १८ ॥

हिन्दी अनुवाद—[**अहम्**] मैं [**एतम्**] इस (ऊपर वर्णित) [**महान्तम्**] महान् [**आदित्यवर्णम्**] सूर्य के समान तेज वाले [**तमसः**] अन्धकार के [**परस्तात्**] परे [**पुरुषम्**] पुरुष को [**वेद**] जानता हूं । [**तम्**] उसे [**एव**] ही [**विदित्वा**] जान कर [**मृत्युम्**] मृत्यु को [**अति एति**] पार कर जाते हैं । [**अयनाय**] मोक्ष के लिए [**अन्यः**] दूसरा कोई [**पन्थाः**] मार्ग [**न विद्यते**] नहीं है ।

टिप्पणियां—**एतं पुरुषम्**—मही०—सूर्यमण्डलस्थ पुरुष । उवट, दस०—परमेश्वर । यह अर्थ ही प्रकरणोचित है क्यों कि एतम् में पूर्व मन्त्रों में वर्णित पुरुष की ओर निर्देश है ।

२. **आदित्यवर्णम्**—वर्ण–√वृ से व्युत्पन्न होने के कारण 'तेज' का पर्याय माना जा सकता है । रंग भी पदार्थों का स्वरूप = तेज ही है । ज्ञात पदार्थों में आदित्य का तेज ही सर्वाधिक होता है । यह पद अदिति (न + √दो अवखण्डने से) का तद्धितप्रत्ययान्त रूप है । अतः तेज की अनिवार्यता, अखण्डता और सातत्य का भी द्योतक है । दस० ने इस का अर्थ 'स्वप्रकाश विज्ञानस्वरूप' दिया है ।

३. **तमसः**—यह अन्धकार, अज्ञान, सांसारिक बन्धन और दुःख आदि का है ।

४. **अयनाय**—मही०—आश्रय, शरण के लिए । दस०—१. व्यावहारिक और पारमार्थिक सुख के लिए (ऋभाभू०) । २. अभीष्ट स्थान मोक्ष के लिए ।

संहितापाठः	पदपाठः
४०. प्रजापतिश्चरति गर्भेऽअन्तरजायमानो बहुधा वि जायते । तस्य योनिं परि पश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥	प्रजापतिरिति प्रजाऽपतिः । चरति । गर्भे । अन्तः । अजायमानः । बहुधा । वि । जायते । तस्य । योनिम् । परि । पश्यन्ति । धीराः । तस्मिन् । ह । तस्थुः । भुवनानि । विश्वा ॥
य० ३१।१९ ॥	य० ३१।१९ ॥

महीधरभाष्यम्—यः सर्वात्मा प्रजापतिरन्तर्हृदि स्थितः सन् गर्भे चरति गर्भमध्ये प्रविशति । यश्चाजायमानोऽनुत्पद्यमानो नित्यः सन् बहुधा कार्यकारणरूपेण विजायते मायया प्रपञ्चरूपेणोत्पद्यते । धीरा ब्रह्मविदस्तस्य प्रजापतेर्योनिं स्थानं स्वरूपं परिपश्यन्ति । "अहं ब्रह्मास्मि" इति जानन्ति । विश्वा विश्वानि सर्वाणि भुवनानि भूतजातानि तस्मिन् ह तस्मिन्नेव कारणात्मनि ब्रह्मणि तस्थुः स्थितानि । सर्वं तदात्मकमेवेत्यर्थः ॥ १९ ॥

हिन्दी अनुवाद—[प्रजापतिः] पुरुष ही [गर्भे अन्तः] उत्पन्न वस्तुओं के अन्दर [चरति] विचरण करता है । [अजायमानः] उत्पन्न न होने पर (भी) [बहुधा] अनेक प्रकार से विविध रूपों में [जायते] उत्पन्न होता है । [धीराः] धैर्यशाली जन [तस्य] उस के [योनिम्] (जगत् के उपादक) स्वरूप को [परिपश्यन्ति] देखते हैं । [ह] अवश्यमेव [विश्वा] सम्पूर्ण [भुवनानि] पदार्थ [तस्मिन्] उस में [तस्थुः] स्थित हैं ॥

टिप्पणियां—१. गर्भे अन्तः—मही० और दस० (यभा०) ने इस का अर्थ 'गर्भस्थ जीवों के अन्दर' लिया है । पिछले समस्त वर्णन में पुरुष को सर्वव्यापक और समस्त उत्पन्न पदार्थों की सामग्री बताया गया है । वही सर्वव्यापकता यहां अभिप्रेत प्रतीत होती है । कभाभ० पृ० १६७ भी देखें ।

२. बहुधा विजायते—महीο—कार्य रूप में उत्पन्न होता है। दसο—उस परमेश्वर की सामर्थ्य से अनेक प्रकार से विशेष रूप में उत्पन्न होता है। इन्हों ने इसे जगत् से सम्बद्ध किया है।

संहितापाठः	पदपाठः
४१. यो देवेभ्य ऽ आतपति यो देवानां पुरोहितः। पूर्वो यो देवेभ्यो जातो नमो रुचाय ब्राह्मये ॥ य० ३१। २०॥	यः। देवेभ्यः। आतपतीत्याऽतपति। यः। देवानाम्। पुरोहित ऽ इति पुरः ऽ हितः। पूर्वः। यः। देवेभ्यः। जातः। नमः। रुचाय। ब्राह्मये ॥ य० ३१। २०॥

महीधरभाष्यम्—यः प्रजापतिरादित्यरूपो देवेभ्योऽर्थायातपति द्योतते। यश्च देवानां पुरोहितः सर्वकार्येष्वग्रे नीतः। यश्च देवेभ्यः सकाशात् पूर्वो जातः प्रथममुत्पन्नस्तस्मा आदित्याय नमः। कीदृशाय? रोचतेऽसौ रुचस्तस्मै दीप्यमानाय। 'इगुपध'—(पा० ३। १। १३५) इति कप्रत्ययः। तथा ब्राह्मये ब्राह्मणोऽपत्यं ब्राह्मिः। इञि टिलोपः। ब्रह्मावयवभूताय वा ॥ १०॥

हिन्दी अनुवाद—[यः] जो [देवेभ्यः] देवों के लिए [आ तपति] श्रम और तप करता है, [यः] जो [देवानाम्] देवों में [पुरोहितः] अग्रगण्य है, [यः] जो [देवेभ्यः] देवों से [पूर्वः] पहले [जातः] विद्यमान था, (उस) [रुचाय] तेजस्वी प्रकाशमय [ब्राह्मये] ब्रह्म के स्वरूप के लिये [नमः] नमस्कार है ॥

टिप्पणियां—१. देवेभ्यः—महीο—देवताओं के लिए। दसο—विद्वानों के लिए। यदि इस का अर्थ 'समस्त प्रकाशमान पदार्थ' किया जाए तो मूल भाव के अधिक समीप रहेगा। समस्त पदार्थों में प्रजापति की ही ज्योति है। यभाο में दसο ने यही अर्थ लिया है।

२. पुरोहितः—महीο—सब कामों में आगे किया हुआ। दसο—१. विद्वानों को मोक्ष में सर्वसुखों से युक्त करने वाला। २. पहले से ही हित के लिए (पदार्थों के) बीच में स्थित—सूर्य का विशेषण मानते हैं। उवट–इन्द्र रूप में देवों के आगे वर्तमान।

३. नमो रुचाय ब्राह्मये—महीο—दीप्यमान ब्रह्म के पुत्र या अवयव आदित्य के लिए प्रणाम। दसο—१. रुचिकर ब्रह्म और ब्रह्मसेवक के लिए प्रणाम (ऋभाभूο); २. रुचि कराने वाले परमेश्वर की सन्तान के तुल्य सूर्य से अन्न (=नमः) उत्पन्न होता है।

(ii) मन्त्रस्थ 'यः' से पिछले मन्त्र के प्रजापतिः का परामर्श होता है। सूर्य का वर्णन अप्रासंगिक है। अतः हिन्दी अनुवाद। ब्रह्मणः स्वरूपमिति ब्राह्मिः, तस्मै।

संहितापाठः	पदपाठः
४२. रुचं ब्राह्मं जनयन्तो	रुचम्। ब्राह्मम् जनयन्तः।
देवाऽअग्रे तदब्रुवन्।	देवाः। अग्रे। तत्। अब्रुवन्।
यस्त्वैवं ब्राह्मणो विद्यात्	यः। त्वा। एवम्। ब्राह्मणः। विद्यात्।
तस्य देवाऽअसन्वशे॥	तस्य। देवाः। असन्। वशे।
यο ३१। २१॥	यο ३१। २१॥

महीधरभाष्यम्—देवा दीप्यमानाः प्राणा रुचं शोभनं ब्राह्मं ब्रह्मणोऽपत्यमादित्यं जनयन्त उत्पादयन्तोऽग्रे प्रथमं तद् वचोऽब्रुवन् ऊचुः। "ब्राह्मोऽजातौ" (पाο ६। ४। १७१) इति निपातः। तत्किमत आह। यो ब्राह्मणो, हे आदित्य, त्वा त्वामेवमुक्तविधिनोत्पन्नं विद्याज्जानीयात् तस्य ब्राह्मणस्य देवा वशे असन् वश्या भवन्ति। आदित्योपासिता जगत्पूज्यो भवतीत्यर्थः॥ २१॥

हिन्दी अनुवाद—[रुचम्] प्रकाशमान रुचिकर [ब्राह्मम्] ब्रह्म, जीव और प्रकृति के स्वरूप के ज्ञान को [जनयन्तः] प्राप्त करने वाले [देवाः]

देव पुरुष [तत्] उस (ब्रह्म जीव प्रकृति के स्वरूप के ज्ञान) को [अग्रे] श्रेष्ठ [देवाः] देवपुरुष [अब्रुवन्] व्याख्यान करते आए हैं। [यः] जो [ब्राह्मणः] मनुष्य [त्वा] सेवन करने योग्य [एवम्] इस प्रकार प्राप्त ज्ञान को [विद्यात्] जान ले [देवाः] देव पुरुष [तस्य] उस की [वशे] कामना में रहते हैं॥

टिप्पणियां—१. ब्राह्मम्—ब्रह्मणः इदं (स्वरूपम्)। ब्रह्म √बृंह् से बनता है। ब्राह्मणग्रन्थों में ब्रह्म के वाक्, सत्य, ऋत, मन, हृदय, चक्षु, श्रोत्र, प्रणव, प्रजापति, बृहस्पति, आदित्य, अग्नि, यज्ञ, प्राण, विद्युत्, पण, पलाश, सत्र, अन्तरिक्ष आदि अर्थ दिए हैं। अतः यह पद जीव, प्रकृति और पुरुष तीनों का वाचक है। मही० ने इस का अर्थ आदित्य और दस० ने ब्रह्मोपासक किया है।

२. देवाः—मही०—दीप्यमान प्राण। उवट—तेजस्वी योगी। दस०—विद्वान्।

३. तत्—यह ब्राह्मम् के लिए आया है। दस०—ब्रह्म, जीव और प्रकृति का स्वरूप।

४. अग्रे—पहले। उ० २। २८ में इस की व्युत्पत्ति-अंगति गच्छति इति अग्रम्—√अंग् जाना से दी गई है। अतः गतिशील, अग्रगामी, श्रेष्ठ। उ० २।२८ पर दभा० भी देखें। दभा० में '०अग्रे०' पाठ है। अन्यत्र '०अग्रे०' पाठ है

५. ब्राह्मणः—श० ३।२।१।४० में कहा है—तस्मादपि (दीक्षितं) राजन्यं वा वैश्यं वा ब्राह्मण इत्येव ब्रूयाद् ब्रह्मणो हि जायते यो यज्ञाज्जायते। इस के अनुसार तीनों वर्ण ब्राह्मण हैं। इस की पुष्टि शतपथब्राह्मण में उपनयनविधि के वर्णन में मनुष्य मात्र के लिए ब्राह्मण पद के प्रयोग से होती है। ऐ० ७।१९ में हुताद् प्रजा को ब्राह्मण कहा गया है। श० १३।४।१।३ में प्रत्येक हवन करने वाला ब्राह्मण होता है। दस० ने ऋभाभू० में (हिन्दी) में ब्राह्मण का अर्थ 'मनुष्य' ही किया है। पितृसमीक्षा में पं० मधुसूदन शर्मा भी यही मानते हैं।

६. त्वा—यह युष्मद् का अन्वादेश रूप है। युष्मद् √युष् सेवा करना से बनता है। अतः सेवनीय।

७. देवा असन् वशे—मही०—देवता वश में हो जाते हैं, वह पूजनीय हो जाता है। दस०—इन्द्रियां वश में हो जाती हैं। यभा० में 'देवाः' का अर्थ विद्वान् लिया गया है।

८. 'वशे'—को √वश् कामना करना से । अतः कामनाओं के वशीभूत होना, अनुकूल होना । देखो संशकौको० ।

९. असन्—√अस्+लङ् प्रथम पु० बहुवचन । अडागम का लोप है ।

१०. एवम्—भाष्यकारों ने इस का अर्थ 'इस प्रकार' किया है । यह √इ जाना से बनता है । अतः गति, प्राप्ति और ज्ञान का द्योतक हो कर 'इस प्रकार प्राप्त ज्ञान' अर्थ को प्रकाशित कर रहा है ।

संहितापाठः	पदपाठः
४३. श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपमश्विनौ व्यात्तम् । इष्णन्निषाणामुं मऽइषाण सर्वलोकं मऽइषाण ॥ य० ३१।२२ ॥	श्रीः । च । ते । लक्ष्मीः । च । पत्न्यौ । अहोरात्रेऽइत्यहःऽरात्रे । पार्श्वेऽइति पार्श्वे । नक्षत्राणि । रूपम् । अश्विनौ । व्यात्तमिति विऽआत्तम् । इष्णन् । इषाण । अमुम् । मे । इषाण । सर्वलोकमिति सर्वऽलोकम् । मे । इषाण ॥ य० ३१।२२ ॥

महीधरभाष्यम्—ऋषिरादित्यं स्तुत्वा प्रार्थयते । हे आदित्य, श्रीर्लक्ष्मीश्च ते तव पत्न्यौ जायास्थानीये, त्वद्वश्ये इत्यर्थः । यया सर्वजनाश्रयणीयो भवति सा श्रीः । श्रीयतेऽनया श्रीः सम्पदित्यर्थः । यया लक्ष्यते दृश्यते जनैः सा लक्ष्मीः । सौन्दर्यमित्यर्थः । अहोरात्रे तव पार्श्वे पार्श्वस्थानीये । नक्षत्राणि गगनगास्तारास्तव रूपम् । तवैव तेजसा भासमानत्वात् "तेजसां गोलकः सूर्यो नक्षत्राण्यम्बुगोलकाः" इति ज्योतिःशास्त्रोक्तेः । "अश्विनौ द्यावापृथिव्यौ । इमे हीदꣳ सर्वमश्नुवाताम्" इति श्रुतेः । य ईदृशस्तं त्वां याचे इष्णन् कर्मफलमिच्छन् सन् । इषाणेच्छ । 'इषु इच्छायाम्' विकरणव्यत्ययः । यद्वा 'इष आभीक्ष्ण्ये' क्र्यादिः । अत्रेच्छार्थः । किमेषणीयं तत्राह । अमुं पर-

लोकं मे मषेषाण मम परलोकः समीचीनोऽस्त्वितीच्छा । अमोघेच्छत्वादिष्टं भवतीत्यर्थः । सर्वं मे मषेषाण सर्वलोकात्मकोऽहं भवेयमितीच्छेत्यर्थः । मुक्तो भवेयमित्यर्थः । "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" (छान्दोग्योप० ३।१४।१) इति सामश्रुतेः ॥

श्रीमन्महीधरकृते वेददीपे मनोहरे ।
नरमेधाध्याय एष एकत्रिंशोऽयमीरितः ॥

हिन्दी अनुवाद—[च] और [**श्रीः**] शोभा [च] और [**लक्ष्मीः**] सम्पन्नता [ते] तुम्हारी [**पत्न्यौ**] शक्तियां (हैं), [**अहोरात्रे**] दिन और रात [**पार्श्वे**] पकड़ने वाली (अर्थात्—नाशक शक्तियां) (हैं), [**नक्षत्राणि**] नक्षत्र [**रूपम्**] तेज (हैं), [**अश्विनौ**] अश्विदेवता (द्युलोक और पृथिवीलोक) [**व्यात्तम्**] विस्तार (हैं)। [**इष्णन्**] (कल्याण करने के) इच्छुक [**इषाण**] (मेरा कल्याण) चाहें। [**मे**] मेरे लिए [**अमुम्**] उस (नाशहीन परोक्ष सुख) को [**इषाण**] दें। [**मे**] मुझे [**सर्वलोकम्**] समस्त प्रकाश [**इषाण**] प्रदान करें ॥ २२ ॥

टिप्पणियां—१. पत्न्यौ—अग्नि, वरुण आदि की जो पत्नियां बताई गई हैं वे उन की शक्तियां है। लोक में भी अनुभव किया जाता है कि अनुकूल पत्नी सहायक, विस्तारक शक्ति होती है और प्रतिकूल पत्नी ह्रास, निराशा, अवनति आदि लाने वाली शक्ति होती है। यह शब्द यज्ञसंयोग में पति शब्द से नङ् लगा कर बनाया जाता है। अतः यहां 'यज्ञशील परोपकाररत रक्षक शक्तियां' भाव होता है।

२. पार्श्वे—यह पद√स्पृश् छूना से बनता है। छूने—पकड़ने वाली, रुकावट डालने वाली, अतः नाशक शक्तियां।

३. अश्विनौ—ब्राह्मणग्रन्थों में इस का अर्थ द्यावापृथिवी भी दिया गया है। पाउ० में सूसं० ६१ में अश्विनौ पर टिप्पणी देखें।

४. व्यात्तम्—वि + आ + √दा + क्त। विशेष रूप से चारों ओर से ग्रहण करने वाला, अर्थात् सब ओर फैला हुआ, खुला हुआ।

श्रीयुत ला० रामस्वरूप गुप्त और श्रीमती चन्दन देवी के पुत्र,
श्रीयुत डा० नरेन्द्रनाथ चौधुरी के शिष्य, श्रीयुत डा०
फतहसिंह के शोधशिष्य आचार्य डा० सुधीरकुमार
गुप्त एम० ए०, पीएच० डी०, शास्त्री
प्रभाकर स्वर्णपदकी द्वारा सम्पादित,
संकलित और रचित वेदलावण्य
में विष्णु, इन्द्र और पुरुष
सूक्तों का शाब्दिक
हिन्दी अनुवाद और सुकाशिनी टिप्पणियां समाप्त हुईं।



परिशिष्ट १

संहितापाठ से पदपाठ

पदपाठ का स्वरूप

१. पदपाठ को वेदमन्त्रों का व्याख्यान कहा जा सकता है। इस के रचयिता शाकल्य की एक दृष्टि है जिस के अनुसार वे पदच्छेद करते हैं, इति और अवग्रह लगाते हैं। पदकार के अर्थों को जानना सम्भव नहीं है। वे अनुमान का विषय ही कहे जा सकते हैं। अतः पिछले भाष्यकारों ने अनेक बार शाकल्य के पदच्छेद को स्वीकार न कर के अपना पदच्छेद दिया है[1]। अनेक बार 'इति' और 'अवग्रह' के प्रयोग में नियमों की उपेक्षा की जाती है[2]। ऐसे कतिपय स्थलों पर एक से अधिक पदच्छेद सम्भव हैं, यथा चन्द्रमाः[3]। शाकल्य के अतिरिक्त रावण और दयानन्द स्वामी के भी पदपाठ मिलते हैं।

संहितापाठ से पदपाठ लिखना

२. संहिता पदों से बनती है—पदप्रकृतिः संहिता। अतः पदों का ज्ञान परम आवश्यक है। इसी निमित्त पदपाठ किया जाता है। संहितापाठ में एक अर्धर्च में सब पद एक दूसरे से सम्बन्धित होते हैं। उन का एक दूसरे पर प्रभाव रहता है। उन में सन्धि के कारण स्वर और रूप में परिवर्तन हो जाता है। पदपाठ में इन सब पारस्परिक प्रभावों को दूर कर दिया जाता है। प्रत्येक पद को स्वतन्त्र रूप में दूसरे पदों से पृथक् पूर्ण विराम लगा कर अथवा पूर्ण विराम के विना ही दिखाया जाता है।

---

१. वेभाप० ९। ४–७; २९। ४; ६–२५ और उन में निर्दिष्ट परिशिष्ट।

२. वही, ९। १२–१६।

३. मंसं०–२४ में इस पद पर टिप्पणी देखें।

पारस्परिक प्रभाव से उत्पन्न स्वरों के परिवर्तन को दूर कर दिया जाता है, प्रगृह्यों के आगे 'इति' लगा दी जाती है और समासों, प्रकृति-प्रत्यय और उपसर्गों और क्रियाओं आदि के कतिपय स्थलों पर अवग्रह (ऽ) लगा दिया जाता है।

३. उदाहरण के लिए—

१. येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि। (ऋ० २ । १२ । ४)
२. श्वघ्नीव यो जिगीवाँ लक्षमादत्। (ऋ० २ । १२ । ४)
३. यं क्रन्दसी संयती विह्वयेते। (ऋ० २ । १२ । ८)

इन तीन मन्त्रभागों को लें। इन का पदपाठ इस प्रकार है—

१. येन। इमा। विश्वा। च्यवना कृतानि।
२. श्वघ्नी ऽ इव। यः। जिगीवान्। लक्षम्। आदत्।
३. यम्। क्रन्दसी इति। संयती इति सम्ऽयती। विह्वयेते इति विऽह्वयेते।

४. इन में ये परिवर्तन किए गए हैं—

(१) 'येनेमा' में सन्धिच्छेद किया गया है। सन्धि के कारण यहां दो अनुदात्त वर्ण मिल गये थे। उन में से एक 'ये' उदात्त पहले आने के कारण स्वरित हो गया। अन्य पदों को भी पूर्णविराम लगा कर पृथक् कर दिया है। संहिता में 'श्वा' अनुदात्त दो उदात्तों के बीच में आने से स्वरित नहीं हुआ है। पदपाठ में अगला 'च्य' उदात्त सामने नहीं रहता है। अतः 'वि' उदात्त के कारण पदपाठ में यह 'श्वा' स्वरित के रूप में लिखा गया है

(२) इस में पदों को पृथक् करते हुए श्वघ्नी और इव के बीच में अवग्रह लगाया है। इस में तथा जिगीवाँ लक्षम् में सन्धि छिन्न कर दी गई है। घ्नीव में सन्धि से उदात्त और अनुदात्त मिल कर एक उदात्त हो गया था। अब वे पृथक् हो गए—(ई + इ = ई इ) श्वघ्नीऽइव। अतः 'इ' स्वरित हो गई है। संहिता में 'यो' उदात्त के कारण 'जि' अनुदात्त स्वरित हो गया था। पदपाठ में दोनों के पृथक् हो जाने से 'जि' अपने मूल अनुदात्त रूप में दिखाया गया है।

(३) इस में पदों को पृथक् करने के साथ-साथ द्विवचन के ई और ए के पश्चात् 'इति' लगाई है, तथा उस के पश्चात् पद को आवृत्त कर के अवग्रह

लगाया गया है। स्वर में ये परिवर्तन किए गए हैं—'सी' संहिता में स्वरित 'न्द' के पश्चात् आने से अचिह्नित था, पदपाठ में 'इति' का 'इ' उदात्त सामने आने से अपने चिह्न से चिह्नित कर दिया गया है। संहिता में 'सम्' अनुदात्त 'न्द' स्वरित के पश्चात् आने से अचिह्नित था। पदपाठ में यह प्रभाव दूर हो जाने से वह अपने चिह्न से चिह्नित हो गया है।

पदपाठ लिखने के नियम

५. (१) संहिता पाठ की सन्धियां तोड़ते हुए प्रत्येक पद के आगे पूर्ण विराम लगा-लगा कर उन्हें स्वर के चिह्नों के बिना पृथक्-पृथक् लिख लो। साथ ही जहां-जहां संहिता में दीर्घ हुआ है, वहां-वहां उसे ह्रस्व कर दो—जैसे, यं स्मा = यम् । स्म ।

(२) इति और अवग्रह लगाने के आगे लिखे स्थलों पर इति और अवग्रह लगा दो।

(३) जिस पद में इति और अवग्रह दोनों को लगाने को आवश्यकता हो उस में पहले इति लगा दो, फिर उसे पुनः लिख कर अवग्रह लगा दो (ऊपर उदाहरण संख्या ३ देखें)।

(४) कुछ और अन्य स्थलों में भी इति लगा कर पद को पुनः लिखा[1] जाता है। जैसे अकुरित्यकः (ऋ० २।१२।४) ऐसे स्थलों पर भी पद को पुनः लिख लो। इस संग्रह में ऐसा स्थल केवल यही है।

(५.) सब से पहले अपनी लगाई 'इति' पर स्वर का चिह्न लगाएँ जो 'इति' है।

(६.) अब प्रत्येक पद में स्वर लगाएँ। उस में ये बातें ध्यान में रक्खें—

(i) पहले पद के उदात्त के कारण अगले पद में यदि स्वरित हुआ है तो स्वरित को अनुदात्त कर दो—यो जिगीवान् = यः । जिगीवान् ।

---

१. कई बार इस प्रकार की पुनरावृत्ति नहीं की जाती है।

(ii) पहले पद के स्वरित वर्ण के कारण यदि आगे के पद का अनुदात्त पद अचिह्नित हो तो उसे अनुदात्त चिह्न से चिह्नित कर दो—क्रन्दसी संयती = क्रन्दसी इति। संयती० । सधस्थं विचक्रमाणः = सध ऽ स्थम् । वि ऽ चक्रमाणः ।

(iii) पहले पद में उदात्त के पश्चात् आने वाला अनुदात्त यदि अगले पद के उदात्त के कारण स्वरित न हो कर अनुदात्त ही हो तो पदपाठ में उसे स्वरित कर दो—यत्र गावो भूरिश्रृंगाः = यत्र । गावः । भूरि ऽ श्रृंगाः ।

(iv) दो उदात्त, अनुदात्त और स्वरितों की सन्धि में स्वर का परिवर्तन इस प्रकार होता है—

(अ) उदात्त + उदात्त = उदात्त । सः + इति = सेति । वृत्वा + अति = वृत्वाति । महिमा + अतः = महिमातः ।

(आ) अनुदात्त + उदात्त = उदात्त । परि + असूषत् = पर्यसूषत् । अस्ति + इति = अस्तीति ।

(इ) स्वरित + उदात्त = उदात्त । पदानि + अक्षीयमाणा = पदान्यक्षीयमाणा । गुहा + अकः = गुहाकः ।अत्र + अह = अत्राह ।

(ई) उदात्त + अनुदात्त = स्वरित । वि + अक्रामत् = व्यक्रामत् । वि + अकल्पयन् = व्यकल्पयन् । ब्राह्मणः + अस्य = ब्राह्मणोऽस्य ।

(उ) उदात्त अ या आ + अनुदात्त स्वर = उदात्त । त्रेधा + उरुगायः = त्रेधोरुगायः । उत + ईम् = उतेम् ।

(ऊ) अनुदात्त + अनुदात्त = अनुदात्त । वास्तूनि + उस्मसि = वास्तून्युस्मसि ❀ । स्वरित पद मूलतः अनुदात्त ही होता है । अतः स्वरित + अनुदात्त = स्वरित होगा ।

अस्तीति + एनम् = अस्तीत्येनम् । किल + असि = किलासि ।

❀ स्वरित के पश्चात् आने के कारण न्यु, स्म और सि अनुदात्त अचिह्नित हैं ।

यदि इस प्रकार के स्वरित के पश्चात् कोई उदात्त आया हो तो यह स्वरित न रह कर अनुदात्त हो जायगा—

येन + इमा = येनेमा । यस्य + उरुषु = यस्योरुषु ।

(v)उदात्त को पहचानने की रीति—ऋग्वेद में उदात्त अचिह्नित रहता है। सामान्यतः एक पद में एक ही उदात्त होता है। स्वरित के पश्चात् आने वाले अनुदात्त भी अचिह्नित रहते हैं। अतः पहले स्वरितों को देख कर उन के पश्चात् आने वाले पदों को अनुदात्त मान लो। जो अचिह्नित पद शेष बचें वे सब उदात्त होंगें। जिस स्वतन्त्र स्वरित के आगे १ या ३ का अंक हो उस से अगला अचिह्नित अक्षर भी उदात्त होता है।

(vi) स्वरों के चिह्न लगाते समय स्वर के सामान्य नियमों—[(१) उदात्त + अनुदात्त = स्वरित। (२) उदात्त + अनुदात्त + उदात्त = ऐसे ही। (३) स्वरित + अनुदात्त = स्वरित + अचिह्नित वर्ण] का प्रयोग करें।

(vii) 'इति' के पश्चात् आवृत्त पद में उस का मूल स्वर ही लगाएं, अर्थात् 'इति' के स्वरित के पश्चात् आने वाले अनुदात्तों को भी चिह्नित करें—**संयती इति सम्ऽयती ।**

(viii) 'इति' लगाने पर पद के अन्तिम वर्ण पर इस 'इति' के 'इ' उदात्त का प्रभाव पड़ता है। उसे व्यक्त करें। (१) **क्रन्दसी इति । विह्वयेते इति०** । यहां 'सी' और 'ते' को अनुदात्त के चिह्न से चिह्नित किया गया है। (२) **अकुरित्यकः** । यहां पहले 'क' को स्वरित नहीं किया गया है।

(ix) जिन पदों में अवग्रह लगाया जाता है उन में सन्धि तोड़ दी जाती है। जैसे **गिरिऽस्थाः** ।

(x) बाह्य सन्धि के कारण उत्पन्न मूर्धन्य ष् और ण् को क्रमशः दन्त्य स् और न् में बदल दें। यथा **मो षु वरुण = मो इति । सु । वरुण** (ऋ० ७।८९।१) ॥

पदपाठ में इतिं लगाने के नियम

६. प्रगृह्य संज्ञकों के आगे इति—

(१) द्विवचन के ई, ऊ और ए के पश्चात् इति लगाई जाती है। जैसे **क्रन्दसी इति । ऊरू इति । उच्येते इति ।**

(२) 'उ' निपात के आगे 'इति' लगाई जाती है। इसे सानुनासिक और दीर्घ भी कर दिया जाता है—ऊँ इति ।*

(३) ओदन्त निपातों के आगे 'इति' का प्रयोग किया जाता है—अथो इति ।

(४) जिन पदों के अन्त में सप्तमी अर्थ में प्रयुक्त ई और ऊ आए हों उन के आगे भी 'इति' लगाई जाती है—सरसी इति । शर्यानम् । (ऋ० ७।१०३।२)।

(५) एकरान्त अस्मे, युष्मे आदि के आगे 'इति' लगाई जाती है—अस्मे इति । (ऋ० १ । ९ । ७) । युष्मे इति । (ऋ० ४ । १० । ८) ।

(६) ओकारान्त सम्बोधनों के आगे 'इति' लगाई जाती है—इन्दो इति (ऋ० १ । ४३ । ८) ।

७. अन्य पदों के आगे इति—

(७) यदि पद के अन्त में 'र्' को विसर्ग बने हों और संहिता में उन के आगे किसी वर्ण के आने से सन्धि से 'र्' न हुआ हो तो पदपाठ में इन विसर्गों के आगे 'इति' लगा कर विसर्गों को 'र्' कर दिया जाता है।—अन्तरिति (ऋ० १ । ६२ । ९) । पुनरिति (मंस० २५) । परन्तु तु० क० अन्तरग्निम् = अन्तः । अग्निम् । । यहां पर संहिता में ही विसर्गों को 'र्' हो गया है । अतः पदपाठ में इति नहीं लगाई गई है ।

८. अवग्रह लगाने के नियम

१. यदि पूर्व पद में कोई विकार न हुआ हो तो दो पदों के समास वाले पद के पूर्व पद और उत्तर पद के बीच में अवग्रह लगाया जाता है । जैसे गिरिऽस्थाः । भूरिऽशृङ्गाः । सधऽस्थम् । युक्तऽग्रावाणः । परन्तु तु०—क०—उभयादतः ।

२. द्वन्द्व समासों को अवगृहीत नहीं किया जाता है । जैसे, साशनानशने इति । अजावयः ।

३. 'इव' को उस से पहले आने वाले पद से अवगृहीत किया जाता है।—शृघ्नीऽइव । विजःऽइव ।

---

* कुछ संस्करणों में ऊं इति, ऊम् इति लिखा मिलता है । पा० १ । १ । १८—'ऊँ' देखें ।

४. उपसर्गों को संज्ञाओं और कृदन्त पदों से अवगृहीत किया जाता है। विऽक्रमणेषु । प्रऽर्यतम् । प्र ऽ कुपितान् । अपऽधा । सम्ऽवृक् । सु ऽ शिप्रः । प्र ऽ दिशिं । आऽरोहन्तम् निऽचितः । विऽराट् । सम्ऽभृतम् । परि ऽ धयः । सम् ऽ इधः ।

५. प्रधान वाक्य में उपसर्गों को क्रियाओं से पृथक् रक्खा जाता है—अति । अतिष्ठत् (मंसं० २२) । वि । अक्रामत् (मंसं० २५) । अति । अरिच्यत (मंसं०–२६) ।

६. आश्रित (या गौण) वाक्यों में उपसर्गों को क्रियाओं से अवगृहीत किया जाता है । —वि ऽ ममे (मंसं० १) । अधि ऽ क्षियन्ति (मंसं० २) परि ऽ अभूषत् (मंसं० ७) । उत् ऽ आजत् (मंसं० ९) । अति ऽ रोहति (मंसं० २३) । परन्तु वि । अदधुः (मंसं० ३२) में अवगृहीत नहीं है । इस पर टिप्पणी देखें ।

७. अवग्रह के स्थलों पर एक से अधिक उपसर्ग इकट्ठे आ जाएँ तो प्रथम या अन्तिम उपसर्ग को ही अवगृहीत किया जाता है । सुप्र ऽ अन्यम् (ऋ० १ । ६० । १) । उप ऽ प्रयन्तः (ऋ० १ । ७४ । १) ।

८. यदि प्रकृति में कोई विकार न हुआ हो तो सु, भ्याम्, भिस्, भ्यस्, क्सु, त्व, तरप्, तमप्, मत् और वत् आदि प्रत्ययों को अवगृहीत किया जाता है ।— उत्ऽतरम् । त्रिऽभिः (परन्तु तु० क० पुदेभिः । सुमत्ऽसु । आतस्थिऽवांसा । परन्तु तुविष्मान् । अमृतऽत्वस्य । पत्ऽभ्याम् ।

९. अकारान्त नामधातुओं के अ को दीर्घ हो जाने पर भी 'य' और 'यु' प्रत्ययों को अवगृहीत किया जाता है—देवऽयवः ।

१०. जहाँ उपसर्ग और प्रत्यय दोनों में अवग्रह प्राप्त है वहाँ सामान्यतः प्रत्यय को ही अवगृहीत किया जाता है । आतस्थिऽवांसा ।

११. अवग्रह लगाने के सामान्य नियम ऊपर दिए गए हैं । अनेक बार इन के अपवाद भी मिलते हैं । यथा कुचरः (मंसं० २) । विष्वङ् (मंसं० २५) । चन्द्रमाः (मंसं० ३४) ।

१२. एक पद में एक से अधिक अवग्रह नहीं लगाया जाता है । (देखो ऊपर नियम ७, १०) ।

परिशिष्ट २

वैदिक स्वर

(कोष्ठकों में इस संग्रह के मन्त्रों की क्रमसंख्या दी है।)

१. मूल वेदसंहिताओं, शाखासंहिताओं और ब्राह्मणों में स्वरांकन की चार रीतियाँ प्रचलित हैं। यहाँ केवल ऋग्वेद में स्वरांकन की रीति पर सामान्य प्रकाश डाला जाता है।❁

२. ऋग्वेद में तीन स्वर हैं—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। उच्च ध्वनि से बोले जाने वाला स्वर उदात्त होता है—(उच्चैरुदात्तः—पा०)। नीची ध्वनि में बोले जाने वाला स्वर अनुदात्त कहलाता है—(नीचैरनुदात्तः—पा०)। जिस स्वर पर उदात्त और अनुदात्त का क्रम से उच्चारण केन्द्रित हो जाए वह स्वरित होता है। (समाहारः स्वरितः—पा०)। इस में उच्चारण ऊँचा चढ़ कर नीचे उतरता है। इस प्रकार उदात्त में आयाम (= गात्रों को ऊपर की ओर खींचना), अनुदात्त में विश्रम्भ (गात्रों की शिथिलता) और स्वरित में आक्षेप (गात्रों का तिर्यग् गमन) होता है। वैदिक स्वर संगीतात्मक हैं, लौकिक भारात्मक। तीनों ही स्वर अच्-युक्त व्यञ्जन या अच् पर ही रह सकते हैं। एक वर्ण पर एक ही स्वर रहता है।

३. ऋग्वेद में उदात्त पर कोई चिह्न नहीं लगाया जाता है। अनुदात्त के नीचे पड़ी हुई रेखा (—) और स्वरित के ऊपर एक खड़ी रेखा (।) लगाई जाती है।

स्वर के उपयोगी नियम

४. सामान्यतः एक पद में एक ही उदात्त स्वर रहता है—(तु.क.—अनुदात्तं पदमेकवर्जम्—पा०)।

❁ अन्य स्वरांकन रीतियों के लिए देखो युधिष्ठिर मीमांसक—वैदिक स्वर मीमांसा और वैग्रास०।

५. कुछ देवताद्वन्द समासों आदि में दोनों पदों में अपने-अपने स्थान पर उदात्त स्वर बना रहता है। जैसे—मित्रावरुणौ। इन्द्राबृहस्पती। बृहस्पतिः। एतवै।

६. उदात्त के तुरन्त पश्चात् आने वाला अनुदात्त स्वरित हो जाता है।— (उदात्तादनुदात्तस्य स्वरित। पा०) जैसे—भूरिशृंगाः (६)। युक्तग्रावणः (१२)। यहाँ भू और क्त उदात्तों के पश्चात् रि और ग्रा अनुदात्तों को स्वरित हो गया है।

७. यदि उदात्त के पश्चात् आने के कारण स्वरित बने हुए अनुदात्त के तुरन्त पश्चात् उदात्त या स्वरित आ जाए तो स्वरित न रह कर वह अक्षर अनुदात्त ही रहता है। अतः दो उदात्तों के मध्य में अथवा उदात्त या स्वरित से पूर्व आये हुए अनुदात्त में कोई विकार नहीं आता है। जैसे—यः सुन्वन्तमवति यः पचन्तम् (२०) में 'सु' 'न्त' और 'ति' (—स्वरित और उदात्त के बीच में स्थित) की स्थिति है।

८. स्वरित के तुरन्त पश्चात् आने वाले सब अनुदात्त अचिह्नित रहते हैं। परन्तु जब ऐसे अचिह्नित किसी अनुदात्त के तुरन्त पश्चात् कोई उदात्त या स्वरित आ जाए तो वह अनुदात्त अपने चिह्न से चिह्नित हो जाता है। ऐसे अचिह्नित अनुदात्तों को एक श्रुति या प्रचय कहते हैं। जैसे—द्यावा चिदस्मै पृथिवी में 'वा' स्वरित के पश्चात् आने वाले चि, द, स्मै और पृ अनुदात्त अचिह्नित हैं। परन्तु 'थि' अनुदात्त के आगे 'वी' उदात्त आने से वह अपने चिह्न से चिह्नित हो गया है।

स्वतन्त्र स्वरित

९. कहीं-कहीं ऐसा भी देखने में आता है कि उदात्त के पहले आए बिना ही अनुदात्त स्वरित बन जाता है। इस प्रकार के स्वरित को स्वतन्त्र स्वरित कहा जाता है। जैसे—वीर्याणि (१)। वीर्येण (२)। राजन्यः (३३)।

१० जिन स्थलों में यह स्वरित मिलता है उन में बहुधा पादपूर्ति के लिए सन्धिच्छेद कर के अक्षर की संख्या बढ़ाई जाती है। इस सन्धिच्छेद में पहला

अक्षर उदात्त और दूसरा अक्षर अनुदात्त पाया जाता है। इस प्रकार इन स्थलों में मूलतः सामान्य स्वरित ही होता है, सन्धि के कारण ही स्वतन्त्र स्वरित का रूप लक्षित होता है। ऊपर के तीनों उदाहरणों को पादपूर्ति के लिए वीरि आणि, वीरि एण और राजनि अः पढ़ा जाता है।

११. कई बार संहितापाठ में सन्धि के कारण स्वतन्त्र स्वरित का रूप दिखाई पड़ता है। पदपाठ में सन्धिच्छेद हो कर पदों के अलग हो जाने से वह समाप्त हो जाता है। यथा ब्राह्मणो ऽस्य (३२)। पदपाठ—ब्राह्मणः। अस्य।

१२. जब स्वतन्त्र स्वरित के तुरन्त पश्चात् कोई उदात्त आ जाए तो स्वतन्त्र स्वरित के ह्रस्व होने पर उस के आगे १ का अंक लिख कर उस के ऊपर स्वरित का और नीचे अनुदात्त का चिह्न लगाया जाता है, स्वतन्त्र स्वरित स्वयं अचिह्नित रहता है। जैसे—ञ्य १ स्मत्। वृष्यं १ नभः। स्व १ र्जनन्ती।

१३. जब स्वन्त्र स्वरित दीर्घ हो और उस के तुरन्त आगे उदात्त आ जाए तो इस के आगे ऊपर स्वरित के और नीचे अनुदात्त के चिह्नों से युक्त ३ का अंक लिखा जाता है और स्वतन्त्र स्वरित के अपने नीचे अनुदात्त का चिह्न होता है। जैसे—क्वे ३ दानीम्। वपुष्ये ३ न। वृष्यां ३ अहं।

१४. कुछ पदों 'क्व' आदि में नित्य स्वतन्त्र मिलता है।

१५. प्रातिशाख्य ने इस के कई रूप माने हैं और उन के जात्य, अभिनिहित, प्रश्लिष्ट और क्षैप्र नाम दिए हैं। इन सब भेदों का पर्यवसान एक में ही हो जाता है।

नित्य निघात (= अनुदात्त) पद

१६. इव, उ, चित्, स्म, स्विद् ह, घ, च, और वा निपात (२) कुछ एकाच् व्यक्तिवाचक सर्वनाम, मे, ते आदि और (३) निर्देशक सर्वनाम एन तथा ईम्, सीम्, तथा (४) अनिश्चयात्मक सर्वनाम 'त्व' और 'सम' आदि सदैव अनुदात्त रहते हैं।

उदात्त का अभाव

१७. कुछ अवस्थाओं में सम्बोधनों और क्रियापदों आदि में उदात्त स्वर का सर्वथा अभाव हो जाता है और वे पूर्णतया निघात (=अनुदात्त) ही रहते हैं। ऐसे स्थलों का विवरण नीचे दिया जाता है।

१८. निर्देशक सर्वनाम इदम् के आदेश 'अ' के रूप जब किसी संज्ञा के लिए प्रयुक्त हुए हों और उन का अर्थ गौण हो तब वे निघात हो जाते हैं। जैसे—अस्य जनिमानि।

सम्बोधन पदों का स्वर

१९. सम्बोधन पद, चाहे एक पद का हो, चाहे कई पदों का, यदि वाक्य के प्रारम्भ में आया हो तो उस का प्रथम वर्ण उदात्त होता है, शेष अनुदात्त। जैसे—पूषन्नु प्र गा इहि में पूषन्। वास्तोष्पते प्रति जानीह्यस्मान् में वास्तोष्पते। इन्द्रावरुणा वधनाभिरप्रति में इन्द्रावरुणा। उष आ भाहि भानुना में उषः पद।

२०. परन्तु यदि सम्बोधन वाक्य के मध्य में अन्य पदों के पश्चात् आया हो तो वह निघात (=उदात्त स्वर से हीन) हो जाता है। यथा स जनास इन्द्रः में जनासः। मरुद्भिरग्न आ गहि में 'अग्ने'।

क्रियापदों का स्वर

२१. यदि वाक्य के मध्य में आई हो तो प्रधान वाक्य की क्रिया निघात (उदात्त स्वर से हीन) होती है। जैसे—विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र वोचम् (१) में वोचम्। प्र तद् विष्णुः स्तवते (२)। प्र विष्णवे शूषम् एतु (३)। अभि पार्थो अश्याम् (५)। आदि।

२२. प्रधान वाक्य की क्रिया यदि वाक्य के प्रारम्भ में आई हो तो वह उदात्त स्वर से युक्त होती है। यथा—वेद मासो धृतव्रतो में 'वेद'। अभूद्देवः सविता वन्द्यो नु नः में 'अभूत्'। अवर्षीर्वर्षमुद् षू गृभाय में 'अवर्षीः' अकर्धन्वानि में 'अकः'।

२३. क्योंकि सम्बोधनपद वाक्य में नहीं गिना जाता है, अतः यदि प्रधान वाक्य की क्रिया ऐसे सम्बोधन के पश्चात् आई हो तो वह वाक्य के प्रारम्भ में आई हुई मानी जायगी और उदात्त स्वर से युक्त होगी। जैसे—आश्रुत्कर्ण श्रुधि हवम्। 'हे सुनने वाले कानों वाले' हमारी पुकार सुनो'। बृहस्पते रक्षतादस्य योनिम्। 'हे बृहस्पति' इस के घर की रक्षा करो'। इन में श्रुधि और रक्षतात् उदात्त स्वर से युक्त हो गए हैं।

२४. एक वाक्य में एक ही क्रिया हो सकती है। अतः जब पहली क्रिया के समान एक ही कर्त्ता से सम्बद्ध एक से अधिक क्रियाएं एक वाक्य में आ जाएं तो प्रत्येक क्रिया नए वाक्य के आरम्भ में आई हुई मानी जाती है और इस कारण उन में उदात्त स्वर होता है। जैसे—अपामीवां बाधते वेति सूर्यम् में 'वेति' क्रिया। तरणिरिज्जयाति क्षेति पुष्यति 'सफल वह जीतता है, शासन करता है और पुष्ट होता है' में क्षेति और पुष्यति क्रियाएं।

२५. यत्, या, इस के रूपों, च, हिं, चेत्, नेत् निपातों से प्रारम्भ होने वाले आश्रित वाक्यों की क्रिया में उदात्त स्वर रहता है। जैसे—यो विममे (१)। यो अस्कभायत् (१)। यस्य······अधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा (२)। यो द्यामस्तभ्नात् (८)। यो गा उदाजदपधा (९)।

२६. जब दो प्रधान वाक्य प्रतिपक्षी हों तो प्रथम को आश्रित वाक्य के समान समझा जाता है और उस की क्रिया उदात्त स्वर से युक्त होती है। जैसे—अधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त् 'क्या नीचे था अथवा ऊपर था'। इस में दोनों वाक्य प्रतिपक्षी हैं। अतः पहले वाक्य को गौण मान कर 'आसी ३ त्' में 'सी' उदात्त है।

उपसर्गों का स्वर

२७. प्रधान वाक्यों में उपसर्ग को क्रिया से पृथक् रक्खा जाता है और वह उदात्त-स्वर से युक्त होता है। जैसे—प्र तद् विष्णुः स्तवते (२) और अभि पार्थो अश्याम् (५) में प्र और अभि को पृथक किया गया है।

२८. आश्रित वाक्यों में उपसर्ग को क्रिया के साथ समस्त माना जाता है और वह निघात हो जाता है। इसी लिए पदपाठ में उसे अवगृहीत करते हैं जैसे—**यो दे॒वान् क्रतु॑ना प॒र्यभू॑षत्** (७)। **यो गा उ॒दाज॑दप॒धा व॒लस्य॑** (९)। **यस्यो॒रुषु॑ त्रि॒षु वि॒क्रम॑णेष्वधिक्षि॒यन्ति॒ भुव॑नानि॒ विश्वा॑** (२)।

समासों का स्वर

२९. आम्रेडित (पुनरुक्त) पदों के समासों में पूर्वपद में उदात्त स्वर होता है। जैसे—**अह॑रहः**। **यथा॑यथा**। **प्रप्र॑**। इन को पदपाठ में अवगृहीत किया जाता है।

३०. बहुव्रीहि समासों में पूर्वपद में उदात्त स्वर होता है। जैसे—**वि॒श्वतो॑-मुखः**। **भूरि॑शृंगाः** (६)। **यु॒क्तग्रा॑व्णः, सु॒तसो॑मस्य** (१२)। बहुत से बहुव्रीहि समासों में उदात्त स्वर अन्तिम पद में होता है, विशेषतः जब पूर्वपद बहु, पुरु, नञ् (अ या अन्) और सु हों। जैसे—**सु॒शि॒प्रः** (१२)। **उ॒रु॒गा॒याय॑** (३)। **उ॒रु॒क्र॒मस्य॑** (५)। **कु॒च॒रः** (२)।

३१. कर्मधारय में अन्तिम पद में उदात्त स्वर होता है। जैसे—**प्र॒थ॒म॒जा प्रा॒त॒र्युज्**। **म॒हा॒ध॒न**। परन्तु जब पूर्वपद नञ् में (अ या अन्) हो तो उदात्त पूर्वपद में होता है। जैसे—**अन॑ग्निदग्धाः**। **अन॑श्वदा**।

३२. तत्पुरुषों में उत्तरपद में अन्तिम स्वर उदात्त होता है। जैसे—**गो॒त्र॒-भिद्**। **भ॒द्र॒ वा॒दिन्**। **उ॒द॒मे॒घ**। परन्तु षष्ठ्यन्त पूर्वपद वाले समासों में दोनों पदों में उदात्त स्वर रहता है। जैसे—**बृह॒स्पतिः**। **अ॒पां नपा॑त्**। **शुन॒ःशेप॑ः**।

३३. द्वन्द्व समासों में समास करने पर बने प्रातिपदिक का अन्तिम स्वर उदात्त होता है। जैसे—**अ॒जा॒वय॑ः** (३१)। यहां **अ॒जा॒वि** प्रातिपदिक है)। **सा॒श॒ना॒न॒श॒ने** (२५)।

३४. देवताद्वन्द्व समासों के दोनों पदों में उदात्त स्वर होता है। जैसे—**इन्द्रा॒वरु॑णा**। **सू॒र्या॑मासा॑**। **द्यावा॑···पृ॒थि॒वी** (१३)। इस पद में दोनों भागों को पृथक्-पृथक् प्रयुक्त किया गया है। इन के बीच में 'चिदस्मै' पद भी आ गए हैं।

परिशिष्ट ३

वैदिक व्याकरण

वर्णमाला

१. ऋग्वेद में वे सभी स्वर और व्यञ्जन तथा उन की ध्वनियां मिलते हैं जो लौकिक संस्कृत में पाए जाते हैं। ऋक्प्रातिशाख्य के अनुसार तीन स्थलों—अधः स्विदासी ३ त्, उपरि स्विदासी ३ त् और भीरिव विन्दती ३ँ—में ही प्लुत का उच्चारण होता है।

२. इस के अतिरिक्त ऋग्वेद में दो और व्यञ्जन—ळ् और ळ्ह्—का प्रचुर प्रयोग किया गया है। ये स्वतन्त्र वर्ण नहीं माने जा सकते क्यों कि एक ही पद में दो स्वरों के बीच में आने पर ड् को ळ् और ढ् को ळ्ह् हो जाता है।

'पदमध्यस्थडकारस्य ळकारं बह्वृचा जगुः।
पदमध्यस्थढकारस्य ळ्हकारं बह्वृचा जगुः॥'

यथा तस्माद्विराळजायत में आ और अ के बीच में आने से ड को ळ् और दृळ्हा में ऋ और आ के बीच में आने से 'ढ्' को 'ळ्ह्' हो गया है।

३. सन्धि—ऋग्वेद में लौकिक सन्धि के लगभग सभी नियम प्रयोग में आते हैं। कुछ नियम नए भी हैं।

४. स्वरसन्धि—कई बार एक ही पद में या समास के विभिन्न पदों में, अथवा एक वाक्य के विभिन्न पदों में सन्धि का अभाव पाया जाता है। इन में पदान्त 'ए' और 'ओ' के पश्चात् 'अ' का पूर्व रूप बहुत कम होता है*। (तु. क. प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे--पा०)। यथा—यो अस्कभायत् (१)।

---

* इस संग्रह में पूर्वरूप वाली सन्धियां ये मिलती हैं—योऽविता (१२) परेऽवरे (१४)। पादोऽस्य (२४)। ब्राह्मणोऽस्य (३३)। ऐसी सन्धियों को अर्वाचीनता का द्योतक माना जाता है। परन्तु वंशमण्डलों में भी ये पर्याप्त मिलती हैं।

पाथों अश्याम् (५)। यो अन्तरिक्षम् (८)। नैषो अस्ति (११)। सो अर्यः (११)। विराजो अधि (२६)। ‡ सूरिअस्य। सु अश्विअम्। वरुणस्य अग्नेः। अभि एति।

५. इतिकरण के जो स्थल पूर्व परिशिष्ट में दिखाए गए हैं वहां सन्धि नहीं होती है। 'अ' और उ—निपात की सन्धि से उत्पन्न 'ओ' की भी सन्धि नहीं की जाती है, जैसे अथो (अथ+उ), मो (मा+उ) आदि।

६. व्यञ्जनसन्धि—पदान्त आन् को आँ हो जाता है। यथा—लोकाँ अंकल्पयन् (३५) जिगीवाँ लक्षम् (१०)। प्रकुपिताँ अरम्णात् (८)। परन्तु लेट् लकार प्रथम पुरुष वहुवचन में 'आन्' में कोई परिवर्तन नहीं होता है, यथा आ गच्छान् उत्तरा युगानि। इसी प्रकार पदान्त ईन्, ऊन् और ऋन् को ईँर्, ऊँर् और ऋँर् हो जाता है, जैसे—रश्मीँरिव। इस नियम का अपवाद भी मिलता है। यथा—एतावानस्य (२४)। † दधानान् अमन्यमानाञ्छर्वा (१६)।

७. बाह्यसन्धि—कई बार अन्तःसन्धि में लागू होने वाले नियम बाह्य सन्धि में भी लगाए जाते हैं। यथा—मो षु वरुण। इस में 'सु' को 'षु' मो के कारण हुआ है।

८. लोप होने पर सन्धि—कई बार पादपूर्त्ति के लिए लोप हो जाने पर भी सन्धि मिलती है। जैसे—यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरम् (११) में सेति (सः+इति) में विसर्गों का लोप हो जाने पर भी सन्धि की गई है।

शब्दरूप

९. वैदिक भाषा लौकिक भाषा की अपेक्षा शब्दरूपों में अधिक समृद्ध है। यहां लौकिक भाषा में प्रयुक्त विभक्ति प्रत्ययों के अतिरिक्त और भी विभक्ति-प्रत्यय प्रयुक्त होते हैं। इस प्रकार से बहुधा लौकिक भाषा के एक रूप के

‡ इन दोनों उदाहरणों की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। पादपूर्ति के लिए सन्धिच्छेद पर ये रूप होते हैं। ये उदाहरण डा० मैक्डोनल ने दिये हैं।

† मै०—दो पादों के बीच में 'आन्' की सन्धि नहीं होती है। पाणिनि भी ऐसा ही मानते हैं। तु० क० दीर्घादटि समानपादे। आतोऽटि नित्यम्।

स्थान पर दो या अधिक रूपों का प्रयोग पाया जाता है। इन अतिरिक्त रूपों का संक्षिप्त विवरण आगे दिया जाता है।

एकवचन

१०. तृतीया विभक्ति—अकारान्त पदों में 'आ' का प्रयोग भी पाया जाता है। स्त्रीलिंग आकारान्त शब्दों में भी 'आ' मिलता है। यथा—यज्ञ के यज्ञेन और यज्ञा। मनीषा के मनीषया और मनीषा।

११. एन का 'अ' भी बहुधा दीर्घ पाया जाता है—एना। ऋग्वेद में एनेन रूप उपलब्ध नहीं होता है!

१२. कभी-कभी ईकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों के तृतीया एक वचन के रूप 'ई'—अन्त वाले भी होते हैं। यथा—शमी के शम्या और शमी।

१३. महिमन् का एक रूप 'मह्ना' (७) भी होता है।

१४. चतुर्थी—कभी-कभी इकारान्त स्त्रीलिंग पदों के रूप 'ई' अन्त वाले होते हैं—ऊति का ऊती (२०) †।

१५. पञ्चमी—आकारान्त स्त्रीलिंगों के रूप 'आ' अन्त वाले भी होते हैं—अपधा (९)—'बाड़े से'।

१६. चक्षुष् का रूप 'चक्षोः' (३४) भी एक बार आया है।

१७. षष्ठी—पुल्लिंग इकारान्त और नपुंसक लिंग उकारान्त पदों के रूप 'अस्' से भी बनते हैं। यथा—मधु का मध्वः (५) और अरि का अर्यः (४)।

१८. सप्तमी—आकारान्त स्त्रीलिंगों के रूप 'आ' में भी मिलते है। यथा—गुहा से गुहा (१०)। इकारान्त पदों के सप्तमी एक वचन में 'औ' के साथ-साथ 'आ' और 'इ' का भी प्रयोग पाया जाता है, यथा अग्नौ—अग्ना (अग्नि में); वेदी (वेदि में)।

१९. 'अन्' अन्त वाले पदों की 'इ' का बहुधा लोप हो जाता है—परमे व्योमन्। शर्मन् और शर्मणि। ब्रह्मन् और ब्रह्मणि। इन पदों में उपधा

† इसे तृतीया का रूप भी माना गया है। सा० ने चतुर्थी का माना है।

के 'अ' का लोप कभी नहीं होता है। अतः केवल अहनि, राजनि ही मिलते हैं, अह्नि और राज्ञि नहीं पाए जाते।

२०. अन्य पदों में भी विभक्ति चिह्न का अभाव देखा जाता है। यथा— विश्वह (२१)—'सब दिनों में'।

२१. सम्बोधन—मत्, वत् और वस् प्रत्ययान्त पदों के सम्बोधन में 'अस्' आता है (तु० क० मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि। पा०।)—भानुमत् से भानुमः (प्रथमा में—भानुमान्); हरिवत् से हरिवः (प्रथमा में हरिवान्), चक्रवस् से चक्रवः (प्रथमा में चक्रवान्)।

द्विवचन

२२. 'औ' की अपेक्षा प्रथमा और द्वितीया के द्विवचन में 'आ' का प्रयोग प्रचुरता से मिलता है ❀—आतस्थिवांसा (१४)—'बैठे हुए दो जन'। अश्विना—'दो अश्विन् देव'। द्यावा (१३)—'दो द्युलोक'। राजाना—'दो राजा'। द्वारा—'दो द्वार'। नद्या 'दो नदियां'।

२३. ईकारान्त स्त्रीलिंग पदों के रूपों में 'ई' पाई जाती है—रोदसी—'दो लोक—पृथिवी और आकाश' (७)। क्रन्दसी संयती (१४)—'दो चिल्लाती हुई सेनाएं'। देवी—'दो देवियां'।

२४. अस्मद् और युष्मद् के द्विवचन में पांच विभक्तियों में रूप मिलते हैं।

	१	२	३
अस्मद्—	वाम्, आवम् (श०)	आवाम् (श०)	×
युष्मद्—	युवम्	युवाम्	युवाभ्याम् युवभ्याम्

		५	६-७
अस्मद्—		आवाभ्याम् (कासं.) आवद् (तैसं०)	आवयोः (श०)

❀ तु० क० वाच्छन्दसि (पा०)।

युष्मद्— युवत् युवोः, युवयोः (तैसं०)

२५. इन के साथ ही २री, ४थी और ६ठी विभक्तियों में नौ और वाम् के प्रयोग भी मिलते हैं।

बहुवचन

२६. **प्रथमा विभक्ति**—अदन्त पुल्लिंग शब्दों के रूप बहुधा और स्त्रीलिंग शब्दों के कभी-कभी 'आसस्' में मिलते हैं (तु० क०—आज्जसेरसुक्—पा०)। यथा—अयासः (६); अश्वासः, रथासः, जनासः (१३), प्रियासः; सुवीरासः (२१)। इन के साथ 'आस्' के रूप भी मिलते हैं, यथा—ग्रामाः (१३), युध्यमानाः (१५)।

२७. ईकारान्त स्त्रीलिंग पदों के अन्त में 'ईस्' होता है। यथा देवीः—'देवियां'। (तिस्रः) पृथिवीः—'तीन भूमियां'।

२८. नपुंसक लिंग पदों के रूपों में आनि, ईनि और ऊनि की अपेक्षा आ, ई, ऊ (कभी-कभी अ, इ, उ) का प्रयोग अधिक मिलता है। तु० क० शेश्छन्दसि बहुलम्—पा०)। यथा—भुवनानि विश्वा (२)। त्री पूर्णा पदानि (४)। अक्षीयमाणा (४)। ता वास्तूनि (६) इमा विश्वा च्यवना कृतानि (१०)।

२९. **तृतीया**—अकारान्त पदों में 'ऐस्' के साथ-साथ 'एभिस्' का प्रयोग भी खूब मिलता है। यथा—पदेभिः (३)। देवेभिः और देवैः।

३०. **शब्दरूपों की रचना**—शब्द रूपों की रचना में प्रमुख अन्तर ईकारान्त और ऊकारान्त अनेकाच् शब्दों के रूपों में पाया जाता है। ऐसे पदों में अधिकांश स्त्रीलिंग और कुछ पुल्लिंग हैं। इन में से अधिकांश के रूप एकाच् शब्दों—धी और भू के समान चलते हैं। भेद इतना ही है कि इन पदों में षष्ठी के बहुवचन में 'नाम्' लगाया जाता है, और धी, भू में 'आम्'। स्त्री प्रत्यय की 'ई' वाले शब्द अधिकतर नदी और वधू के लौकिक रूपों के समान बनते हैं। उदाहरण के लिए रथी (पु०), नदी (स्त्री०) और तनू (स्त्री०) के रूप इस प्रकार होते हैं—

३१. रथी

	एक वचन	द्विवचन	बहुवचन
१.	रथीः	रथ्या	रथ्याः
सम्बोधन		रथ्या	
२.	रथ्यम्	रथ्या	रथ्याः
३.	रथ्या		
४.	रथ्यै		
५.	रथ्यः		
६.	रथ्यः		रथीनाम्

३२. नदी (स्त्री०)

१.	नदीः	नद्या	नद्यः
८.		नद्या	
२.	नद्यम्	नद्या	नद्यः
३.	नद्या		
४.	नद्यै		
५.	नद्यः		
६.	नद्यः		नदीनाम्
७.			

३३. तनू (स्त्री०)

१.	तनूः	तन्वा	तन्वः
सम्बोधन		तन्वा	
२.	तन्वम्	तन्वा	तन्वः
३.	तन्वा		
४.	तन्वै		
५.	तन्वः		
६.			तनूनाम्
७.	तन्वि		

३४. पाणिनि ने शब्दरूपों के अन्य विकारों को 'सुपां सुलुक् पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः' में संगृहीत किया है। इस के अनुसार विभक्तियों का लोप, उन के स्थान पर पूर्व सवर्ण, आ, ए, आत्, या हो जाते हैं। कात्यायन ने इन में इया, ई (सुरसी–७ मी) और अया का भी कथन किया है।

धातुप्रक्रिया

३५. आगम—धातुओं के लङ् और लुङ् में अट् का आगम कुछ रूपों में निरन्तर और कुछ में छन्दःपूर्ति के लिए दीर्घ पाया जाता है। जैसे—आवर्—√वृ लुङ् प्रथम पु० एक व०—'उस ने ढका हुआ है। आरैक् (या अरैक्) √रिच् प्रथम पुरुष एक व० लुङ्—'उस ने रिक्त कर दिया है'।

३६. बहुधा अर्थ में भेद किए विना ही इस अट् आगम का लोप कर दिया जाता है (तु–क–बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि। पा०)। इस प्रकार के अट् से रहित रूप अंग्रेजी के इञ्जङ्क्टिव के रूप में प्रयुक्त होते हैं (यथा प्र वोचम्) और आधुनिक अध्ययन में इसी नाम से पुकारे जाते हैं। 'मा' के योग में लौकिक संस्कृत में भी अट्हीन रूपों का प्रयोग मिलता है।

३७. उपसर्ग—सामान्यतः क्रिया से सम्बद्ध उपसर्ग उस से पहले आते हैं, परन्तु कई बार क्रिया के पीछे भी प्रयुक्त हुए हैं। उपसर्ग और क्रिया के इन दोनों ही क्रमों में उपसर्ग को क्रिया से पृथक् भी रक्खा जाता है और उन के बीच में अन्य पद भी आ जाते हैं। (तु० क० उपसर्गाः क्रियायोगे। ते प्राग्धातोः। छन्दसि परे ऽपि। व्यवहिताश्च। पा०।) जैसे प्र तद् विष्णुः स्तवते (२)। प्र विष्णवे शूषम् एतु (३)। अव भाति भूरि (६)। गमद् वाजेभिरा स नः। परन्तु आश्रित वाक्यों में उपसर्ग सदैव क्रिया से पहले आते हैं और उस के साथ समस्त होते हैं। जैसे विममे (१)। पर्यभूषत् (७)। उदार्जत् (९)।

तिङ् प्रत्यय

३८. लट्लकार में उत्तम पुरुष बहुवचन (कर्तृवाच्य) में 'मस्' की अपेक्षा 'मसि' प्रत्यय का प्रयोग प्रचुर है। (तु० क० इदन्तो मसि। पा०।)

जैसे—**उश्मसि** (६)–'इच्छा करते हैं' (√वश् से)। **इमसि और इमः**।

३९. मध्यम पुरुष बहुवचन में 'थ' और 'त' के अतिरिक्त 'थन' और 'तन' भी बहुधा मिलते हैं। (तु० क०—तप्तनप्तनथनाश्च–पा० ।) जैसे—**याथ** और **याथन** (तुम जाओ)। **यात और यातन** (तुम जाओ)।

४०. लोट् लकार के मध्यम पुरुष एक वचन में 'तात्' के रूप बहुधा मिलते हैं। इन रूपों में भविष्य में किए जाने के लिए किसी काम की आज्ञा अभिप्रेत होती है। जैसे—**रक्षतात्**। **धत्तात्**। कभी-कभी यह मध्यम पुरुष द्विवचन और बहुवचन तथा उत्तम पुरुष और प्रथम पुरुष के एक वचन के लिए भी प्रयुक्त हुआ है।

४१. श्रु, शृणु, पॄ, कृ और वृ धातुओं से लोट् मध्यम पुरुष एक वचन में 'धि' लगाया जाता है। (तु. क. श्रु-शृणु-पॄ-कृ-वृभ्यश्छन्दसि-पा०)। जैसे—**श्रुधि** (**हवम्**)। **शृणुधि**।

४२. कुछ धातुओं के लट् प्रथम पुरुष एक वचन के रूप उत्तम पुरुष के रूपों में पर्यवसित हो जाते हैं। जैसे—**शेते** के स्थान पर **शये** का प्रयोग।

४३. **द्वित्व**—लिट् लकार में कुछ धातुओं के द्वित्व में अभ्यास में स्वर को दीर्घ हो जाता है। (तु० क० तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य)। जैसे—**दाधार** (४) (√धृ से)। **तूतुजान**। **तृताव**।

४४. **गण**—वेद में गणों के प्रयोग में बहुधा व्यत्यय पाया जाता है। एक गण के धातु का रूप दूसरे गण के रूपों के तुल्य पाया जाता है। जैसे—**कृणोमि**। **करसि**। **भेदति**। **हुवेते** (१४)।

४५. **लकार**—वेद में लुङ्, लङ् और लिट् के प्रयोग सब कालों में पाए जाते हैं। (तु. क. छन्दसि लुङ्लङ्लिटः। पा०)। लिट् का प्रयोग भूतसामान्य में भी होता है (तु. क. छन्दसि लिट्–पा०)। जैसे—**स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्** में **दाधार** पद। डा० मैक्डोनल का विचार है कि लङ् लकार सदा वर्णनात्मक भूतकाल का द्योतक है, परन्तु यह ठीक नहीं। (देखो वेभाप० ४।५४।१२)। लिट् का वर्तमान में प्रयोग—**अमन्यमानाञ्छर्वा जघान**

(१६)। लङ् का–अत्यतिष्ठद् दशांगुलम् (२२)। लुङ् का—एते त्ये भानवो दर्शतायाश्चित्रा उषसो अमृतास आगुः।

४६. काल—द्वित्व की हुई धातु से पहले अट् का आगम कर के आर्ध-धातुक प्रत्यय लगा कर बने रूप भी प्रयुक्त हुए हैं। मै० ने इन्हें 'प्लूपरफैक्ट' नाम दिया है। उदाहरण के लिए–√चित् से–उत्तम पु० एक व०—अचिकेतम्। प्रथम पु० एक व०—अचिकेत्। प्रथम पु० बहु व०—अचिकितुः।

४७. डा० मैक्डोनल के मत में संहिताओं में लुट् का कोई निर्विवाद रूप नहीं मिलता है। तृच्–अन्तवाली संज्ञाओं से ही इस लकार के रूपों का ब्राह्मण-काल में प्रयोग प्रारम्भ हुआ होगा।

४८. भाव (मूड)—लौकिक भाषा में लोट्, विधिलिङ्, आशीर्लिङ् और लङ् का प्रयोग होता है। वेद में आशीर्लिङ् का प्रयोग अल्प मात्रा में पाया जाता है। लृङ् भविष्यत् काल का भूतकालिक रूप है और भविष्य का द्योतक है।

४९. परन्तु यहां एक और नये भाव—लेट् का प्रचुर प्रयोग होता है। इस भाव का प्रयोग विधि, निमन्त्रण, आमन्त्रण, अधीष्ट, संप्रश्न, प्रार्थना, आशीः हेतुहेतुमद्भूत, इच्छा, कामप्रवेदन और संभावना–इन लोट् और विधिलिङ् के अर्थों, उपसंवाद और आशंका में होता है। (तु० क०—लिङर्थे लेट्। उपसंवादाशंकयोश्च। पा०)। विधिलिङ् का मूल लक्ष्य इच्छा और संभावना का प्रकाशन है और लेट् का 'निश्चय, प्रतिज्ञा'। विभिन्न पुरुषों में इस का अर्थ भिन्न-भिन्न भी लक्षित होता है। यथा उत्तम पुरुष में यह 'प्रतिज्ञा, निश्चय' का द्योतक है

५०. वाक्यों में इस का प्रयोग सामान्यतः दो प्रकार का है—प्रधान वाक्य में यह प्रश्नात्मक पदों के साथ आता है, जैसे—कुदा नः शुश्रवद् गिरः। गौणवाक्यों में यह निषेधात्मक या सम्बन्ध–द्योतक पदों के साथ आता है। जैसे—यो नः पृतन्यात्।

५१. लेट् में धातु के आगे अ या आ लगाया जाता है (लेटो ऽ डाटौ-पा०)। जैसे—भवाति में अनेक बार सिप् का प्रयोग भी देखने में आता है

(—सिब्बहुलं लेटि—पा०)। यथा तारिषत् में। परस्मैपद धातुओं के 'ति' आदि प्रत्ययों की 'इ' का लोप भी बहुधा हो जाता है (—इतश्च लोपः परस्मैपदेषु—पा०)। जैसे—तारिषत् में।

५२. लेट् में सार्वधातुक और आर्धधातुक—दोनों ही प्रत्ययों का प्रयोग पाया जाता है। √भू और √सु के लेट् के रूप इस प्रकार हैं—

५३. √भू—

परस्मैपद

प्रथम पु०	भवाति, भवात्	भवातः	भवान्
मध्यम पु०	भवासि, भवाः	भवाथः	भवाथ
उत्तम पु०	भवानि	भवाव	भवाम

आत्मनेपद

प्र०पु०	भवाते	भवैते	भवन्त
म०पु०	भवासे	भवैथे	भवाध्वै
उ०पु०	भवै	भवावहै	भवामहै।

५४. √सु—

परस्मैपद

प्र०पु०	सुनवत्	सुनवतः	सुनवन्
म०पु०	सुनवः	सुनवथः	सुनवथ
उ०पु०	सुनवानि	सुनवाव	सुनवाम

आत्मनेपद

प्र०पु०	सुनवते	सुनवैते	सुनवन्त*
म०पु०	सुनवसे	सुनवैथे	सुनवध्वै
उ०पु०	सुनवै	सुनवावहै	सुनवामहै

लेट् के रूपों का वर्गीकरण

५५. आधुनिक वैदिक वैयाकरणों ने लेट् के रूपों को विश्लेषण कर के बताया है कि इस के रूप केवल वर्तमानकाल के द्योतक ही नहीं है, प्रत्युत

---

* तु. क. सचन्त (२७)।

उन का प्रयोग लिट् और लुङ् में भी होता है। उन के अनुसार लोट् और विधि लिङ् के भी लुङ् और लिट् में प्रयोग होते हैं। इन के कतिपय उदाहरण ये हैं—

लिट् लकारीय

लेट्

√तुद् से—तुतोदत्

विधिलिङ्

√वृत् से—ववृत्यात्

लोट्

मुच् से—मुमुग्धि

√भू से—बभूतु

√वृत् से—म॰ पु॰

आत्मनेपद एकव॰—ववृत्स्व

लुङ् लकारीय

√नी से—प्र॰पु॰

एक व॰—

नेषति, नेषत्

√बुध् से—बोधिषत्

√विद् से—विदत्

√कृ से—करति, करत्

√विद् से—विदेत्

√अश् से—अश्यात्

√भज् से—भक्षीष्ट

√अव् से—

म॰पु॰ एक व॰ अविड्ढि

द्विव॰—अविष्टम्

बहु व॰—अविष्टन

प्र॰पु॰ एक व॰—अविष्टु

√सद् से—प्र॰पु॰

एक व॰—सदतु

द्वि व॰—सदताम्

बहु व॰—सदन्तु

√श्रु से—म॰पु॰

श्रुधि श्रुतम् श्रुत

प्र॰पु॰ श्रोतु

श्रुताम् श्रुवन्तु

५६. इंजंक्टिव—यह परिभाषा आधुनिकों की है। जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, अट् आगम से हीन लुङ् और लङ् के रूपों को इंजंक्टिव कहते हैं। इस के प्रयोग लेट् के अन्तर्गत आ जाते हैं। उत्तम पुरुष में यह इच्छा को प्रकट

करता है। यथा—विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचम् (१)। मध्यम और प्रथम पुरुषों में यह प्रेरणा और उत्साह को व्यक्त करता है और बहुधा लोट् के साथ प्रयुक्त होता है। जैसे—सुगा नः सुपथा कृणु। पूषन्निह क्रतुं विदः में 'विदः' इंजंक्टिव है। इस भाव का प्रयोग ऋग्वेद में बहुलता से हुआ है।

५६. **सातत्यद्योतक कृदन्त पद**—लौकिक साहित्य में उपलब्ध सातत्यद्योतक कृदन्त पदों (शतृ, शानच् आदि) के अतिरिक्त लुङ् लकार में भी कर्त्ता और कर्म दोनों में सातत्य द्योतक कृदन्त रूप मिलते हैं। जैसे परस्मैपद—√ कृ से—क्रन्तं। √ गम् से—ग्मन्तं। √ स्था से स्थान्तं। आत्मनेपद—√ कृ से—क्राण। √ बुध् से—बुधान।

५७. लिट् लकार में क्वसु और कानच् प्रत्ययान्त रूप भी मिलते हैं (तु. क. लिटः कानज् वा। क्वसुश्च। पा०।)। यथा √ शम् से शशमानः। √ क्रम् से विचक्रमाणः (कानच्) (२०)। √ स्था से तस्थिवांसा (द्विवचन—क्वसु) (१४)। √ जि से—जिगीवान् (१०) (क्वसु)।

५८. ऋग्वेद में क्तवतु प्रत्ययान्त पदों का प्रयोग नहीं किया गया है।

५९. **क्त्वा-अर्थ के रूप**—वेद में क्त्वा के साथ-साथ त्वी और त्वाय के रूप भी मिलते हैं। (तु. क. इष्ट्वीनमिति च। स्नात्व्यादयश्च। क्त्वो यक्। पा०)। त्वाय के प्रयोग अल्प हैं। जैसे—दिवं सुपर्णो गत्वाय। इष्ट्वीनं देवान्। पित्वी सोमस्य वावृधे। य और त्य प्रत्ययान्त पदों का अन्तिम स्वर बहुधा दीर्घ मिलता है।

तुमर्थ के रूप

६०. **तुमर्थ के रूप** लौकिक संस्कृत में 'के लिए' के भाव के प्रकाशन के लिए केवल एक ही प्रत्यय—तुमुन् का प्रयोग होता है, परन्तु वेद में इस के लिए लगभग एक दर्जन प्रत्ययों का प्रयोग होता है। पाणिनि मुनि ने इन को अधोदत्त सूत्रों में संकलित किया है—

१. तुमर्थे से—सेन्—असे—ऽसेन्—क्से—कसेन्—अध्यै—अध्यैन्—कध्यै—कध्यैन्—शध्यै—शध्यैन्—तवै—तवेङ्—तवेनः।

२. प्रयै रोहिष्यै अव्यथिष्यै।

३. दृशे विख्ये च ।
४. शकि णमुल्कमुलौ ।
५. ईश्वरे तोसुन्कसुनौ ।

६१. आधुनिक दृष्टि से इन का वर्गीकरण द्वितीया, चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी और सप्तमी के रूपों से साम्य के आधार पर किया जाता है। इन में से पिछले तीन वर्गों के रूप अल्प हैं। शेष में से अधिकांश चतुर्थ्यन्त हैं जो द्वितीयान्तों से लगभग १२ गुना अधिक हैं।

६२. द्वितीयान्त तुमर्थ रूप धातु से अथवा कभी-कभी तु-प्रत्ययान्त नामधातुओं से बनते हैं। जैसे—**समिधम्**—'प्रदीप्त करने के लिए'। **प्रतिधाम्**—'रखने के लिए'। **प्रतिरम्**—'बढ़ाने के लिए'। **कर्तुम्**,—'करने, बनाने के लिए'। **भेत्तुम्**—'फाड़ने के लिए'। विभाजं (नाशकत्)। अपलुपं (नाशकत्)।

६३. चतुर्थ्यन्त तुमर्थरूप धातु से और अस्, मन्, वन्, तु, धि प्रत्ययान्त नामधातुओं से बनते हैं। यथा—**गमध्यै** (६)—'जाने के लिए'। **अवसे** (१५)—'रक्षा के लिए'। **सुतवे** (१२)—'बहने के लिए'। **दृशे**—'देखने के लिए'। **श्रद्धे**—'सच्चा विश्वास करने के लिए'। **जीवसे**—'जीने के लिए'। **विद्मने**—**दावने**, **दातवे**—'देने के लिए'। **कर्त्तवै**‌ॐ—'करने के लिए।

६४. पञ्चमी और षष्ठी के रूप एक समान होते हैं। ये रूप अस् और तोस् में मिलते हैं। जैसे—**अवपदः**—'गिरने के लिए'। **नेतोः**—'ले जाने के लिए'। विचरितोः—'विचरण के लिए'।

६५. सप्तमी विभक्ति में केवल 'सनि' प्रत्ययान्त रूप ही निश्चयात्मक विशुद्ध रूप हैं। जैसे—**नेषणि**—'ले जाने के लिए'। **धूर्त्तरि**—'देने के लिए'।

६६. **कृत्यप्रत्यय**—कृत्य-अर्थ में तवै, केन्, केन्य और त्वन् का प्रयोग होता है (तु० क० कृत्यार्थे तवैकेनकेन्यत्वनः—पा०)। जैसे—**दिदृक्षेण्यः**।

ॐ इस में दो उदात्त स्वर हैं, क और वै।

कर्मप्रवचनीय निपात—

६७. वेद के मूल कर्मप्रवचनीय निपात द्वितीया, पञ्चमी और सप्तमी के साथ और कुछ स्थलों पर तृतीया के साथ प्रयुक्त हुए हैं। ये इस प्रकार हैं—

६८. द्वितीया के साथ—अति—'परे'। अधि—'ऊपर को'। अनु—'पीछे'। अन्तर्—'में'। अभि, आ उप, प्रति—'की ओर'। परि—'चारों ओर'। पुरः—'सामने'।

६९. पञ्चमी के साथ—अधि—'ऊपर से'। अन्तर्—'अन्दर से'। आ—'दूर से, 'तक'। परि—'(चारों) ओर से'।

७०. सप्तमी के साथ—अधि—'ऊपर'। अन्तर्—'अन्दर'। अपि, आ और उप—'समीप'।

वैदिक भाषा और व्याकरण की कुछ अन्य विशेषताएँ

कारक—७१. कई बार एक विभक्ति के स्थान पर दूसरी विभक्ति का प्रयोग भी पाया जाता है। जैसे—चतुर्थी के अर्थ में षष्ठी, षष्ठी के अर्थ में चतुर्थी और सप्तमी के अर्थ में चतुर्थी। यथा—श्रदस्मै धत्त (११) में सप्तमी के लिए अस्मै में चतुर्थी का प्रयोग किया गया है।

७२ वर्णविकार—कई पदों में वर्णों में विकार पाया जाता है। जैसे—सधस्थम् (१) [तु. क. सधमादस्थयोश्छन्दसि।] गृभ्णामि। सम्भृतम् (२९)। [तु. क.—हृग्रहोर्भश्छन्दसि। पा०।]

७३. सांहितिक दीर्घ—अनेक बार संहिता में स्वरों को दीर्घ कर दिया जाता है। पदपाठ में इन्हें ह्रस्व कर दिया जाता है। जैसे—स्मा (११)। पूरुषः (२४)।

७४. प्रत्ययों का प्रयोग—बहुत से प्रत्यय विहित स्थलों से अन्यत्र भी हो जाते हैं। जैसे—अघायुररातीवा मर्चयति। इस में अघायु में क्यच् और उ प्रत्यय परेच्छा में हुए हैं।

७५. व्यत्यय—पाणिनि ने वैदिक भाषा के लौकिक संस्कृत से भेदों को 'व्यत्ययो बहुलम्' कह कर वर्णित किया है। इस सूत्र का विस्तार इस कारिका में दिया गया है—

सुप्—तिङ्—उपग्रह—लिङ्ग—नराणां
काल—हल्—अच्—स्वर—कर्त्तृ—यङाञ्च।
व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां
सोऽपि च सिध्यति बाहुलकेन ॥

भाव यह है कि वैदिक भाषा में अनेक स्थानों पर विभक्तियों, क्रिया के तिप् आदि प्रत्ययों, आत्मने—परस्मै पदों, पुल्लिंग, नपुंसकलिंग और स्त्रीलिंग, उत्तम, मध्यम और प्रथम पुरुषों, लट् आदि लकारों, व्यञ्जनों, अ, आ आदि स्वरों, उदात्त आदि स्वरों, कारकों और गणों के प्रयोगों में लौकिक भाषा के नियमों की उपेक्षा पाई जाती है।

वेदलावण्य ऋक्सूक्तानि

वेदमन्त्राणामकारादिक्रमेणानुक्रमणिका

मन्त्र	क्रमसंख्या	संकेत
यत्पुरुषेण हविषा	२७	ऋ० १०।९०।६; य० ३१।१४
यं क्रन्दसी संयती विह्वयेते	१४	ऋ० २।१२।८
यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरम्	११	ऋ० २।१२।५
यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो	१५	ऋ० २।१२।९
यस्य त्री पूर्णा मधुना पदानि	४	ऋ० १।१५४।४
यस्याश्वासः प्रदिशि यस्य गावो	१३	ऋ० २।१२।७
येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि	१०	ऋ० २।१२।४
यो जात एव प्रथमो मनस्वान्	७	ऋ० २।१२।१
यो देवेभ्यो आतपति	४१	य० ३१।२०
यो रध्रस्य चोदिता यः कृशस्य	१२	ऋ० २।१२।६
यो हत्वाहिमरिणात् सप्तसिन्धून्	९	ऋ० २।१२।३
यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहद्	८	ऋ० २।१२।२
यः शम्बरं पर्वतेषु क्षियन्तम्	१७	ऋ० २।१२।११
यः शश्वतो मह्येनो दधानान्	१६	ऋ० २।१२।१०
यः सप्तरश्मिर्वृषभस्तुविष्मान्	१८	ऋ० २।१२।१२
यः सुन्वते पचते दुध्र आ चिद्	२१	ऋ० २।१२।१५
यः सुन्वन्तमवति यःपचन्तम्	२०	ऋ० २।१२।१४
रुचं ब्राह्मं जनयन्तो	४२	य० ३१।२१
विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र वोचम्	१	ऋ० १।१५४।१
वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्	३९	य० ३१।१८
श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे	४३	य० ३१।२२
सप्तास्यासन् परिधय	३६	ऋ० १०।९०।१५; य० ३१।१५
सहस्रशीर्षा पुरुषः	२२	ऋ० १०।९०।१; य० ३१।१

वेदलावण्य ऋक्सूक्तानि

तत्र

अकारादिवर्णानुक्रमेण

टिप्पणीषु व्याख्यातानां पदानामनुक्रमणिका

वेदलावण्यम्

संक्षेप विवरण

+ जोड़ का चिह्न

= बराबर है, समान है

✓ धातु का द्योतक चिह्न

अकोसु०—अमरकोष सुधाटीक, भानुजिदक्षित, बम्बई १९२८

अवे—अथर्ववेद, अजमेर वैदिक यन्त्रालय, २००१ वि.

अवै—अवैस्ता भाषा

आइओका—प्रोसीडिंग्ज औफ दी आल इण्डिया ओंरियण्टल कान्फ्रेंस

आइओका० (सं)—समरीज औफ पेपर्ज सब्मिटिडटूदी आल इण्डिया ओंरियण्टल कान्फ्रेंस

आप्टे का कोष—वी० एस० आप्टे स्टूडैण्ट्स संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, द्वितीय संस्करण

आश्व० गृ०—आश्वलायन गृह्यसूत्र

उ०—पंचपाद्युणादि, सभाष्य, दयानन्द सरस्वती सं० १९८९

ऋ०—ऋग्वेद—सातवलेकर द्वारा सम्पादित मूल संहिता

ऋभाभू०—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका दयानन्द सरस्वती आर्य साहित्य मण्डल अजमेर १९९१ वि०

ऐ०—ऐतरेय ब्राह्मण, मूल बम्बई

एया०—ऐटिमोलौजीज़ औफ यास्क, डा० सिद्धेश्वर वर्मा

कठोप०—कठोपनिषद्

का० य०—काण्व यजुर्वेद संहिता, पं. सातवलेकर द्वारा संपादित

का० श्रौ०—कात्यायन श्रौत सूत्र

कासं०—काठकसंहिता, स्वाध्याय मण्डल, पाडदी

कौ०—कौषीतकि ब्राह्मण

गी०—भगवद् गीता

गो०—गोपथ ब्राह्मण

ग्रा० ग्रास०—ग्रासमैन

छाउ०—छानेग्योपनिषद्

जैउ० जैउब्रा०—जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण

तां—ताण्ड्यमहाब्राह्मण

तु० क०—तुलना करो

तै०—तैत्तिरीय ब्राह्मण

तै० सं०—तैत्तिरीय संहिता, स्वाध्यायमण्डल, पाड़दी

दपाउ०—दशपाद्युणादि वृत्ति पं० युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा सम्पादित

दस०—स्वामी दयानन्द सरस्वती और उन का ऋग्वेद भाष्य, ९ भाग, अजमेर

नपुं०—नपुंसक लिंग

नि०—निरुक्त, डा० लक्ष्मण स्वरूप द्वारा सम्पादित, मूल, १९२७

निघं०—निघण्टु—दयानन्द सरस्वती स्वामी द्वारा सम्पादित, अजमेर, १९८९ वि०

नेवैशा०—नेचर औफ वैदिक शाखाज़ एस० के० गुप्त

पं० उ०; पपाउ०—पञ्चपाद्युणादिसूत्र, स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा सम्पादित

पा०—पाणिनिमुनि रचित अष्टाध्यायी और उस की काशिकावृत्ति, बनारस

पाउ०—पारस्करीयोपनयन सूत्रों का प्रस्तुत संस्करण

पाटि०—पादटिप्पणी

पा० भे०—पाठभेद

पीटर्सन—हिम्ज़ औफ दी ऋग्वेद प्रथम भाग

पु०—पुरुष; पुल्लिंग

पृ०—पृष्ठ

प्र०—प्रथम पुरुष

वधसू०—वसिष्ठ धर्मसूत्र

बृउप०—बृहदारण्यकोपनिषद्

भायो०—भारत-योरोपीय काल्पनिक भाषा का कल्पित पद

मनु०—मनुस्मृति, बम्बई

मन्त्रसं०, मंसं०—इस संस्करण में संगृहीत ऋक्सूक्तों और य० ३१ के मन्त्रों की बाईं ओर दी गई अविकल क्रमिक संख्या। प्रमाणों में इस संख्या के आगे टिप्पणी की संख्या है।

मही०—महीधर, यजुर्वेद भाष्य

मु० उ०—मुण्डकोपनिषद्

मेघ०—मेघदूत, सुधीर कुमार गुप्त द्वारा सम्पादित, तीसरा संस्करण।

मै०—मैक्डोनल, ए० ए० और उनकी वैदिक रीडर

मैमू०—मैक्स मूलर

य०—यजुर्वेद संहिता, अजमेर, १९९९ वि०

यभा०, य० भा०, य० भाष्य—यजुर्वेदभाष्य, स्वामी दयानन्द सरस्वती, ४ भाग, अजमेर

व०—वचन

वि०—विक्रमी

विको०—सर मोनियर मोनियर-विलियम्ज़, संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, १८९९

वे० भा०—वेदभाष्य

वेभापा०—सुधीर कुमार गुप्त, वेद-भाष्यपद्धति को दयानन्द सरस्वती की देन

वेमा०—वेंकट माधव

वैइ०—वैदिक इण्डैक्स, दो भाग, मैक्डोनल और कीथ

वैए०—दी वैदिक ऐटिमोलौजी, डा० फतह सिंह

वैको०—वैदिक कोष, हंसराज।

वैग्रास०—वैदिक ग्रामर फौर स्टुडैण्ट्स मैक्डोनल, ए० ए०।

वैरी०—मैक्डोनल, ए०ए०, वैदिक रीडर

वैसा०—वैदिक साहित्य, राम गोविन्द त्रिवेदी, बनारस

श०—शतपथ ब्राह्मण, दो भाग, बनारस

शकौको०—देखो संशकौको०

श्वे० उ०—श्वेताश्वतरोपनिषद्

सप्र०—सत्यार्थ प्रकाश, कलकत्ता, सं० १९८१

सं०—संस्कृत

संचं०—संस्कार चन्द्रिका, आत्माराम, बड़ौदा

संप०—दयानन्दभाष्यों में संस्कृत पदार्थ

संवि०—संस्कारविधि, स्वा० दयानन्द सरस्वती, अजमेर

संशकौको०—संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ कोष, द्वारकाप्रसाद शर्मा चतुर्वेदी, इलाहाबाद १९५७

सा०—सायणभाष्य (ऋग्वेद), पूना ४ भाग।

सा० ला०—साइवेन्ज़िग लाइडर

सिकौ०—सिद्धान्त कौमुदी, बालमनोरमा, मद्रास

सीएसडी०—सुधीर कुमार गुप्ता, ए क्रिटिकल स्टडी औफ दी कम्मैण्टरी औन दी ऋग्वेद बाई स्वामी दयानन्द

सूसं०—इस संस्करण में सम्पादित पारस्करीयोपनयन सूत्रों की क्रमिक संख्या और उन पर टिप्पणियां

स्त्री०—स्त्रीलिंग

हिअ०—हिन्दी अनुवाद

विस्तृतभूमिका–मूलपाठ–पदपाठ–सायणभाष्य–शाब्दिक
हिन्दी–रूपान्तर–सुकाशिनीटिप्पणी–मन्त्र–
पदानुक्रमणिकादिभिः समन्वितम्

वेदलावण्यम्

द्वितीयो भागः

(ऋ० १०।१२१; १२५)

लेखक, सम्पादक तथा अनुवादक

डा० सुधीर कुमार गुप्त, एम० ए०, (पं० रघुबर दयाल गोल्डमैडलिस्ट)
पीएच० डी०, बी० ए० ऑनर्स, शास्त्री, प्रभाकर,
केरल कोयल वर्मा वलिया थम्पूरन स्वर्णपदकी,

आचार्य, संस्कृत विभाग,
गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

भारती



मन्दिर

अनुसंधान शाला
४ हीरापुरी, गोरखपुर
१९६०

प्रकाशक—

भारती मन्दिर अनुसन्धान शाला

४ हीरापुरी, गोरखपुर

मूल्य रु० २)५० नपै०

दोनों भागों का १०)

मुद्रक

१—भारत प्रेस, हांसूपुर-गोरखपुर

कोष, मुखपृष्ठ, विषयसूची, उपोद्धात और भूमिका

२—मास्टर प्रिंटिंग वर्क्स, ६१।३४ बुलानाला, वाराणसी

शेष समस्त भाग

विषयसूची

ॐ ॥ यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते ।
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा ॥ ॐ ॥ (य० ३२।१४) ॥
ॐ ॥ यतो यतः समीहसे ततो नो अभयं कुरु ।
शं नः कुरु प्रजाभ्यो ऽभयं नः पशुभ्यः ॥ ॐ ॥ (य० ३६।२२) ॥

उपोद्घात

मार्च १९५९ ई० के अन्त में *वेदलावण्यम् का प्रथम भाग* प्रकाशित हुआ था। लिखने की योजना बनाते समय ग्रन्थ का लक्ष्य बी० ए० के विद्यार्थियो के लिए वेद के अध्ययन के लिए सहायक सामग्री प्रस्तुत करना था। परन्तु लिखते समय यह लक्ष्य गौण हो गया और पुस्तक में संगृहीत स्थलों पर पाठ्यपुस्तकों और अनुसन्धानात्मक अनुवादों की मिश्रित शैली पर *लेखक का अपना सटिप्पण* अध्ययन बन *गया।* इस से पुस्तक में *विद्यार्थियों के लिए सहायक सामग्री* के साथ-साथ *अनेकविध प्रामाणिक सामग्री,* नए अनुवाद, नए अर्थ और गवेषणापूर्ण *नए विचार स्थल-स्थल पर समाविष्ट* हो *गए* और पुस्तक *विश्वविद्यालयों में निर्धारित की जाने योग्य तथा* गवेषकों के लिए पठनीय और प्रयोज्य *बन गई।* परिणामतः डा० सूर्य कान्त, डा० फतह सिंह और डा० वासुदेव शरण अग्रवाल जैसे वेद के *लब्धप्रतिष्ठ* और बहुश्रुत विद्वानों ने *तथा वेदवाणी वाराणसी* और *विश्वज्योति* होश्यारपुर ने ग्रन्थ *की भूरि-भूरि प्रशंसा की।* लेखक इन सब महानुभावों का परम अनुगृहीत है।

२. प्रथम संकलन में गोरखपुर विश्वविद्यालय की बी० ए० की परीक्षा में निर्धारित अंशों को ही अध्ययन का आधार बनाया गया था। ग्रन्थ के प्रकाशित होते-होते लेखक के पूर्व भाग में वर्णित शूद्र-

विषयक विचारों का क्रियात्मक प्रत्यक्ष प्रमाण प्रस्तुत करने वाले किन्हीं अवर्णनीय कारणों से संस्कृत के पाठ्यक्रम में कुछ परिवर्तन किए गए। इस परिवर्तन में वेदविषय में उपनयन सूत्रों को निकाल कर उन के स्थान पर हिरण्यगर्भ प्रजापति और वाक् सूक्त जोड़ दिए गए। इस कारण संकलन में इन दो सूक्तों का समावेश करना आवश्यक हो गया। उधर डा० फतह सिंह जी तथा अन्य कुछ सज्जनों ने इस अध्ययन में कुछ और सूक्त सम्मिलित करने की प्रेरणा दी। दयानन्दभाष्य के निर्वचनों और अर्थों के अध्ययन के सम्बन्ध में, विश्वविद्यालय के खोज के विद्यार्थियों के साथ विचारों में उत्पन्न समस्याओं के समाधान में तथा शूद्रों और संस्कारों पर विचार करते हुए लेखक ने अनेकों सूक्तों का विशेष अध्ययन किया। इच्छा थी कि इस समस्त अध्ययन को लेखबद्ध कर इस भाग में प्रकाशित किया जाता तथा पूर्व भाग की आलोचना में उठाए गए विद्वानों के आक्षेपों पर भी विचार किया जाता, परन्तु समय आदि के अभाव से ऐसा न किया जा सका और केवल वाक् और प्रजापति सूक्तों के संक्षिप्त-से अध्ययन से ही इस भाग में सन्तोष कर लिया गया। अगले भाग में सभी प्रमुख देवताओं, ऋषियों और छन्दों के सूक्तों का चयन वंशमण्डलों से किया जायगा।

३. इस भाग में मन्त्रों का अनुवाद लेखक की अपनी शैली के अनुरूप है। उस के आधारों की व्याख्या टिप्पणियों में की गई है। वेदलावण्यम् लेखक के शोधग्रन्थ–वेदभाष्यपद्धति को दयानन्द सरस्वती की देन—में प्रकाशित विचारों का सीमित क्रियात्मक रूप है।

४. इस ग्रन्थ के प्रणयन में अनेकों ग्रन्थों से सहायता ली गई है। लेखक उन सब का परम आभारी है। इन में डा० फतह सिंह के वैदिक दर्शन और पं० दामोदर पाद सातवलेकर का वागाम्भृणी

ऋषि का दर्शन विशेष सहायक सिद्ध हुए हैं। मन्त्र ४६।१ में दिए गए विचारों के चयन में लखनऊ मैडिकल कालिज के एम० बी० बी० एस० (अन्तिम वर्ष) के जाज्वल्यमान विद्यार्थी और मेरे भतीजे चि० *श्री राजकुमार गुप्त* ने बड़ी सहायता की है। उन्हों ने बैक्टेरियोलौजी के ग्रन्थों के निर्देश दिए, उन के उपयुक्त स्थलों को दिखाया और समझाया। उन्हीं के द्वारा उक्त कालिज के पैथौलौजी विभाग के प्रवाचक *श्री डा० एस० पी० गुप्त* से परिचय और वार्तालाप हुआ। डा० गुप्त ने अणु-वीक्षणयन्त्र से बैक्टेरिया की गतिविधि से साक्षात् परिचय कराया। लेखक इन दोनों का परम आभारी है। साथ ही पुस्तक में दिए गए बैक्टेरिया विषयक विचारों के इस ग्रन्थ में प्रकाशन के दोषों और उन विचारों से निकाले गए निष्कर्षों का समस्त उत्तरदायित्व एक मात्र लेखक का ही है।

५. जिन विश्वविद्यालयों और कालिजों या संस्थाओं के अध्यापकों या अधिकारियों ने इस ग्रन्थ के प्रथम भाग को अपने पाठ्यक्रम में स्थान दिया है और विद्यार्थियों को पढ़ने की प्रेरणा दी है उन का परमातिपरम अनुग्रह है।

६. प्रेसों के स्वामियों और अधिकारियों के सहयोग से ग्रन्थ शीघ्र प्रकाशित हो सका है। वे सब धन्यवाद के पात्र हैं।

७. इस सब में परमेश्वर ही एक मात्र कारण है, उन के लिए श्रद्धापूर्वक कोटिशः प्रणाम हैं—'कस्मै' देवाय हविषा विधेम।

४ हीरापुरी,
गोरखपुर
१३–७–६०

सुधीर कुमार गुप्त

वेदलावण्यम्

ऋक्सूक्तसंग्रहः

द्वितीयो भागः

भूमिका

१. वैदिक साहित्य, विशेषतः ऋग्वेद का तथा उस से सम्बन्धित सभी विषयों का विवेचन प्रथम भाग की भूमिका में किया जा चुका है।

२. इस भाग में ऋग्वेद के दशम मण्डल के दो दार्शनिक सूक्त हैं। आधुनिकों का विचार है कि ऋग्वेद में दार्शनिक भाव बहुत विकसित नहीं हुए हैं। वे धीरे-धीरे प्रगति करते हैं। इस कारण वंशमण्डलों में दार्शनिक सूक्त विरले हैं। ये सूक्त विशेष रूप से प्रथम और दशम मण्डल में पाये जाते हैं। ये दोनों मण्डल पीछे के हैं।

३. परन्तु इस विचार से सहमत होना सम्भव नहीं। ऋग्वेद के सूक्तों की पृष्ठ-भूमि दार्शनिक है। वहां प्रत्येक देवता दर्शन की भी परिभाषा है। एक ओर तो वे ब्रह्माण्ड के दर्शन का प्रतिपादन करते हैं, दूसरी ओर आधिभौतिक और आध्यात्मिक जगत् में राष्ट्र और मानव देह के दर्शन का वर्णन करते हैं। समस्त देवों के मूल में एक ही अधिदेव परमात्मा है। उन की समस्त क्रियाएँ उसी परमात्मा की हैं। यह परमात्मा जीव और प्रकृति में गति उत्पन्न कर सृष्टि को प्रवृत्त, धारण और संचालित करता है। ऋग्वेद के समस्त सृष्टिवर्णनों के मूल में यही सिद्धान्त काम करता है और उन का नासदीय सूक्त से सीधा सम्बन्ध दृष्टिपथ में आ जाता है।

४. देवताओं के समान ऋषियों और छन्दों का भी दर्शन है। प्रत्येक ऋषिवाचक और छन्दोवाचक पद विशेष परिभाषा है, यह 'वेदभाष्यपद्धति को दयानन्द सरस्वती की देन' अध्याय ४ में दिखाया जा चुका है। ब्राह्मणग्रन्थों में भी इन पदों के अर्थों में अनेकों दार्शनिक अर्थ मिलते हैं जिन का प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में वाग् ब्रह्म में पर्यवसान होता है।

५. वंशमण्डलों में भी कुछ सूक्त तो स्पष्टतः ही दार्शनिक हैं। यथा गृत्समद का अग्नि सूक्त (२।१), इन्द्रसूक्त (२।१२), बृहस्पति और ब्रह्मणस्पति सूक्त (२।२३), वामदेव गौतम के इन्द्र और श्येन का सूक्त (ऋ० ४।२६) तथा त्रसदस्यु पौरुकुत्स्य का आत्मवर्णन आदि का सूक्त (ऋ० ४।४२) आदि। वेदलावण्य की शैली पर प्रायः सभी सूक्तों में दर्शन मिल जायगा। डा० फतह सिंह जी ने अपने वैदिक दर्शन में ऋग्वेद का दर्शन भी प्रस्तुत किया है। उस से यह अनायास ही समझा जा सकता है कि ऋग्वेद के दर्शन अप्रबुद्ध अवस्था में नहीं हैं।

६. इस प्रकार प्रजापति और वाक् सूक्त यद्यपि दशम मण्डल के हैं, तो भी ऋग्वेद के दर्शन की पृष्ठभूमि को सरल, स्पष्ट और सीधे शब्दों में प्रस्तुत करने के कारण बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। अतः आगे इन दोनों का स्वरूप दे कर इन के सूक्तों का अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है।

प्रजापति हिरण्यगर्भ का स्वरूप

७. जैसा प्रथम भाग में ऋक्सूक्त की भूमिका में लिख चुके हैं ऋग्वेद में एक परमात्मा का वर्णन मुख्य है। उस के विविध नाम रूप और क्रियायें हैं। परमात्मा के स्वरूप का वर्णन करने वाला एक सूक्त यह हिरण्यगर्भ या प्रजापति सूक्त भी है। इस के अनुसार हिरण्यगर्भ

प्रजापति नामक तेजःस्वरूप परमात्मा सृष्टि के पहले से ही विद्यमान था। जब उसे सृष्टि की कामना हुई और उस ने आपस् या अप्रकेत सलिल में कामना रूपी बीज का वपन किया तब उस से उत्पन्न पांचों पृथिवी आदि भूतों का वह अधिष्ठाता बन गया। इस प्रकार वह द्यु लोक, अन्तरिक्षलोक और पृथिवी लोक को धारण करता है।(१॥

८. वह हिरण्यगर्भ प्रजापति गति और बल देने वाला है। सब प्राणी, पदार्थ और दिव्यगुणयुक्त जन उस के शासन में रहते हैं और उस के गुणों की प्रशंसा करते हैं। उस की शरण में जा कर मानव अमरपद को प्राप्त हो जाता है, और उस से विमुख जन आवागमन के मरणतुल्य दुःखों को भोगता है।(२)॥

९. वह हिरण्यगर्भ प्रजापति प्राणधारी, चेष्टाशील, विविध गतियों वाले, दो पैरों और चार पैरों वाले समस्त प्राणियों का नियन्ता है।(३)॥

१०. उस हिरण्यगर्भ प्रजापति के सामर्थ्य से ही नदियां, मार्ग शीत आदि के अवरोधक पर्वत, दिशाएं, विदिशाएं तथा धारक और पोषक दोनों शक्तियां उस के विपुल यश का गान करते हैं। (४)॥

११. वह हिरण्यगर्भ प्रजापति ही द्यु लोक, पृथिवीलोक, स्वर्लोक, नाक लोक और अन्तरिक्ष में विविध लोकों का निर्माता और अपनी-अपनी परिधि में धारण करने वाला है।(५)॥

१२. उस हिरण्यगर्भ प्रजापति का प्रत्यक्ष अनुभव सूर्य के प्रकाश से जाज्वल्यमान अन्तरिक्ष, द्यु लोक और पृथिवीलोक को देखने से अनायास ही हो जाता है। सूर्य उसी के अन्दर उदय होता है और वहीं चमकता है। (६)॥

१३. सृष्टि के प्रारम्भ में जिस समय अप्रकेत सलिल नामक जल ईश्वर की सृष्टिविषयक कामना रूपी बीज को धारण कर के गरमी उत्पन्न कर रहे थे और सर्वत्र व्यापक हो रहे थे तब भी यही प्रजापति समस्त उत्पद्यमान पदार्थों और जीवों आदि का प्राणभूत नियन्ता था। (७)॥

१४. उसी प्रजापति ने आपस् को सृष्टि के योग्य और संसारयज्ञ को सम्पन्न करने वाला बनाया। वह ही समस्त दिव्य गुणों वाले प्राणियों, पदार्थों और जीवों आदि का एक मात्र दिव्य गुण कर्म और स्वभाव वाला स्वामी है। (८)॥

१५. वह प्रजापति हिरण्यगर्भ द्युलोक और पृथिवी का रचयिता, व्यापक जलों को सृष्टिनिर्माण के योग्य बनाने वाला तथा शाश्वतिक नियमों का धारक है। वह स्तोताओं की हिंसा नहीं करता है। (९)॥

१६. इस प्रजापति से भिन्न अन्य कोई भी संसार में व्यापक नहीं है। वही सर्वत्र व्यापक है। हमारे यज्ञ करने पर वह हमारी अभिलषित कामनाओं को पूरा करता है। (१०)॥

१७. इस प्रकार के गुणों से युक्त सुखस्वरूप अनिर्वचनीय परमात्मा की हम सदा सेवा और उपासना करते रहें।

१८. आधुनिकों के मत में ऋग्वेद के काल में अभी प्रजापति हिरण्यगर्भ की कल्पना नहीं हुई थी। इसी लिये इस सूक्त में उसे प्रश्नवाचक सर्वनाम 'किम्' से द्योतित किया गया है। ऋषि आश्चर्यचकित हो कर जिज्ञासा करता है कि वह सुनहरी बीज कौन सा था जो सर्व प्रथम प्राणियों का राजा, द्युलोक और पृथिवी लोक का

धारक है (१)। आत्मा और बल का देने वाला, देवों और समस्त प्राणियों द्वारा सेवित वह कौन है जिस की छाया अमर है और मृत्यु भी जिस को है (२), जो सांस लेने और सोने वाले इस समस्त जगत् का— मनुष्यों और पशुओं का शासक है (३), ये बर्फीले पहाड़, महानदियों के साथ समुद्र, आकाशीय प्रदेश और दोनों भुजायें जिस के हैं (४), जिस ने द्यु लोक, पृथिवीलोक तथा अन्तरिक्ष को जमाया है, आकाश को नापा है (५), जिस को शब्द करने वाले दोनों लोक देखते हैं तथा जिस में निकला हुआ सूर्य चमकता है, (६)[1], जो उस समय देवों की एक मात्र आत्मा के रूप में प्रकट हुआ, जब बीज को लिए हुए और आग को पैदा करते हुए महान् जल संसार में छाए हुए थे (७); जिस ने अपनी शक्ति से शक्ति के धारक और यज्ञ के उत्पादक जलों को ऊपर से देखा, जो अकेला ही देवों का भी देव था (८), जो पृथिवी का उत्पादक, सच्चा, विश्वसनीय, आकाश का जनयिता और चमकते हुए महान् जलों में गर्भ स्थापन करने वाला है वह हमें चोट न पहुँचाये (९)। प्रजाओं का स्वामी वह सब का शासक है। उस के अतिरिक्त और कोई नहीं है। वह हमारे मन की कामनाओं को पूर्ण कर देता है और हमें धनवान् बना देता है (१०)।

१८ अ. श्री वालैस का विचार है कि इस सूक्त में हिरण्यगर्भ- सुनहरी बीज—सुनहरी प्रकाश की योनि—सूर्य को ब्रह्माण्ड की महान् शक्ति बताया है। इस शक्ति से दैवी और मानवी समस्त सत्ताएं और शक्तियां प्रादुर्भूत होती हैं। यह भाव आगे प्राप्त होने वाले संसार के स्रष्टा ब्रह्मा की रहस्यात्मक उद्भावना के समीपतम है।[2]

१. पीटर्सन ने इस मंत्र का अनुवाद नहीं किया है।
२. श्री वालैस—कौस्मोलौजी ऑफ दी वेद, पृ० ५० । ग्रिहिअवे० में उद्धृत।

१९. उपरोक्त भेद वेदार्थ और वेदविषयक दृष्टि में भेद के कारण है। आधुनिकों का विचार भारतीय परम्परा का विरोधी होने से सर्वथा अमान्य है। इस संग्रह के अध्ययन से प्राप्त हिरण्यगर्भ के स्वरूप की विष्णु, इन्द्र, पुरुष और वाक् सूक्तों के साथ संगति लग जाती है। वे सब एक विचार में बंधे हुए एक लक्ष्य की ओर बढ़ते हैं। सब ही परमात्मा का विभिन्न दृष्टियों से प्रतिपादन कर एकेश्वरवाद का प्रतिपादन कर रहे हैं। ब्राह्मणग्रन्थों ने भी हिरण्यगर्भ को प्रजापति कह कर इसी का प्रतिपादन किया है। ये सब सूक्त नासदीय सूक्त के चारों ओर घूमते हैं।

२०. अन्य धर्म पुस्तकों—कुरान, बाइबल, और अवैस्ता में भी इस प्रकार के कुछ वर्णन आते हैं, जहां ईश्वर के एवंविध सर्वोत्कृष्ट रूप का प्रतिपादन किया गया है।

वाक् का स्वरूप

२१. ऋग्वेद में इनी-गिनी आध्यात्मिकी ऋचाएँ हैं। वाक् सूक्त में ऐसी आठ ऋचाएं हैं। इन के ऋषि और देवता एक ही माने जाते हैं। और उन में उत्तम पुरुष का प्रयोग होता है (नि० ७।१-२)। प्रस्तुत सूक्त की ऋषिका और देवता आम्भृण वाक् है। इस सूक्त के अनुसार परमात्मा का एक रूप गतिशील वाणी है। इस वाणी की शक्ति से ही रुद्र नामक गरमी शब्द और प्राण आदि सृजक शक्तियां, वसु संज्ञक आच्छादक पृथिवी, अग्नि, वायु, अन्तरिक्ष, सूर्य, द्यु, चन्द्रमा और नक्षत्र तथा आदित्य नामक ग्रहण करने की शक्तियां—वर्ष के बारह महीने, प्रजा, पशु आदि इस वाक् की शक्ति से ही गति करती हैं। सब को सर्वत्र प्रकाशित करने वाली, आनन्द देने वाली और जीतने वाली विश्व देव नामक सृष्टि की सत्ताएं—सूर्य की किरणें

ऋतुएं, दिशाएं, विश् और सब कुछ भी उसी के अन्तर्गत हैं। उसी के द्वारा प्राण-अपान, प्राण-उदान, दिन-रात, शुक्ल-कृष्ण पक्ष और द्यु-पृथिवी आदि द्वन्द्व रूप धारक और सृजक शक्तियां अपना कार्य करती हैं। उसी के कारण जगत् की अग्नि और इन्द्र नामक क्रिया शक्ति तथा प्रकाश शक्ति और अश्विनौ नामक जगत् के धनात्मक और ऋणात्मक पक्ष अपनी-अपनी क्रियाएं सम्पन्न करते हैं। (१)॥

२२. सोम (–प्रकाश), रूपनिष्पादक, पोषक और सेवनीय तत्त्व उसी से अनुभूति लेते हैं। धर्मशील परोपकारी यजमान उसी से अपनी धन-सम्पति और भावनाओं को प्राप्त करता है।(२)॥

२३. वह ही पृथिवी आदि वसुओं को गतिशील कर नियमों में बाँधे रखती है। वह ही परोपकारियों की यज्ञमय प्रथम प्रेरणा है। विद्वान् उसे सर्वव्यापक शक्तियों और प्राणियों के व्यापारों का रक्षक बताते हैं। (३)॥

२४. उसी की शक्ति से प्राणी शब्द, दर्शन और प्राणन विषयों का उपभोग करता है। उस की इस शक्ति से अनभिज्ञ व्यक्ति भी उसी के आश्रय में रहते हैं। (४)॥

२५. दिव्य विद्वानों और साधारण जनों की वैखरी वाणी भी उसी से अनुभूति लेती है। मनुष्यों के गुण और स्वभाव उग्रता, ब्रह्मत्व, ऋषित्व और शोभन बुद्धि (–क्षत्रिय, ब्राह्मण, शूद्र और वैश्य) उसी के विधान से फलीभूत होते हैं। (५)॥

२६. वह ही वेदविरोधियों के क्रमिक क्षय के लिए उचित दण्ड को धारण करती है। मदमस्त झगड़ों अथवा ज्ञान की मस्ती में भी उसी की शक्ति काम करती है। वही द्युलोक और पृथिवी लोक में फैली हुई है। (६)॥

२७. लोकों के ऊपर द्यु लोक को उसी ने संरक्षक बनाया है। सृष्टिरचना में समर्थ जलों में सृजक शक्ति उसी वाक् की है। वह सर्वत्र व्याप्त है और अपनी महिमा से द्यु लोक को आच्छादित किए हुए है। (७)॥

२८. इस प्रकार वह सब लोकों में गति उत्पन्न करती है और वायु के समान तीव्र प्रचण्ड गति वाली है। अतः अपनी सामर्थ्य से वह पृथिवी अन्तरिक्ष और द्यु लोक से भी परे है। वाक् रूप परमात्मा की इतनी विशाल महिमा है। ८)॥

२९. संक्षेप में इस सूक्त में परमात्मा की सृजक शक्ति को वाक् रूप में वर्णित किया गया है। यह सृजक शक्ति यहां पर स्त्रीलिंग में वर्णित की गई है।

३०. वाक् सृष्टि की एक मात्र प्रथनशील प्रधान और श्रेष्ठ शक्ति है। यह शक्ति परमात्मा की अपनी ही है और समस्त प्राणों और क्रियाओं की धारक है। यह समस्त जगत् उसी की रचना है। यहां सब कुछ उसी के द्वारा सम्पन्न होता है। वह ही समस्त ज्ञान का स्रोत है। उसी से ब्रह्म की प्राप्ति सम्भव है। इस प्रकार इस सूक्त में वाक् के अमूर्त या सूक्ष्म रूप का विचार प्रस्तुत किया गया है जो अन्तोगत्वा परमात्मा ही है। सम्भवतः इस सूक्त ने ही पीछे के शब्दब्रह्म के सिद्धान्त को जन्म दिया है।

३१. ब्राह्मण ग्रन्थों ने वाक् के अनेकविध अर्थ दे कर इस दृष्टि को पुष्ट किया है। ये अर्थ गौः, धेनुः, शबली, सरस्वती, सरस्वती पावीरवी, नदी. समुद्र, सरिर छन्दस्, सोमक्रयणी गौ, साहस्री गौ, ये लोक और ये वेद, सिनीवाली, सावित्री सार्पराज्ञी, सुपर्णी, शतपदी, रेवती, अषाढ़ा, पथ्या स्वस्ति, जूः, वेकुरा, धिषणा, मति,

बृहती, बृहस्पति, राष्ट्री, पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक, लोकम्पृणा इष्टका, विराट्, विश्वामित्र, विश्वकर्मा ऋषि, संस्तुत छन्दः,अनुष्टुप्, महिषी, ऋक्, ऋग्वेद, साम, ब्रह्म, सुब्रह्मण्या, उक्थ, शस्त्र, शंस, रथन्तर, त्वष्टा, अर्बुद, भर्ग, दध्यङ्, आथर्वण, प्रजापति, अग्नि, वायु, वात, यज्ञ, चन्द्रमा, वज्र, सर्वे देवाः, रेतस्, योनि आदि आदि। देखो वैको०।

३२. आधुनिकों का इस सूक्त का अनुवाद पर्याप्त भिन्न है। उस के अनुरूप वाक् के स्वरूप में कुछ अन्तर आ जाता है। इस दृष्टि से वाक् रुद्रों, वसुओं, आदित्यों और समस्त देवगणों के साथ घूमती है। वह दोनों मित्र और वरुण, इन्द्र और अग्नि तथा अश्विनों को धारण करती है (१)। वह सोम की धारा, त्वष्टा, पूषा और भग को धारण करती है; आहुतियां देने वाले यजमान, धर्मशील गृहस्थ और सोम का अभिषव करने वाले को धन देती है (२)। वह रानी, धनों को इकट्ठा करने वाली है और धार्मिकों को सब से पहले जान लेने वाली है जिस के कारण देवता उसे सर्वत्र प्रवेश करा कर बसाते हुए अनेकों प्रदेशों में रखते हैं (३)। जो कोई भी देखता या सांस लेता या कहे हुए को सुनता है वह वाक् के कारण ही खाना खाता है। लोग इसे नहीं जानते हैं; परन्तु उस के नियंत्रण-में हैं। वह घोषणा करती है कि तुम सब सुनो यह सत्य बात है (४। देवों और मनुष्यों को प्रीतिकर सब कुछ को वाक् ही कहती और बोलती है। जिस से वह प्रीति करती है उसे शक्तिसम्पन्न, ब्रह्मन्, धर्मप्रवक्ता (=ऋषि) और बुद्धिमान् बना देती है (५)। वह ही रुद्र के लिए धनुष् चलाती है जिस से उस का बाण ईश्वर के द्वेषियों को मार दे। वह ही मनुष्यों में झगड़े करती है और द्युलोक तथा पृथिवी लोक में व्याप्त है (६)। उस ने इस समस्त संसार के ऊपर अपने पिता को रक्खा हुआ है। उस का रहने का स्थान समुद्रों में जलों में है। वहां से वह सब लोकों

में फैल जाती है और अपने सिर से आकाश को छूती है (७)। वह समस्त लोकों को वश में कर के वायु के समान बहती है और द्युलोक को भी और पृथिवीलोक को भी पार कर जाती है। ऐसी उस की महिमा है (८)।

३३. श्री वालैस ने अपने ग्रन्थ 'कौस्मोलौजी औफ दी ऋग्वेद' पृ० ८५ पर लिखा है कि 'वाक् का अकेली का वर्णन दो सूक्तों में पाया जाता है- ऋ० १०।७१ और १०।१२५। पहले सूक्त के अनुसार वाक् पद का मूल प्रयोग सूक्त या प्रार्थना के शब्द तथा यज्ञ के समय पृथिवी और स्वर्ग में व्यवहार के साधन का द्योतक था। दूसरे सूक्त में यह पद प्रकृतिगत विभिन्न दृश्यों के यज्ञ से सतत (सामञ्जस्य या) तादात्म्य को बताता है। प्रकृति में जहां-कहीं भी शब्द है—मेघ का गर्जन, संसार के नूतन जन्म पर आनन्द के गानों के साथ उषःकाल में प्राणियों के जागरण—सब कुछ इस वाक् में इसी प्रकार अन्तर्भूत हो जाते हैं जिस प्रकार बृहस्पति को समस्त सत्ताओं का धारक कहा गया है। इस प्रकार यह वाक् संसार की एकता के उस भाव का एक दूसरा नाम है जो इस संहिता के अन्यों की अपेक्षा कुछ अधिक मात्रा में अमूर्त भावों के प्रतिपादक समस्त सूक्तों के रहस्यात्मक विचारों को प्रकर्ष पर ले जाता हैं। (ग्रिहिअवे० से साभार गृहीत)।

३४. डा० फतह सिंह ने लिखा है कि ब्रह्म जिस महिमा (शक्ति) द्वारा अपने को व्यक्त करता है उस शक्ति की अभिव्यक्ति के साथ सु या सुम्, हु या हुम् अथवा उ या उम् ध्वनि का भी सम्बन्ध है। अतः इस शक्ति को "वाक्" कहा है। मानव द्वारा उच्चारित 'वाक्' स्थूल है और ब्रह्म की शक्ति 'वाक्' सूक्ष्म और अव्यक्त है। आगम ग्रन्थों में नाद, शब्द, स्व, स्वन आदि नाम दे कर इस का बहुत विस्तृत वर्णन किया गया है। वेद और आगमों

के इस वर्णन में घनिष्ठ साम्य है। आगमों में यह परं ज्योति है जो अपनी माया से बहुधा हो जाती है। यही सारे जगत् को धारण करती है शैवागमों के अनुसार शिवकी ज्ञान शक्ति ही सारी सृष्टि का निमित्त कारण है। (देखो वैद० २५–२८)।

३५. वाक् का परमात्मा से और उस की सृजक शक्तियों से तादात्म्य प्रतिपादक यह स्वरूप कुछ विकृत रूप में कुरान के सुरांह २ (-गाय[1]) के कुछ अंशों में भी पाया जाता है। 'विज्डम औफ सौलोमन' और 'वायस औफ थण्डर' के वर्णनों से भी इस का साम्य बताया जाता है। सैण्ट जौन के उपदेश (न्यू टैस्टैमैण्ट) के प्रथम अध्याय के प्रारम्भिक भाग पर तो इस की छाप स्पष्ट है[2]। यूनान में भी इस प्रकार का भाव 'लोगोस्' के अन्तर्गत मिलता है।

---

१. यहां पर 'गाय' वाणी की वाचक है। वेद में भी 'गो' और 'धेनु' पद वाणी के वाचक हैं। ऋ० १०।७१।५ में अफल वाणी को अधेनु कहा है।

२. देखो दी होली बाइबल–ब्रिटिश एण्ड फौरेन बाइबल सूसाइटी, लण्डन, १९३३, पृ० ८४०।

ओ३म्

ऋ०१०।१२१-(हिरण्यगर्भ)प्रजापतिसूक्तम्

ऋषिः—हिरण्यगर्भः प्राजापत्यः। देवता—कः (प्रजापतिः)। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

संहितापाठः	पदपाठः
४४. हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।	हिरण्यऽगर्भः। सम्। अवर्तत। अग्रे। भूतस्य। जातः। पतिः। एकः। आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां	सः। दाधार। पृथिवीम्। द्याम्। उत। इमाम्।
कस्मै देवाय हविषा विधेम*॥१॥	कस्मै। देवाय। हविषा। विधेम॥१॥

सायणभाष्यम्—'हिरण्यगर्भ' इति दशर्चं नवमं सूक्तं प्रजापतिपुत्रस्य हिरण्यगर्भाख्यस्यार्षं त्रैष्टुभम्। कशब्दाभिधेयः प्रजापतिर्देवता। तथा चानुक्रान्तम्—'हिरण्यगर्भो दश हिरण्यगर्भः प्राजापत्यः कायम्' इति। गतः सूक्तविनियोगः। प्राजापत्यस्य पशोर्वपापुरोडाशहविषां क्रमेणादितस्तिस्रोऽनुवाक्यास्ततस्तिस्रो याज्याः। सूत्रितं च—'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्र इति षट् प्राजापत्याः' (आश्व० श्रौ० ३।८) इति। वरुणप्रघासेषु कायस्य हविषो हिरण्यगर्भ इत्येषा याज्या। सूत्रितं च—'कया नश्चित्र आ भुवद्धिरण्यगर्भः समवर्तताग्र इति प्रतिप्रस्थाता वाजिने तृतीयः' (आश्व० श्रौ० २।१७) इति।

(ii) हिरण्यगर्भः हिरण्मयस्याण्डस्य गर्भभूतः प्रजापतिर्हिरण्यगर्भः। तथा च तैत्तिरीयकं—'प्रजापतिर्वै हिरण्यगर्भः प्रजापतेरनुरूपत्वाय' (तै० सं०

---

* अयं मन्त्रः य० १३।४; २३।१; २५।१०; अथर्व० ४।२।७; तैसं० ४।१।८।३; २।८।२; काय० १४।४; २५।१; २७।२४ स्थलेष्वप्युपलभ्यते।

५।५।१।२) इति । यद्वा हिरण्मयोऽण्डो गर्भवद् यस्योदरे वर्तते सोऽसौ सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ इत्युच्यते। अग्रे प्रपञ्चोत्पत्तेः प्राक् समवर्तत। मायाध्यक्षात् सिसृक्षोः परमात्मनः समजायत। यद्यपि परमात्मैव हिरण्यगर्भः तथापि तदुपाधिभूतानां वियदादीनां ब्रह्मण उत्पत्तेस्तदुपहितोऽप्युत्पन्न इत्युच्यते। स च जातः जातमात्र एव एकः अद्वितीयः सन् भूतस्य विकारजातस्य ब्रह्माण्डादेः सर्वस्य जगतः पतिः ईश्वरः आसीत्। न केवलं पतिरासीदेव अपि तर्हि सः हिरण्यगर्भः पृथिवीं विस्तीर्णां द्यां दिवम् उत अपि च इमाम् अस्माभिर्दृश्यमानां पुरोवर्तिनीमिमां भूमिम्। यद्वा पृथिवी-त्यन्तरिक्षनाम। अन्तरिक्षं दिवं भूमिं च दाधार धारयति॥ 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (पा० ३।४।६) इति सार्वकालिको लिट्। तुजादित्वादभ्यासदीर्घः॥

(iii) कस्मै। अत्र किंशब्दोऽनिर्ज्ञातस्वरूपत्वात् प्रजापतौ वर्तते। यद्वा। सृष्ट्यर्थं कामयत इति कः॥ कमेर्डप्रत्ययः॥ यद्वा। कं सुखम्। तद्रूपत्वात् क इत्युच्यते। अथवा इन्द्रेण पृष्टः प्रजापतिर्मदीयं महत्त्वं तुभ्यं प्रदायाहं कः कीदृशः स्यामित्युक्तवान्। स इन्द्रः प्रत्यूचे यदीदं ब्रवीष्यहं कः स्यामिति तदेव त्वं भवेति। अतः कारणात् क इति प्रजापतिराख्यायते। 'इन्द्रो वै वृत्रं हत्वा सर्वा विजितीर्विजित्याब्रवीत्' (ऐ० ३।२१) इत्यादिकं ब्राह्मणमत्रानुसंधेयम्॥ यदासौ किंशब्दस्तदा सर्वनामत्वात् स्मैभावः सिद्धः। यदा तु यौगिकस्तदा व्यत्ययेनेति द्रष्टव्यम्। 'सावेकाचः०' (पा० ६।१।१६५) इति प्राप्तस्य 'न गोश्वन्साववर्ण०' (पा० ६।१।१८२) इति प्रतिषेधः। 'क्रियाग्रहणं कर्त्तव्यम्' इति कर्मणः संप्रदानत्वाच्चतुर्थी॥ कं प्रजापतिं देवाय देवं दानादिगुणयुक्तं हविषा प्राजापत्यस्य पशोर्वपारूपेणैककपालात्मकेन[2] पुरोडाशेन वा विधेम वयमृत्विजः परिचरेम॥ विधतिः परिचरणकर्मा॥ १॥ (४४)॥

हिन्दी अनुवाद—[अग्रे] (सृष्टि की रचना से) पहले [हिरण्यगर्भः] तेजःस्वरूप परमात्मा [समवर्तत] विद्यमान था। [जातः] (पहले से ही)

---

१ पा० ६।१।७.

२ केषुचिद् हस्तलेखेषु 'वपारूपेणैककपालाख्येन' इति पाठ उपलभ्यते।

वर्तमान (वह परमात्मा) [भूतस्य] (पृथिवी आदि पाँच) तत्त्वों का [एकः] एकमात्र [पतिः] अधिष्ठाता [आसीत्] हो गया। [सः] उस ने (ही) [द्याम्] द्युलोक [पृथिवीम्] (विस्तृत) अन्तरिक्ष लोक [उत] और [इमाम्] इस पृथिवी लोक को [दाधार] धारण किया हुआ है। (उस) [देवाय] दिव्य गुणों से युक्त [कस्मै] किम् (नामक परमात्मा) की (हम) [हविषा] हवियों द्वारा [विधेम] उपासना किया करें ॥१॥ (४४) ॥

टिप्पणियां—१. हिरण्यगर्भः—सा०—१. सुनहरी अण्डे का गर्भ बना हुआ प्रजापति (अर्थात् सुनहरी अण्डे से उत्पन्न प्रजापति) २. सुनहरी अण्डे को गर्भ के समान अपने उदर में धारण करने वाला सूत्रात्मा (प्रजापति)। महो०—हिरण्यपुरुष रूपी ब्रह्माण्ड में गर्भरूप में स्थित प्रजापति। दस०—१. परमेश्वर (ऋभाभू० १४६); २. सूर्य आदि तेज वाले पदार्थों का धारक परमात्मा ३. सूर्य आदि कारणरूप पदार्थों में गर्भ के समान व्यापक स्तुति करने योग्य। पीटर्सन—सोने का बीज (गोल्डसीड)[1]।

(ii) भारतीय साहित्य में बहुधा सृष्टि की उत्पत्ति हिरण्यगर्भ से बताई गई है। मनु का कहना है—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥
ततः स्वयंभूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्।
महाभूतादिवृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः ॥
सोऽसावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः।
सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ ॥
सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥
तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्।
तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥ मनु० १।५–९

१. विको० १२९९ का० ३ में हिरण्यगर्भः पर टिप्पणी देखें। अवे० ४।२।८—आपो वत्सं जनयन्तीर्गर्भमग्रे समैरयन्। तस्योत जायमानस्योल्ब आसीद्धिरण्ययः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ भी देखें।

इस में सुवर्ण के अण्डे का उल्लेख हुआ है[1]। पुराणों में भी इस अण्डे का वर्णन पाया जाता है। पुराणों के एतद्विषयक वर्णन सांख्य मत के अनुगामी कहे जा सकते हैं। सांख्य के अनुसार पुरुष, जीव और प्रकृति से ही सृष्टि की उत्पत्ति होती है। मनु के उपर्युक्त वर्णन में भी इस हैम अण्ड को हजारों सूर्यों के तुल्य प्रकाश वाला ब्रह्म का अपस् रूप प्रकृति में कामना रूपी ब्रह्म का उत्पादक बीज कहा गया है। यह बीज ब्रह्म की कामना मात्र होने से ब्रह्म ही है। वह स्वयं ही जगत् रचना का प्रथम रेतस् है (ऋ० १०।१२९।४)। रेतस् यज्ञ और तेज का द्योतक है। हिरण्य[2] भी तेजस् का पर्याय है। अतः हिरण्यगर्भः का अर्थ सृष्टि की रचना की कामना से युक्त तेजःस्वरूप परमात्मा ही यहाँ अभिप्रेत है। बाईबल (जेनेसिस १।३) से भी यही भाव निकलता है। तु० क० 'ईश्वर ने कहा—प्रकाश हो जाए और वहाँ प्रकाश हो गया।'

२. अग्रे—इस पद से ऋ० १०।१२९।२ में वर्णित 'तर्हि' के काल का निर्देश किया गया है जिस का भाव उस से पहले मन्त्र में दिया गया है—

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् ॥ १ ॥
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास ॥ २ ॥

(ii) अतः हिन्दी अनुवाद में 'सृष्टि की रचना से पहले' अर्थात् प्रलय काल में—भाव लिया गया है। सायण और दयानन्द सरस्वती का भी यही मत है। पीटर्सन ने 'प्रारम्भ' अर्थ किया है और 'समवर्तत' का 'पैदा हुआ।' हिरण्यगर्भ के तथा ऊपर के व्याख्यान की दृष्टि में तथा शेष समस्त सूक्त के भाव की दृष्टि में ये दोनों ही अर्थ स्वीकार्य नहीं हैं। सम् + √वृत् धातु का सामान्य अर्थ 'विद्यमान होना' है 'सत्ता में आना' नहीं है। पहले मन्त्र ४२।४ में दिखाए अनुसार यहाँ पर 'अग्रे' का अर्थ 'श्रेष्ठ' मान कर इसे 'हिरण्यगर्भः' का विशेषक विधेय भी लिया जा सकता है।

---

१ देखो पृ० ३ पर पाटि० १।

२ ब्राह्मणग्रन्थों में इस के अर्थ प्राण, अमृत, आयु, तेज, वर्चस्, चन्द्र, ज्योति, यश, सत्य आदि दिए हैं।

३. भूतस्य—पीटर्सन—प्रत्येक प्राणी। सा०—विकार रूप ब्रह्माण्ड आदि सम्पूर्ण जगत्। द० स०—ऋभाभू० १४६ में इसे जातः=जातस्य का विशेष्य मान कर 'उत्पन्न हुआ सब जगत्' अर्थ करते हैं। य० २३।१ में 'उत्पन्न कार्य रूप जगत्' अर्थ करते हुए यहाँ और यजुर्वेद में सर्वत्र 'जातः' को पृथक्, पतिः और हिरण्यगर्भः का विशेषण माना है। सांख्यदर्शन १।६१ के अनुसार ईश्वर, जीव और प्रकृति से सृष्टि होती है। वहाँ प्रकृति से महान्, उस से अहङ्कार, उस से पाँच तन्मात्राओं और उन से पाँच स्थूल भूतों की उत्पत्ति होती है। अतः 'भूतस्य' से इन पाँच भूतों का ही वर्णन अभिप्रेत प्रतीत होता है। ये भूत या तत्त्व पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश हैं। यहाँ प्रकृति के तीन गुणों, महान् और अहङ्कार का वर्णन भी माना जा सकता है।

४. जातः—पीटर्सन—उत्पन्न हुआ। सा०—उत्पन्न होते ही। दस०—१. जनक=रचने वाला (य० १३।४) २. प्रादुर्भूत, प्रसिद्ध (हि० अ०) (य० २३।१) ३. षष्ठ्यर्थ में प्रथमा मान कर भूतस्य का विशेषण—प्रादुर्भूत, उत्पन्न (ऋभाभू० १४६; य० २५।१०)।

(ii) अनुवाद में 'समवर्तत' का अर्थ 'आनीदवातं स्वधया तदेकम्' (ऋ० १।१२६।२) के आधार पर 'वर्तमान' किया गया है। जो पहले ही वर्तमान है, उस के सत्ता में आने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता है। अतः भाष्यकारों और अनुवादकों के हिरण्यगर्भ पक्ष में इस के उपरोक्त अर्थ अमान्य है। साहित्य में √जन् का अर्थ 'सत्ता में आया हुआ, वर्तमान' भी पाया जाता है। ऊपर मन्त्र ७।२ भी देखें।

५. पतिः—पीटर्सन—स्वामी, अधिपति। सा०—ईश्वर। दस०—पालक। यह पद √पा रक्षा करना से बनता है। वस्तु को नियमपूर्वक सञ्चालित करना अथवा उसे नियमों की परिधि में बाँधे रखना भी रक्षा करना है। अतः अनुवाद में अधिष्ठातापद का प्रयोग किया गया है।

६. एकः—एति गच्छतीति एकः। √इ+कन्। उ० ३।४३। गतिशील, कर्मठ। अतः अन्य की सहायता की अपेक्षा न करने वाला, अकेला, अपने आप। परमात्मा जब सृष्टि की इच्छा करता है तब उस में तपस्=तेज और गति

उत्पन्न होते हैं (ऋ० १०।१२६।३)। ये तेज और गति ही ऋग्वेद में परमात्मा के मन के सर्वप्रथम यज्ञमय प्रकाशशील तेजःपुञ्ज और गतिमय रेतस् कहे गए हैं (ऋ० १०।१२६।४)। अतः यहाँ पर 'गतिशील एकमात्र अपने आप' का भाव अभिप्रेत होता है।

७. पृथिवीं द्यामुतेमाम्—पीटर्सन—पृथिवी और आकाश को। ये 'इमाम्' को छोड़ देते हैं। सा०—१. विस्तृत द्युलोक और इस प्रत्यक्ष भूमि को। २. अन्तरिक्ष, द्युलोक और भूमि को। दस०—१. पृथिवी से ले के सूर्यपर्यन्त समस्त जगत् को (ऋभाभू० १४९–१५०)। २. विस्तृत भूमि और सूर्य आदि की सृष्टि (य० २३।१)। ३. प्रकाशरहित भूगोल आदि, प्रकाशमय सूर्य आदि और वर्तमान सृष्टि (य० १३।४) ४. अपनी आकर्षण शक्ति से इस पृथिवी, प्रकाश और सृष्टि को। सा० का दूसरा अर्थ ही भाव की दृष्टि में प्रकरण में अधिक सङ्गत है।

८. कस्मै—सा०—१. अनिर्ज्ञात स्वरूप वाला प्रजापति। २. सृष्टि रचना की इच्छा करने वाला। ३. सुखस्वरूप। ४. अनिर्देश्य। दस०–सुखस्वरूप सुख देने वाला प्रजापति।

(ii) ब्राह्मणग्रन्थों[1] ने भी इन्हीं अर्थों को ग्रहण किया है। परन्तु आधुनिक सम्प्रदाय इस अर्थ को स्वीकार करने के लिए तय्यार नहीं। वे ब्राह्मण ग्रन्थों के व्याख्यानों को बहुधा काल्पनिक मानते हैं और उन्हें मूल वेदार्थ से बहुत दूर समझते हैं। 'कस्मै' पर उन का कहना है कि यह प्रश्नवाचक सर्वनाम किम् का चतुर्थी एक वचन है। तदनुरूप ही इस का अर्थ होना चाहिए। यदि ऋषि को प्रजापति अर्थ अभिप्रेत होता तो वह पुल्लिंग शब्द 'क' के चतुर्थी रूप 'काय' का प्रयोग करता। साथ ही ऋग्वेद का धर्म बहुदेवतावादी है। वहाँ अभी एक भावात्मक सत्ता की पूर्णतः कल्पना प्रादुर्भूत नहीं हुई है। पदार्थों की स्थिति और उन के आश्चर्यजनक कार्यों को देख कर ऋषियों को विचिकित्सा—जिज्ञासा उत्पन्न होती है, परन्तु वे निर्णय करने में समर्थ नहीं हो पाते हैं। अतः 'किम्' सर्वनाम का प्रयोग करते हैं। यहाँ भी यही स्थिति है। ऋषि सृष्टि का

१. वहाँ इस के प्राण, कौन, शिर, जल, सुख आदि अर्थ भी मिलते हैं।

वर्णन कर के अपने द्वारा उपास्यदेव की जानकारी के लिए प्रश्न करता है। अतः बहुत से आधुनिक विद्वान् 'कस्मै' का अर्थ 'किस' करते हैं। (देखो मैक्समूलर वैदिक हिम्ज़ १, पृ० ११–१३; हौपकिन्ज़, रिलीजन्ज़ औफ इण्डिया पृ० १८२; भण्डारकर कौमोमोरेशन वाल्यूम पूना १९१७ में मैक्डोनल का लेख, विको० २४० का० २ में क २ आदि)।

(iii) परन्तु यह मत स्वीकार्य नहीं। प्रजापति का स्वरूप अनिर्वचनीय माना गया है। अनिर्वचनीय वस्तु का द्योतन एक मात्र 'किम्' से किया जा सकता है[1]। ईश्वर न स्त्री है, न पुमान् और न नपुंसक। इस भाव को सामान्यतः नपुंसक लिंग के प्रयोग से व्यक्त किया जाता है, जैसा 'एकं सत्' और 'तत् एकम्' आदि में लक्षित होता है। (देखो ऋग्वेद का धर्म नामक लेख)। तु० क० सायण का लेख—'यदासौ किंशब्दस्तदा सर्वनामत्वात् स्मैभावः सिद्धः।'

(iv) वैदिक प्रयोगों में बहुधा देखने में आता है कि वे लौकिक व्याकरण की कसौटी पर पूरे नहीं उतरते हैं। पाणिनि ने इस स्थिति का सामना 'बहुलं छन्दसि', 'व्यत्ययो बहुलम्' 'विभाषा छन्दसि' और छन्दस् के लिए पृथक् नियमों की रचना कर के किया है। जिस प्रकार पाली और अन्य कतिपय विदेशी भाषाओं में रूपसमृद्धि पाई जाती है, उसी प्रकार वैदिक भाषा में भी है। यहाँ पर 'विश्वाय' (ऋ० १।५०।१), 'विश्वात्' (ऋ० १।१८९।६) का प्रयोग विश्वस्मै और विश्वस्मात् के साथ-साथ हुआ है। ऋ० १।१०८।१० के परमस्याम्, मध्यमस्याम् और अवमस्याम् में संज्ञापदों में सर्वनामपदों के विभक्तिचिह्न प्रयुक्त किए गए हैं।

(v) प्रत्येक पद उस में प्रयुक्त अक्षरों के मूल अर्थों से सम्बद्ध अर्थों का वाचक होता है। यदि इस सिद्धान्त को न माना जाए तो शब्दों की अर्थ-योजना में अव्यवस्था हो जायगी। ऋग्वेद की भाषा परम कृत्रिम है। वहाँ प्रत्येक अक्षर, पद और रूप का प्रयोग अर्थविशेषों की दृष्टि में किया गया

---

१. वैए० में डा० फतहसिंह ने ऐ० और तै० की आख्यायिकाओं के आधार पर इसी पक्ष को प्रतिपादित किया है। देखो कः (२२४) पद। उन का वैदिक दर्शन भी देखें।

प्रतीत होता है। काय के प्रयोग से कस्मै के स्, म् और ऐ अक्षरों से द्योतित भावों को प्राप्त करना सम्भव नहीं था। वैसे भी सर्वनाम और उन के रूप नामों के अन्तर्गत आते हैं। (देखो वेमाप० में अ० ४,६; १३,१५,२५, ३०,३१ के उपयुक्त स्थल)।

(vi) वैदिक धर्म को बहुदेवतावादी और उन देवताओं से क्रमशः ऋग्वेद के मन्त्रों में एकेश्वरवाद के विकास के मत भी ऋग्वेद की अन्तःसाक्षी के विरुद्ध हैं। प्रकृत सूक्त में भी ऋषि प्रत्येक मन्त्र में परमात्मा की विशेषताओं का वर्णन करता है। इस परमात्मा को प्रथम मन्त्र में हिरण्यगर्भ कहा है और अन्तिम मन्त्र में प्रजापति। प्रत्येक मन्त्र की टेक (— कस्मै देवाय हविषा विधेम) में इसी हिरण्यगर्भ प्रजापति को उपास्य देव के रूप में वर्णित किया गया है। इस निष्कर्ष की पुष्टि तैसं० ७।५।१६।१७ में इस सूक्त के पहले दो मन्त्रों के साथ 'उपयामगृहीतोऽसि प्रजापतये त्वा जुष्टं गृह्णामि तस्य ते—··· महिमा··· रूपम्···· तेजः, तस्मै त्वा महिम्ने प्रजापतये स्वाहा' के लेखों तथा य० २३ में सूक्त के प्रथम मन्त्र के पश्चात् दूसरे मन्त्र के उपयामगृहीतोऽसि आदि लेख से भी होती है। अतः ऋषियों ने प्रजापति के अनिर्वचनीय स्वरूप का निर्णय कर के ही 'तदेकम्', 'एकं सत्', 'कस्मै' 'तत्' आदि पदों का प्रयोग किया था।

(vii) अवे० सर्वानुक्रमणी ने इस सूक्त के मन्त्रों का देवता आत्मा दिया है (देखो ४।२)।[1]

९. हविषा—पीटर्सन—आहूति। सा०—प्राजापत्य पशु की चर्बी के एककपाल का पुरोडाश[2]। दस०—१. आत्मा आदि सामग्री से (य० १३।४) २. आत्मा आदि सब कुछ के दान (=अर्पण) से (य० २३।१) ३. होम करने योग्य पदार्थों से (य० २५।१०)। प्रेम से (सप्र० ८।१३४)

---

१. संवि० ४; सप्र० (श०) ९१; २८७; ३२१; ऋभाभू० १४९; तांब्रा० ९।९।१२, नि० १०।२३ में भी इस मन्त्र के व्याख्यान देखें।

२. देवताओं से सम्बद्ध कपालों की संख्या तत्तद्देवता से सम्बन्धित अक्षरों, स्वरूपों आदि की द्योतक है।

(ii) हूयते इति हविः (उ० २।१०८) ।√हू के अर्थ दान, अदन और आदान हैं। यहाँ पर 'परमात्मा को अर्पण कर, तदत्त पदार्थ आदि को स्वीकार कर उपभोग करना रूप कर्म द्वारा' भाव अभिप्रेत है।

११. विधेम—√विध् (तुदादि०) परिचरण=सेवा करना। उपासना करना से विधिलिङ् उत्तमपुरुष बहुवचन।

संहितापाठः	पदपाठः
४५. य आत्मदा बलदा यस्य विश्व	यः। आत्मऽदाः। बलऽदाः। यस्य। विश्वे।
उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।	उपऽआसते। प्रऽशिषम्। यस्य। देवाः।
यस्यच्छायामृतं यस्य मृत्युः	यस्य। छाया। अमृतम्। यस्य। मृत्युः।
कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥२॥ ॥४५॥	कस्मै। देवाय। हविषा। विधेम ॥२॥४५॥

अयं मन्त्रो य० २५।१३; अवे० ४।२।१; १३।३।२४; काय० २७।१७; तैसं० ४।१।८।४; ७।५।१७।१ स्थलेष्वप्युपलभ्यते। दयानन्दसरस्वतिना च संवि० ५, आभि० (श०) ७१, ऋभाभू० ७ स्थलेषु व्याख्यातः।

सायणभाष्यम्—यः प्रजापतिः आत्मदाः आत्मनां दाता। आत्मानो हि सर्वे तस्मात् परमात्मन उत्पद्यन्ते। यथाग्नेः सकाशाद् विस्फुलिङ्गा जायन्ते तद्वत्। यद्वा आत्मनां शोधयिता॥ 'दैप् शोधने'। 'आतो मनिन्०' (पा० ३।२।७४) इति विच्॥ बलदाः बलस्य च दाता शोधयिता वा। यस्य च प्रशिषं प्रकृष्टं शासनमाज्ञां विश्वे सर्वे प्राणिनः उपासते प्रार्थयन्ते सेवन्ते वा॥ 'शासु अनुशिष्टौ'। 'शास इत्०' (पा० ६।४।३४) इत्युपधाया इत्वम्। 'शासिवसिघसीनां च' (पा० ८।३।६०) इति षत्वम्। कृदुत्तरपद-प्रकृतिस्वरत्वम्[1]। आसेरनुदात्तेत्वाल्लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरः। 'तिङ्ङि

१. पा० ६।२।१३९।

चोदात्तवति' (पा० ८।१।७१) इति गतिरनुदात्ता ॥ तथा देवाः अपि यस्य प्रशासनमुपासते।

(ii) अपि च अमृतम् अमृतत्वम् । भावप्रधानो निर्देशः । यद्वा । 'अमृतम् । मरणं नास्त्यस्मिन्नित्यमृतं सुधा ॥ बहुव्रीहौ 'नञो जरमरमित्रमृताः' (पा० ६।२।११६) इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ॥ तदपि यस्य प्रजापतेः छाया छायेव वर्ति भवति। मृत्युः यमश्च प्राणापहारी छायेव भवति। तस्मै कस्मै देवाय इत्यादि समानं पूर्वेण हविषा पुरोडाशात्मनेति तु विशेषः ॥ २ ॥ (४५) ॥

हिन्दी अनुवाद—[यः] जो [आत्मदाः] गति देने वाला (तथा) [बलदाः] बल प्रदान करने वाला है । [यस्य] जिस के [प्रशिषम्] अनुशासन की [विश्वे] (सर्वत्र विद्यमान प्राणी और पदार्थ आदि) सब कोई (और) [यस्य] जिस के (प्रशिषम् = गुणों की) [देवाः] दिव्य गुणों से सम्पन्न जन [उपासते] सेवा करते हैं, [यस्य] जिस का [छाया] आश्रय [अमृतम्] अमरता (देने वाला) (और) [यस्य] जिस का (छाया—खण्डन = न मानना) [मृत्युः] मरणतुल्य (दुःख) है (ऐसे) [देवाय] दिव्य गुणों वाले [कस्मै] सुखस्वरूप (परमात्मा) की [हविषा] हवियों से [विधेम] उपासना करते रहें ॥ २ ॥ (४५) ॥

टिप्पणियां—१. यः—यत् पु० प्रथमा एक व० । यजति सर्वैः पदार्थैः सङ्गतो भवतीति यत् । ब्रह्मणो नामानि त्रयाणि (—त्यद् । तद् । यद् ।) त्यदादीनां सर्वनामसंज्ञा भवति तेन सामान्यवाचकास्त्यदादयः । (उ० १।१३ पर दभा०) । अतः यह पद 'यजनीय, पूजनीय, सङ्गति करने योग्य परमात्मा' भाव का द्योतक है । इस पद को √यत् प्रयत्न करना से भी बनाया जा सकता है—यतते प्रयत्नवान् भवति इति यः । अतः प्रयत्नशील, सृष्टि करने और उस की रक्षा करने में व्यापृत । इन दोनों प्रकार के गुणों से युक्त परमात्मा ।

---

२. प्राथमिकवेदसंग्रहे मृतम् पाठः ।

(ii) यद्यपि चिरकाल से सर्वनामों को नामों से पृथक् माना गया है परन्तु सुदूर प्राचीन काल में पदों के दो ही विभाग आख्यात और उनसे निष्पन्न नाम माने जाते थे। इसी कारण तद् आदि सर्वनामों को संज्ञाओं के समान व्युत्पत्तियां और उन के समान ही संहिताओं में प्रयोग पाए जाते हैं (देखो वेभाप० अध्याय ४)।

२. आत्मऽदाः—सा०—१. (क्योंकि सब आत्मा परमात्मा से ही उत्पन्न होती हैं इस लिए) आत्माओं का देने वाला २. आत्माओं को पवित्र, शुद्ध करने वाला। उव्वट, मही०—उपासकों को सायुज्य देने वाला। दस०—१. आत्मज्ञान का दाता २. आत्मा का देने वाला, जीवप्राणदाता (आअवि० २।४८); ३. विद्या विज्ञानप्रद (३ अ—अपनी आत्मा का ज्ञान देने वाला, सब सत्य विद्या और सत्य सुखों की प्राप्ति कराने वाला—हि० अ०) (ऋभाभू० ७-८)। पीटर्सन—श्वास का देने वाला।

(ii) आत्मन् पद गत्यर्थक √अत् से बनता है[1]—अतति सततं गच्छति व्याप्नोति वा स आत्मा। उ० ४।१५३ (दभा० भी देखें)। इसी कारण ब्राह्मणग्रन्थ में आत्मा को अग्नि (श० ७।३।१।१२) का पर्याय माना है। अतः हिन्दी अनुवाद में 'गति देने वाला' अर्थ ग्रहण किया गया है। (जीव) आत्मा तो ईश्वर और प्रकृति के समान अनादि है। सृष्टि से पहले वे सब अपनी मूल स्थिति में होते हैं। सृष्टि के समय परमेश्वर जीव और प्रकृति में गति उत्पन्न करता है जिस से दोनों मिल कर पुरुष आदि प्राणियों के रूप में व्यक्त होते हैं।

(iii) भाष्यकारों ने इस तथ्य की ओर ध्यान नहीं दिया है। सायण के प्रथम अर्थ का आधार अद्वैत का सिद्धान्त है। शेष सब अर्थों का आधार 'यमेवैष वृणुते तमेव विवृणुते तनूं स्वाम्' आदि वाक्य हैं। अध्यात्मपक्ष में ये अर्थ भी सुसंगत हैं, परन्तु सृष्टिरचना के प्रसंग में इन का औचित्य विचारणीय है।

---

१. विको० १२५।१ में इस की √अन् और √वा से व्युत्पत्ति भी बताई है। ये विशेष अर्थों में हैं वहाँ भी √अत् से काम चल जाता है।

(iv) भारतीय दर्शन में प्राण और आत्मा को पृथक् माना है। लोकम्पृणा से आत्मा के प्रच्छादन के व्याख्यान में शतपथब्राह्मण ने भी प्राण और आत्मा को पृथक् माना है—

स एष प्राण एव यल्लोकम्पृणा। तया सर्वमात्मानं प्रच्छादयति सर्वस्मिँस्तदात्मन् प्राणं दधाति (८।७।२।१४)। इस कारण श्री पीटर्सन का 'श्वास' अर्थ भारतीय विचारों के प्रतिकूल होने से विचारणीय है।

(v) सा० ने इसे आत्मन् पूर्वक √दा देना या √दैप् शुद्ध करना से व्युत्पन्न किया है। कासं० ४०।३ और मैसं० २।१३।११२ में आत्मदाः के स्थान पर ओजोदाः पाठ है। इन संहिताओं की दृष्टि में आत्मन् ओजस् का पर्याय है। ओजस् में गति है। तु० क० हिन्दी अनुवाद।

३. बलऽदाः—सा०—बल को देने या शुद्ध करने वाला। उ० मही०—भुक्ति और मुक्ति रूप सामर्थ्य का दाता। दस०—(१) शरीर, इन्द्रिय, प्राण, आत्मा और मन को पुष्टि, उत्साह, पराक्रम और दृढ़ता देने वाला (ऋभाभू० ७); (२) शरीर, आत्मा और समाज के बल को देने वाला (संवि० ५), (३) त्रिविध बल—एक मानस विज्ञान बल, द्वितीय इन्द्रिय बल अर्थात् श्रोत्रादि की स्वस्थता तेजोवृद्धि, तृतीय शरीर बल महापुष्टि दृढ़ाङ्गता और वीर्यादि वृद्धि इन तीनों बलों का दाता (आभवि० २।४८)। उवट मही० और दस० के लेख व्याख्यात्मक हैं।

४. यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः—दस०—१. जिस की उत्तम शिक्षा को समस्त विद्वान् लोग सेवते (हैं और) जिस के समीप से सब व्यवहार उत्पन्न होते हैं (य० २५।१३)। २. जिस की सब विद्वान् लोग उपासना करते हैं, और जिस का प्रत्यक्ष सत्य रूप शासन, न्याय अर्थात् शिक्षा को मानते हैं (संवि० ५)। आभवि० २।४८ में इस का स्पष्टीकरण करते हुए आप लिखते हैं—'जिस के "प्रशिषम्" अनुशासन (शिक्षामर्यादा) को यथावत् विद्वान् लोग मानते हैं सब प्राणी और अप्राणी जड़ चेतन विद्वान् वा मूर्ख उस परमात्मा के नियमों को कोई कभी उल्लंघन नहीं कर सकता जैसे कि कान से सुनना, आँख से देखना। इस को उलटा कोई नहीं कर सकता है। सा० आदि—सब प्राणी और देवता भी जिस के शासन को मानते हैं।

(ii) विश्व पद सब और सर्वत्र का द्योतक है। इस से पदार्थ, प्राणी और देवता आदि सब का ग्रहण हो जाता है। अतः शासन की मान्यता के प्रतिपादन के लिए 'यस्य देवाः' का पुनः उल्लेख अनावश्यक प्रतीत होता है। इस पदसमूह में 'प्रशिषम्' की आवृत्ति सब को अभीष्ट है। इस पद को दूसरी बार प्र + √शिष् से मान कर 'गुणों' का द्योतक मानने से पुनरावृत्ति बच कर सुसङ्गत भिन्न भाव मिल जाता है। अतः हिन्दी अनुवाद में ऐसी ही योजना की गई है।

५. यस्य च्छायाऽमृतं यस्य मृत्युः—सा०—अमृतत्व या सुधा भी जिस प्रजापति की छाया के समान है और प्राणों का अपहारी यम भी छाया के समान है। उवट, मही०—जिस का आश्रय—ज्ञानपूर्वक उपासन मुक्ति का कारण है, जिस का अज्ञान संसार का कारण है।[1] दस०—१. जिस का आश्रय ही मोक्ष सुखदायक है, जिस का न मानना अर्थात् भक्ति न करना ही मृत्यु आदि दुःख का हेतु है (संवि० ५); २. जिस का आश्रय अमृतस्वरूप और जिस की आज्ञा का भंग मरण के तुल्य है (य० २५।१३); ३. जिस का आश्रय करना ही मोक्ष सुख का कारण है और जिस की अकृपा ही जन्ममरण रूप दुःखों को देने वाली है। (ऋभाभू० ६)।[2] पीटर्सन—जिस का साया अमरत्व है और मृत्यु उस की ही है।

(ii) पीटर्सन का छाया का अर्थ नितान्त शाब्दिक है, उस में भाव स्पष्ट नहीं है। सा० ने 'यस्य मृत्युः' में 'छाया' का विधेय के रूप में अध्याहार किया है। अन्य भाष्यकारों ने भी छाया' पद का 'अज्ञान, न मानना,

---

१. तु० क०—य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापि यन्ति। श्वे० ३।१०।

२. इस के स्पष्टीकरण में वहीं लिखा है—'अर्थात् ईश्वर और उसका उपदेश जो सत्य विद्या, सत्य धर्म और सत्य मोक्ष हैं उनको नहीं मानना और जो वेद से विरुद्ध हो के अपनी कपोलकल्पना अर्थात् दुष्ट इच्छा से बुरे कामों में वर्तता है उस पर ईश्वर की अकृपा होती है वही सब दुःखों का कारण है और जिसकी आज्ञापालन ही सब सुखों का मूल है।" ऋभाभू० ९।

आज्ञा का भङ्ग और अकृपा' अर्थों के रूप में अध्याहार किया है। अतः यहाँ भी पूर्व वाक्य के समान छाया का अध्याहार अभीष्ट है, परन्तु प्रकरणबल से विरोधी अर्थ - अनाश्रय, खण्डन, न मानना (छो अवखण्डने से ;—में। ऐ० ७।१२ के मृत्युर्वै तमश्छाया में भी यही भाव है। यद्यपि उपनिषत्कार ने मृत्यु को ब्रह्म का उपसेचन माना है, परन्तु इस मन्त्र में वह भाव वाक्य के पूर्वांश से सङ्गत नहीं होता है। अतः पीटर्सन के अनुवाद को हिन्दी में स्वीकार नहीं किया गया है।

(iii) अ० वे० ४।२।२ में इस वाक्यसमूह को अगले मन्त्र के उत्तरार्द्ध में रक्खा है और उस के उत्तरार्द्ध को इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध बनाया है।

संहितापाठः	पदपाठः
४६. यः प्राणतो निमिषतो महि-	यः। प्राणतः। निऽमिषतः। महिऽत्वा॥
त्वैक इद्राजा जगतो बभूव।	एकः। इत्। राजा। जगतः। बभूव॥
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः	यः। ईशे। अस्य। द्विऽपदः। चतुःऽपदः॥
कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥३॥	कस्मै। देवाय। हविषा। विधेम॥३॥
॥४६॥	॥४६॥

कासं० ४०।२ मैसं० २।१३।१११—स्थलयोः पूर्वार्द्धस्तु—यः प्राणतो निमिषतश्च राजा पतिर्विश्वस्य जगतो बभूव—इत्यस्ति। मन्त्रोऽयं अवे० ४।२।२, य० २३।३, २५।११, काय० २५।३, २७।१५, तैसं० ४।१।८।४, ७।५।१६।१ स्थलेष्वपि वर्तते। दयानन्दसरस्वति-व्याख्यानं संवि० ५ स्थलेऽप्यस्ति।

सायणभाष्यम्—यः हिरण्यगर्भः प्राणतः प्रश्वसतः॥ 'अन प्राणने' आदादिकः। 'शतुरनुमः' (पा० ६।१।१७३) इति विभक्तेरुदात्तत्वम्॥ निमिषतः। अक्षिपक्ष्मचलनं कुर्वतः। अत्रापि पूर्ववद् विभक्तिरुदात्ता॥ जगतः जङ्गमस्य प्राणिजातस्य महित्वा महत्त्वेन॥ 'सुपां सुलुक्' (पा० ७।१।३९) इति तृतीयाया आकारः॥ माहात्म्येन। एक इत् अद्वितीय एव सन् राजा बभूव ईश्वरो भवति॥ भवतेर्णलि 'लिति' (पा० ६।१।१९३) इति प्रत्ययात् पूर्वस्योदात्तत्वम्॥

(ii) अस्य परिदृश्यमानस्य द्विपदः पादद्वययुक्तस्य मनुष्यादेः चतुष्पदो गवाश्वादेश्च यः प्रजापतिः ईशे ईष्टे॥ 'ईश ऐश्वर्ये' आदादिकोऽनुदात्तेत्। 'लोपस्त आत्मनेपदेषु' (पा० ७।१।४१) इति तलोपः। अनुदात्तेत्वाल्लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरः (पा० ६।१।१८६)। अस्य। 'ऊडिदम्' (पा० ६।१।१७१) इतीदमो विभक्तिरुदात्ता॥ द्वौ पादौ यस्य स द्विपात्॥ 'सङ्ख्यासुपूर्वस्य' (पा० ५।१।१४०) इति पाद(शब्द)स्यान्त्यलोपः समासान्तः। भसञ्ज्ञायां 'पादः पत्' (पा० ६।४।१३०) इति पद्भावः। द्वित्रिभ्यां पाद्दन्००' (पा० ६।२।१९७) इत्येकदेशविकृतस्यानन्यत्वादुत्तरपदान्तोदात्तत्वम्। स्वरवर्जमेषैव चतुष्पद इत्यत्रापि प्रक्रिया। 'बहुव्रीहौ प्रकृत्या०' (पा० ६।२।१) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः। पूर्वपदस्य च 'त्रः सङ्ख्यायाः' (फि० सू० २।५) इत्याद्युदात्तत्वम्। 'इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य' (पा० ८।३।४१) इति विसर्जनीयस्य षत्वम्। ईदृशो यः प्रजापतिस्तस्मै कस्मा इत्यादि सुबोधम्। हविषा हृदयाद्यात्मनेत्ययमत्र विशेषः॥३॥ (४६)॥

हिन्दी अनुवाद—[यः] जो [एकः] अकेला [इत्] ही [महित्वा] अपनी महिमा के कारण [प्राणतः] श्वास लेने वाले (और) [निमिषतः] चेष्टा करने वाले (और) [जगतः] अनेक प्रकार की गति करने वाले संसार का [राजा] नियन्ता [बभूव] है, [यः] जो [अस्य] इस [द्विपदः] दो पैरों वाले और [चतुष्पदः] चार पैरों वाले (जगत्) का [ईशे] स्वामी है, [देवाय] दिव्यगुणशाली (उस) [कस्मै] सुखस्वरूप (परमात्मा) की (हम) [हविषा] हवियों द्वारा [विधेम] उपासना करते रहें॥३॥ (४६)॥

टिप्पणियां—१. प्राणतो निमिषतो जगतः—सा०—श्वास लेने वाले और आंखों की पलक झपकने वाले जंगम प्राणी समूह। उवट—सांस लेने और क्रियावान् भूतों का समूह। मही०—जीते हुए आंख आदि इन्द्रियों के कर्मों को करने वाला सचेतन जगत्। दस०—१. प्राण वाले और (निमिषतः) अप्राणिरूप जगत् का (संवि० ६)। २. श्वास लेते हुए प्राणी और चेष्टा करते हुए संसार का (य० २५।११)। भावार्थ में स्थावर वृक्ष आदि और जंगम मनुष्यादि जगत्। य० २३।३ में निमिषतः प्राणतः द्विपदः चतुष्पदः जगतः योजना कर के 'नेत्र आदि से चेष्टा को करते हुए प्राणी रूप दो पग वाले

मनुष्य आदि वा चार पग वाले गौ आदि पशु सम्बन्धी इस संसार का' अर्थ किया है। पीटर्सन—श्वास लेने और सोने वाला जगत्। इन के अनुसार प्राणन और स्वपन करने वाले जगत् को एक ओर जड़ जगत् से और दूसरी ओर न सोने वाले देव जगत् से पृथक् किया गया है। जगतः को भी विशेषण मान कर वे 'वह सब जो श्वास लेता और सोता और गति करता है' अर्थ देते हैं।

(ii) इस मन्त्र में प्राणयुक्त लोक के पांच भाग प्रस्तुत किए गए हैं—१. प्राणतः—जो केवल श्वास लेते हैं। इन में न अपनी कोई चेष्टा है, न कोई इन्द्रियाँ आदि हैं। २. निमिषतः—जो प्राणन के साथ आँखों की पलकों के झपकने के समान निश्चित दिशाओं में यान्त्रिक चेष्टा या गति करते हैं। ३. जगतः—(√गम् + यङ् + शतृ)—अनेकविध गतियाँ करने वाले। ४. द्विपदः—दुपाए मनुष्य पशु पक्षी आदि। ५. चतुष्पदः—चार पैरों वाले पशु आदि। प्राणतः में समस्त स्थावर जगत् और चेष्टाहीन एक कोष अथवा अधिक कोषों वाले कीटाणुओं का अन्तर्भाव होता है। निमिषतः में निश्चित दिशाओं में जल आदि के माध्यम से आगे-पीछे अथवा एक ही ओर गति करने वाले एक अथवा अनेक कोषों वाले (—प्रोटोज़ोआ और मेटाज़ोआ) आते हैं। जगत् के अन्दर सरीसृप आदि आते हैं। द्विपदः और चतुष्पदः की स्थिति बिल्कुल स्पष्ट है।

(iii) प्राणतः और निमिषतः के अन्तर्गत समस्त वनस्पति वर्ग (वैजिटेबल वर्ल्ड) का अन्तर्भाव होता है। इन में केन्द्र (न्यूक्लेस), और पञ्चभूत (प्रोटोप्लाज़्म) तो शेष तीनों प्रकार के प्राणी लोक के समान होते हैं, परन्तु इन में आर्गेनिज़्म (सूक्ष्म शरीर ?) का अभाव होता है। साथ ही इन में आँख, कान, नाक आदि इन्द्रियाँ भी नहीं होती हैं।[1]

---

१. विस्तार के लिए देखो—कार्ल लैमैन्ना तथा एम० फ्रैंकमैलैट—बेसिक बैक्टेरियोलौजी एण्ड इट्स् बायोलौजिकल ऐण्ड कैमिकल बैकग्राऊण्ड, बाल्टीमोर, द्वितीय संस्करण, १९५९, पृ० ५२-५३; मैकी तथा मैक्कार्टने—हैण्डबुक औफ प्रैक्टिकल बैक्टेरियोलौजी, लण्डन, ९ वां संस्करण, १९५९, पृ० १० मोटिलिटी औफ बैक्टेरिया।

(iv) श० ४।२।२।५ के अनुसार आँख, कान आदि अंग आत्मा से ही उत्पन्न होते हैं—आत्मनो वा इमानि सर्वाण्यंगानि प्रभवन्ति। आत्मा से ही उन का विकास होता है—आत्मनो ह्येवाध्यङ्गानि प्ररोहन्ति (श० ८।७।२।१५)। अतः प्रतीत होता है कि इस ब्राह्मण के मत में प्राणतः और निमिषतः प्राणियों में प्राण तो हैं, परन्तु आत्मा नहीं है। आत्मा और प्राण यहां दोनों ही उष्ण माने गए हैं। समस्त शरीर सत्त्व, रजस् और तमस् रूप तीन गुणों से निर्मित हैं। अतः आत्मा के अभाव में भी प्राणक्रिया सम्पन्न शरीर गरमी, सर्दी और स्पर्श आदि के प्रति प्रतिक्रिया (रीऐक्शन) उत्पन्न करते हैं, जिसे उन का अनुभव माना गया है (देखो मनु० १।४९—तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना। अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः॥ सर जगदीशचन्द्र वसु की खोजें आदि)।

(v) पीटर्सन का द्विपदः को मानवमात्र में सीमित करना विचारणीय है। द्विपद् कुछ अन्य पशु आदि भी होते हैं।

२. नि॒ऽमि॒ष॒तः—नि + √मिष् स्पर्द्धा करना से + शतृ + षष्ठी एक व०।

३. म॒हि॒ऽत्वा—महित्वन् से तृतीया के एक व० का वैदिक रूप। लोक में महत्त्व शब्द का प्रयोग होता है। महिमा, सामर्थ्य, शक्ति से। इसी को इन्द्रसूक्त में 'क्रतु' (वेला०७।६) और नासदीय सूक्त (ऋ०१०।१२९।२) में 'स्वधा' कहा है।

इन में से कुछ प्राणी अपने निवेश (कौलौनी) बनाते हैं, परन्तु समीप ही स्थित दूसरी कौलौनी से मिलने की क्षमता नहीं रखते हैं। जल आदि तरल पदार्थों के अभाव में बैक्टेरिया चेष्टाहीन रहता है, जिस प्रकार हवा के अभाव में वृक्ष आदि निश्चल होते हैं।

५. स्वा० दयानन्द सरस्वती भी वनस्पतिजगत् में जीव की सत्ता मानते हैं, जिसे सुषुप्ति अवस्था में होने के कारण उस का बाहर के अवयवों के साथ सम्बन्ध न होने से सुख दुःख का अनुभव नहीं होता। सप्र०पृ०३०७-३०८ में स्वामीजी का सुख-दुःख के अनुभव के सम्बन्ध में विचार मनु १।४९ और सर जगदीशचन्द्र वसु की खोजों की दृष्टि से अमान्य है। आत्मा की सत्ता से सम्बन्धित विचार भी प्रस्तुत मन्त्र के विभाजन की दृष्टि में विचारणीय है।

४. एकः—गतिशील, कर्मठ। अतः अन्यों की सहायता से निरपेक्ष। पाउ० सूसं० ४६ (vi) देखें।

५. ईशे—ईष्टे का वैदिक रूप। √ईश् शासन करना से प्रथम पुरुष एक व०।

६. अथर्ववेद में इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध 'य आत्मदाः' मन्त्र से सम्बद्ध किया गया है, और वहां का उत्तरार्द्ध इस मन्त्र से।

संहितापाठः	पदपाठः
४७. यस्येमे हिमवन्तो महित्वा	यस्य। इमे। हिमऽवन्तः। महिऽत्वा।
यस्य समुद्रं रसया सहाहुः।	यस्य। समुद्रम्। रसया। सह। आहुः॥
यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू	यस्य। इमाः। प्रऽदिशः। यस्य। बाहू इति।
कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥४॥	कस्मै। देवाय। हविषा। विधेम ॥४॥

अयं मन्त्रो य० २५।१२; अथ० ४।२।५: काय० २७।१६; तैसं० ४।१।८।४; मैसं० २।१३।११३, कासं० ४०।६ स्थलेष्वपि वर्तते।

सायणभाष्यम्—हिमा अस्मिन् सन्तीति हिमवान्। तेन बहुवचनान्तेन सर्वे पर्वता लक्ष्यन्ते यथा छत्रिणो गच्छन्तीति। हिमवतः हिमवदुपलक्षिता इमे दृश्यमानाः सर्वे पर्वता यस्य प्रजापतेर्महित्वा महत्त्वं माहात्म्यमैश्वर्यमिति आहुः। तेन सृष्टत्वात्तद्रूपेणावस्थानाद्वा। तथा रसया। रसो जलम्। तद्वती रसा नदी॥ अर्शआदित्वादच् (पा० ५।२।१२७)। जातावेकवचनम्॥ रसाभिर्नदीभिः सह समुद्रम्॥ पूर्ववदेकवचनम्॥ सर्वान् समुद्रान् यस्य माहाभाग्यमित्याहुः कथयन्ति सृष्ट्यभिज्ञाः। यस्य चेमाः प्रदिशः प्राच्या-रम्भा आग्नेय्याद्याः कोणदिश ईशितव्याः। तथा बाहू॥ वचनव्यत्ययः॥ बाहवो भुजाः। भुजवत् प्राधान्ययुक्ताः प्रदिशश्च यस्य स्वभूताः। तस्मै कस्मा इत्यादि समानं पूर्वेण॥ ४॥ (४७)।

हिन्दी अनुवाद—[यस्य] जिस की [महित्वा] महिमा के कारण [रसया] नदी आदि के [सह] सहित [इमे] ये [हिमवन्तः] हिमालय आदि पर्वत [यस्य] जिस के [समुद्रम्] बढ़े हुए यश का [आहुः] कथन करते हैं, [इमाः] ये [प्रदिशः] दिशाएँ और विदिशाएँ [यस्य] जिस के (यश का और) [बाहू] (पोषक और नाशक रूप दो) धारक शक्तियां [यस्य] जिस के (यश का विस्तार करती हैं) (उस) [देवाय] दिव्य गुणों से सम्पन्न [कस्मै] सुखस्वरूप परमात्मा के लिए (हम) [हविषा] हवियों से [विधेम] उपासना करते रहें ॥ ४ ॥ (४७) ॥

टिप्पणियाँ—१. इस मन्त्र के अन्वय और तदनुसार अर्थ में भाष्यकारों में पर्याप्त भेद है—सा०—ये दृश्यमान हिमालय आदि पर्वत जिस की महिमा को कहते हैं। विद्वान् नदियों और समुद्रों को जिस की महिमा बताते हैं। जो आग्नेयादि कोणों का शासक है और प्रधान दिशाएँ जिस की अपनी हैं। उवट-इन हिमाचल आदि पर्वतों को, नदियों के साथ समुद्र को जिस की महिमा कहते हैं। ये महान् दिशाएँ जिस की महिमा को बताती हैं। जिस की भुजाएँ जगत् की रक्षक हैं। दस०—जिस सूर्य के बड़ेपन से हिमालय आदि पर्वत आकर्षित और प्रकाशित हैं। जिस के स्नेह के साथ अच्छे प्रकार जिस में जल ठहरते हैं उस अन्तरिक्ष को करते हैं तथा जिस को इन दिशा और जिस की विदिशाओं को भुजाओं के समान वर्तमान कहते हैं (य० २५।१२)। पीटर्सन—बरफीली चोटियाँ उस की हैं. वे कहते हैं कि महान् नदी के साथ समुद्र भी उस के हैं। अन्तरिक्ष के प्रदेश उस के हैं, दो भुजाएँ उस की (ही हैं)।

(ii) इन सभी अनुवादों में विभक्ति और लिङ्ग आदि में व्यत्यय करने की आवश्यकता हुई है। इस ग्रन्थ के हिन्दी अनुवाद में ऐसी कोई स्थिति नहीं है। उस में द्वितीयान्त 'समुद्रम्' को 'आहुः' का कर्म माना है और समस्त प्रथमान्तों को उस का कर्त्ता। प्रत्येक वाक्य में इस 'समुद्रम्' कर्म की योजना की गई है।

२. इमे—अत्रे० ४।२.५ में इस के स्थान पर 'विश्वे' का और कासं० और मैसं० में 'इमे विश्वे' का प्रयोग किया गया है। अतः 'ये सब'। उ० ४।१५७ के

अनुसार इदम्—पद √इन्द् परमैश्वर्यशाली होना से बनता है—'इन्दति परमैश्वर्यहेतुर्भवतीति'। (दभा०)। इस लिए 'ये सब परम वैभवशाली' भाव-ग्रहण अधिक समीचीन होगा।

३. हिमऽवन्तः—हिममस्ति एषां ते। हिमम्—हन्ति इति हिमम् (उ० १।१४७)। उष्णता आदि का निवारक, मार्ग का अवरोध आदि। दूसरे अर्थ में ही हिमवत् पद समस्त पर्वतों का वाचक हो सकता है। उवट ने इसे द्वितीयार्थ में प्रथमा का रूप माना है। कासं० और मै० ने 'गिरयः' पढ़ कर उ० की कल्पना को व्यावर्तित कर दिया है।

४. महिऽत्वा—पिछले मन्त्र में टि० ३ देखें। सा० और उवट ने इसे द्वितीया का एक वचन मान कर कर्म माना है। यहाँ 'सुपां सुलुक्' से विभक्ति को 'आ' हो गया है। पीटर्सन ने इसे 'रसया' का विशेषण माना मालूम पड़ता है।

५. समुद्रम्—सा० आदि—समुद्र। दस०—अन्तरिक्ष।

(ii) यास्क ने इसे सम्+उद्+√द्रु से भी निरुक्त किया है। श० १४।२।२।२ और जै०उ० १।२५।४ ने भी यही व्युत्पत्ति दी है। वैए० ७५५ ने इस व्युत्पत्ति से आपः और आपस् का केन्द्र अर्थ ही लिए हैं। परन्तु तां० ६।०।७; ७।७।६, ऐ० ५।१६ ने इसे 'वाक्' का पर्याय बताया है। जै० उ० ३।३५।५ में पुरुष को, श० ७।४।२।५ में रुक्म को और तै० ३।११।१।२ में तेजस् को समुद्र कहा है। अतः हिन्दी अनुवाद में इस को 'बढ़े हुए यश का' द्योतक माना गया है।

(iii) एया० (पृ० ३५) का उपरोक्त निर्वचन को अर्थ की दृष्टि में भ्रान्त मानना उचित नहीं है।

६. रसया—सा०, उवट, मही०—नदियां। दस० ने इसे 'सरया' पढ़ कर इस का अर्थ 'स्नेह के साथ' किया है। पीटर्सन—कुछ सीमा तक यूनानी ओक्येनोस् के सदृश एक दूरस्थ नदी है। (म्यूर ओरिजिनल टैक्स्ट्स्, भाग २ पृ० ३४३ भी देखें।) ग्रिहिअवे० ४।२।५—पृथिवी और आकाश के

चारों ओर बहने वाली आकाशीय (श० वायव्य) समुद्र की एक आख्यानिक नदी।

(ii) दस० का अर्थ 'रसया' पाठ से भी प्राप्त हो जाता है। स्नेह रस ही है। हो सकता है 'सरया' पाठ दृष्टिभ्रमजन्य, लेखप्रमादजन्य अथवा मुद्रणप्रमादजन्य हो।[1]

(iii) ऋ० ४।२।५ में दूसरा पाद '०००समुद्रे यस्य रसामिदाहुः' है। यहाँ 'समुद्रे सप्तम्यन्त है और 'रसाम्' का आधार है—'वाणी में रस' अर्थात् 'यश, कीर्ति' अर्थ होगा। इस से भी हिन्दी अनुवाद की योजना पुष्ट होती है। हिन्दी अनुवाद में 'रसया सह' को 'श्रद्धा के साथ' का द्योतक मान कर 'समुद्रम्' के साथ भी जोड़ा जा सकता है।

७. प्रऽदिशः—दस०–दिशाएँ और विदिशाएँ। उ०—पूर्व आदि प्रकृष्ट दिशाएँ। सा०—आग्नेय आदि कोण। पीटर्सन—आकाश के प्रदेश।

(ii) श्री पीटर्सन लिखते हैं कि सा० के लेख—'प्रदिशः प्राच्यारम्भा आग्नेयाद्याः कोणदिश ईशितव्याः। तथा बाहू।....बाहवो भुजाः। भुजवत् प्राधान्ययुक्ताः प्रदिशश्च यस्य स्वभूताः' ने समस्या प्रस्तुत कर दी है। दिशाओं के मध्य के कोणों को विदिश् कहते हैं। सा० ने 'प्रारम्भाः' पद से इसी अर्थ में प्रदिशः का नैरुक्त व्याख्यान प्रस्तुत किया है।—प्रदिश्—विदिश्—मुख्य दिशाओं के प्रारम्भ। आग्नेयाद्याः में इन प्रदिशाओं का नाम बताया है और ईशितव्याः में उन का प्रजापति से शासक-शासित सम्बन्ध प्रकाशित किया है। अगले भाग में बाहू मुख्य दिशाओं का द्योतक है और स्वभूताः ईशितव्याः के लिए आया है। मुख्य दिशाएँ उस की ही हैं, उस के ही अङ्ग हैं। उन के विचार में सा० के 'प्रदिशश्च' के स्थान पर 'दिशश्च' पाठ होना चाहिए। आप ने अपने संस्करण में सा० के प्राच्यारम्भाः को 'प्रारम्भाः' में परिवर्तित कर दिया है।

---

१. दस० के ग्रन्थों में वैदिक पाठों की प्रामाणिकता की परीक्षा और सदर्थ खोज की परम आवश्यकता है। रूढिवाद की ओर तीव्र गति से बढ़ता हुआ आर्यसमाज सम्भवतः यह काम न कर सकेगा।

(iii) मैक्समूलर ने सा० के लेख को अनवगत मान कर 'प्राच्यारम्भा आग्नेय्याद्याः कोणदिश ईशानान्ता वा' पढ़ा है। श्री पीटर्सन के अनुसार प्रारम्भाः मूलपाठ है। पूना संस्करण में न 'प्रारम्भाः' पाठ का कोई निर्देश है, न 'ईशानान्ता वा' का।

(iv) वस्तुतः सा० के लेख का अर्थ—प्रदिशः = प्राची से आरम्भ होने वाली आग्नेय आदि कोणदिशाएँ जिस के शासन में हैं, और भुजाओं के सदृश प्रदिशाएँ = प्रधान दिशाएँ जिस की अपनी हैं—है। यहाँ पर प्रदिशः पद विदिश् और प्रकृष्ट = प्रधान दिश् दोनों का वाचक है। इस को न समझने के कारण ही मैक्समूलर और पीटर्सन आदि को पाठ के शोधन की आवश्यकता हुई है।

(v) हिन्दी अनुवाद में प्रदिशः के दिशा और विदिशा दोनों ही अर्थ लिए गए हैं। मैसं० और कासं० ने 'यस्येमाः प्रदिशः' के स्थान पर 'दिशो यस्य प्रदिशः' पढ़ कर इसी योजना का निर्देश किया है।

८. बाहू—यह √वह् धारण करना से निष्पन्न होता है—वहतीति बाहुः। धारण करने वाला। धारण दो प्रकार से होता है—पोषण से और संहार से। अतः यहाँ पर द्विवचन के प्रयोग द्वारा ये दोनों शक्तियाँ अभिप्रेत हैं। मन्त्र ३३।४ (*iii*) भी देखें।

(ii) कासं० ४०।६ और मैसं० २।१३।११३ ने 'यस्य बाहू' के स्थान पर 'पञ्च देवीः' का प्रयोग किया है। इन ग्रन्थों के तृतीय पाद से सा० के अर्थ 'भुजाओं के सदृश दिशाएँ' का व्यावर्तन हो जाता है। पञ्च को दस० ने उ० १।१५७ में √पञ्च् व्यक्त करना से बहुल से व्युत्पन्न किया है। इसे √पच् पकाना और √पृञ्च् सम्पृक्त होना से भी माना जा सकता है। देवीः व्यवहार और गति अर्थ वाले √दिव् धातु से बना है। अतः पञ्च देवीः = 'संसार में व्यक्त उस में ओतप्रोत और पकाने वाली गति और व्यवहार'। अब हिन्दी अनुवाद देखें।

संहितापाठः	पदपाठः
४८. येन॒ द्यौरु॒ग्रा पृ॑थि॒वी च॑ दृ॒ळ्हा येन॒ स्वः॑ स्तभि॒तं येन॒ नाकः॑ ।	येन॑ । द्यौः । उ॒ग्रा । पृ॒थि॒वी । च॒ । दृ॒ळ्हा । येन॑ । स्व॒ रिति॒ स्वः॑ । स्त॒भि॒तम् । येन॑ । नाकः॑ ॥
यो अ॒न्तरि॑क्षे॒ रज॑सो वि॒मानः॒ कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ॥५॥	यः । अ॒न्तरि॑क्षे । रज॑सः । वि॒ऽमानः॑ । कस्मै॑ । दे॒वाय॑ । ह॒विषा॑ । वि॒धे॒म ॥५॥

अयं मन्त्रो य० ३२।६, अवे० ४।२।४, काय० २९।३३, तैसं० ४।१।८।५ स्थलेषूपलभ्यते । संवि० ६ स्थलेऽपि दयानन्दीयव्याख्यानं वर्तते ।

सायणभाष्यम् – येन प्रजापतिना द्यौः अन्तरिक्षम् उग्रा उद्गूर्णविशेषा गहनरूपा[1] वा पृथिवी भूमिः च दृळ्हा येन स्थिरीकृता । स्वः स्वर्गश्च येन स्तभितं स्तब्धं कृतम् । यथाधो न पतति तथोपर्यवस्थापितमित्यर्थः ॥ 'प्रसितस्कभितस्तभित०' (पा० ७।२।३४) इति निपात्यते ॥ तथा नाकः आदित्यश्च येनान्तरिक्षे स्तभितः । यः च अन्तरिक्षे रजस उदकस्य विमानः निर्माता । तस्मै कस्मा इत्यादि गतम् ॥५॥ (४८) ॥

हिन्दी अनुवाद—[येन] जिस के द्वारा [द्यौः] (सूर्य आदि ज्योतियों से युक्त) द्युलोक [उग्रा] जोड़ा गया है [च] और [पृथिवी] विस्तृत पृथिवी [दृळ्हा] जमाई गई है । [येन] जिस के द्वारा [स्वः] स्वर्लोक [स्तभितम्] धारण किया गया है, [येन] जिस के द्वारा [नाकः] नाक (लोक) (स्तभितम्—स्थिर किया गया है) [यः] जो [अन्तरिक्षे] मध्यलोक में [रजसः] (गतिशील) लोकों का [विमानः] पृथक्-पृथक् निर्माण करने वाला है, [देवाय] दिव्य गुणों वाले [कस्मै] सुखस्वरूप (उस परमात्मा) की [हविषा] हवियों द्वारा [विधेम] उपासना करते रहें ॥५॥ (४८) ॥

---

1. पूनासंस्करणे उग्रा उद्गूर्णं विशेषागहनरूपं वेति मैक्समूलरीय पाठः । स विचारणीयः ।

टिप्पणियाँ—१. द्यौः—सा०--अन्तरिक्ष । उवट--द्युलोक । दस०--सूर्य आदि प्रकाशवान् पदार्थ । पीटर्सन--आकाश ।

(*ii*) यह पद √दिव् चमकना आदि अर्थ वाली धातु से निष्पन्न होता है । अतः यहाँ द्योतमान पदार्थ मूलतः अभिप्रेत हैं । इस मन्त्र में पांच प्रकार के--१--द्यु २—पृथिवी ३--स्वः ४--नाक और ५--अन्तरिक्षस्थ लोकों का वर्णन है । अतः हिन्दी अनुवाद में दस० और उवट के अर्थों को युगपत् लिया गया है ।

२. उग्रा—सा०-पृथिवी का विशेषण मानते प्रतीत होते हैं--विशेष रूप से उठी हुई (उद्गूर्ण) अथवा गहन । उवट—द्यौः का विधेय मानते हैं--उद्गूर्ण-वृष्टि करने वाली बनाई गई है । दस०—द्यौः का विशेषण मानते हैं—तीव्र तेज से युक्त । पीटर्सन—महान् (द्यौः का विशेषण) ।

(ii) उ० २।१८ में उग्र को √उच् मिलना, इकट्ठा होना से निष्पन्न किया गया है--उच्यति समवैतीति उग्रः (दभा०) । हिन्दी अनुवाद में यही अर्थ लिया गया है । भाव यह है--प्रजापति ने द्युलोक में वर्तमान सूर्य आदि पदार्थों को एक दूसरे से आकर्षण आदि शक्तियों द्वारा[1] जोड़ा अर्थात् बांधा है ।[2]

---

१. मैक्समूलर तथा अन्य आधुनिक वैदिक विद्वान् मानते हैं कि ऋग्वेद के सुदूर प्राचीनकाल में इस प्रकार की वैज्ञानिक खोजें आदि असम्भव कल्पनाएँ हैं । अतः ऐसा अनुवाद और भाव उन्हें अमान्य है । परन्तु यह उन का दुराग्रह मात्र है । शब्द और अर्थ का समवाय सम्बन्ध है । शब्दों के अर्थों से जो निष्कर्ष निकलते हैं, वे मान्य हैं । मानव विज्ञान (ऐन्थ्रौपौलोजी) में शब्दों के अर्थों के आधार पर लुप्त सभ्यताओं और उन में प्राप्त सम्बन्धों आदि का निर्माण भी किया जाता है । देखो रीवर्स--किनशिप ऐण्ड सोशयल औगेंनाइज़ेशन आदि ।

२--अवे० ४।२।४ यस्य द्यौरुर्वी पृथिवी च मही तथा तैसं० ४।१।८।५ में येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढे पाठ हैं । अवे० के पाठ में दृढे के द्विवचमान्त होने के कारण 'उग्रा' को विशेषण लेना आवश्यक है ।

३. पृथिवी—यास्क के अनुसार यह √प्रथ् फैलाना से निष्पन्न है। पृथु पद भी इसी धातु से है। अतः विस्तृत, फैली हुई पृथिवी। अवे॰ के 'पृथिवी च मही' पाठ में भी यही भाव निहित है।

४. स्वः—सा॰—स्वर्ग। उवट-आदित्यमण्डल। दस॰-सुख। पीटर्सन-स्वः और नाकः को इकट्ठा लेते हैं—आकाश का विस्तृत प्रदेश। परन्तु दोनों के साथ 'येन' का पृथक्-पृथक् प्रयोग होने से दोनों पृथक् अभिप्रेत हैं, इकट्ठे नहीं।

(ii) य॰ १७।६७ में पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यु, नाक और स्वः लोकों का वर्णन आया है। मानव क्रम से एक से दूसरे लोक में जाता है।[1] इस कारण यहाँ हिन्दी अनुवाद में स्वः और नाक दोनों ही लोकवाची माने गए हैं। इन लोकों का स्पष्टीकरण वहीं दभा॰ में देखें।

(iii) स्वः के विसर्ग र् से उत्पन्न हुए हैं। यह दिखाने के लिए पदपाठ में 'इति' लगाया जाता है और स्वः की आवृत्ति की जाती है। यह पद स्वतंत्र स्वरित है (देखो परिशिष्ट २, पृ॰ ६१ अ-६२ अ)। अतः इति आगे आने पर इस के आगे १ चिह्न का प्रयोग किया जाता है। तैसं॰ ने 'सुवः' पाठ दे कर स्वतन्त्र स्वरित को समाप्त कर दिया है।

५. स्तभितम्—सा॰—स्तब्ध किया है। दस॰-धारण किया हुआ है। पीटर्सन-जमाया। √स्तम्भ् का अर्थ प्रतिबन्धन—सीमा में, परिधि में धारणा करना, स्थापित करना है।

६. नाकः—सा॰—आदित्य। उवट, मही॰—स्वर्ग लोक। दस॰-सब दुःखों से रहित मोक्ष।

(ii) कासं ४०।४ में इस के स्थान पर 'नाकम्' पाठ है। संभवतः स्तभितम् से साम्य के लिए ऐसा किया गया हो।

---

१. अवे॰ १९।२७।३-४ में तीन-तीन द्यु, पृथिवी, अन्तरिक्ष, नाक और सूर्य आदि लोकों का वर्णन आया है।

७. अन्तरिक्षे रजसो विमानः—पीटर्सन–मध्य आकाश को मापा है। सा०–अन्तरिक्ष में जल का निर्माता है। दस०—मध्यवर्त्ती आकाश में वर्तमान लोक-समूह का विविध मान करने वाला है (य० ३२।६)। संवि० ६ में व्याख्या करते हुए लिखा है—'जैसे आकाश में पक्षी उड़ते हैं वैसे सब लोकों का निर्माण करता और भ्रमण कराता है।

(ii) यद्यपि आधुनिकों ने √मा के प्रयोगों का अर्थ 'मापना' स्थिर किया है (ऊपर वेला०मन्त्र १।६ देखें)। परन्तु इस समस्त वर्णन में दृढ़ीकरण आदि सृष्टि के अवयवों के निर्माण का कथन है। इस वाक्य में अन्तरिक्ष में लोकों के धारण का वर्णन है। अतः 'विमानः' का अर्थ सा० और दस० के समान करना ही संगत है, मापना अर्थ प्रकरणोचित नहीं है। ऊपर मन्त्र ८।३ भी देखें। अवे० के पाठ 'यस्याद् उर्व १ न्तरिक्षम्'—की भी तु० क०।

(iii) रजसः—रजस् से षष्ठी एक व०। रजस् पद वैदिक धातु √रज् गति करना (निघं०२।१४।४७) से बनता है। निघं०४।१।२९ में इसे पदनामों में पढ़ा है। रजोगुण गति का द्योतक है। अतः रजसः = गतिशील लोक। यास्क ने रजस् का अर्थ लोक बताया है। अन्तरिक्ष में ये लोक सम्भवतः वायु और जल के लोक हैं जिन का वर्णन विमानशास्त्र और उल्लेख अभिज्ञान शाकुन्तल ७ में पाया जाता है। तु० क० 'यो अन्तरिक्षं विममे वरीयः'—कासं० ४०।४ ; मैसं० २।१३।१४।

(iv) कुरान २।२२ में इस मन्त्र का भाव इस प्रकार दिया गया है—'जिस ने भूमि को तुम्हारा विश्रामस्थान नियत किया है और आकाश को वितान बनाया है। और आकाश से जल को गिराता है, और उस से तुम्हारे भोजन के लिए फल उत्पन्न करता है। जब तुम जानते हो तो ईश्वर (अल्लाह) के विरोधी उत्पन्न मत करो।' इस में 'रजस्' का अर्थ 'जल', 'विमानः' का 'बरसाना' और 'उग्रा' (?) का 'वितान' किया गया है।

संहितापाठः	पदपाठः
४९. यं क्रन्दसी अवसा तस्तभाने	यम् । क्रन्दसी इति । अवसा । तस्तभाने इति ।
अभ्यैक्षेतां मनसा रेजमाने ।	अभि । ऐक्षेताम् । मनसा । रेजमाने इति ॥
यत्राधि सूर उदितो विभाति	यत्र । अधि । सूरः । उत्ऽइतः । विऽभाति ।
कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥६॥	कस्मै । देवाय । हविषा । विधेम ॥६॥

अयं मन्त्रो य० ३२।७; अवे० ४।२।३; काय० २९।३४; तैसं० ४।१।८।५; मैसं० २।१३।११५; कासं० ४०।५ स्थलेषूपलभ्यते ।

सायणभाष्यम्—क्रन्दितवान् रोदितवाननयोः प्रजापतिरिति क्रन्दसी द्यावापृथिव्यौ । श्रूयते हि—'यदरोदीत्तदनयो रोदस्त्वम्' (तै० २।२।६।४) इति । ते अवसा रक्षणेन हेतुना लोकस्य रक्षणार्थं तस्तभाने प्रजापतिना सृष्टे लब्धस्थैर्ये सत्यौ यं प्रजापतिं मनसा बुद्ध्याभ्यैक्षेताम् आवयोर्महत्त्वमनेन इत्यभ्यपश्येताम् ॥ 'ईक्ष दर्शने' । लङ्यडादित्वादाद्युदात्तत्वम् ॥ कीदृश्यौ द्यावापृथिव्यौ । रेजमाने राजमाने दीप्यमाने ॥ आकारस्य व्यत्ययेनैत्वम् । अदुपदेशाल्लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरः । यद्वा लिटः कानच् । 'फणां च सप्तानाम्' (पा० ६।४।१२५) इत्येत्वाभ्यासलोपौ । 'छन्दस्युभयथा' (पा० ३।४।११७) इति सार्वधातुकत्वाच्छप् । [अतएव] 'अभ्यस्तानामादिः' (पा० ६।१।१८९) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥ यत्राधि यस्मिन्नाधारभूते प्रजापतौ सूरः सूर्य उदितः उदयं प्राप्तः सन् विभाति प्रकाशते ॥ उत्पूर्वादेतेः कर्मणि निष्ठा । 'गतिरनन्तरः' (पा० ६।२।४९) इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम् ॥ तस्मै कस्मा इत्यादि सुज्ञानम् ॥ ६ ॥ (४९) ॥

हिन्दी अनुवाद--[अवसा] प्रवेश के योग्य (अन्तरिक्ष) स्थान के साथ [तस्तभाने] (अपनी-अपनी सीमाओं में) स्थिर किए गए [मनसा] सूर्य (के प्रकाश) से [रेजमाने] आलोकित [क्रन्दसी] शब्द उत्पन्न करने वाले द्युलोक और पृथिवी लोक [यम्] जिस को [अभ्यैक्षेताम्] प्रत्यक्ष कराती हैं, [यत्र अधि] जिस के शासन में [उदितः] निकला हुआ [सूरः] सूर्य [विभाति] चमकता है, [देवाय] दिव्य स्वरूप [कस्मै] सुखात्मक (उस परमात्मा की हम) [हविषा] हवियों द्वारा [विधेम] उपासना करते रहें ॥ ६ ॥ (४६) ॥

टिप्पणियां--१. क्रन्दसी--सा०--(प्रजापति के रोने के स्थान--) द्युलोक और पृथिवीलोक । दस०--अपने गुणों के कारण प्रशंसा करने के योग्य सूर्य और पृथिवी लोक । ग्रि०--सेनाएँ (अवे० ४।२।३) । पीटर्सन--यहाँ पर 'क्रन्दसी' के स्थान पर 'रोदसी' पाठ मानना उचित रहेगा। इस की पुष्टि अवे० ४।२ ३ के पाठभेद से पूर्ण रूप से होती है ।

(ii) श्री पीटर्सन का लेख विचारणीय है । आप ने इस मन्त्र का कोई अनुवाद भी प्रस्तुत नहीं किया है । अवे० के पाठ में 'क्रन्दसी' और 'रोदसी' दोनों पद आए हैं । इस से ज्ञात होता है कि क्रन्दसी विशेषण पद है और रोदसी का भी द्योतक है । अतः क्रन्दन करते हुए रोदसी = द्युलोक और पृथिवी लोक । रोदसी को निघण्टु में द्यावापृथिवी का पर्याय माना गया है। कासं० ४०।५ और मैसं० २।१३।११५ में द्यावापृथिवी रोदसी पाठ है। उस से यही अर्थ प्राप्त होता है ।

(iii) द्यावापृथिवी का यह क्रन्दन क्या है ? दस० ने 'अपने गुणों से प्रशंसा के शब्द प्राप्त करना' माना है और सा० ने 'प्रजापति का क्रन्दन'। प्रजापति का क्रन्दन सम्भवतः 'पर्जन्य का गर्जन हो ।

(iv) द्युलोक और पृथिवी लोक की रचना के समय महान् गति उत्पन्न हुई । गति से शब्द और प्रकाश दोनों ही निकलते हैं । आज भी लोक अपनी-अपनी परिधि में घूमते हैं और उन में गति, प्रकाश और शब्द उत्पन्न होते हैं । वैसे भी जब वायु दोनों लोकों के बीच में से बहती है तो

वहाँ शब्द उत्पन्न होता है। इस प्रकार के सतत शब्दों की ओर ही यहाँ निर्देश किया गया प्रतीत होता है।

(v) पदपाठ में क्रन्दसी के पश्चात् इति का प्रयोग होगा (देखो परिशिष्ट १)।

२. अवसा - सा०—लोक की रक्षा के हेतु। उवट—वृष्टि के धारण आदि के उपकार से उत्पन्न हवि रूप अन्न से। दस०—रक्षा आदि से। मै०—अवस् को √अव् से व्युत्पन्न कर सदा 'सहायता' अर्थ करते हैं। देखो वैरी० १।३५।१ आदि तथा वहाँ का शब्दकोष। विको० १०४।३ में अवस् के अर्थ कृपा, रक्षा, सहायता, आनन्द, सुख, इच्छा आदि दिए हैं। निघं०—२।७।१०—अन्न।

(ii) इस पद को √अव् धातु से व्युत्पन्न करने में तो सब सहमत हैं। परन्तु √अव् का मूल अर्थ रक्षा या सहायता करना नहीं है। निघं० २।१४।११ और २।१४।२६अ में यह गतिकर्मा है। रक्षार्थक धातुओं में इस का पाठ नहीं है। इस से बने पदों अवत्यः, अवनयः, अवनिः आदि में गति अर्थ की प्रधानता है। अतः इसे गति से सम्बद्ध करना ही अधिक समीचीन है।

(iii) अवे० ४।२।२ में 'अवसा तस्तभाने' के स्थान पर 'अवतश्चस्कभाने' पाठ है। यह पाठ बताता है कि ऋग्वेदीय अवस् का अर्थ अन्न आदि नहीं, प्रत्युत स्थान का द्योतक है, जिस प्रकार ऋ० १।३५।३ में प्रवता और उद्वता पद हैं। इस मन्त्र में अन्तरिक्ष का वर्णन नहीं हुआ है। वही इस पद से अभिहित किया गया है। यहाँ तृतीया साहचर्य की द्योतक है। √अन् के गति अर्थ से प्रवेश-अर्थ अनायास प्राप्त हो जाता है। अतः हिन्दी अनुवाद।

३. तस्तभाने—√स्तम्भ् स्तब्ध करना, सीमा में बाँधना + कानच् + स्त्रीलिङ्ग प्रथमा द्विवचन। सा०—प्रजापति से रचे गए और स्थिर किए गए। उवट—समस्त प्राणियों को स्तब्ध करती हुई। दस०—सब के धारण करने वाले। मै० (ऋ० २।१२।२ में अस्तभ्नात् पर)—ऊपर उठा कर पृथक् स्थापित करना, सहारना (देखो वैरी० का शब्दकोष)।

(ii) अवे० ४।२।३ में इस के स्थान पर चस्कभाने पाठ है। यह √स्कम्भ् से कानच् प्रत्ययान्त है। अतः दोनों का अर्थ समान है। ग्रि० ने 'चस्कभाने' का अर्थ 'युद्ध में जमे हुए' किया है।

४. अभि ऐक्षे॑ताम्—सा०—प्रजापति के कारण हमारी महिमा है यह समझते हैं। दस०—अध्यापक और उपदेशक रूप कर्त्ता का अध्याहार करते हैं—आभिमुख्य कर देखते हैं।

(ii) अवे० में इस के स्थान पर 'अह्व॑येताम्' पाठ है। अह्वयेताम्—पुकारती हैं, कहती हैं अर्थात् जिस के गुणों का कथन करती हैं। तदनुरूप भाव 'अभ्यैक्षेताम्' का अभीष्ट है—अभि + √ईक्ष् + अन्तर्भावित णिच् + लङ् प्रथम पु० द्विवचन—प्रत्यक्ष कराती हैं, अनुभव कराती हैं, अतः घोषणा करती हैं।

५. मन॑सा—सा०—बुद्धि से। दस०—विज्ञान से। ये दोनों इसे 'अभ्यैक्षेताम्' से सम्बद्ध करते हैं। अवे० कासं० और मैसं० में यह पद प्रयुक्त नहीं हुआ है। ऋग्वेदीय पाठ में इस का सम्बन्ध 'रेजमाने' से अभीष्ट प्रतीत होता है। अवे० में इन दोनों के स्थान पर भियसा॑ने' पाठ है। ग्रि० ने 'डर से' अर्थ कर के इसे √भी से व्युत्पन्न माना है, परन्तु यह √भ्यस् का शानच् प्रत्ययान्त रूप है जिस में इकार उसी प्रकार आ गया है जैसे कालिदास के 'त्रियम्बक' पद (कुसं० ३।४४) में। इस पद से ज्ञात होता है कि 'मन॑सा रेज॑माने' को एक साथ जोड़ना अभिप्रेत है।

(ii) ऐसी दशा में 'मनस्' का मन, बुद्धि और विज्ञान आदि से भिन्न अर्थ खोजना अनिवार्य होगा। वर्णन द्युलोक और पृथिवी लोक का है। यह मनस् पदार्थ दोनों को समान रूप से कम्पायमान करने वाला ही हो सकता है।

(iii) गो० १।१।३३; जैउ० ४।२७।१५; श० ६।३।१।१३।१५ आदि में (देखो वैको० ३८९) मन को सविता कहा है। ऋ० १०।९०।१३ (वेला० मन्त्र ३४) में चन्द्रमा को मन से उत्पन्न बताया है। गो० १।१।३३ आदि में चन्द्रमा को भी सविता बताया है। सविता और सूर्य का तादात्म्य सुविज्ञात है।

अतः यहाँ मनस् प्रकाशमान पदार्थ है, जो सामर्थ्य से और ऊपर वर्णित ब्राह्मणग्रन्थों के कथनों की दृष्टि में सविता या सूर्य माना जा सकता है। अब हिन्दी अनुवाद देखें।

६. रेजमाने--सा०—राजमान, दीप्यमान। उ०—कल्पमान (१)। मही०—शोभमान। दस०--चलती हुई, भ्रमण करती हुई (य० ३२।७)।

(ii) जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, यह √भ्यस् के अर्थ का प्रकाशक है, और मनसा के साथ अपने अर्थ का प्रकाशन करता है। निघं० २।१४।६० में 'रेजति' को गतिकर्मा, दस० के संस्करण की अनुक्रमणिका में 'रेजते' को भी २।१४ में गतिकर्मा तथा निघं० ३।२६।२६ में 'रेजते' को उत्तरपदनामों में पढ़ा है। वेभाप० १३।३४-३५ के अनुसार उत्तरपदनामों में पठित पदों के विशेष अर्थ हैं जिन में उत्कर्ष, गति, प्रह्वीभाव आदि के भाव अभिप्रेत हैं। सूर्य की किरणों का प्रकाश अति तीव्र गति से फैलता है। उस की चकाचौंध में पदार्थ कम्पित-से और रिफ्रैक्शन (प्रकाश के विशेष रूप से पड़ कर पुनः लौटने) से पदार्थ कुछ झुके-हुए-से, टेढ़े-से प्रतीत होते हैं। इसी दृश्य को यहाँ 'मनसा रेजमाने' से और अवे० में 'भियसाने' से व्यक्त किया गया है।

७. यत्र—कासं० और मैसं० में इस के स्थान पर 'यस्मिन्' का प्रयोग हुआ है। अतः 'जिस प्रजापति में।'

८. अधि—आधिक्य, ईश्वरवचन अर्थात् ऐश्वर्य और शासन आदि का द्योतक कर्मप्रवचनीय है। देखो सिकौ० में 'यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी' सूत्र का उदाहरण 'अधि रामे भूः' पा० उ० सूसं० २० भी देखें। अतः 'यत्र' के साथ मिल कर यह 'प्रजापति के शासन' का द्योतक है। सा० ने—'आधारभूत प्रजापति में', उवट ने—'जिस के आधार पर, और दस० ने—'जिस ईश्वर में अधिकतर' – अर्थ ग्रहण किए हैं। अवे० ४।२।४ में 'यस्यासौ सूरो विततो महित्वा—जिस की महिमा से वह सूर्य फैला हुआ है' लिख कर हिन्दी अनुवाद को पुष्टि दी है।

९. सूर उदितो विभाति—सूर्य उदय हो कर प्रकाशित होता और प्रकाशित करता है।

(ii) कासं० ४०।५ में 'यस्मिन्नधि विततस्सूर एति,' मैसं० २।१३।१५ में 'यस्मिन्नधि विततः सूरा एति' और तैसं० ४।१।८।५ में 'यत्राधि सूर उदितौ व्येति०' पाठ हैं। 'विततः' का भाव विस्तृत, फैला हुआ और 'उदितौ' का निकलने पर – हैं। 'व्येति'––विशेष गति करता है। यह विशेष गति प्रकाशित होना, प्रकाशित करना, अपनी परिधि में घूमना और आकर्षण आदि द्वारा अन्य लोकों को धारण करना आदि की द्योतक है। ऋग्वेद का विभाति पद इन्हीं सब भावों का प्रकाशक है।

संहितापाठः	पदपाठः
५० आपो ह यद् बृहतीर्विश्वमायन्	आपः। ह। यत्। बृहतीः विश्वम्। आयन्।
गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम्।	गर्भम्। दधानाः। जनयन्तीः। अग्निम्॥
ततो देवानां समवर्ततासुरेकः	ततः। देवानाम्। सम्। अवर्तत। असुः। एकः।
कस्मै देवाय हविषा विधेम॥७॥	कस्मै। देवाय। हविषा। विधेम॥७॥

अयं मन्त्र, य० २७।२५; ३२।७; अवे० ४।२।६; काय० २९।३५; तैसं० २।२।१२।१; ४।१।८।५; तैआ० १।२३।८ स्थलेषु वर्तते।

सायणभाष्यम्––बृहतीर्बृहत्यो महत्यः॥ जसि 'वा छन्दसि' (पा० ६ १।१०६) इति पूर्वसवर्णदीर्घः। 'बृहन्महतोरुपसङ्ख्यानम्' (पा० ६।१।१५३––वा०) इति ङीप उदात्तत्वम्। अग्निम्। उपलक्षणमेतत्। अग्न्युपलक्षितं सर्वं वियदादि भूतजातं जनयन्तीर्जनयन्त्यस्तदर्थं गर्भं हिरण्मयाण्डस्य गर्भभूतं प्रजापतिं दधानाः धारयन्त्य आपो ह आप एव विश्वमायन् सर्वं जगद् व्याप्नुवन्। यद् यस्मात् ततस्तस्माद्धेतोर्देवानां

देवादीनां सर्वेषां प्राणिनामसुः प्राणभूत एकः प्रजापतिः समवर्तत समजायत। यद्वा। यद् यं गर्भं दधाना आपो विश्वात्मनावस्थितास्ततो गर्भभूतात् प्रजापतेर्देवादीनां प्राणात्मको वायुरजायत। अथवा। यत्। लिङ्गवचनयोर्व्यत्ययः ॥ उक्तलक्षणा या आपो विश्वमावृत्य स्थिताः ततस्ताभ्योऽद्भ्यः सकाशादेकोऽद्वितीयोऽसुः प्राणात्मकः प्रजापतिः समवर्तत निश्चक्राम। तस्मै कस्मा इत्यादि गतम् ॥७॥ (५०) ॥

हिन्दी अनुवाद—[ह] निश्चय ही [यत्] जब [गर्भम्] (सृष्टि के) बीज को [दधानाः] धारण करने वाले [अग्निम्] गरमी को [जनयन्तीः] उत्पन्न करने वाले [बृहतीः] व्यापक [आपः] जल [विश्वम्] सर्वत्र [आयन्] फैले हुए थे [ततः] तब [देवानाम्] उत्तम गुणों वाले (पदार्थों और जीवों) का (जो) [एकः] एकमात्र [असुः] प्राणभूत (नियन्ता) [समवर्तत] था, [देवाय] दिव्य गुण वाले [कस्मै] सुखस्वरूप (उस परमात्मा) की (हम) [हविषा] हवियों द्वारा [विधेम] उपासना करते रहें ॥७॥ (५०) ॥

टिप्पणियाँ—१. आपः—सा०—जल। उवट मही०—श० ११।१।६।१ के अनुसार सृष्टि के प्रारम्भ के सलिल नामक जल। दस०—व्यापक जलों की सूक्ष्म तन्मात्राएँ।

(ii) प्रलय अवस्था में न सत् था न असत्। उस समय वह प्रजापति ही अपने सामर्थ्य से विद्यमान था। सब ओर 'सलिल' नामक अवर्णनीय रूप वाला गाढ़ अन्धकार रूप जल था—'तमं आसीत् तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वं मा इदम्' (ऋ० १०।१२९।३)। जब प्रजापति ने सृष्टि की कामना की तो उस की यह कामना ही सृष्टि का प्रथम बीज रेतस् बनी। इस बीज या रेतस् से गति उत्पन्न हुई (ऋ० १०।१२९।४)। इस गति से अग्नि—उष्णता निकली जिस से सृष्टि प्रारम्भ हुई। इस मन्त्र में प्रयुक्त गर्भम् और अग्निम् से क्रमशः इन्हीं रेतस् और उष्णता का संकेत किया गया है। वैद० पृ० ८६–८६ भी देखें।

२. ह—ऐसा प्रसिद्ध है, परम्परा से ज्ञात है, निश्चित है। व्युत्पत्तिपक्ष में √हन् जाना से।

३

३. यत्—सा०--जिस (गर्भ को)। मही०--जब, पहले प्राचीन काल में। दस०—जिस (विश्व में)।

(ii) अवे० ४।२।६ में यत् के स्थान पर 'अग्रे' पाठ है। जैसा ऊपर मन्त्र ४४।२ में लिखा गया है, 'अग्रे' सृष्टि के आरम्भ की अवस्था का द्योतक है। सामान्यतः 'यत्' वैदिक भाषा में काल का निर्देशक है। मन्त्र ४५।१ के अनुसार यह सृष्टि के प्रयत्नकाल का द्योतक है।

४. बृहतीः—सा०--महान्। मही०--महान्, बहुल। दस०--महत् परिमाण वाली। तैसं०, मैसं० और कासं० में इस के स्थान पर 'महतीः' पाठ है।

(ii) बृहतीः--√बृह्, बढ़ना, उद्यम करना से। महतीः-√मह् पूजनीय होना, पूजा करना, बढ़ना से। अतः बढ़े हुए, फैले हुए, व्यापक।

५. विश्वम्—सा०—सब जगत् में। दस०—सब में प्रविष्ट (गर्भ को)। ग्रि० हिअवे० ४।२।६ में इसे 'दधानाः' का कर्म मानते हैं—सब को प्राप्त करते हुए।

(ii) कोषों में यह पद 'सर्वत्र' का भी द्योतक है। सा० का भाव भी यही है।

६. आयन्—सा०—व्याप्त हुए, फैले।

(ii) अवे० में इस के स्थान पर 'आवन्' पाठ है जो √अव् जाना का लङ् लकार प्रथम पु० बहुवचन का रूप है। ग्रि० ने वहाँ 'विश्वं दधानाः गर्भम् आवन्' योजना की है। परन्तु इस का 'प्राप्त होना', 'फैलना' अर्थ सुस्पष्ट है। वही अर्थ 'आयन्' का है-√अय् जाना से लङ् प्रथम पु० बहु व०।

७. गर्भं दधानाः—गर्भम्—सा० हिरण्मय अण्डे के अन्दर वर्तमान प्रजापति। उवट—हिरण्यगर्भ को। दस०—सब (वस्तुओं) के मूल प्रधान को। ग्रि०—बीज।

(ii) प्रजापति को जब सृष्टिरचना की इच्छा हुई तो उस ने उस समय सर्वत्र व्याप्त तुच्छय अन्धकार से आवृत अप्रकेत सलिल नामक जलों को सृष्टि-बीज के बोने की भूमि बनाया। यह बीज प्रजापति की कामना ही थी। अतः यहाँ जलों को गर्भ का धारक कहा है। ऊपर आपः पर भी टिप्पणी देखें। तै०

सं० ४।१।८।६ में इस के स्थान पर 'दक्षं दधानाः' पाठ है। अगले मन्त्र में दक्षम् पर टिप्पणी देखें।

८. जनयन्तीरग्निम्—सा०—अग्नि से उपलक्षित सम्पूर्ण आकाश आदि भूतों के उत्पादक। उवट—१. अग्निरूप हिरण्यगर्भ २. हिरण्यगर्भ को उत्पन्न करने वाले। दस०—'जनयन्तीः' को 'अग्निम्' से पृथक् करते हैं—'जनयन्तीः'—पृथिव्यादि को प्रकट करने वाले। 'अग्निम्' को 'समवर्तत' का कर्म बना कर—सूर्य आदि रूप अग्नि को सम्यक् प्रवृत्त करे' अर्थ करते हैं। पीटर्सन—आग को उत्पन्न करते हुए।

(ii) यह अग्नि, जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, वह उष्णता है जो आपः में ईश्वर की कामना रूपी बीज के वपन से उत्पन्न गति से प्रादुर्भूत होती है। प्रकृति के परमाणुओं की संगति कर अनेक प्रकार के पदार्थों आदि को उत्पन्न करती है—अंगति गच्छतीति अग्निः। इस कारण यह समस्त सृजक शक्तियों की मूल या अग्रणी भी है। अग्नि के इस यज्ञमय स्वभाव के कारण ही अगले मन्त्र में इसे 'यज्ञम्' (√यज् देवपूजा, संगतिकरण और दान अर्थों में—से) कहा है। अथ० ४।२।८ में इसे 'वत्सम्' (—√वस्[1] से—वसत्यस्मिन्निति। उ० ३।६२ दभा०)—'सब का निवासस्थान' कहा है।

९ ततः—सा०—गर्भभूत प्रजापति से। उवट, मही०—संवत्सर तक रहे गर्भ से। दस०—सर्वत्र व्याप्त सब के मूल प्रधान रूप गर्भ से। (य० २७।२५ पदार्थः)। भावार्थ में यह इस मूल प्रधान के धारक (जलों की ओर निर्देश करता) मालूम देता है। पीटर्सन—तब (जब जल जगत् में फैले)।

(ii) मन्त्र में एक कालद्योतक पद—यत्' आ चुका है। उस के अनुरूप तत्, तदा, ततः आदि कोई पद अभिप्रेत है। देखो हि० अ०।

१०. देवानाम्—सा०—देव आदि। दस०—उत्तम पृथिवी आदि पदार्थों का (सम्बन्धी-हि० अ०)। पीटर्सन—देवताओं का।

---

१. इस के अर्थ रहना, आच्छादन करना, रखना, जमाना, लेना, काटना आदि होते हैं और यह अनेक गणों की है।

(ii) ऊपर मन्त्र ७।५, २७।३, ३७।१, ४१।१ आदि भी देखें अवे० ४।२।८ में इस के स्थान पर 'तस्योत जायमानस्योल्ब आसीद्धिरण्ययः'— 'और उत्पन्न होते हुए उस (गर्भ) का आच्छादक परम तेजस्वी था' है। इस से 'देवानाम्' का 'आपस् के गर्भ से उत्पन्न शक्ति पदार्थ और जीव आदि' अर्थ लेने की ओर बलात् प्रेरणा होती है। ऊपर मन्त्र ७।५; २७।३; ३७।१; और ४१।१ आदि में 'देव' पद पर टिप्पणियाँ भी देखें।

११. सम् । अवर्तत—सा०—उत्पन्न हुआ । उवट—हुआ, था । दस०—सम्यक् प्रवृत्त करे ।

(ii) इस अंश में प्रजापति को समस्त जीवों और पदार्थों आदि का प्राण बता कर उसे उपास्य देव बताया है। यह देव पहले से ही, सृष्टि के पहले से ही विद्यमान था—'आनीदवातं स्वधया तदेकम्' (ऋ० १०।१२९।२)। वह जन्य नहीं था, जनक था। कृष्णयजुर्वेद संहिताओं में इस के स्थान पर 'निरवर्तत'—'पूर्ण था, सिद्ध था, उत्पादक था' (देखो विको० ५५८।१—निर्वृत्) पाठ से भी यही अर्थ प्राप्त होता है। ऊपर 'देवानाम्' के अन्तर्गत अवे० के पाठ का अर्थ भी देखें। वहाँ 'आसीत्' पद विशेष ध्यान देने योग्य है।

१२. असुः—सा०—प्राणात्मक वायु । उवट, मही०—प्राण रूप आत्मा, लिङ्ग शरीर रूप हिरण्यगर्भ । दस०—प्राण रूप ईश्वर । पीटर्सन—आत्मा ।

(iii) अस्यति प्रक्षिपति वायुमित्यसुः प्राणः (उ० १।१० दभा०)। यास्क ने भी नि० ३।८ और १०।३४ में इसी व्युत्पत्ति को स्वीकार किया है। वहाँ यह 'प्रज्ञा' का नाम भी है। जै० उ० १।४०।७ ने इसे √सू उत्पन्न होना से—'एषु हीदं सर्वमसूतेति' (देखो वैए०, वैको०) से सिद्ध किया है। प्रक्षेप अनेकविध होता है। शासक दण्ड्य पुरुषों पर दण्ड का प्रक्षेप करता है।

---

१. देवताविषय के विशेष विस्तार के लिए वेभाप० ६।२१-४२; २२।१२-२५ आदि स्थल तथा महर्षिदयानन्द और देवता शब्द का अर्थ देखें।

परमात्मा सब को अपने शासन में रखता है, सब को उत्पन्न करता है, सब उसी में रहते हैं। अतः प्रजापति को सब का प्राण कहा गया है। तु० क० अगले मन्त्र में—'यो दे॒वेष्वधि॑ दे॒व एक॒ आसी॑त्'।

१३. एकः॑—देखो पाउ० सूसं० ४६ (vi)। श्रेष्ठ, गतिशील, कर्मठ, अकेला ही, एकमात्र।

(ii) मैसं० के पाठ में 'एकः' पद को छोड़ दिया गया है।

संहितापाठः	पदपाठः
५१. यश्चि॒दापो॑ महि॒ना प॒र्यप॑श्य॒द्	यः। चि॒त्। आपः॑। म॒हि॒ना। प॒रि॒ऽअप॑श्यत्।
दक्षं॒ दधा॑ना ज॒नय॑न्तीर्य॒ज्ञम्।	दक्ष॑म्। दधा॑नाः। ज॒नय॑न्तीः। य॒ज्ञम्॥
यो दे॒वेष्वधि॑ दे॒व एक॒ आसी॑त्	यः। दे॒वेषु॑। अधि॑। दे॒वः। एकः॑। आसी॑त्।
कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम॥८॥	कस्मै॑। दे॒वाय॑। ह॒विषा॑। वि॒धे॒म॥८॥

अयं मन्त्रो य० २७।२६; ३२।७; काय० २९।३६; तैसं० ४।१।८।६ स्थलेषु विलसति।

सायणभाष्यम्—यज्ञं यज्ञोपलक्षितं विकारजातं जनयन्तीः उत्पादयन्तीः तदर्थं दक्षं प्रपञ्चात्मना वर्धिष्णुं प्रजापतिमात्मनि दधानाः धारयित्रीः॥ दधातेर्हेतौ (पा० ३।२।१२६) इति शानच्। 'अभ्यस्तानामादिः' (पा० ६।१।१८९) इत्याद्युदात्तत्वम्॥ ईदृशीरापः॥ व्यत्ययेन प्रथमा॥ अपः प्रलयकालीनाः। महिना महिम्ना। छान्दसो मलोपः। स्वमाहात्म्येन यश्चित् यश्च प्रजापतिः पर्यपश्यत् परितो दृष्टवान्। यः च देवेष्वधि देवेषु मध्ये देवः तेषामपीश्वरः सन् एकोऽद्वितीय आसीद् भवति॥ अस्तेश्छान्दसो लुङ्। 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' (पा० ७।३।९६) इतीडागमः॥ तस्मै कस्मा इत्यादि गतम्॥ ८॥ (५१)॥

हिन्दी अनुवाद—[**यः**] जिस ने [**महिना**] अपने सामर्थ्य से [**आपः**] जलों को [**दक्षम्**] (सृजन की) शक्ति के [**दधानाः**] धारण करने वाले (और) [**यज्ञम्**] (संसाररूपी) संगतिकर्म को [**जनयन्तीः**] उत्पन्न करने वाले [**पर्यपश्यद्**] बनाया (श०—भली प्रकार देखा), [**यः**] जो [**देवेषु**] दिव्य गुण युक्त पदार्थों और जीवों में [**एकः**] एकमात्र [**देवः**] दिव्य गुण कर्म और स्वभाव वाला [**अधि**] स्वामी (श० स्वामित्व में) [**आसीत्**] है, [**देवाय**] दिव्य रूप [**कस्मै**] सुखस्वरूप (उस परमात्मा) की (हम) [**हविषा**] हवियों द्वारा [**विधेम**] उपासना करते रहें ॥८॥ (५१)॥

टिप्पणियां—१. **यश्चिद्**०—पिछले मन्त्र में बताया गया है कि सृष्टि का बीज बोए जाने और उस से सृष्टिक्रिया चालू होने के समय प्रजापति पूर्व से ही विद्यमान सब का अधिष्ठाता था। प्रकृत मन्त्र में बताया गया है कि उस प्रजापति ने ही 'आपः' को सृष्टि के प्रारम्भ करने में समर्थ बनाया और इस कारण वह आपस् से उत्पन्न हुई सृष्टि का एकमात्र सर्वोपरि शासक है।

२. चित्—ऊपर मन्त्र १६।२ देखें। भाष्यकारों ने इसे पादपूरक माना है। परन्तु निर्दिष्ट टिप्पणी के आधार पर इसे 'यः' का विशेषण मानना अधिक अच्छा होगा—पूजनीय, यज्ञमय, सृष्टिरचना में प्रवृत्त हुआ (परमेश्वर)।

३. आपः—द्वितीया के अर्थ में प्रथमा है—अपः। ये जल सृष्टि से पहले प्रलयकाल में 'सलिल' नामक हैं (तु० क० ऋ० १०।१२६।३)। पिछला मन्त्र भी देखें।

४. महिना—सा०—महिमा से। उवट—ऐश्वर्य से। दस०—अपनी व्यापकता की महिमा से। पीटर्सन—अपनी शक्ति में।

(ii) इसे महिम्ना (महिमन् तृतीया एक व०) का वैदिक रूप माना गया है। इसे 'महि' या 'महिन्' (महिन्तमाय ऋ० १०।११५।५६ में) का तृतीया का एक व० लेना भी अनुचित न होगा। तु० क० महि, महि, महिकेरवः, महिक्षत्रौ, महित्वनम्, महित्वना, महित्वम्, महित्वा, महित्वेभिः, महिनः, महिनः, महिनि, महिनी आदि ऋग्वेद के पद।

(iii) महिमन्, महि, महिन्— महत्ता, विशालता, प्रभुता, सामर्थ्य।

५. परिऽअपश्यद्—भाव यह है कि आपः तो अप्रकेत सलिल रूप में पहले ही उपस्थित थे। परन्तु उन में सृजन की शक्ति उत्पन्न नहीं हुई थी। प्रजापति ने उन्हें सृष्टिरचना के योग्य समझ कर इस कर्म में समर्थ बनाया।

६. दक्षम्—सा०—प्रपञ्च रूप में बढ़ने को उद्यत प्रजापति को। मही०—कुशल प्रजापति को। दस०—बल को। पीटर्सन—शक्ति।

(ii) निघं० २।९।१४ में दक्षः बलनामों में पढ़ा गया है। यास्क ने दक्षिण (हस्त) को √दक्ष् उत्साह करना से और √दाश् दान देना (नि० १।७) से व्युत्पन्न किया है, और दक्षिणा को √दक्ष् समृद्ध होना से माना है। ऐया० २३८ ने √दाश् से व्युत्पत्ति को लोकव्यवहारजन्य माना है तथा √दक्ष् के अनुरूप भायो० * देक्स्–का अर्थ 'लेना' और * देक्–का अर्थ 'आदर दिखाना, स्वीकार करना' दिया है। परन्तु डा० सि० वर्मा के अनुरूप भायो० धातुओं से 'दक्ष' पद के बल अर्थ की प्राप्ति नहीं होती है। दक्षिण और दक्षिणा पदों में यह दक्ष पद साक्षात् उपलब्ध है। जैसा डा० फतहसिंह ने वैए० ३३१ (२) में लिखा है गृहस्थ की दक्षिणाग्नि उस के कुल की क्रियाशक्ति की द्योतक है। आपः रूपी अदिति से दक्ष की उत्पत्ति इसी क्रियाशक्ति की उत्पत्ति है (ऋ० १०।७२।४—देखो वैद०, पृ० १०४)। इस क्रियाशक्ति को ऋ० १०।१२९।४ में प्रजापति की कामना रूपी मनस् का प्रथम रेतस् कहा है—'कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।' यही रेतस् असत् और सत् का जोड़ने वाली कड़ी रहा (वही मन्त्र)। यही इस का महत्त्व है। ऐसी स्थिति में 'दक्ष' को √दस् उपक्षेपे से भी व्युत्पन्न किया जा सकता है।

७. यज्ञम्—सा०—यज्ञोपलक्षित विकारजात। हिऋ०—अग्नि। उवट—सृष्टियज्ञ। मही०—यज्ञ करने वाली, सृष्टि करने वाली प्रजाएँ। दस०—संगत संसार को। पीटर्सन--यज्ञ।

(ii) यज्ञ पद √यज् से निष्पन्न होता है। जो कुछ भी सङ्गत है,

सङ्गतिजन्य है वह सत्र यज्ञ है। ब्रह्म के कामना-रूपी रेतस् से उत्पन्न अग्निरूप उष्णता जब आपस् रूप प्रकृति के तत्त्वों को सङ्गत करती है तब सृष्टि की उत्पत्ति होती है। यह उष्णता ही संसार के सब पदार्थों में आर-पार और ऊपर-नीचे सर्वत्र विद्यमान होती है। इसी से सृष्टिक्रिया सम्भव होती है। (ऋ० १०।१२६।५)। अतः प्रजापति को आपस् को 'यज्ञ' के उत्पादन में समर्थ करने वाला बताया गया है। पाउ०· १४ तथा मन्त्र ३७।२–३ भी देखें।

८. यो दे॒वेषु॑— अवे० में इस के स्थान पर 'यासु देवीषु' पाठ है। देवी-पद आपस् के लिए प्रयुक्त हुआ है, और इस लिए समस्त उत्पद्यमान वस्तुओं का द्योतक है। अब पहले मन्त्र की टिप्पणियाँ और अनुवाद देखें।

९. एकः॑—श्री पीटर्सन ने लिखा है कि ग्रास० इस पद को मूल मन्त्र में से निकालने का सुझाव देते हैं क्यों कि मैसं० के पाठ में यह पद नहीं है। छन्द की आवश्यकता भी इस पद का अभाव चाहती है।

(ii) यह सुझाव स्वीकार्य नहीं। मैसं० का पाठ इस से पहले मन्त्र से सम्बन्ध रखता है। वैसे भी यह पद उस मन्त्र के अन्य सब पाठों में मिलता है। इस मन्त्र में भी यह पद ऋग्वेद और शुक्ल यजुर्वेद—दोनों के ही पाठों में मिलता है। छन्दों में एक वा दो अक्षरों के न्यूनाधिक्य से कोई परिवर्तन या हीनता नहीं मानी जाती है। अपि च—वेद में छन्दों के नामकरण में अर्थ को दृष्टि में रक्खा गया है। अक्षरों की संख्या गौण है। (देखो ऋग्वेद के ऋषि और उन का दर्शन; वेवा० ७।१–२; सीयर्स ऑफ दी ऋग्वेद ऐण्ड देयर मैसेज एण्ड फिलौसौफी; वेभाप० ४।१५६–१८०; ६।४७, ४७ अ; १०।९–३१ आदि)।

संहितापाठः	पदपाटः
५२. मा नो हिंसीज्जनिता यः पृथिव्या	मा । नः । हिंसीत् । जनिता । यः । पृथिव्याः ।
यो वा दिवं सत्यधर्मा जजान ।	यः । वा । दिवम् । सत्यऽधर्मा । जजान ॥
यश्चापश्चन्द्रा बृहतीर्जजान	यः । च । अपः । चन्द्राः । बृहतीः । जजान ।
कस्मै देवाय हविषा विधेम॥९॥	कस्मै । देवाय । हविषा । विधेम ॥९॥

अयं मन्त्रो य० १२।१०२ ; काय० १३।१०१ ; तेसं० ४।२।७।१ स्थलेष्वपि वर्तते ।

सायणभाष्यम्—स प्रजापतिर्नोऽस्मान् मा हिंसीत् मा बाधताम् । यः पृथिव्याः भूमेर्जनिता जनयिता स्रष्टा ॥ 'जनिता मन्त्रे' (पा० ६।४।५३) इति णिलोपो निपात्यते । 'उदात्तयणो हल्पूर्वात्' (पा० ६।१।१७४) इति पृथिवीशब्दाद्विभक्तेरुदात्तत्वम् । यो वा यश्च सत्यधर्मा सत्यमवितथं धर्मं जगतो धारणं यस्य स तादृशः प्रजापतिर्दिवमन्तरिक्षोपलक्षितान् सर्वांल्लोकान् जजान जनयामास ॥ 'जनी प्रादुर्भावे' । णिचि वृद्धौ 'जनीजृष्क्नसुरञ्जः' (भ्वा० धातुपा० पृ० १२।४) इति मित्त्वात् 'मितां ह्रस्वः' (पा० ६।४।९२) इति ह्रस्वत्वम् । ततो लिटि '०० अमन्त्रे०' (पा० ३।१।३५) इति निषेधादाम्प्रत्ययाभावे तिपो णलि वृद्धौ 'लिति' (पा० ६।१।१९३) इति प्रत्ययात् पूर्वस्योदात्तत्वम् । यश्च बृहतीर्महतीश्चन्द्रा आह्लादिनीरप उदकानि जजान जनयामास ॥ 'ऊडिदम्' (पा० ६।१।१७१) इत्यादिना अप्शब्दादुत्तरस्य शस उदात्तत्वम् ॥ तस्मै कस्मा इत्यादि गतम् ॥९॥ (५२) ॥

हिन्दी अनुवाद—(वह प्रजापति) [नः] हमें [मा हिंसीत्] पीड़ा न दे [यः] जो [पृथिव्याः] पृथिवी का [जनिता] उत्पादक है [वा] और [सत्यधर्मा] शाश्वतिक नियमों वाले [यः] जिस ने [दिवम्] द्युलोक को

[जजान] उत्पन्न किया है, [च] और [यः] जिस ने [चन्द्राः] प्रकाशक [बृहतीः] व्यापक [आपः] जलों को [जजान] (सृष्टि-) निर्माण के योग्य किया है । [देवाय] उत्तम गुण कर्म स्वभाव वाले [कस्मै] सुखस्वरूप (उस परमात्मा) की (हम) [हविषा] हवियों द्वारा [विधेम] उपासना करते रहें ॥९॥ (५२) ॥

टिप्पणियां—१. हिंसीत्—√हिंस् से लुङ् प्रथम पु० एक व० । मा के कारण अट् का लोप हो गया है । इस के अर्थ 'हानि पहुँचाना, बाधा देना, चोट पहुँचाना, मारना, पीडित करना' आदि हैं । सा०—बाधा न दे । मही०—बध न करे । दस०—रोगों से पीडित न करे । पीटर्सन—चोट न पहुँचाए ।

२. जनिता—सा०—उत्पन्न करने वाला । √जन् + णिच् + तृच् + पुल्लिंग प्रथमा एक व० । णिच् का लोप छान्दस है । (तु० क०—जनिता मन्त्रे । पा० ६।४।५३) ।

३. वा—यहाँ समुच्चय का द्योतक है, विकल्प का नहीं ।

४. दिवम्—सा०—अन्तरिक्ष आदि लोकों को । मही० – द्युलोक को। दस०—सूर्य आदि जगत् को । पीटर्सन—आकाश ।

(ii) द्युलोक और पृथिवी लोक का साहचर्य है । उन में क्रमशः पिता और माता की कल्पना है । इन दोनों में ही समस्त लोकों का अन्तर्भाव हो जाता है । मनु १।१३ के अनुसार जब जलों में स्थापित गर्भ रूप सुवर्ण अण्ड दो भागों में बँटा तब वे दो भाग द्युलोक और पृथिवीलोक बने। वेद में अनेकशः दोनों का एक साथ वर्णन भी पाया जाता है। (देखो ऋ० १।१६० तथा उस पर वैरी० पृ० ३६ पर मै० का लेख) ।

५. सत्यऽधर्मा सा०—जिस का जगत् को धारण करना रूप धर्म सच्चा है, यथार्थ है । उवट—सत्य का धारक । दस०—सत्यधर्म वाला जगदीश्वर । पीटर्सन—सच्चा और विश्वस्त ।

(ii) यह पद सत्यधर्मन् का प्रथमा एक व० का रूप है और बहुव्रीहि समास है तथा प्रजापति के लिए प्रयुक्त हुआ है । सत्य—पद √अस् धातु से निष्पन्न है और सत्ता, स्थायित्व, शश्वत्स्थिति का द्योतक है । सत्य ब्रह्म ही है

जिस के रूप मूर्त और अमूर्त, नश्वर और स्थायी, अचल और गतिशील तथा सत्तात्मक और विकासात्मक या प्रयत्नशील हैं। इस प्रकार जब सत्य अपने विकासात्मक रूप में उपस्थित होता है, तब वह ऋत के क्षेत्र में पहुँच जाता है। (देखो वैए० ७४०)।

(iii) "वस्तुतः सत्य और ऋत का जोड़ा, आध्यात्मिक प्रसङ्गों में, प्रचलित अर्थ से कुछ भिन्न अर्थ रखता है। इन का अर्थ क्रमशः सत्त्व (बीइङ्ग) और भाव (बिकमिङ्ग) अथवा सत्ता और विकृति किया जा सकता है। पहला स्थिरता या निष्क्रियता का सूचक है, दूसरा परिवर्तन या विकार का। नाम रूपात्मक जगत् में ये दोनों तत्त्व सापेक्षिक रूपों में ही मिलते हैं, न वहाँ सत्त्व (बीइंग) ही आत्यन्तिक है और न भाव (बिकमिंग) ही।...."

(iv) " 'ऋत' शब्द विकार, परिवर्तन या गति-वाची 'भाव' शब्द का पर्याय है, और 'सत्य' शब्द से सत्त्व के अन्तर्गत उस स्थिरता या अगति का बोध होता है, जिस से ऋत या भाव की गति अथवा विकृति का सूत्रपात होता है। अतः ऋत या भाव (बिकमिंग) को यथार्थ में, गतिशील या विकृतिमय सत्त्व (बीइंग) कहा जा सकता है। इसी दृष्टिकोण से सत्य और ऋत को एक ही कहा जाता है।' (वैद० पृ० ४४–४५)।

(v) धर्म-पद √धृ धारण करना से बनता है। संस्कृत साहित्य में यह पद बहुत व्यापक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। उन सब के मूल में 'धारक नियम, अनुशासन, प्रतिबन्ध' का भाव है। ऋ० १०।९०।१६—'तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्' में भी धर्मपद 'धारक नियमों, शक्तियों' का द्योतक है। देखो ऊपर मन्त्र ३७ तथा टि० ३७।५। ऋग्वेद में बहुधा इन शक्तियों और नियमों को 'ऋत' शब्द से व्यक्त किया गया है। आधुनिकों ने 'ऋत' का अर्थ—'लॉ एण्ड आर्डर इन नेचर'—'प्रकृति में नियम और अनुशासन' किया है।

६. जजान—√जन् लिट् प्रथम पु० एक व०। य० १२।१०२ में इस के स्थान पर 'व्यानट्' (—व्याप्त किया) पाठ है। श० ७।३।१।२० में 'व्यानट्' का अर्थ 'बनाया, रचा' किया गया है।

७. अपश्चन्द्राः—सा०—आह्लादक जल। उवट—१. मनुष्य २. कमनीय जल। मही०—आह्लादक जगत् के कारण रूप जल जिन के द्वारा मानव की सृष्टि हुई। दस०—(अपः) जल और वायु (चन्द्राः) चन्द्रमा आदि लोक। पीटर्सन—देदीप्यमान जल।

(ii) श० ७।३।१।२० में इस मन्त्र के व्याख्यान में 'आपश्चन्द्राः' का अर्थ 'मनुष्य' किया है, सम्भवतः इस लिए कि वे आह्लादक कर्म करने वाले होते हैं। उवट का विचार है कि मनुष्यों को 'आपश्चन्द्राः' इस लिए कहा गया है कि पितृमार्ग से जाने वाले मनुष्य यज्ञ द्वारा चन्द्रलोक को प्राप्त होते हैं। मही० की एक और कल्पना भी है कि यहाँ कारण में कार्य का उपचार—व्यवहार किया गया है क्यों कि जलों से ही मानव की रचना होती है।

(iii) वस्तुतः सलिल रूप आपस् तो सृष्टिरचना से पूर्व ही विद्यमान थे। अतः उन की रचना का प्रसङ्ग ही उपस्थित नहीं होता। जैसा ऊपर वर्णन आ चुका है प्रजापति इन में सृष्टि की कामना रूपी रेतस् का आधान कर के इन्हें सृष्टिरचना में समर्थ बना देता है। हिन्दी अनुवाद में यही भाव लिया गया है।

(iv) ऊपरोक्त जल मूल प्रकृति के वाचक हैं। वे स्थूल दृश्यमान जल के द्योतक नहीं। द्युलोक और पृथिवीलोक की रचना के उपरान्त अन्तरिक्षस्थ लोक और वहाँ जल की भी रचना की गई—यो अ॒न्तरि॑क्षे॒ रज॑सो वि॒मानः॑ (ऋ० ।१२१।५—ऊपर मन्त्र ४८)। ये जल ही वृष्टि के रूप में मानव को आनन्द देते हैं। इन्हीं से प्राणियों और मनुष्यों की सृष्टि होती है। ये भाव भी ग्रहण किए जा सकते हैं।[1]

---

1. यजुर्वेद १२।१०२ के पाठ में तीसरे पाद में 'प्रथमः' पद भी पढ़ा गया है। यह पद ऋग्वेद में नहीं है। उवट मही० के मत में इसका अर्थ 'शरीरी (प्रजापति)' है और दस० के संस्कृतपदार्थ में—'जन्म आदि से पृथक् आदित्य' है। प्रस्तुत हि० अ० की दृष्टि में इस के 'प्रमुख, प्रथित, जगत् की रचना में प्रयत्नशील' आदि भाव निकलते हैं।

संहितापाठः	पदपाठः
१३. प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव। यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥१०॥	प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव। यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥१०॥

अस्य मन्त्रस्य संहिता-पद-पाठयोः एकरूपत्वात् पदच्छेदोऽधो दीयते—

प्रजाऽपते । न । त्वद् । एतानि । अन्यः । विश्वा । जातानि । परि । ता । बभूव ॥ यत्ऽकामाः । ते । जुहुमः । तत् । नः । अस्तु । वयम् । स्याम । पतयः । रयीणाम् ॥१०॥

अयं मन्त्रो य० १०।२० ; २३।६५ ; अवे० ७।७९।४ ; ८०।३; काय० ११।२९ ; २५।६७ ; तैसं० १।८।१४।२ ; ३।२।५।६ ; तैब्रा० २।८।१।२ : ३।५।७।१ ; नि० १०।४३, संवि० ७ स्थलेषु वर्तते । अन्तिमे स्थले दयानन्दसरस्वतिव्याख्यानमपि विलसति ।

सायणभाष्यम्—इळादधाख्य इष्टययने प्राजापत्यस्य हविषः 'प्रजापते' इत्येषानुवाक्या । सूत्रितं च–प्राजापत्य इळादधः प्रजापते न त्वदेतान्यन्यः' (आ० श्रौ० २।१४) इति । केशनखकीटादिभिर्दुष्टानि हवींष्यनयैवाप्सु प्रक्षिपेत् । सूत्रितं च—"अपोऽभ्यवहरेयुः प्रजापते न त्वदेतान्यन्यः" (आ० श्रौ० ३।१०) इति । चौलादिकर्मस्वप्येषा होमार्था । सूत्रितं च—'तेषां पुरस्ताच्चतस्र आज्याहुतीर्जुहुयादग्न आयूंषि पवस इति तिसृभिः प्रजापते न त्वदेतान्यन्य इति च' (आश्व० गृ० १।४।४) इति ।

(ii) हे प्रजापते त्वत् त्वत्तोऽन्यः कश्चिद् एतानि इदानीं वर्तमानानि विश्वा विश्वानि सर्वाणि ॥ 'शेश्छन्दसि बहुलम्' (पा० ६।१।७०) इति लोपः ॥ जातानि प्रथमविकारभाञ्जि ता तानि सर्वाणि भूतजातानि न परि बभूव न परिगृह्णाति न व्याप्नोति । त्वमेवैतानि परिगृह्य स्रष्टुं शक्नोषीति भावः ॥ परिपूर्वो भवतिः परिग्रहार्थः ॥ वयं च यत्कामाः यत्फलं कामयमानास्ते तुभ्यं जुहुमः हवींषि प्रयच्छामः, तत् फलं नः अस्माकम्-

स्तु भवतु । तथा वयं च रयीणां धनानां पतयः ईश्वराः स्याम भवेम ॥ 'नामन्यतरस्याम्' (पा० ६।१।१७७) इति नाम उदात्तत्वम् ॥१०॥ (५३) ॥

हिन्दी अनुवाद—[प्रजापते] हे प्रजाओं के पालक (परमात्मा) [त्वत्] तुम्हारे से [अन्यः] भिन्न कोई दूसरा [एतानि] इन [ता] उन [विश्वा] सम्पूर्ण [जातानि] उत्पन्न पदार्थों (आदि) को [न] [परिबभूव] व्याप्त नहीं करता है । [यत्कामाः] जिस जिस इच्छा से युक्त (हम) [ते] आप को [जुहुमः] उपासना करें [तत्] वह सब [नः] हम को [अस्तु] प्राप्त हो जाए । [वयम्] हम [रयीणाम्] धनों के [पतयः] स्वामी [स्याम] हो जाएँ ॥१०॥ (५३) ॥

टिप्पणियां—१. प्रजापते[1]—पिछले मन्त्रों में जिस का हिरण्यगर्भ, कः और यः आदि पदों से उल्लेख किया गया है, वह प्रजापति । उसे प्रजापति इस लिए कहा गया है कि वह प्रजा को उत्पन्न करता है उस की रक्षा करता है, उन में व्याप्त है और उन की कामनाओं को पूरा करता है ।

२. त्वद् अन्यः—उ०—तुम्हारे से भिन्न कोई देवताविशेष । दस०—तुम्हारे से भिन्न दूसरा कोई । अन्यः के योग में पञ्चमी आती है । त्वत् युष्मद् का पञ्चमी एक व० है । मन्त्र ४२।६ में त्वा' पर टि० भी देखें । सेवनीय, उपास्य तुम्हारे से भिन्न दूसरी कोई प्राणदायक शक्ति । 'अन्यः' को दस० ने उ० ४।१०६ में बाहुलक से √अन् से व्युत्पन्न किया है—अनिति जीवयतीत्यन्यः ।

---

१. अवे० ७।७९।४ में 'प्रजापते' के स्थान पर अमावास्ये' पाठ है, ७।८०।२ में 'प्रजापते' ही है । अतः अमावास्या और प्रजापति के मूल में एक ही विचार रहा होगा ।

२. 'अन्यः' का एक व्याख्यान यह भी हो सकता है—नयति इति न्यः । नायक इत्यर्थः । न न्यः अन्यः । संज्ञा के साथ नञ् का समास पर्युदास होता है और उस का अर्थ 'अब्राह्मण' पद के अर्थ के समान किया जाता है । अतः 'नायक भिन्न परन्तु नायक सदृश' । भाव यह है कि नायक होने का प्रश्न तो क्या, तुम्हारे से भिन्न कोई नायक सदृश भी नहीं है । पर्युदास नञ् के विवेचन के लिए देखो साहित्यदर्पण ७ तथा लेखक का 'अहिंसा' पर लेख आइओका० दूरभङ्गा परिसम्मत—सम्पुस्तिका, धर्मशास्त्रविभाग ।

३. विश्वा, ता—विश्वानि और तानि के वैदिक रूप। तु० क० 'शेश्छन्दसि बहुलम्'। उन सम्पूर्ण और सर्वत्र विद्यमान (प्राणियों) को। ता--उवट--जो उत्पन्न हो चुके हैं, या उत्पन्न होंगें। तद् √तन् फैलना से व्युत्पन्न होता है। (उ० १।१३२; ऊपर मन्त्र ५।१ भी देखें)।

४. जातानि--प्राणिसमूह। अवे० में इस के स्थान पर रूपाणि' का प्रयोग है। उस से ज्ञात होता है कि 'जातानि' केवल 'प्राणियों' का ही द्योतक नहीं, प्रत्युत 'समस्त उत्पन्न और उत्पत्स्यमान पदार्थ, भाव, स्थिति आदि' का भी द्योतक है। तु० क० दस० 'उत्पन्न हुए भूगोल आदि जगत्' (सं० वि० ७) तथा एतानि--'पृथिवी आदि भूत' (य० २३।६५); जीव, प्रकृति आदि वस्तु' (य० १०।२०)

५. परि, बभूव—सा०—परिग्रहण, व्याप्त करता है अर्थात् परिग्रहण कर के रचने में समर्थ है। मही०--रचने और संहार करने में समर्थ है। दस०--व्यापक है। पीटर्सन--शासन करते हो। ये त्वदन्यः न को पृथक् वाक्य मान कर 'तुम्हारे सिवा दूसरा नहीं है' अर्थ करते हैं।

(ii) अवे० में इस के स्थान पर परिभूर्जान पाठ है। वहाँ अर्थ है—'तुम्हारे से भिन्न अन्य कोई व्यापक शक्ति (परिभूः) सम्पूर्ण रूपों का निर्माण नहीं करती है।' इस की दृष्टि में 'परिबभूव' का अर्थ 'व्यापक हो कर रचता है' करना उचित रहेगा। देखो दस० का संवि० ७ का और मही० का य० १०।२० का व्याख्यान।

६. यत्कामाः—यः कामः येषां ते। जिस कामना वाले। जिस कामना को धारण करते हुए। अर्थात् जिन-जिन इच्छाओं की पूर्ति की इच्छा करने वाले। सा०—जिस फल की चाह रखते हुए। पीटर्सन—हमारे मन की कामनाएँ।

७. जुहुमः--√हु से लट् लकार उत्तम पु० बहु व०। सा०—हवियां दें। दस०—१. भक्ति करें और आश्रय लें (संवि० ७); २. प्रशंसा करें (य० २३।६५); ३. ग्रहण करें, सेवन करें (य० १०।२०)। पीटर्सन—पुकारें।

(ii) √हु के मूल अर्थ दान, अदन और आदान हैं। विको १३०१, का० १ में √हु के अर्थ भी देखें। पीटर्सन का 'पुकारें' अर्थ भावानुवाद मात्र है। य० १०।२० में इसके पश्चात् स्वाहापदयुक्त एक हवन करने का मन्त्र भी जोड़ा गया है। अतः हवन करना, आश्रय लेना, उपासना करना आदि अर्थ भी वेदपुरुष को अभीष्ट हैं।

(iii) इस मन्त्र भाग में वैदिक धर्म का एक मूल भाव निहित है—परमात्मा से आदान-प्रदान। 'हम दें और लें'—'कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः [अवे० ७।५० (५२)।८]—कर्म मेरे दाएँ हाथ में है तो उस का फल बाएँ हाथ में। यही कर्म के सिद्धान्त का मूल है। कर्म का फल अवश्य मिलेगा। कार्य कारण के अनुरूप होता है। अतः अच्छे कर्मों का फल अच्छा ही मिलेगा। आधुनिकों ने इस को 'गिव ऐण्ड टेक इज़ दी की नोट औफ वैदिक रिलीजन—देना और लेना वैदिक धर्म का मूल भाव है' कहा है, परन्तु यह कर्मवाद है, अदला-बदली नहीं है। अतः यह भासमान अदला-बदली वस्तुतः—कारण या बीज का कार्य या फल में पर्यवसान मात्र है। तुक० प्रधान मन्त्री डा० पं० जवाहरलाल नेहरू द्वारा प्रचारित नूतन राष्ट्रीय नारा—'आज परिश्रम कल लाभ' (हिन्दुस्तान टाइम्ज, ति० २४।६।६७, पृ० १२ का० ६)।

८ 'वयं स्याम०—वैदिक मन्त्रों में सब की समृद्धि के लिए प्रार्थना की गई है। वहाँ किसी भी स्तोता की निर्धनता की कल्पना नहीं है। यदि यजमान निर्धन होगा तो यज्ञ से देवों को और दक्षिणा से ब्राह्मणों को तृप्त नहीं कर सकेगा। अपने-अपने कर्मों के अनुसार परमेश्वर के न्याय से समृद्ध होने में ही ऋषियों की आस्था है, मानव द्वारा कृत्रिम समता सम्पादन में नहीं।

(ii) इस मन्त्र का संहितापाठ ही पदपाठ के रूप में पढ़ा गया है। इस में पदपाठ के कोई नियम नहीं लगाए गए हैं। अतः संहिता और पद पाठों में कोई भेद नहीं है। इस प्रकार के मन्त्र ऋग्वेद में छै हैं (वेला० ऋक्सूक्त भूमिका पृ० २४ पाटि० ४४)। इन्हें पदपाठ की रचना के पश्चात् मिलाया गया माना जाता है। परन्तु यह भी सम्भव है कि इन मन्त्रों के अनेकविध पदच्छेद शाकल्य को अभिप्रेत रहे हों और उन्हें इन में इति और अवग्रह आदि का प्रयोग उचित न मालूम हुआ हो (वेभाप० ६।५४ देखें)।

ऋ० १०।१२५—वाक्सूक्तम्

ऋषिः—वाग् आम्भृणी। देवता—(वाग्रूपः) परमात्मा। छन्दः—२ जगती; १, ३–८ त्रिष्टुप्। स्वरः—२. निषादः; १, ३–८ धैवतः।

संहितापाठः	पदपाठः
१४. अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।	अहम्। रुद्रेभिः। वसुऽभिः। चरामि। अहम्। आदित्यैः। उत। विश्वऽदेवैः॥
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा॥ १॥	अहम्। मित्रावरुणा। उभा। बिभर्मि। अहम्। इन्द्राग्नी इति। अहम्। अश्विना। उभा॥ १॥

सायणभाष्यम्—'अहम्' इत्यष्टर्चं त्रयोदशं सूक्तम्। अम्भृणस्य महर्षेर्दुहिता वाङ्नाम्नी ब्रह्मविदुषी स्वात्मानमस्तौत्। अतः सर्षिः। सच्चित्सुखात्मकः सर्वगतः परमात्मा देवता। तेन ह्येषा तादात्म्यमनुभवन्ती सर्वजगद्रूपेण सर्वस्याधिष्ठानत्वेन चाहमेव सर्वं भवामीति स्वात्मानं स्तौति। द्वितीया जगती, शिष्टाः सप्त त्रिष्टुभः। तथा चानुक्रान्तम्—'अहमष्टौ वागाम्भृणी तुष्टावात्मानं द्वितीया जगती' इति। गतो विनियोगः॥

(ii) अहं सूक्तस्य द्रष्ट्री वागाम्भृणी यद् ब्रह्म जगत्कारणं तद्रूपा भवन्ती रुद्रेभी रुद्रैरेकादशभिः॥ इत्थंभावे तृतीया॥ तदात्मना चरामि। एवं वसुभिरित्यादौ तत्तदात्मना चरामीति योज्यम्। तथा मित्रावरुणा मित्रं च वरुणं च॥ सुपां सुलुक्०' (पा० ७।१।३९) इति द्वितीयाया आकारः॥ उभा उभौ अहमेव ब्रह्मीभूता बिभर्मि धारयामि। इन्द्राग्नी

अप्यहमेव धारयामि । उभा उभौ अश्विना अश्विनौ अप्यहमेव धारयामि ।

(iii) मयि हि सर्वं जगच्छुक्तौ रजतमिवाध्यस्तं सद् दृश्यते । माया च जगदाकारेण विवर्तते । तादृश्या मायया आधारत्वेनासङ्गस्यापि ब्रह्मण उक्तस्य सर्वस्योत्पत्तिः ॥१॥ (५४) ॥

हिन्दी अनुवाद--[**अहम्**] (गतिशील वाणी रूपी) में [**रुद्रेभिः**] रुद्रों [**वसुभिः**] वसुओं के साथ, [**अहम्**] मैं [**आदित्यैः**] आदित्यों [**उत**] और [**विश्वदेवैः**] सम्पूर्ण दिव्य (पदार्थों और जीवों) के साथ [**चरामि**] गति करती हूँ । [**अहम्**] मैं [**उभा**] दोनों ही [**मित्रावरुणा**] मित्र और वरुण को, [**अहम्**] मैं [**इन्द्राग्नी**] इन्द्र और अग्नि को [**अहम्**] मैं [**उभा**] दोनों [**अश्विना**] अश्विनों को [**बिभर्मि**] धारण करती हूं ॥१॥ (५४ ॥)

टिप्पणियां--१. अहम्--सा०--सूक्त की द्रष्ट्री आम्भृणी वाक् । ग्रिहि० अवे०--इस में पुरुषविध रूप में ईश्वर रूप में मानी गई वाणी की महिमा है । यह वाक् आत्मा की प्रथम रचना और प्रतिरूप है । यही मनुष्यों और देवताओं में आदान-प्रदान का माध्यम है ।

(ii) इस मन्त्र का देवता परमात्मा[1] है । यहाँ पर परमात्मा को 'अहम्' पद द्वारा द्योतित किया गया है--'अतति व्याप्नोतीत्यहमात्मा हिरण्यगर्भः' (सूर्य दैवज्ञपण्डित की गी० १०।२० पर टीका पृ० ७६६)[2] । अतः जगत् में व्याप्त परमात्मा का ही नाम 'अहम्' है ।यह पद सर्वनामवत् प्रयुक्त होता है । अतः इस के प्रयोग से किसी शक्तिविशेष या व्यक्तिविशेष के आत्मवर्णन की भ्रान्ति हो जाती है । यास्क ने नि० ७।१-२ में ऐसी ऋचाओं को आध्यात्मिकी कह कर पाठक को इस भ्रान्ति से सावधान किया है । इस प्रकार की सब ऋचाओं के

---

१. ऋसअ० का लेख 'वागाम्भृणी आत्मानं तुष्टाव' है । आत्मा परमात्मा का भी द्योतक हो सकता है, और अपने आप का भी ।

२. स्वामी दयानन्द ने भी ऋ० ४।२६।१-२ में 'अहम्' का अर्थ 'सृष्टिकर्तेश्वरः', 'सर्वधर्त्ता सर्वस्रष्टेश्वरः', 'जगदीश्वरः' ४।४२।३ में 'महान् व्याप्तः' और ४।४२।४ में 'परमात्मा' किया है ।

भाव का पर्यवसान प्रथम पुरुष में अभीष्ट है (देखो वेमाप० ४।३२-३८। ४।३६-४४ भी देखें)।

(iii) इस सूक्त की ऋषि आम्भृणी वाक् है। आप्यते आप्नोति वा अम्भः (उ० ४।२१०)। जल सृष्टि के पहले सलिल अवस्था में सर्वत्र व्याप्त थे (ऋ० १०।१२९।३)। अम्भसा ऋणोति गतिं करोति इति अम्भृणः, तस्य इयमित्याम्भृणी--जलों के द्वारा सृष्टि के लिये गति उत्पन्न करने वाला अम्भृण और उस की शक्ति आम्भृणी। 'ऋण' पद का मूल भाव गति ही है। श० १ ७।२।१-६ में बताया है कि उत्पन्न होने, यज्ञ करने, प्रवचन करने, प्रजा की इच्छा करने, किसी को आश्रय देने आदि कर्मों से ऋण उत्पन्न होता है। वस्तुतः कर्ज के अर्थ में ऋण तो इन कर्मों से दूर होता है, उत्पन्न नहीं। अतः ब्राह्मण इन कर्मों से उत्पन्न होने वाली विशिष्ट कल्याणकारिणी गति की और उल्लेख कर रहा है।

(iv) जब मनुष्य अपने आप को दूसरे पर व्यक्त करता है तब वह वाणी का प्रयोग करता है। जब कोई गति होती है--चाहे वह चेतन पदार्थ में हो चाहे अचेतन में तब उस से शब्द उत्पन्न होता है। यह शब्द अनेक बार तुरन्त सुनाई दे जाता है, अनेक बार ध्यान देने से और अनेक बार सूक्ष्म यन्त्रों की सहायता से। इसी प्रकार जब सृष्टि के प्रारम्भ में परमात्मा ने संसार की सृजक शक्तियों को व्यक्त किया और गति उत्पन्न हुई तब शब्द भी उत्पन्न हुआ। इसी कारण भारतीय वाङ्मय में स्वरः को वाक् का पर्याय (निघं० १।११।३१) और स्वरति को गतिकर्मा (निघं० २।१४।५४) और अर्चतिकर्मा (निघं० ३।१४।४१) माना गया है। यह गति और तज्जन्य शब्द एक दूसरे से भिन्न नहीं। ये ही सृष्टि के मूल कारण हैं। यह गति या शब्द ईश्वर की अपनी शक्ति या महिमा है। शब्द होने के कारण इस का नाम वाक् पड़ा और ब्रह्म की शक्ति होने से यह स्वयं भी ब्रह्म, प्रजापति, यज्ञ आदि नामों से यह विभूषित हुई।[1]

(v) यही वाक् इस सूक्त के ऋषि रूप में वर्णित की गई है। अथर्ववेद सर्वानुक्रमणी ने इस के ऋषि अथर्वा (=अहिंसित, अबाधगति) और देवता सर्व-

1. वैद० पृ० २५, वैए० ६२८, वैको० पृ० ४८३—४९० देखें।

रूप, सर्वात्मिका और सर्वदेवमयी वाक् बताए हैं।[1] ऋषि, देवता और छन्द तथा स्वर मन्त्र के अर्थ के निर्देशक होते हैं। अतः इस सूक्त का विषय वागाम्भृणी परमात्मा है। इस सूक्त के छन्द 'त्रिष्टुप्'––तीन रूपों में–परा, पश्यन्ती और मध्यमा के रूप में स्तुत तथा 'जगती'–भृशं गच्छतीति जगत्–बहुविध गति करने वाला हैं, और स्वर 'धैवतः'–धियः कर्माणि अत्र सन्ति इति धैवतः-कर्म, गति वाला तथा 'निषादः'–निषीदति संसक्तो भवति व्याप्नोतीति वा–व्यापक हैं।

(vi) इस वर्णन के अनुसार यहाँ पर 'अहम्' पद परमात्मा का ही द्योतक है। इस परमात्मा को चाहे वाक् रूप में समझा जावे, चाहे अन्य किसी रूप में। प्राचीनों के मत का अवलम्बन कर के यहाँ भी इस सूक्त का विषय वाग्रूप ब्रह्म माना गया है। हिन्दी अनुवाद में उत्तम पुरुष का ही अवलम्बन सौकर्य की दृष्टि से तथा अनुवाद को मूल पदों के अधिक समीप रखने के लिए किया गया है।

२. रुद्रेभिः—सा०—११ रुद्रों के रूप में। यहाँ इत्थंभूत में तृतीया है। दा० सा०— वीरों के साथ।

(ii) वैदिक देवतावाची पद विशेष भावों की द्योतक परिभाषाएँ हैं। उन्हें उन-उन नामों वाली काल्पनिक पुरुषविध या अपुरुषविध अथवा अभिमानी शक्तियों के रूप में समझना वैदिक साक्षी के विरुद्ध है। वेदों में देवताओं की संख्या एक, तीन और तेंतीस तथा इस से भी अधिक बताई गई है।

(iii) जब देवों को तीन बताया जाता है तब वसुओं, रुद्रों और आदित्यों के समूहों को एक-एक देवता माना जाता है। जब तेंतीस वा अधिक बताए जाते हैं तब रुद्र आदि का पृथक्-पृथक् परिगणन और विस्तार किया जाता है।

---

२. तु० क० 'अहं रुद्रेभिः' इत्यष्टर्चमथर्वा वाग्देवत्यं त्रैष्टुभं स्वयमेवाहमिति वाचं सर्वरूपसर्वात्मिकां सर्वदेवमयोमित्यस्तौत्।···इस के सम्पादक पं० भगवद्दत्त ने ऋ० १०।१२५ के ऋषि और देवता एक ही वागाम्भृणी माने हैं। देखो पृ० ३४।

(iv) ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार जो कुछ भी रुदित=रोना=शब्द करना से उत्पन्न हों वे रुद्र हैं (श० ९।१।१।६)। सृष्टि के समय गति से उत्पन्न शब्द से जो सृजक शक्तियाँ उत्पन्न हुईं वे रुद्र हैं। परमात्मा या वाक् उन में व्याप्त है। जै० उ० ४।२।६ की दृष्टि में ये शक्तियाँ प्राण हैं। एक अन्य वर्णन में अग्नि के रूपों रुद्र, सर्व=शर्व, पशुपति, उग्र, अशनि, भव, महादेव और ईशान को 'रुद्र' बताया है। सृष्टि के समय अप्रकेत सलिल में गति आने से शब्द और गरमी (देखो ऊपर मन्त्र ५०-५१) उत्पन्न होते हैं।

३. वसुऽभिः—वसुओं की संख्या आठ है। सा० ने पूर्ववत् एतन्नामक देवता माने हैं। दा० सा०—धनिकों के साथ।

(ii) तै० ३।३।६।७ में वसुओं को रुद्र आदित्य बताया है। तदनुसार इस मन्त्र में भी वसु और आदित्य को रुद्र का अथवा रुद्र और आदित्य को वसु का विशेषण माना जा सकता है। मन्त्र के पूर्वार्द्ध में दो बार अहम् का प्रयोग बताता है कि 'उत' के पूर्व तृतीयान्त सब पद एक ही तत्त्व की ओर संकेत करते हैं और आपस में विशेष्य-विशेषण हैं। जै० उ० ४।२।३ में प्राणों को वसु कहा है। ऋ० ६।५०।४ में वसु रुद्रपुत्र हैं और ५।५१।१० में आदित्यों और वसुओं को एक बताया है। वासयन्तीति वसवः। जो आच्छादक हैं, अपने अन्दर धारण करते हैं। श० ११।६।३।६ ने अग्नि, पृथिवी, वायु अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यु, चन्द्रमा और नक्षत्रों को वसु कहा है क्यों कि सब कुछ इन के अन्दर ही है।

४. आदित्यैः—प्रजापति की इच्छा रूपी मन के रेतस् (ऋ० १०।१२९।४) से सर्वप्रथम प्रदीप्त होने के कारण आदित्य को आदित्य कहा जाता है (ऐ० ३।३४)।

(ii) सामान्यतः आदित्यों को यह नाम उन की आदान=ग्रहण करने की शक्ति से प्राप्त हुआ है (श० २।१।२।१८; तै० ३।६।२१।२)।

(iii) ब्राह्मणों में वर्ष के बारह महीनों, प्राणों, प्रजाओं, पशुओं, गौओं और सब कुछ आदि को आदित्याः कहा है (देखो वै० को०)।

(iv) दा० सा०—स्वातन्त्र्य वीरों के साथ। सा० आदि-आदित्य नामक देवों के साथ।

५. विश्वदेवैः—ऋग्वेद में विश्वेदेवाः का वर्णन अनेकविध आया है। एक स्थान (ऋ० ८।३५।३) पर विश्वे देवाः को ही तेंतीस देवता बताया है। कहीं अश्विनौ को इन से पृथक् और कहीं इन के अन्तर्गत बताया है। ऋ० १।१४।३ में इन का परिगणन इन्द्रवायू, बृहस्पति, मित्रा, अग्नि, पूषा, भग, आदित्याः और मरुद्गण, ऋ० १०।६५।१ में अग्नि, इन्द्र, वरुण, मित्र, अर्यमा, वायु, पूषा, सरस्वती, सजोषसः आदित्याः, विष्णु, मरुतः, स्वर्, बृहत्, सोम, रुद्र, अदिति, और ब्रह्मणस्पति तथा ऋ० ८।२८।२ में वरुण, मित्र, अर्यमा, रातिषाचः, अग्नयः, पत्नीवन्तः, वषट्कृताः किया गया है। (देखो वेभाप० ४।१३७-१३६)।

(ii) विश्वदेवाः—विश्वं सर्वं दीव्यन्ति इति विश्वदेवाः—सब को सर्वत्र प्रकाशित करने वाले, आनन्द देने वाले, जीतने वाले आदि। ब्राह्मणग्रन्थों में सूर्य की किरणों, प्राणों, ऋतुओं, दिशाओं, विश् (प्रजा, वैश्य), इस सब कुछ, आदि को विश्वे देवाः कहा है। श० १४।६।१।११ के मत में ये अनन्त हैं। सृष्टि की शक्तियाँ भी अनन्त हैं क्यों कि वे अनन्त ब्रह्म से प्रादुर्भूत होती हैं। पाउ० सूसं० ८१ टि० में पाटि० १ भी देखें।[1]

६. चरामि—घूमती हूँ, गति करती हूँ। अर्थात् उन में व्याप्त हूँ, वे मेरी ही शक्तियाँ हैं। मेरे बिना वे निर्जीव हैं।

७. मित्रावरुणा—मित्रावरुणौ-वैदिक रूप। साम० ४५५ के अनुसार मित्र और वरुण ऊर्जा के समान पोषक शक्तियाँ हैं—'ऊर्जा मित्रो वरुणः पिन्वतेडाः पीवरीमिषं कृणुही न इन्द्रः।' ऋ० १।१२६।३ में इन्द्र को रुद्र, मित्र और वरुण कहा है।

(ii) अन्य व्युत्पत्तियों के साथ मित्र को √मा 'निर्माण करना, रचना' से भी व्युत्पन्न किया गया है (वैए० ५५५)। वरुण √वृ ढ़कना से बनता है। अतः ये दोनों निर्माण करने और धारण करने की शक्तियों के द्योतक हैं।

१. रुद्र, वसु, आदित्य और विश्वदेवाः पर वैद० के विचार भी देखें।

वैए० ६१७ (४) के अनुसार वरुण आपस्, विराज् आदि नाम से विभूषित प्रकृति में व्याप्त या प्रकृति की अध्यक्ष सृष्टिशक्ति भी है। वैद० पृ० ८१ में मित्रावरुण=द्यावापृथिवी को प्रकृति और पुरुष कहा गया है। ऋ० ५।६३।१ में मित्रावरुण ऋत के गोपा कहे गए हैं।

(iii) ब्राह्मणग्रन्थों में प्राणापान, प्राणोदान, दिनरात, शुक्ल-कृष्णपक्षों, द्युलोक और पृथिवी लोक आदि को मित्रावरुण कहा गया है (देखो वैको०)।

(iv) दा० सा०—मित्रों और श्रेष्ठों को। सा०—मित्र और वरुण देवों को।

८. उभा—उभौ का वैदिक रूप। दोनों मित्र और वरुण को। मित्र और वरुण पृथक्-पृथक् भी देवता हैं और युग्म देवता भी हैं। इस पद से उन के पृथक् रूप का भी बोध अभीष्ट है।—'मित्र को, वरुण को और मित्रावरुण को'।

९. बिभर्मि—धारण करती हूँ, पालती हूँ। भाव यह है कि इन में मैं और मेरी शक्ति ही काम करती हैं।

१०. इन्द्राग्नी—इन्द्र के लिए ऊपर वेला० मन्त्र ७।१४, और ३४।५ तथा अग्नि के लिए वही, ३४।६ देखें।

(ii) डा० फतह सिंह लिखते हैं कि भौतिक जगत् की समस्त शक्तियों को तीन देवताओं—अग्नि, इन्द्र या वायु और सूर्य या चन्द्र (सोम) में विभक्त किया गया है। अग्नि का मुख्य गुण दाहकत्व है। इसी के द्वारा जगत् की समस्त क्रियाएँ सञ्चालित होती हैं। सूर्य, वायु आदि समस्त भौतिक देवशक्तियों के मूल में अग्नितत्त्व (उष्णता) ही है। इसी लिए जगत् में होने वाले नाना क्रियात्मक यज्ञ का होता, पोता और यजमान आदि अग्नि ही है—'त्वमध्वर्युरुत होतासि पूर्व्यः प्रशास्ता पोता जनुषा पुरोहितः। विश्वा विद्वाँ आर्त्विज्या धीर पुष्यस्यग्ने'। (ऋ० १।९४।६)। अग्नि के द्वारा ही मृत्युलोक की वस्तुएँ रसादि में परिवर्तित हो कर दिव्य शक्तियों की शक्तियों को बढ़ाती हैं। इसी लिए अग्नि देवताओं का मुख है। और उन को जगाने वाला है। (वैद० १०८–१११)।

(iii) इन्द्र के अन्तर्गत अग्नि (क्रियाशक्ति) और सोम (प्रकाशशक्ति) दोनों आ जाते हैं। अग्नि अपने दाहकत्व गुण द्वारा क्रियाशक्ति प्रदान करता है और सोम सूर्य, चन्द्र और नक्षत्र आदि के स्वः को उज्ज्वल प्रकाश देता है और स्थूल पृथिवी तथा अन्तरिक्ष को दिव्य प्रकाश जल में कृष्ण बना कर देता है। सारा विश्व इन्हीं दो से बना हुआ है। अतः उन के संयुक्त रूप इन्द्र को भी सर्वव्यापक, सर्वमय तथा सर्वोच्च कहा जाता है। वह सब लोकों से बड़ा है और सब लोक उस के अन्तर्गत हैं। वह प्रकाश तथा आपः दोनों को प्राप्त करता है। अपने भूमितत्त्व में इन्द्र वायुरूप में रहता है। तु० क० इन्द्र के प्रतिरूप ट्यूटानिक देवता 'वोदेन' तथा नार्वेजियन 'ओदेन'। भाषाविज्ञान की दृष्टि से ये दोनों वायु के या वात के ही रूप हैं।

(iv) दा० सा०—शत्रुदमनकर्त्ता वीर (—इन्द्र) और ज्ञानप्रसारक (अग्नि)।

११. अ॒श्विना॑--ऊपर वेला० मन्त्र ४३।३ तथा पा० सूसं० ६१ में टिप्पणी देखें। ब्रह्म वाक् से संयुक्त हो कर अश्व, श्वित और वृषन् रूप होता है। इस वाक् के दो पक्ष हैं—१. कद्रू या रात्रि २. सुपर्णी या उषा। ये दोनों पक्ष 'हरी' कहलाते हैं। ये घोड़ों से युक्त हैं—हरी॑ ते॒ युञ्जा॑ पृष॑ती अभूताम् (ऋ० १।१६२।२१)। यही दोनों 'हरी' इन्द्र के भी हैं। अश्व रूप ब्रह्म के इन दोनों हरियों (=पक्षों) को ही 'अश्विनौ' कहते हैं। ये आपस् के लाने वाले, 'यज्ञ' उत्पन्न करने वाले तथा इधर-उधर अपने नामों से ही अनेकशः उत्पन्न होते हैं। पर लोक, अपर लोक और अन्तरिक्ष में जो अनेकत्व है वह अश्विनौ की ही कृति है। इन का द्विधा शरीर संयुक्त हो कर अपनी महिमा से मर्त्यलोक में रजोगुण से उद्भूत क्रियाओं की सृष्टि करता है।

(ii) वाक् शक्ति के घनात्मक तथा ऋणात्मक दोनों पक्ष अश्विनौ के अन्तर्गत आते हैं। अतः अश्विनौ सभी द्वन्द्वों—गति-अगति, प्रकाश-अन्धकार, दिन-रात, आकाश-पृथिवी, उषा-रात्रि, प्राण-अपान और उदय-अस्त आदि को प्रकट करते हैं। ये दो पक्ष ही सत् और असत् हैं, परन्तु एक वाक् के ही

रूप होने से न सत् हैं न असत्। अतः अश्विनौ भी न सत् हैं, न असत्य, अतः न + असत्यौ = नासत्यौ हैं। (वैद० पृ० १६५–१६६ देखें)।

(iii) दा० सा०—चिकित्सक और शल्य वैद्य।

संहितापाठः	पदपाठः
५५. अहं सोममाहनसं बिभ-	अहम्। सोमम्। आहनसम्। बिभर्मि।
र्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम्।	अहम्। त्वष्टारम्। उत। पूषणम्। भगम्॥
अहं दधामि द्रविणं हविष्मते	अहम्। दधामि। द्रविणम्। हविष्मते।
सुप्राव्ये ३ यजमानाय सुन्वते॥२॥	सुप्रऽअव्ये। यजमानाय। सुन्वते॥२॥

सायणभाष्यम्--आहनसम् आहन्तव्यमभिषोतव्यं सोमं यद्वा शत्रूणामाहन्तारं दिवि वर्तमानं देवतात्मानं सोमम् अहम् एव बिभर्मि। तथा त्वष्टारम् उत अपि च पूषणं भगं च अहमेव बिभर्मि। तथा हविष्मते हविर्भिर्युक्ताय सुप्राव्ये शोभनं हविर्देवानां प्रापयित्रे तर्पयित्रे॥ अवतेस्तर्पणार्थात् 'अवितॄस्तृतन्त्रिभ्य ईः' (उ० ३।१५८) इतीकारप्रत्ययः। चतुर्थ्येकवचने यणि 'उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य' (पा० ८।२।४) इति सुपः स्वरितत्वम्॥ सुन्वते सोमाभिषवं कुर्वते॥ 'शतुरनुमः' (पा० ६।१।१७३) इति चतुर्थ्या उदात्तत्वम्॥ ईदृशाय यजमानाय द्रविणं धनं यागफलरूपम् अहमेव दधामि धारयामि। एतच्च ब्रह्मणः फलदातृत्वं 'फलमत उपपत्तेः' (वेसू० ३।२।३८) इत्यधिकरणे भगवता भाष्यकारेण समर्थितम्।२॥ (५५)॥

हिन्दी अनुवाद—[अहम्] मैं [आहनसम्] सर्वत्र व्यापक [सोमम्] सोम (तत्त्व) को, [अहम्] मैं [त्वष्टारम्] त्वष्टा (= रूप निष्पादक तत्त्व) को [उत] और [पूषणम्] पोषक (और) [भगम्] सेवनीय तत्त्वों को

[**बिभर्मि**] धारण करती हूँ। [**अहम्**] मैं [**हविष्मते**] हवियां देने वाले [**सुप्राव्ये**] पूर्ण रूप से रक्षा के योग्य [**सुन्वते**] सोम रस निकालने वाले [**यजमानाय**] यजमान के लिए [**द्रविणम्**] धन को [**दधामि**] देती हूँ ॥२॥ (५५)॥

टिप्पणियाँ—१. सोमम्—ऊपर वेला० मं० १२।८, २०।६में सोम पर टिप्पणी देखें।

(ii) ब्रह्माण्ड में सोम प्रकाश ही है। वह सूर्य के समान है। उस के साथ चमकता है। अपने प्रकाश से अन्धकार को मारता है। यह सूर्य और विद्युत् से उत्पन्न होता है। पर्जन्य इस का पिता है। सूर्यासूक्त और ब्राह्मणों में सोम चन्द्रमा का द्योतक है। सोम द्युलोक से पृथिवी पर दीप्तिमय वृष्टि करने में समर्थ है। (वै० द० पृ० ११५—११७)

(iii) सायण ने सोम का प्रथम अर्थ सोम ओषधि का रस और दूसरा द्युलोकस्थ शत्रुओं का नाशक देवता दिया है। दूसरा अर्थ अब तक के विवेचन के अन्तर्गत आ जाता है। डा० फतह सिंह का विचार है कि कर्मकाण्ड में सोम मधु का पर्यायवाची है। इसी मधु के आधार पर आधिभौतिक सोम की कल्पना की गई। उस का भूमितत्त्व जल है, द्युतत्त्व प्रकाश और रोचना सूक्ष्मतम रूप। ऋग्वेद में किसी सोम ओषधि के सिलबट्टे से पीसने के वर्णन का प्रसंग नहीं है (वैद० पृ० १३३—१३५)।

(v) दा० सा०—वीर।

२. आहनसम्—पीटर्सन—धारा(–स्ट्रीम)। सा०—आ + √हन् से। १. रस निकालने योग्य २. आहनन करने वाला, सेचन करने वाला ३. शत्रुओं को सामने से मारने वाले ४. निचोड़े जाते हुए ५. स्तुति किए गए ६. शब्द करने वाले ७. नियन्ता, दण्डधारक ८. हनन करने वाली, दुःखदायिनी। यास्क—ने सा० के ८वें अर्थ के अतिरिक्त 'वञ्चना करने वाले (दुर्ग के मत में)' नशीला (–इन्टौक्सीकेटिंग—एया० १२७), वचनयुक्त (देवराज, चन्द्रमणि आदि)' भी दिए हैं। दस० —१.व्याप्त (जल) २. सब ओर से ताड़ित होने वाली। दा० सा०—शत्रुहननकर्त्ता।

(ii) इस पद को पदपाठकार ने अवगृहीत नहीं किया है। सैपीको० इसे सा०, यास्क और दस० के समान आ + √हन् से व्युत्पन्न करते हैं, परन्तु अर्थ 'दीप्त

हुआ' 'निचोड़ा हुआ' देते हैं। सैपीको० और नैस्सर ने इस का अर्थ 'फूला हुआ', 'भरा हुआ' किया है। नैस्सर इसे 'घन-मोटा' से सम्बद्ध करते हैं। राजवाड़े अपने निरुक्त के मराठी अनुवाद (पृ० २७२) में इस का अर्थ 'सुखदायक, प्रिय, रोचक' और आहनः का 'प्रिय वहन' देते हैं। एया० (१६३) के मत में यह अर्थ 'आहना दुहितुर्वक्षणासु' (ऋ० ५।४२।१३) और श० ६।३।१।२४ के 'आहनस्यवादिन्' के प्रयोगों की दृष्टि में ठीक नहीं, प्रत्युत किसी कर्म का द्योतक है। सैपीको० के मत में यह पद भायो० गुहेन्—'फूलना, भरना' आधुनिक फ़ारसी–आगन्दन् 'भरना' से सम्बद्ध है, और एया० के मत में इस की धातु हन् भायो० *गुहेन्–'चोट करना', ग्रीक थेइनो मैं चोट करता हूँ' के अनुरूप है (पृ० ४१। पृ० १२७ भी देखें)।

(iii) इस विवेचन से ज्ञात है कि इस पद के दो निर्वचन प्रस्तुत किए गए हैं—१. घन से २. आ + √हन् से। घन पद गत्यर्थक √हन् का ही रूप है—बार बार जिस में वस्तु गई है—इकट्ठी हुई है। अतः इस का अन्तर्भाव आ + √हन् में हो जाता है। कोषों में √हन् गत्यर्थक भी है और हिंसार्थक भी। वेद में और लोक भाषा के पद्धति आदि कतिपय शब्दों में √हन् का गत्यर्थ मिलता है। वेद में हिंसार्थ भी है। लोक में प्रमुखतः हिंसा अर्थ मिलता है। अन्य भाषाओं में भी हिंसार्थ का एक रूप 'चोट करना' अर्थ मिलता है। अतः यह अर्थ √हन् का समग्र नहीं, प्रत्युत एकदेशी है और वेदार्थयोजना में नियामक नहीं। वैसे भी हिंसार्थ गतिमूलक है। बिना गति के हिंसा नहीं। हिंसा के साहचर्य से यह स्पष्ट है कि √हन् की गति सामान्य नहीं, प्रत्युत शत्रु, अज्ञान, अन्धकार, दोष आदि को हटा कर उत्कर्ष प्राप्त करने की सूचक है। इस कारण इस मन्त्र में भी आहनसम्'—'व्यावर्तक गति वाला, सब का बाध कर स्वतः ही गतिमान् अर्थात् 'व्यापक' भाव हुआ। पाउ० सूसं० १७ में 'अनाहनस्यम्' के प्रयोग और व्याख्यान, य० १६।३५ में आहनन्याय के प्रयोग और उस के दस० के व्याख्यान से भी यही भाव प्राप्त होता है।

२. त्वष्टारम्—सा०—त्वष्टा नामक देवता। दा० सा०—शिल्पी।

(ii) ब्राह्मण ग्रन्थों ने त्वष्टा को वाक् कहा है क्यों कि वाक् सब कुछ का

निर्माण करती है (ताष्टि)। त्वष्टा इन्द्र पशुओं का शासक, पशुओं के जोड़ों के रूपों का सम्पादक, रूपों को बनाने, बिगाड़ने और उन पर शासन करने वाला है। वह ही सिक्त रेतस् में विकार लाता है। समिधाओं (= प्रकाश = रूप) का रक्षक और विश्वरूप है। अतः त्वष्टा रूप और प्रकाश का द्योतक है।

(iii) निरुक्त में त्वष्टृपद की दो व्युत्पत्तियाँ दी हैं—√त्वक्ष् से और तूर्ण + √अश् से (नि० ८।१३)। √त्वक्ष् से व्युत्पत्ति की पुष्टि ऐ० २।४ के ताष्टि, भायो० तुएक्—'बुनना' अवै० ? 'परिश्रम से काम करना' से भी होती है। दूसरी व्युत्पत्ति आधुनिकों को ग्राह्य नहीं है (एया० ६७)। रूप का निष्पादन स्वतन्त्र कर्म नहीं है। वह प्रकाश पर निर्भर करता है। इसी कारण त्वष्टा का सूर्य और इन्द्र आदि से तादात्म्य बताया गया है। √त्वक्ष् त्वष्टा के एक पक्ष का—'प्रकाश' के अर्थ के विस्तार का द्योतक है। अतः इस के मूल अर्थ 'प्रकाश' के ज्ञान के लिये तूर्ण + √अश् की कल्पना नितराम् आवश्यक है। प्रकाश की किरणें बड़ी तीव्र गति करती हैं, और सर्वत्र फैल जाती हैं। हिन्दी अनुवाद में दोनों अर्थों और व्युत्पत्तियों का समन्वय है।

४. पूषणम्—सा०, पीटर्सन—पूषा देवता। दस० (अन्य स्थलों पर) चन्द्रमा, सभासेनाध्यक्ष आत्मा का पोषक, व्यान, समान, विद्वान्, सूर्य, पृथिवी, वायु, ओषधियाँ, पुष्टि, योद्धा, परमात्मा शिक्षा द्वारा पालक, शिल्पी, पुष्ट जन, पोषक गुण, दूध आदि। मेघ, ब्रह्मचर्य आदि व्रत, वैद्य। ये इस पद को √पुष् (पुष्टि या धारण अर्थ में) से व्युत्पन्न करते हैं (सीएसडी० पृ० २३२)। दा० सा०—पोषणकर्त्ता।

(ii) ब्राह्मणग्रन्थों के अर्थ (देखो पाउ० सूसं ८२) भी पूषा के पोषक गुण की ओर निर्देश करते हैं, विशेष रूप से पुष्टि और अन्न अर्थ। वहाँ वायु और पृथिवी को पूषा उन के पोषक गुणों के कारण कहा है (वैको० २६६)। यद्यपि ऋग्वेद में पूषा अनेक पदार्थों का द्योतक है तथापि वहाँ भी यह गुण ही उस में प्रमुख है (वैरी० पृ० १११ भी देखें)। तै० २.५।७।४ में पुष्टिः को सरस्वती का पर्याय बता कर पूषा को वाक् का अपर पर्याय माना है। पूषा वाक् से भिन्न नहीं। यही स्थिति अग्नि, भग, त्वष्टा, सोम और पूर्व मन्त्र

वर्णित इन्द्र, अग्नि आदि की है। वाक् से तादात्म्य ही इस मन्त्र में वर्णित
...न् आदि का धारण आदि है।

५. भगम्—सा० पीटर्सन—भग नामक देवता। दा० सा० – धनवान्।
...० ने इसे √भज् सेवायाम् से व्युत्पन्न कर इस के अर्थ—'ब्रह्माण्ड का
...मी, ऐश्वर्यशाली, समृद्धिप्रद, समृद्धि, प्रभाव, सूर्य, वायु, ऐश्वर्य का इच्छुक,
...नधन, धर्म, समृद्धिकारक कर्म' किए हैं। ऋग्वेद में भग का स्वरूप भी
...स के सेवनीयत्व का ज्ञापक है। श० ६।३।१।१६ ने भी यज्ञ को भग कह
...र यही भाव प्रदर्शित किया है। भग का सामान्य अर्थ ऐश्वर्य है।

६. सुप्राव्ये—पदपाठ—सुप्रऽअव्ये। सा०—देवों को शोभन हवियों से
...स करने वाला। अन्य स्थलों पर भी 'अच्छी प्रकार रक्षक' अर्थ करते हुए
...इसे सु + प्र + √अव् से निष्पन्न करते हैं। पीटर्सन—धर्मशील। दस० भी
...से इसी प्रकार व्युत्पन्न करते हैं और रक्षा तथा गति अर्थों पर बल देते हैं।
...स० ने यहाँ पर योग्य, अर्ह अर्थ में यत् प्रत्यय माना है। यजमान तो
...क्षणीय है, वह वाक् का रक्षक नहीं (तु० क० दा० सा० का अर्थ—उत्तम
रक्षित रहने योग्य)। उस से शक्ति प्राप्त कर के ही वह यज्ञ द्वारा देव-
...क्तियों को पुष्ट कर सकता है। अतः दस० का व्याख्यान ही हिन्दी अनुवाद में
...हण किया गया है। अवे० ४।३०।६ में सुप्राव्या पाठ है, जो द्रविणा
...धन) का विशेषण प्रतीत होता है। 'सुपां सुलुक्' से विभक्ति के स्थान पर
...आ' मान कर इसे चतुर्थी रूप भी माना जा सकता है।

७. सुन्वते—सोम निकालने का अभिप्राय सोम के अर्थ पर निर्भर
करता है। ऊपर टि० १ में प्रदर्शित सोम के अर्थों के अनुरूप यहाँ
...सुन्वते' के 'प्रकाश को प्राप्त करने और फैलाने वाला ऐश्वर्य का सम्पादक,
...सुख उत्पन्न करने वाला' आदि भाव हैं।

(ii) इस मन्त्र के उत्तरार्द्ध में हविष्मत्, सुप्राव्य, यजमान और
...न्वत्—मानव जाति के इन चार विभागों का उल्लेख किया गया है।
...आगे वेला० म० ५८ भी देखें। हिन्दी अनुवाद में ऐसा नहीं लिया गया है।

संहितापाठः	पदपाठः
५६. अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां	अहम् । राष्ट्री । सम्ऽगमनी । वसूनाम् ।
चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम् ।	चिकितुषी । प्रथमा । यज्ञियानाम् ॥
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा	ताम् । मा । देवाः । वि । अदधुः । पुरुऽत्रा ।
भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम् ॥३॥	भूरिऽस्थात्राम् । भूरि । आऽवेशयन्तीम् ॥३॥

सायणभाष्यम्—अहं राष्ट्री । ईश्वरनामैतत् । सर्वस्य जगत ईश्वरी । तथा वसूनां धनानां सङ्गमनी संगमयित्री उपासकानां प्रापयित्री । चिकितुषी यत् साक्षात्कर्त्तव्यं परं ब्रह्म तज्ज्ञातवती स्वात्मतया साक्षात्कृतवती । अत एव यज्ञियानां यज्ञार्हाणां प्रथमा मुख्या । या एवङ्गुणविशिष्टाहं तां मां भूरिस्थात्रां बहुभावेन प्रपञ्चात्मनावतिष्ठमानां भूरि भूरीणि बहूनि भूतजातानि आवेशयन्तीं जीवभावेनात्मानं प्रवेशयन्तीम् । ईदृशीं मां पुरुत्रा बहुषु देशेषु व्यदधुर्देवा विदधति कुर्वन्ति । उक्तप्रकारेण वैश्वरूप्येणावस्थानाद् यद्यत्कुर्वन्ति तत्सर्वं मामेव कुर्वन्तीत्यर्थः ॥३॥ (५६) ॥

हिन्दी अनुवाद—[अहम्] मैं [वसूनाम्] (पृथिवी आदि) वसुओं की [राष्ट्री] शासक (और उन को) [संगमनी] गतिशील करने वाली, [यज्ञियानाम्] परोपकारियों की [प्रथमा] सर्वप्रथम [चिकितुषी] प्रेरणा (हूं) । [देवाः] दिव्य गुणों वाले विद्वान् [भूरिस्थात्राम्] सर्वत्र व्यापक शक्तियों आदि की पालक [भूर्यावेशयन्तीम्] (प्राणियों को) विविध कर्मों में लगाने वाली [ताम्] उस [माम्] मुझ को [पुरुत्रा] संरक्षक के रूप में [व्यदधुः] मानते हैं ॥३॥ (५६) ॥

टिप्पणियां--१. राष्ट्री--सा०-- सब जगत् की स्वामिनी। ये इस पद को स्वतन्त्र विशेषण मानते हैं। पीटर्सन--रानी। ये सङ्गमनी वसूनाम् को राष्ट्री का समानाधिकरण मानते हैं--'मैं रानी हूँ धनों को इकट्ठा करने वाली।' तु० क०--'वैवस्वतं सङ्गमनं जनानाम्' (ऋ० १०।१४।१)। दा० सा०--१. प्रकाश देने वाली २. राष्ट्रशक्ति।

(ii) यह पद √राज् चमकना, शासन करना से बना है। अतः शासन करने वाली। हि० अ० की योजना में 'राष्ट्री' को वाक्य में उचित स्थान मिल जाता है और भाव स्पष्टतर हो जाता है।

२. संगमनी--पपा०—सम्ऽगमनी। सा०--उपासकों को देने वाली। पीटर्सन—इकट्ठा करने वाली। दा० सा०—इकट्ठा करने वाली।

(ii) यह पद सम् + √गम् + णिच् + ल्युट् + ई (स्त्री०) से बना है। 'अच्छी प्रकार से चलाने वाली, गतिशील करने वाली, मिलाने वाली'। पृथिवी आदि वसु परमात्मा की शक्ति से ही अपनी-अपनी परिधि में गति करती हैं और उस के शासन में रहती हैं।

३. वसूनाम्—सा०, पीटर्सन--धन। दा० सा०--आठ वसुओं का।

(ii) ऊपर वेला० मं० सं० ५४।३ के अनुसार 'वसु' पृथिवी आदि का भी वाचक है। सृष्टिप्रकरण में यही अर्थ अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

४. चिकितुषी—चिकित्वस् (√कित् + क्वसु से) स्त्रीलिंग प्रथमा एक वचन। सा०—ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेने वाली। ग्रि०--परम विचारशील। दा० सा०—१. ज्ञान देने वाली।

५. प्रथमा—ग्रि०—पहली। सा०--मुख्य।

(ii) यह √प्रथ् से बनता है। (वेला० मन्त्र ७।३; ३७।६ भी देखें।) अतः फैलने वाली, बढ़ने वाली। परोपकारी जन प्रथम प्रेरणा से ही कार्य में प्रवृत्त हो जाते हैं। उन्हें परोपकार में प्रवृत्त कराने के लिए कशाघातों की आवश्यकता नहीं होती है।

६. यज्ञियानाम्--सा०—यज्ञ के योग्य (अर्थात् देवता)। पीटर्सन—

देवता। ग्रि०—पूजा के अधिकारी (हिअवे० ४।३०।२) दा० सा०—सत्कार करने योग्य।

(ii) वेला० मन्त्र २७।४ और पाउ० सूसं० १४ में की गई यज्ञ की व्याख्या देखें। यज्ञ परोपकार का भी द्योतक है और परोपकारी का भी (तु० क०—यजमानो वै यज्ञः। ऐ० १।२८; पुरुषो वै यज्ञः। श० ३।१।४।२३ आदि)। यज्ञस्य (परोपकारिणः) अयमिति यज्ञियः परोपकारी। अतः परम परोपकारी। दूसरे के दुःख से एकदम द्रवित हो जाने वाले जन। ऐसे जन 'यज्ञमर्हतीति यज्ञियः पूजनीयः'—सत्कार योग्य होते हैं।

७. चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्—सा० ने 'चिकितुषी' को पृथक् विशेषण रक्खा है और 'प्रथमा यज्ञियानाम्' को दूसरा विशेषण माना है—'ब्रह्म की ज्ञाता और देवों में श्रेष्ठ।' पीटर्सन, रौथ, ग्रा०—सब को इकट्ठा लेते हैं—'देवताओं को सब से पहले जानने वाली'। तु० क०—पहला मन्त्र (वेला० मन्त्र ५४)। ल्यूड्विग का विचार है कि 'चिकितुषी' 'राष्ट्री', को और 'प्रथमा यज्ञियानां' 'सङ्गमनी वसूनाम्' को तुलित करते हैं।

(ii) हिअ० की योजना यद्यपि पीटर्सन आदि के समान है परन्तु अर्थ में भेद है। वहां 'वसूनाम्' को राष्ट्री और संगमनी दोनों का कर्म माना है।

८. ताम्—सा०—ऊपर वर्णित गुणों वाली उस (मुझ) को। पीटर्सन—ने इस का अन्तर्भाव 'मा' में कर दिया है।

(ii) वेला०—मन्त्र ५।१ देखें। अतः 'उस सुविस्तृत, सर्वव्यापक को'।

९. मा—अस्मद् द्वितीया एक वचन। वेला० मन्त्र ५४।१ देखें। अतः 'गतिशील परमात्मा'।

१०. वि, अदधुः—वि + √धा से लुङ् लकार, प्रथम पु० बहु वचन। सा०—करते हैं। पीटर्सन—स्थापित किया है। दा० सा०—उपस्थित होने का अनुभव किया है।

(ii) वेला० मन्त्र ३२।४ की टि० देखें। वि + √धा का अर्थ विधान करना, योजना बनाना, धारण करना आदि हैं। विधान करने का भाव व्याख्यान

करना, कहना, बताना भी होता है। अतः हिअ० में 'मानते हैं' अर्थ किया गया है।

११. पुरुत्रा—सा०, पीटर्सन—बहुत से देशों में, अनेक स्थानों में। भावार्थ में सा० लिखते हैं कि देव जो कुछ भी करते हैं वे मुझे ही करते हैं (अर्थात् उन के सब कर्म मैं ही हूँ)। दा० सा०—अनेक केन्द्रों में।

(ii) इस पद का प्रयोग सामान्यतः अत्र, तत्र आदि के समान 'बहु' वाचक पुरु से त्रल् प्रत्ययान्त अव्यय के रूप में होता है। इस का अर्थ, जैसा यहां मिलता है, अनेक स्थानों में किया जाता है। परन्तु प्रकृत मन्त्र में इस अर्थ से पुनरावृत्ति दोष उत्पन्न हो जाता है। भाष्यकारों के व्याख्यान में भूरिस्थात्राम्, भूर्याविशयन्तीम् और पुरुत्रा व्यदधुः का भाव एक ही निकलता है। अतः ये सब अर्थ विचारणीय हैं।

(iii) 'पुरु' पद को √ पॄ धातु से निष्पन्न किया गया है—'पॄ पालन-पूरणयोः, क्रै०। पृणाति पूर्यते वा पुरुः—विस्तीर्णम्, लोकश्च। कर्त्ता कर्म (च)।' दपाउ० १।१०८। तथा—'विपर्त्ति पालयति पूरयति वा स पुरुः। बहुरिन्द्रिय वा'। उ० १।२३ पर दभा०। अतः 'पुरु' का मूल अर्थ—'पालक, रक्षक, पूरक' है। इस से सप्तम्यर्थ में त्रल् प्रत्यय करने पर 'पुरुत्रा'—'रक्षक में, रक्षक के रूप में, अर्थात् रक्षक'—भाव निकलता है। 'पुरु' का 'रक्षक' अर्थ अवै० यस्न ४३।१५—नोइत् ना पोउरुश् द्रग्वतो श्ख्यात् चिख्श्नुशो ३—नेताओं को कभी भी असत्य के अनुगामियों को सन्तुष्ट न करने दो' के 'पोउरुश् ना' = 'पुरुः ना' (= मनुष्य, नृ से) में मिलता है (देखो डिसोज़, पृ० ४५३)। पालन और पूरण क्रियाएँ एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। अंग्रेजी, फ्रैंच में 'पोर' = भरना भी पुरु के 'रक्षक' अर्थ का परिचायक है। निघं० २।३।२० में 'पूरवः' (पूरु = पुरु से बहु व०) को मनुष्यनाम बताया है, निघं० ३।१।३ में पुरु बहुनाम है। निघं० २।३ में 'अनवः, यदवः, आयवः' आदि पद भी अवलोकनीय हैं।

१२. भूरिऽस्थात्राम्—सा०—अनेक प्रकार से प्रपंच रूप में अवस्थित,

विश्वरूप में अवस्थित[1] । पीटर्सन--मुझे हर स्थान पर निवास (करवाते हुए)।

(ii) सा० के अर्थ में 'भूरिस्था' पद का द्वितीया एकवचन पर्याप्त था। 'त्रा' को जोड़ना अनावश्यक था। अतः यह पद 'भूरिस्था + √त्रै' का रूप प्रतीत होता है-'भूरिस्था (स्त्रीलिंग)—'सर्वत्र स्थित=व्यापकों की रक्षा करने वाली'। ऐसी व्यापक वस्तुएँ सृष्टिगत विविधरूपों में प्रकट होने वाली सृजक, पालक और संहारक शक्तियाँ हैं। भूरिस्था को एकवचन का ही द्योतक मान लेने पर 'सत्त्व, रजस् और तमस् गुणों वाली प्रकृति' भी अर्थ किया जा सकता है। समस्त ब्रह्माण्ड में जीवों के उपभोग के लिए त्रिगुणात्मक प्रकृति ही भरी हुई है (भूरि—√भृ भरना से)। जीव इस की रक्षा में स्वतः समर्थ नहीं है। उस में परमात्मा ही कारण है।

१३. भूरि—सा०—बहुत से भूतों के समूहों को । पीटर्सन—प्रत्येक स्थान पर (आवेशयन्तीम्—प्रविष्ट कराते हुए)।

(ii) इस दूसरे 'भूरि' को पपा० में 'आवेशयन्तीम्' से पृथक् किया गया है। अतः यह पद पदकार की दृष्टि में कर्म है। सा० आदि ने इसे आधार माना है। भूरि पद स्वतः—'भरने वाला, पूरक, बहुत' का द्योतक है। 'भूत, स्थान' आदि भाष्यकारों के भाव हैं। अतः इसे 'विविध कर्मों में' अर्थ में लेना समीचीन जान पड़ता है।

१४. आऽवेशयन्तीम्—सा०—जीव रूप में अपने आप को (भूतों में) प्रविष्ट करती हुई। पीटर्सन—प्रविष्ट कराते हुए। दा० सा०—भूर्यावेशयन्तीम्—१. अनेकों में आवेश उत्पन्न करने वाली २. अनेक वीरों को स्फुरण करने वाली।

(ii) यह पद आ + √विश् प्रवेश करना + णिच् + शतृ + स्त्री लिङ्ग ई का द्वितीया एक व० रूप है—'भली प्रकार प्रवेश कराती हुई को, अर्थात् लगाने वाली को।'

---

१. मुद्रित पाठ पूना संस्करण के अनुसार है। इस का पा० भे० 'विश्वरूपेण' अधिक ठीक मालूम पड़ता है।

(iii) अवे० ४।३०।२ में यहां 'आवेशयन्तः' पाठ है, जो 'देवाः' का विशेषण है—'प्राणियों को विविध कर्मों में लगाने वाले दिव्य पुरुष' इत्यादि।

संहितापाठः	पदपाठः
५७. मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति	मया । सः । अन्नम् । अत्ति । यः । विऽपश्यति ।
यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम्।	यः । प्राणिति । यः । ईम् । शृणोति । उक्तम् ।
अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति	अमन्तवः । माम् । ते । उप । क्षियन्ति ।
श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि ॥ ४ ॥	श्रुधि । श्रुत । श्रद्धिऽवम् । ते । वदामि ॥ ४ ॥

सायणभाष्यम्—यः अन्नमत्ति सः भोक्तृशक्तिरूपया मया एवान्नमत्ति। यः च विपश्यति । आलोकयतीत्यर्थः। यः च प्राणिति श्वासोच्छ्वासरूपं व्यापारं करोति सोऽपि मयैव। यश्च उक्तं शृणोति॥ 'श्रु श्रवणे'। 'श्रुवः शृ च' (पा० ३।१।७४) इति श्नुप्रत्ययः। धातोः शृभावः॥ य ईदृशीमन्तर्यामिरूपेण स्थितां मां न जानन्ति ते अमन्तवः अमन्यमाना अजानन्तः उप क्षियन्ति उपक्षीणाः संसारेण हीनाः भवन्ति। मनेरौणादिकस्तुप्रत्ययः (उ० १।७५)। नञ्समासे व्यत्ययेनान्तोदात्तत्वम्। यद्वा। भावे तुप्रत्ययः। ततो बहुव्रीहौ 'नञ्सुभ्याम्' (पा० ६।२।१७२) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम्॥ मामसन्तवो मद्विषयज्ञानरहिता इत्यर्थः। हे श्रुत विश्रुत सखे श्रुधि। मया वक्ष्यमाणं शृणु॥ छान्दसो विकरणस्य लुक्। 'श्रुशृणुपॄकृवृभ्यः' (पा० ६।४।१०२) इति हेर्धिभावः॥ किं तच्छ्रोतव्यम्। श्रद्धिवम्। श्रद्धिः श्रद्धा। तया युक्तम्। श्रद्धायत्नेन लभ्यमित्यर्थः॥ 'श्रदन्तरोरुपसर्गवद्वृत्तिरिष्यते' (पा० १।४।५७ वा०—२)

इति श्रच्छब्दस्योपसर्गवद्वर्तमानत्वात् 'उपसर्गे घोः किः' (पा० ३।३।९२) इति किप्रत्ययः। मत्वर्थीयो वः॥ ईदृशं ब्रह्मात्मकं वस्तु ते तुभ्यं वदामि उपदिशामि ॥ ४ ॥ (५७)॥

हिन्दी अनुवाद—[यः] जो [विपश्यति] भलीभाँति देखता (और समझता) है [यः] जो [प्राणिति] श्वास लेता है [यः] जो [ईम्] उस व्यापक [उक्तम्] उच्चारित शब्द को [शृणोति] सुनता है [सः] वह (सब कोई) [मया] मुझ से [अन्नम्] (उस-उस देखना आदि) विषय को [अत्ति] प्राप्त करता है। [माम्] मुझे [अमन्तवः] न समझते हुए (भी) [ते] वे मनुष्य [माम्] मुझ पर [उप क्षियन्ति] निर्भर रहते हैं। [श्रुधि] सुनो, [श्रुत] सब सुनो [ते] तुम को (यह) [श्रद्धिवम्] विश्वास के योग्य (सत्य) बात [वदामि] कहती हूँ ॥४॥ (५७)॥

टिप्पणियाँ—१. सो अन्नम्—सः + अन्नम्। लोक में इस सन्धि में 'एङः पदान्तादति' सूत्र से पूर्वरूप हो कर 'अ' की दृश्यमान सत्ता समाप्त हो जाती है। वेद में ऐसी स्थिति तो है ही, साथ में पर्याप्त अधिक स्थलों में परवर्ती अकार को पूर्वपदस्थ ए, ओ में लीन नहीं किया गया है, उस की स्वतन्त्र सत्ता बनी रहती है। (तु० क० पा०—प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे)। कारण यह है कि ऋग्वेद में 'अ' का उच्चारण संवृत और विवृत दोनों ही प्रकार का होता था (तु० क० पा०—अः अः)। संवृत उच्चारण में पूर्वपदस्थ ए, ओ से पूर्व रूप हो जाता था और विवृत उच्चारण में यह पूर्व रूप नहीं होता था। आधुनिकों ने पूर्वरूप वाले रूपों को अर्वाचीनता का द्योतक माना है। इस प्रकार के रूप ऋग्वेद के अर्वाचीन अंशों में विशेष पाए जाते हैं। परन्तु यह ठीक नहीं क्यों कि प्राचीन मण्डलों में भी ऐसे प्रयोग बहुशः और कभी-कभी तो पूर्वरूपहीन प्रयोगों के साथ-साथ एक ही मन्त्र में भी आए हैं। 'अ' के उच्चारण का भेद अर्थ के आधार पर किया गया प्रतीत होता है।

(ii) अन्नम् पद √अद् + क्त से बनता है। सा० आदि ने इस का अर्थ अन्न = भोजन किया है। मन्त्र के पूर्वार्द्ध में 'सः' से 'यः' द्वारा द्योतित पदार्थों का परामर्श होता है। अतः देखने, सांस लेने और सुनने वाले ही 'सः' से द्योतित कर्त्ता हैं। इन का 'अन्न खाना' 'देखना, साँस लेना, और

सुनना’ ही है, स्थूल गेहूँ आदि से निर्मित भोजन लक्ष्य नहीं। भाव यह है कि संसार में क्रियमाण समस्त कर्म वाग्रूप परमात्मा की शक्ति से ही सम्पन्न होते हैं। पाउ० सूसं० ५५ (iii) में ‘अन्नादः’ पर टिप्पणी देखें।

(iii) पीटर्सन का अन्वय भी हिअ० के अनुसार है। उन के विचार में इस का भाव है—‘समस्त प्राणी लोक दिव्य जगत् से अपना भोजन प्राप्त करते हैं।’ तु० क०—‘अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति’ (अगला पाद)। इस भाव में वे सूक्त के मूलभूत भाव—सृष्टि में परमात्मा की ही शक्ति काम कर रही है—को भूल जाते हैं।

२. प्राणिति—प्र + √अन् से लट् प्रथम पु० एक व०। पपा० में यह अवगृहीत होना चाहिए था, परन्तु ऐसा नहीं है। सम्भवतः पदकार यहाँ ‘प्राण्’ धातु मानते हों।

३. ईम्—देखो वेला० मन्त्र ११।४। शब्द नित्य और व्यापक है। स्थूल रूप में आने से पहले और बोले जाने के पश्चात् इस का जो सूक्ष्म रूप रहता है, वह व्यापक होता है। उसी से दूसरे व्यक्ति अर्थ को समझते हैं। शब्द के सूक्ष्म और व्यापक होने के कारण ही व्यक्ति के चारों ओर उस के विचारों का मण्डल और तज्जन्य प्रभाव उत्पन्न हो जाता है।

४. अमन्तवः—सा०—इस प्रकार अन्तर्यामी रूप में, वर्तमान मुझे न जानने वाले, अर्थात् मेरे स्वरूप से अनभिज्ञ। पीटर्सन—वे इस (बात) को (अर्थात् मेरी सर्वव्यापक शक्ति को) नहीं जानते हैं—तु० क० ऋ० २।१२।१० (मन्त्र १६।५) में ‘अमन्यमानान्’ पद। दा० सा०—अपमान करने वाले।

(ii) अमन्तु से पुल्लिङ्ग प्रथमा बहुवचन। न मन्तुः अमन्तुः। मन्तुः—√मन् मानना, समझना से। अतः ‘न समझने वाले’।

५. उप, क्षियन्ति—दा० सा०—नष्ट हो जाते हैं। सा०—उपक्षीण, संसार से हीन = वञ्चित। पीटर्सन—मेरे शासन में हैं। अतः हिअ०—‘मुझ पर निर्भर हैं’। √क्षि के निवास और गति अर्थ होते हैं। सा० ने इसे √क्षि क्षये का रूप माना है।

६. श्रुधि—√श्रु से लोट् मध्यम पुरुष एक व०। लौकिक रूप 'शृणु' होता है।

७. श्रुत—√श्रु से लोट् मध्यम पुरुष बहु व०। वैदिक रूप। तु० क०—'तप्तनप्तनथनाश्च'। सा० ने इसे सम्बोधन पद माना है-—हे श्रुत = विश्रुत। ल्युड्विग इसे श्रद्धिवम् के साथ मिला कर 'श्रुतश्रद्धिवम् पढ़ते हैं—'परम्परा से विश्वास योग्य'। पपा० ने इन्हें पृथक् पद माना है।

(ii) मन्त्र में इस की 'ते' से विषमता है। अतः 'ते' में सामान्य में एक व० लेना पड़ेगा।

८. श्रद्धिवम्--सा०--श्रद्धायुक्त अर्थात् श्रद्धागम्य। पीटर्सन—सत्य।

(ii) अवे० ४।३०।४ में इस के स्थान पर 'श्रद्धेयम्'--श्रद्धा के योग्य, विश्वास के योग्य पाठ है। जैसा सा० ने लिखा है यहाँ भी यही भाव है। वस्तुतः श्रद्धा [श्रत् (सत्य)+√धा (धारण करना) से] सत्य-मूलक है। बिना सत्य माने किसी बात पर विश्वास करना सम्भव ही नहीं है। (देखो श्रद्धा का वैदिक स्वरूप, जनार्दन, खुरजा १२. २. १६५३)।

संहितापाठः	पदपाठः
५८. अहमेव स्वयमिदं वदामि	अहम्। एव। स्वयम्। इदम्। वदामि।
जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।	जुष्टम्। देवेभिः। उत। मानुषेभिः॥
यं कामये तंतमुग्रं कृणोमि	यम्। कामये। तम्ऽतम्। उग्रम्। कृणोमि।
तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्॥५॥	तम्। ब्रह्माणम्। तम्। ऋषिम्। तम्। सुऽमेधाम्॥५॥

सायणभाष्यम्—अहं स्वयम् एव इदं वस्तु ब्रह्मात्मकं वदामि उपदिशामि। देवेभिः देवैरिन्द्रादिभिरपि जुष्टं सेवितम्। उत अपि च

मानुषेभिः मनुष्यैरपि जुष्टम्। ईदृग्वस्त्वात्मिकाहं यं कामये यं पुरुषं रक्षितुमहं वाञ्छामि तं तं पुरुषम् उग्रं कृणोमि सर्वेभ्योऽधिकं करोमि। तम् ब्रह्माणं स्रष्टारं करोमि। तम् एव ऋषिम् अतीन्द्रियार्थदर्शिनं करोमि। तम् एव सुमेधां शोभनप्रज्ञं च करोमि ॥५॥ (५८)॥

हिन्दी अनुवाद—[अहम्] मैं [एव] ही [स्वयम्] अपने आप [इदम्] इस [देवेभिः] दिव्य गुणों वाले विद्वानों [उत] और [मानुषेभिः सामान्य मानवों को [जुष्टम्] प्रीतिकारक शब्द [वदामि] बोलती हूँ। [यम्] जिसे [कामये] चाहती हूं [तम्] उस [तम्] उस को [उग्रम्] भयंकर (क्षत्रिय) [तम्] उस को [ब्रह्माणम्] ब्राह्मण [तम्] उस को [ऋषिम्] तपस्वी (शूद्र) [तम्] उस को [सुमेधाम्] उत्तम धारणाबुद्धि वाला (वैश्य) [कृणोमि] बनाती हूं ॥५॥ (५८)॥

टिप्पणियाँ—१. इस मन्त्र के पूर्वार्द्ध में मानव जाति के दो भागों—देव और मनुष्य का उल्लेख है। ऋ० ३।३४।२ आदि में इन्हें दैवी और मानुषी विश् कहा है (पा०उ० भूमिका, पृ० ३७ भी देखें)। इन्हें भिन्न-भिन्न स्थलों पर भिन्न-भिन्न नाम दिए गए हैं। विशेष, दिव्य शक्तियों वाले प्राणी और सामान्य शक्तियों और गुणों वाले सोचविचार, ऊहापोह आदि कर के निश्चय करने वाले जनों[1] को उन की शक्तियों के अनुकूल रुचिकर वाक्य आदि बोलने की शक्ति परमात्मा से ही मिलती है।

(ii) अवे० में देवेभिः और मानुषेभिः के स्थान पर देवानाम् और मानुषाणाम् हैं। भाव में कोई अन्तर नहीं है।

(iii) मन्त्र के उत्तरार्द्ध में मानव जाति के चार विभागों = चार वर्णों का कथन है - उग्र, ब्रह्मन्, ऋषि और सुमेधा। सा० ने इन के अर्थ क्रमशः—सब में अधिक सृजक, अतीन्द्रियार्थदर्शी और शोभनप्रज्ञ, तथा पीटर्सन ने शक्तिशाली, ब्रह्मन्, साक्षात्कृतधर्मा (—ऋषि) और मेधावी किए हैं। म्यूर (ओरिजिनल

---

१. तु.क. भवभूति का लेख—'लौकिकानां हि साधूनामर्थं वागनुवर्तते। ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति॥' उत्तररामचरित १।१०।य० ३२।१४ में इन्हें देव और पितृ कहा है।

टैक्स्ट्स् १।२४६) का विचार है कि यहाँ पर बताया है कि ब्रह्मन् अपने जन्म या स्वभाव के कारण ब्रह्मन् नहीं था, प्रत्युत देवी की कृपा और प्रेरणा से ही वह ब्रह्मन् था। ब्राह्मणवर्णस्थ व्यक्ति ब्राह्मण होने के लिए देवी की कृपा और प्रेरणा की अपेक्षा नहीं रखता है, । अतः यहाँ ब्रह्मन् ब्राह्मण का पर्याय नहीं है।

(iv) श्री म्यूर का मत स्वीकार्य नहीं। संहिताओं में ब्राह्मण की वह स्थिति नहीं जो म्यूर जी ने समझी है। ब्राह्मण आदि मानव जाति के अनेकविध विभाजनों में से एक विशेष विभाजन के द्योतक हैं, जो न जन्मगत समझे गए थे, न उन में सामाजिक उत्कर्ष और अपकर्ष की कल्पना थी। वे सब समान स्तर पर थे। इसी कारण अनेक बार उन के वर्णन में नामों को आगे पीछे रक्खा गया है (देखो पा३० भूमिका—शूद्रों की स्थिति)।

(v) मन्त्र का अभिप्राय यह नहीं है कि परमात्मा ने मन चाहे ढंग से जिस को जो वर्ण देना चाहा वह दे दिया। प्रत्युत यह है कि मनुष्यों को तत्तद् गुण, कर्म, स्वभाव तथा उन के विकास के लिए उचित स्थितियाँ परमात्मा के शासन या नियमों के अनुसार प्राप्त होते हैं। जो जैसा कर्म करता है उसे तदनुरूप ही परिस्थितियाँ मिलती हैं। तु० क० कुरान २।५—'जो ईश्वर के—निर्देश पर निर्भर रहते हैं वे सफल होते हैं।'

(vi) उग्रम्—उग्र वायु का (श० ६।१।३।१३) और रुद्र (श० ६।१।३।१८—वैको० ६३) का नाम है। रुद्र अग्नि ही है—अंगति गच्छति, अथवा अग्रणीर्भवति। वह पशुपति है। वह देवों में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है, घोर है। रुद्र का आयुध भयंकर है (ऋ० १।११४।१०) वह रुलाने वाला है। अगले मन्त्र में उसे धनुष् का धारक बताया है।

(vii) ब्रह्माणम्—ब्रह्मन् पद तै० ३।६।१४।२, श० ५।६।५।२ आदि की दृष्टि में ब्राह्मण का पर्याय है। ब्राह्मण ग्रन्थों में ब्रह्म के अनेकविध अर्थ दिए हैं [देखो वेला० मन्त्र ४२।१,५, पा३० सूसं० ७ (iii) (ii)]। सृजन, विस्तार, यज्ञ आदि कर्म ब्राह्मण के हैं, ये सब अर्थ ब्रह्मन् के भी हैं। वेद में भी ब्रह्मन् पद अनेक बार गायक, स्तोता या पुरोहित के लिए आया है। य० ३०।५ में ब्राह्मण का सम्बन्ध ब्रह्म से बताया गया है।

(viii) ऋषिम्—श० ६।१।१।१ के अनुसार श्रम और तपस् के कारण

मनुष्य ऋषि होता है—'ते यत्पुरास्मात् सर्वस्माद् इदमिच्छन्तः श्रमेण तपसा-रिषंस्तस्माद् ऋषयः' ॥ ऋ० १०।१०९।४ में भी यही भाव है—"पूर्वे सप्त ऋषयस्तपसे ये निषेदुः । य० ३०।५ में शूद्र को तपस् से सम्बद्ध किया है—'तपसे शूद्रम् ।' (वेला० पा३० भूमिका पृ० ४२–४३ भी देखें)। ऋषि-पद √ऋष् जाना से बनता है। श० १३।६।२।१० में शूद्र को तप ही कहा है—'तपो वै शूद्रः ।' पृथिवी—पूषा को शूद्रवर्ण कहा गया है क्यां कि वह पोषण करती है (श० १४।४।२।२५) ।

(ix) सुऽमेधाम्—वैदिक रूप है। पा० ५।४।१२२ के अनुसार 'सुमेध-सम्' होना चाहिए था—शोभना मेधा यस्य तम् । मेधा धारणवती बुद्धि को कहते हैं। व्यापारियों को सुमेधस् होना नितान्त आवश्यक है, अन्यथा वे धनोपार्जन में सफल नहीं हो सकते। व्यापारियों में धर्मबुद्धि या यज्ञभाव भी बहुत पाया जाता है। √मेध् धातु के अर्थ मेधा, हिंसन, संगम हैं। मेधा आशुग्रहण की द्योतक है (देखो—धातुपाठ दस०)। व्यापार और यज्ञ दोनों में संगम होता है।

(x) इस प्रकार इस मन्त्र में क्षत्रिय, ब्राह्मण, शूद्र और वैश्य क्रम से चारों वर्णों का उल्लेख किया गया है। सब वर्ण वाक्=परमात्मा से शक्ति प्राप्त कर के ही समर्थ होते हैं। ऊपर वेला० मन्त्र ५५।७ (ii) भी देखें।

संहितापाठः	पदपाठः
५९. अहं रुद्राय धनुरा तनोमि	अहम् । रुद्राय । धनुः । आ । तनोमि ।
ब्रह्मऽद्विषे शरवे हन्तवा उं ।	ब्रह्मऽद्विषे । शरवे । हन्तवै । ऊँ इति ॥
अहं जनाय समदं कृणो-	अहम् । जनाय । सऽमदम् । कृणोमि ।
म्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश ॥६॥	अहम् । द्यावापृथिवी इति । आ । विवेश ॥६॥

सायणभाष्यम्—पुरा त्रिपुरविजयसमये रुद्राय रुद्रस्य ॥ षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। महादेवस्य धनुः चापम् आ तनोमि। ज्ययाततं करोमि। किमर्थम्। ब्रह्मद्विषे ब्राह्मणानां द्वेष्टारं शरवे शरुं हिंसकं त्रिपुरनिवासिनमसुरं हन्तवै हन्तुं हिंसितुम् ॥ हन्तेः तुमर्थे सेसेन्०००' (पा० ३।४।६) इति तवैप्रत्ययः। 'अन्तश्च तवै युगपत्' (पा० ६।१।२००) इत्याद्यन्तयोर्युगपदुदात्तत्वम्। 'शृ हिंसायाम्' इत्यस्मात् 'शृस्वृस्निहि०' (उ० १।१०) इत्यादिना उप्रत्ययः। 'क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्' इति कर्मणः सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी ॥ उशब्दः पूरकः। अहमेव समदम्। समानं माद्यन्त्यस्मिन्निति समत् सङ्ग्रामः। स्तोतृजनार्थं शत्रुभिः सह सङ्ग्राममहमेव कृणोमि करोमि। तथा द्यावापृथिवी दिवं च पृथिवीं चान्तर्यामितया अहम् एव आ विवेश प्रविष्टवती ॥६॥ (५६) ॥

हिन्दी अनुवाद—[ब्रह्मद्विषे] वेद से द्वेष करने वाले [शरवे] हिंसकों को [उ] समूल [हन्तवै] मारने के निमित्त [रुद्राय] भयंकर (योधा आदि) के लिए [धनुः] धनुष[1] को [आ तनोमि] फैलाती (अर्थात्-चढ़ाती) हूं। [अहम्] मैं [जनाय] मनुष्यों के लिए [समदम्] मदयुक्त कर्मों[2] को [कृणोमि] करती हूँ। [अहम्] मैं [द्यावापृथिवी] द्युलोक और पृथिवीलोक में [आ विवेश] व्याप्त हूँ ॥ ६ ॥ (५९) ॥

टिप्पणियाँ—१. इस मन्त्र में आ + √तन् = गति, हनन, मद = रस (श० ४।३।२।५) = ब्रह्मज्ञान, और आ + √विश् = व्याप्ति—इन चार शक्तियों का उल्लेख है। वाणिज्य में गति है, क्षत्र में हनन, ब्रह्म में ज्ञान और शूद्र = तप में व्याप्ति है।

(ii) पिछले मन्त्र में यह बताया गया था कि मनुष्य में उग्रत्व आदि शक्तियां वाक्—परमात्मा से ही प्राप्त होती हैं। यहां यह बताया जा रहा है कि वाक्—परमात्मा की शक्ति या अनुशासन के द्वारा ही वैश्य आदि वर्ण अपने-

---

१. अर्थात् राज्याधिकारियों का दण्डविधान मेरी शक्ति से संचालित होता है।

२. ब्रह्मज्ञानजन्य प्रीति आदि अथवा ज्ञानजन्य शास्त्रार्थ, ईर्ष्या, द्वेष आदि।

अपने गुण और स्वभाव के अनुकूल कर्म करने में प्रवृत्त होते हैं। शरीर, प्राण, इन्द्रिय और अन्तःकरण आदि का अधिष्ठाता होने से जीव यद्यपि कर्म करने में स्वतन्त्र है, तथापि (१) इन वस्तुओं पर उसे अधिष्ठातृत्व परमात्मा से ही प्राप्त होता है (२) अपने पूर्व जन्म के कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त गुण और स्वभाव से प्रेरित हो कर जो कर्म करता है वे सब परमेश्वर के नियमों में बद्ध हैं। (सप्र० ७।१२३-१२५ भी देखें)।

(iii) पीटर्सन के अर्थ में 'शर्वे' को प्रथमान्त मानना पड़ेगा।

२. रुद्राय—√रु या √रुद् से। यह वेद में भयंकर देवता है। इस के हेति और धनुष् नाशक हैं (ऋ० २।३३।१४; १।११४।१० आदि)। ब्राह्मणों में इसे घोर कहा गया है। यह उग्र भी कहलाता है (ऋ० २ ३३।११) यह देवता क्षत्रिय है।

(ii) सा० ने इस का अर्थ 'महादेव' किया है जिस का निर्देश पौराणिक त्रिशूलपाणि शिव की ओर है। पौराणिक शिव = रुद्र वैदिक रुद्र का विकसित रूप[१] होते हुए भी उस से अनेक अंशों में भिन्न है। पौराणिक शिव का त्रिशूल धनुष् की अपेक्षा विशेष महत्त्वपूर्ण है। ऋग्वेद में त्रिशूल नहीं है, धनुष और बाण हैं (ऋ० २।३३।१०) अतः यहां पौराणिक शिव की ओर निर्देश अभिप्रेत नहीं। पीटर्सन ने रुद्र का व्याख्यान नहीं किया है। दा० सा०—वीर भद्र।

(iii) वेला० मन्त्र ५४।२, पाउ० सूसं० ८ भी देखें। ऋग्वेद के रुद्रसूक्त, वैरी० पृ० ५६-५७; वैसासं० (१९५८) पृ० ६१८-६२६ भी देखें।

---

१. देखो सुधीरकुमार गुप्त - कोकोनट (त्र्यम्बक इन दी ऋग्वेद) इज़ दी ओरिजन ऑफ शिव कल्ट, आइओका० सं० १९४८।

२. यजुर्वेद में भी रुद्र के धनुष् और बाण का ही प्राधान्य है। सम्भवतः य० १६।५१ और ३।६१ में बाण को ही 'पिनाक' कहा है; अंतिम मंत्र में 'अवततधन्वा पिनाकावसः' पाठ है जिस में धनुष् का स्पष्ट वर्णन है। मही० ने पिनाक का अर्थ धनुष् किया है। अभिज्ञान शाकुन्तल १।६ भी देखें।

३. धनुः—उ० २।११७ में √धन् प्राप्त करना आदि से। निघं० ५।३।१२ में पदनाम है। नि० ६।१६ में इसे √धन्व् जाना, हिंसा करना से व्युत्पन्न किया है। एया० के मत में यह भार्यो० *धनुओ-या* धोनुओ—'वृक्ष' के समकक्ष है। परन्तु धनुओ के 'वृक्ष' अर्थ को भी तो गति के कारण माना जा सकता है। अतः 'हिंसार्थं गति-दण्ड के लिये गति-दण्डविधान' भाव ग्रहण करना उचित है। हिअ० में धनुः का रूढ़ि अर्थ रक्खा गया है। पाटि० देखें।

४. ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ—सा० ने इस को धनुष् के चढ़ाने का प्रयोजन माना है। पीटर्सन और ग्रि० की योजना भी एवंविध है।

५. ब्रह्मऽद्विषे—सा०—ब्राह्मणों से द्वेष करने वाला। पीटर्सन—ईश्वर का द्वेषी। ग्रि०—भक्ति के विरोधी (हिअ०)। दा० सा०—ज्ञान का द्वेष करने वाले।

(ii) ब्राह्मणों को वेद में वह पद प्राप्त नहीं जो पीछे मिला है। वहां ऋषि ब्राह्मणेतर भी हैं। तु० क०—'औशिजाय वणिजे' (ऋ० १।११२।११)। अतः ब्रह्मद्विषे में अर्थान्तर अभिप्रेत है। ब्रह्मपद वेद में बहुधा सूक्त, प्रार्थना आदि का वाचक है। ब्राह्मणों में इसे यज्ञ, मन्त्र, ऋक् आदि का पर्याय माना है। देखो वेला० १२।३; २०।८; ४२।१, पाउ० सूसं० ७ (iii) (ii)। अतः हिअ०।

६. शरवे—पीटर्सन—बाण। सा०—त्रिपुर निवासी हिंसक असुर। दा० सा०—घातक शत्रु। ब्रह्मद्विषे का विशेष्य है।

(ii) अन्यत्र[1] दिखाया गया है कि यह त्रिपुरों की और शिव द्वारा उन की विजय की पौराणिक कथा वैदिक रुद्र और अग्नि से सम्बन्धित कर्मकाण्ड और अध्यात्मवाद का पीछे का स्थूल कथात्मक और अज्ञानजनित रूप है। उस की ओर वेदपुरुष द्वारा निर्देश सम्भव नहीं।

(iii) यह पद √शॄ (फाड़ना, चोट पहुँचाना, मारना) से बनता है। वेला० मन्त्र १६।६ (ii) में शरु को 'पुण्यों के ह्रास से होने वाले क्रमिक क्षय'

१. देखो सुधीर कुमार गुप्त, मेघदूत १९५६ का संस्करण, पृ० ११०-१११।

का द्योतक माना गया है। राष्ट्र में घुला-घुला कर मारने वाले जन प्रजा के लिए परम भयंकर होते हैं। कौटिल्य अर्थशास्त्र में कण्टकशोधन अधिकरण (४) में हीन कर्म आदि द्वारा राष्ट्र और प्रजा को दुःखित करने वालों को दण्ड देने का विधान है। ऐसे सब जन तत्त्वतः हिंसक ही हैं।

७. हन्तवै--√हन्+तवै (तुमर्थ में)। मारने के लिए। यहां मारना 'दण्ड देने' का द्योतक है।

(ii) इस पद में दो उदात्त स्वर हैं।

८. उ--पपा० में सदा 'ऊँ इति' लिखा जाता है। निश्चय से, निःसन्दिग्ध रूप में। अतः पूर्ण रूप से, समूल।

९. सऽमदम्—सा०—संग्राम। समत् का द्वितीया एक व०। दा० सा० के विचार में यह संग्राम जनता के हित के लिए है। पीटर्सन—झगड़े।

(ii) श० ४।३।२।५ के मत में सामन् ऋचाओं का मद है क्यों कि सामन् ऋचाओं के रस हैं और मद भी रस ही है। मधु, स्वधा और आपस् को ब्राह्मणों ने 'रस' कहा है। श० ११.५।४।१८ के अनुसार वेदपाठ मधुभक्षण है। निघं० ५।३।२१ में आपस् पदनाम है, और २।७।१८ में स्वधा अन्न (=विषय) का पर्याय है। अतः 'मद' का अर्थ हुआ 'वेद का सार—ज्ञान का सार=ब्रह्मज्ञान'। मदेन युक्तं कर्म समदम्।

१०. कृणोमि--√कृ से लट् उत्तम पुरुष। वैदिक रूप है। लोक में करोमि होता है।

११. द्यावापृथिवी आ विवेश--पिछले लेखों की दृष्टि में इस का भाव 'द्युलोक और पृथिवीलोक के अन्दर व्याप्त शक्तियां' लेना अधिक संगत है। वाक् इन सब में व्याप्त है। उसी की शक्ति से ये शक्तियां गति करने में समर्थ होती हैं।

संहितापाठः	पदपाठः
६०. अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन्मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे ततो वि तिष्ठे भुवनानु विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोप स्पृशामि॥७॥	अहम् । सुवे । पितरम् । अस्य मूर्धन् । मम । योनिः । अप्ऽसु अन्तरिति । समुद्रे ॥ ततः । वि । तिष्ठे । भुवना । अनु । विश्वा । उत । अमूम् । द्याम् । वर्ष्मणा । उप । स्पृशामि ॥७॥

सायणभाष्यम्—"द्यौः पिता" (तै० ३।७।५।४) इति श्रुतेः पिता द्यौः। पितरं दिवम् अहं सुवे प्रसुवे जनयामि। 'आत्मन आकाशः सम्भूतः' (तैआ० ८।१) इति श्रुतेः। कुत्रेति तदाह। अस्य परमात्मनः मूर्धन् मूर्धन्युपरि। कारणभूते। तस्मिन् हि वियदादि कार्यजातं सर्वं वर्तते तन्तुषु पट इव। मम च योनिः कारणं समुद्रे। समुद्द्रवन्त्यस्माद् भूतजातानीति समुद्रः परमात्मा तस्मिन्। अप्सु व्यापनशीलासु धीवृत्तिषु अन्तः मध्ये यद् ब्रह्म चैतन्यं तन्मम कारणमित्यर्थः। यत ईदृग्भूताहमस्मि ततः हेतोः विश्वा विश्वानि सर्वाणि भुवनानि भूतजातानि अनुप्रविश्य वि तिष्ठे। विविधं व्याप्य तिष्ठामि॥ 'समवप्रविभ्यः स्थः' (पा० १।३।२२) इत्यात्मनेपदम्। उत अपि च अमूं द्यां विप्रकृष्टदेशेऽवस्थितं स्वर्गलोकम्। उपलक्षणमेतत्। एतदुपलक्षितं कृत्स्नं विकारजातं वर्ष्मणा कारणभूतेन मायात्मकेन मदीयेन देहेन उप स्पृशामि। यद्वा। अस्य भूतस्य भूलोकस्य[1] मूर्धन् मूर्धन्युपर्यहं पितरमाकाशं सुवे। समुद्रे जलधावप्सूदकेष्वन्तर्मध्ये मम योनिः

---

१. पूनासंस्करणेनायं पाठः गृहीतः, भूतस्येति पाभे०। द्वयोरत्र मुद्रितः पाठो भावं विशदयतीत्युभौ पाठौ स्वीकृतौ।

कारणभूतोऽम्भृणाख्य ऋषिर्वर्तते । यद्वा । समुद्रेऽन्तरिक्षेऽप्स्वम्मयेषु देवशरीरेषु मम कारणभूतं ब्रह्म चैतन्यं वर्तते। ततोऽहं कारणात्मिका सती सर्वाणि भुवनानि व्याप्नोमि । अन्यत् समानम् ।। ७ ।। (६०) ।।

हिन्दी अनुवाद—[अहम्] मैं [अस्य] इस ब्रह्माण्ड के [मूर्धन्] ऊपर [पितरम्] पिता (=रक्षक) द्युलोक को [सुवे] उत्पन्न करती हूँ। [मम] मेरी [योनिः] उत्पादक शक्ति [समुद्रे] (सृष्टि के लिए) विकसित होने वाले [अप्सु अन्तः] व्यापक जलों में है। [ततः] वहां से [अनु] (सृष्टि के) पश्चात् (मैं) [विश्वा] सम्पूर्ण [भुवना] लोकों में [वि तिष्ठे] व्याप्त होती हूँ [उत] और [अमूम्] उस [द्याम्] द्युलोक को [वर्ष्मणा] अपनी महिमा से [उप स्पृशामि] आच्छादित करती हूँ ।। ७ ।। (६०) ।।

टिप्पणियाँ – १. पितरम्—यह पिता द्युलोक है। आकाश और पृथिवी में पिता और माता की कल्पना अनेक जातियों में पाई जाती है (देखो वैद० २०६, तथा वहां दिए गए ग्रन्थसंकेत)। वेद और ब्राह्मणों में भी द्युलोक को पिता कहा है।

(ii) आधुनिकों का विचार है कि मानव अपनी स्थिति में ही सब को कल्पित करता है। अतः वृष्टि आदि के भी मातापिता की कल्पना कर के द्यु को पिता और पृथिवी को माता कहा है।

(iii) परन्तु वैदिक मन्त्रों के काल में अभी पदों को रूढ़ि अर्थ पूर्णतः प्राप्त नहीं हुए थे (देखो वेभाप० ६।५०; ३०।४)। वेदार्थ करने और तत्सम्बन्धी सिद्धान्तों की कल्पना में इस तथ्य की उपेक्षा हो जाती है। इसी कारण पुरुषविध वर्णन या लाक्षणिक प्रयोगों की कल्पना उत्पन्न होती है। यहां 'पितरम्' प्रत्यक्ष उदाहरण है। द्युलोक ज्योतियों का स्थान है। ब्रह्माण्डस्थ सोम ही प्रकाश है (देखो वेला० म० ५५।१)। प्रकाश से ही प्राणियों का जीवन रहता है। इसी लिए सोम को प्राण कहा जाता है। प्राण का कारण होने से ही द्युलोक समस्त ब्रह्माण्ड का पिता (—√पा रक्षा करना से) अर्थात् रक्षक या पालक है। दा० सा० ने भी ये ही अर्थ लिए हैं। आकाश (सा० का वैकल्पिक अर्थ) का गुण शब्द है।

शब्द (रूप ब्रह्म) से सृष्टि की उत्पत्ति और रक्षा होती है। इसी प्रकार सत्र वस्तुओं आदि की निर्मात्री होने से पृथिवी को माता कहा गया है।

२. अस्य मूर्धन्—सा०—१. इस परमात्मा के ऊपर, क्यों कि उस में समस्त आकाश आदि कार्यजात रहते हैं। २. इस भूतलोक के ऊपर। ३. परम कारणभूत (भाष्य में पाभे०—उपरि कारणभूते के स्थान पर)। पीटर्सन—सब संसार के ऊपर। ग्रि०—सब संसार की चोटी पर। दा० स०—राष्ट्र के ऊपर।

(ii) मूर्धन्—सप्तमी एक व०—मूर्ध्नि का वैदिक रूप है। दपाउ० ६।५५ ने इसे √मुह वैचित्र्ये से व्युत्पन्न किया है, और दस० ने उ० १।१५६ में √मूर्व् बान्धना से—'मूर्वति बध्नाति स मूर्द्धा'। अतः सब के बन्धन-स्थान में, सब के शासकस्थान में, अर्थात् रक्षक रूप में।

३. योनिः—सा०—१. कारण २. कारण भूत अम्भृण ऋषि ३. कारणभूत ब्रह्म चैतन्य। पीटर्सन—बैठने का स्थान। ग्रि०—घर।

(ii) यह पद √यु मिलाना और पृथक् करना से बनता है। अतः इसके उभयविध अर्थ मिलते हैं। कोषों में इसके उत्पादक अंग रहने का स्थान, उत्पत्ति आदि मिलते हैं। ब्रह्म सृष्टि की कामना से जब आपस् में रेतस् (—उत्पादन शक्ति) का स्थापन करता है, तब ही सृष्टि होती है। इसी रेतस् को वाक् की योनि कहा गया है। अतः हिअ०।

४. अप्सु, अन्तः, समुद्रे—पीटर्सन—समुद्रगत जलों में। सा०—१. भूतों के उद्भवस्थान परमात्मा (=समुद्रे) में व्यापक कर्म आदि (—धीवृत्ति) के मध्य। २. समुद्रगत जलों में। ३. अन्तरिक्ष में जलमय देवशरीरों में।

(ii) ब्राह्मणों में समुद्र के अर्थ 'वायु, आपस्, वाक्, मन, इन लोकों के चारों ओर विद्यमान, पुरुष' आदि दिए हैं। जैसा ऊपर वेला० मन्त्र ४७।५ में दिखाया गया है इस का अर्थ 'वृद्धि को प्राप्त' भी होता है। इस के ब्राह्मणों के ऊपर दिए अर्थों से भी यही भाव प्राप्त होता है। अप्रकेत सलिल में रेतस् के स्थापन से उन जलों का विकास हुआ। ये विकसित हुए जल ही जगत् की

उत्पत्ति की शक्ति के धारक हैं। इन्हें ही 'समुद्रे अप्सु' कहा गया है। तु० क०—'अद्भिर्याति वरुणः समुद्रैः' (ऋ० १।१६१।१४[1])।

५. वि तिष्ठे—पा० १।३।२२-'समवप्रविभ्यः स्थः' से वि+√स्था में आत्मनेपद आया है।

६. अनु—पीटर्सन ने इसे 'ततः' के साथ ले कर 'तत्र' अर्थ किया है। सा० ने इसे छोड़ दिया है। सम्भवतः वे भी इसे 'ततः' के अन्तर्गत मानते हों।

(ii) अनु का यह व्याख्यान सन्तोषजनक प्रतीत नहीं होता और यह पद निरर्थक हो जाता है। ब्राह्मणों में अनुयाजों को छन्दस्, पशवः, रेतोधा, प्रजा और अपान आदि कहा है। 'अनुयाज' में 'याज' की निरुक्ति स्पष्ट है—√यज् सङ्गतिकरण से। उसी से सब अर्थ प्राप्त हो जाते हैं। 'अनु' का प्रयोग इस धातु से प्राप्त अर्थों को सुपुष्ट करने के लिए ही माना जा सकता है और इस लिए 'अनु' का अर्थ भी 'सङ्गतिकरण' से मिलता-जुलता ही हो सकता है। यास्क ने नि० १।३ में 'अनु' को सादृश्य और पश्चात् के अर्थों में बताया है। कौ० ६।२ के लेख—'यस्याष्टौ ता अनुष्टुभम्' में अष्टन् वाले को अनुष्टुब् कहा है। अष्टन्—√अश् व्याप्त होना से बनता है। समस्त पद (—अनुष्टुप्) में व्याप्ति अर्थ का प्रदायक होने से 'अनु' भी इस अर्थ वाला है। निघं० ५।५।२० में 'अनुमतिः' के पदनामों में पाठ से भी यही अर्थ प्राप्त होता है।[2]

(iii) वेभार० ४।२१–२२ में दिखाया गया है कि पदों के दो ही विभाग नाम और आख्यात माने जाते थे। उपसर्ग और निपात नामों के

---

१. यहां समुद्रैः अद्भिः='बढ़े हुए जलों से' योजना अभीष्ट है। ऋ० २।१६।३—'न समुद्रैः पर्वतैरिन्द्र ते रथः' में भी समुद्रैः को पर्वतैः का विशेषण माना जा सकता है।

२. देखो वेभाप० ३०; आइओका० सं० १९५३—एस० के० गुप्त—दयानन्द एण्ड दी निघण्टु औफ यास्क। निघण्टु के ऐकपदिक के पद गति, प्राप्ति और ज्ञान अर्थों के द्योतक हैं और 'पद' शब्द के पर्याय हैं।

अन्तर्गत आते थे और निर्वचनीय थे। वेभाप० ३०।२७-२८ के अनुसार उपसर्गों और निपातों के मूल में बहुधा गतिप्रधानि धातुएँ रही होंगी। इस प्रकार 'अनु' को उ० १।६ के अनुसार √अन् श्वास लेना से माना जा सकता है—'श्वास लेने वाला अर्थात् गतिशील, जागरूक'। 'वाक्' लोकों में व्याप्त होने से गतिशील और उन की राष्ट्री (वेला० मं० ५६) होने से जागरूक है। अतः इसे 'अहम्' के सदृश 'परमात्मा' का वाचक मानना उचित प्रतीत होता है। अव्यय (—विकारहीन) होने से इस के लिए उत्तम पुरुष की क्रिया का प्रयोग भी किया जा सकता है। यहाँ 'अहम्' का द्योतक होने से इस के साथ उत्तम पुरुष की क्रिया आई है।

(iv) हिअ० में 'अनु' का अर्थ अनुवादकों के समान दिया गया है। ऊपर उद्भावित अर्थ इस के सौन्दर्य को बढ़ा देगा।

७. वर्ष्मणा—सा०—कारणभूत मायात्मक वाक् के शरीर से। ग्रि०—मस्तक से। पीटर्सन—सिर से। यह उसी प्रकृति से बना है जिस से वर्षीयस् और वर्षिष्ठ बने हैं। अतः इस का अर्थ ऊँचाई, उच्चतम स्थान, (सिर का) मुकुट होता है। तु० क० ऋ० १०।९३।४ में सा० का लेख—'वर्ष्माणम् = समुच्छ्रितदेशम्।' दा० सा०—शरीर से।

(ii) अकोसु० (२।६।७०) ने इसे √वृष् सेचन करना से व्युत्पन्न किया है। इस धातु के अर्थ हिंसा, क्लेशन, और शक्तिबन्धन भी हैं। परमात्मा अपनी शक्ति से ही विद्यमान रहता है—'आनीदवातं स्वधया तदेकम्' (ऋ० १०।१२९।२); 'तपसस्तन्महिनाजायतैकम्' (वही, मं० ३)। वह अपनी महिमा से सब से उत्कृष्ट और बढ़ा हुआ रहता है ('एतावती महिना सं बभूव'—वेला० मं० ६१)। उस की महिमा का ही वर्णन ऊपर वेला० मं० २४ में किया गया है। अतः √वृष् के ऊपरोक्त अर्थों में से अन्तिम अर्थ यहां ग्राह्य है। वर्ष्मणा = शक्तिबन्धन से, शक्तिधारण से, शक्ति, सामर्थ्य या महिमा से।

संहितापाठः	पदपाठः
६१. अहमेव वात इव प्र वा-	अहम् । एव । वातःऽइव । प्र । वामि ।
म्यारभमाणा भुवनानि विश्वा ।	आऽरभमाणा । भुवनानि । विश्वा ॥
परो दिवा पर एना पृथि-	परः । दिवा । परः । एना । पृथिव्या ।
व्यैतावती महिना सं बभूव ॥८॥	एतावती । महिना । सम् । बभूव ॥८॥

सायणभाष्यम्—विश्वा विश्वानि सर्वाणि भुवनानि भूतजातानि कार्याणि आरभमाणा कारणरूपेणोत्पादयन्ती अहमेव परेणानधिष्ठिता स्वयमेव प्र वामि प्रवर्ते । वात इव । यथा वातः परेणाप्रेरितः सन् स्वेच्छयैव प्रवाति तद्वत् । उक्तं सर्वं निगमयति । परोदिवा ॥ पर इति सकारान्तं परस्तादित्यर्थे वर्तते यथा अध इत्यधस्तादर्थे । तद्योगे च तृतीया सर्वत्र दृश्यते । दिवा[1] आकाशस्य परस्तात् । एना पृथिव्या ॥ 'द्वितीयाटौस्स्वेनः' (पा० २।४।३४) इतीदम एनादेशः । सुपां सुलुगिति तृतीया अजादेशः[2] ॥ अस्याः पृथिव्याः परः परस्तात् । द्यावापृथिव्योरुपादानमुपलक्षणम् । एतदुपलक्षितात् सर्वस्माद् विकारजातात् परस्ताद् वर्तमानासङ्गोदासीनकूटस्थब्रह्मचैतन्यरूपाहं महिना महिम्ना एतावती सं बभूव । एतच्छब्देनोक्तं सर्वं परामृश्यते । एतत् परिमाणमस्याः ॥ 'यत्तदेतेभ्यः परिमाणे०' (पा० ५।२।३९) इति वतुप् । 'आ सर्वनाम्नः (पा० ६।३।९१) इत्यात्वम् ॥ सर्वजगदात्मनाहं सम्भूतास्मि ॥

१. पूनासंस्करणेऽत्र 'दिव आकाशस्य' पाठ उपलभ्यते । 'दिवा'पदं तत्र न वर्तते । मन्ये 'दिवा दिव आकाशस्य' इति पाठोऽभिप्रेतः ।

२. अयं पाठो नितरामावश्यकः; पूनासंस्करणे तु नादृतः ।

महच्छब्दादिमनिचि 'टेः' (पा० ६।४।१५५) इति टिलोपः। ततस्तृतीयाया-मुदात्तनिवृत्तिस्वरेण तस्या उदात्तत्वम् (पा० ६।१।१६८)। छान्दसो मलोपः ॥ ८ ॥ (६१) ॥

हिन्दी अनुवाद—[**विश्वा**] सम्पूर्ण [**भुवनानि**] लोकों को [**आरभमाणा**] गतिशील करती हुई [**अहम्**] मैं [**एव**] ही [**वातः**] वायु के [**इव**] समान [**प्रवामि**] तीव्र गति करती हूँ। (मैं) [**दिवा**] द्युलोक से भी [**परः**] आगे (और) [**एना**] इस [**पृथिव्याः**] पृथिवी के (भी) [**परः**] आगे (हूँ)। [**महिना**] अपने सामर्थ्य से [**एतावती**] इतनी (विशाल) [**संबभूव**] हूँ ॥ ८ ॥ (६१) ॥

टिप्पणियां—१. वातः—'वात' ऋग्वेद में वायु के स्थूल रूप या भूमितत्त्व का नाम है। इस का रूप भयंकर तूफान है। इस के चलने पर घोर गर्जन और शब्द होते हैं। सर्वत्र टूट-फूट होने लगती। वह है द्युलोक तक धूलि फेंक कर सब कुछ को अरुण बना देता है। वह कभी विश्राम नहीं लेता है। वह आपस् का मित्र, प्रथमजाः और ऋतावा है। स्वच्छन्दचारी यह वात देवों की आत्मा है। इस का शब्द सुनाई देता है, परन्तु रूप दिखाई नहीं देता। (ऋ० १०।१६८)। इस लोक का शासक 'वात' के साथ गति करता है।

(ii) 'वात' की इस गति के समान ही वाग्रूप परमात्मा की गति घोर, शब्दकारी सब कुछ को आच्छादित करने वाली, प्रथमजाः, ऋतावा तथा आपस् को सृष्टि के योग्य बनाने के कारण उन की मित्र, समस्त शक्तियों की आत्मा, कार्य रूप से अनुमेय, स्वच्छन्द परन्तु रूप में अदृश्य और लोक की नियन्ता है।

(iii) दा० सा० ने राष्ट्र पक्ष में वात इव प्रवामि का अर्थ—'वायु के वेग के समान सब को स्फुरण देती हूँ' किया है।

२. आरभमाणा—आ + √रभ् + शानच् + स्त्रीलिंग आ + प्रथमा एक-व०। सा०—कारण रूप में उत्पन्न करती हुई। पीटर्सन—(सब को) वश में करती हुई। ग्रि०—धारण करती हूँ (हिअवे०)। दा० सा० १. (सब भुवनों को) उत्पन्न कर के २. (सब मानवी संस्थाओं विश्वा भुवनानि) का निर्माण कर के।

(ii) यद्यपि सा० का अर्थ अनुचित नहीं तो भी लोकों का निर्माण तत्त्वतः प्रकृति के परमाणुओं में गति उत्पन्न कर उन में संगमन लाना है। मन्त्र के उत्तरार्द्ध से ज्ञात होता है कि सृष्टि कर्म समाप्त हो चुका है। अतः यहां पर निष्पन्न सृष्टि का 'संचालन' मात्र अभिप्रेत है। उसी अवस्था में मन्त्रगत वाक् की क्रियाओं का कथन संगत हो सकता है।

३. परः—यह सकारान्त अव्यय है। परे, आगे।

४. एना—सा०—षष्ठ्यन्त वैदिक रूप है। यह इदम् का अन्वादेश रूप है।

(ii) संज्ञा विशेषों की ओर संकेत करने के अतिरिक्त सर्वनामों का अपना विशेष अर्थ भी होता है। निघं० में अस्मे, एनम् और एनाम् पदों और उत्तरपदों में आए हैं। (देखो वेभाप० ४।५९–६१)। अतः यहाँ 'एना' 'गतिशील, सुविस्तृत, उत्कृष्ट' भावों का द्योतक माना जा सकता है।

(iii) इस पाद में द्युलोक और पृथिवीलोक का वर्णन तो है। अन्तरिक्ष का नहीं। क्या 'एना' को इस तीसरे लोक का ज्ञापक नहीं मान सकते। इसी प्रकार की 'एना' विषयक समस्या अवे० ५।११।५–६ में भी पाई जाती है।

५. परो दिवा०००—तुक०—'स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद् दशांगुलम्'। (वेला० मन्त्र २२); तथा—'एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः'। (वही, २४)। दा० सा० के विचार में राष्ट्रपक्ष में इस का भाव है—द्युलोक और पृथिवी लोक से परे भी मेरा प्रभाव हुआ प्रतीत होता है।

श्रीयुत डा० रामस्वरूप गुप्त और श्रीमती चन्दन देवी के पुत्र, श्रीयुत डा० नरेन्द्रनाथ चौधुरी के शिष्य, श्रीयुत डा० फतहसिंह के शोधशिष्य आचार्य डा० सुधीर कुमार गुप्त एम० ए०, पीएच० डी०, शास्त्री, प्रभाकर, स्वर्णपदकी द्वारा संकलित, सम्पादित और विरचित वेदलावण्य में हिरण्यगर्भप्रजापति और वाक् (परमात्मा) सूक्तों का शाब्दिक हिन्दी अनुवाद और सुकाशिनी टिप्पणियाँ समाप्त हुईं।

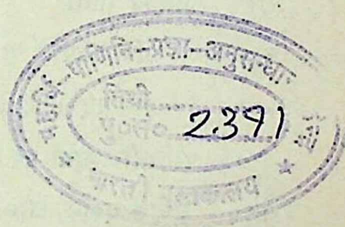
द्वितीयभागस्थवेदमन्त्राणामकारादिक्रमेणानुक्रमणिका

—०—

वेदलावण्य ऋक्सूक्तानि

तत्र

द्वितीयभागे टिप्पणीषु व्याख्यातानां पदानामकारादि-वर्णानुक्रमेणानुक्रमणिका


2391

वेदलावण्यस्य द्वितीयभागे

प्रयुक्तानां नूतनानां संक्षेपाणां विवरणम्

अवै० -- पारसियों की धर्म पुस्तक अवेस्ता और उस की भाषा।

आअवि०—आर्याभिविनय, दयानन्द सरस्वती, शताब्दी संस्करण।

ऋसअ०—ऋग्वेद सर्वानुक्रमणी—कात्यायन, पं० दामोदर पाद सातवलेकर द्वारा मूल ऋक्संहिता में प्रकाशित

कुरान—दी मीनिंग औफ दी ग्लोरियस कुरान, अनुवादक मुहम्मद मरमदुके पिक्थल, मैण्टर बुक, १९५९।

कुसं०—कालिदास, कुमारसंभव।

ग्रि०—ग्रिफिथ, आर-टी-एच०।

ग्रिहिअवे०—ग्रिफिथ, हिम्ज़ औफ दी अथर्ववेद (अंग्रेजी अनुवाद)।

गी०—भगवद् गीता

दा०सा०—पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर और उन के वेदमन्त्रों के अनुवाद आदि।

वा०—पाणिनीय सूत्रों पर कात्यायन के वार्त्तिक।

वैद० - वैदिक दर्शन, डा० फतहसिंह।

वेला० -- वेदलावण्यम्। प्रस्तुत ग्रन्थ के दोनों भाग। इस के आगे मन्त्रों की क्रमिक संख्या दी गई है। उपनयन सूत्रों का निर्देश ाउ० द्वारा किया गया है। प्रथम भाग में संक्षेपविवरण देखें।

साम०—सामवेद।

सैपीको०—रौथ और बोह्ट्लिंग् द्वारा सम्पादित सैंटपीटस्बर्ग डिक्शनरी।

हिअवे०—हिम्ज़ औफ दी अथर्ववेद, ग्रिफिथ (अंग्रेजी अनुवाद)

हिऋ०—हिन्दी ऋग्वेद, पं० रामगोविन्द त्रिवेदी।

—०—




2391

लेखक

डा० सुधीर कुमार गुप्त ने अटाली, हरयाणा में जन्म लिया। दिल्ली विश्वविद्यालय से १९३७ में बी० ए० आनर्ज, १९३९ में एम० ए०, पंजाब विश्वविद्यालय से १९४५ में शास्त्री और राजस्थान विश्वविद्यालय से १९५७ में पीएच० डी० की उपाधियां प्राप्त कीं। लगभग १८ वर्ष तक जाट कालिज रोहतक, नत्थीमल कालिज खुरजा और गोरखपुर विश्वविद्यालय में अध्यापन कार्य किया। अब १९६१ से आप राजस्थान विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में प्रवाचक हैं। आप अखिल भारतीय प्राच्य विद्या सम्मेलन, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, भण्डारकर प्राच्यविद्या शोध संस्थान, राजस्थान संस्कृत परिषद्, भारतीय साहित्य परिषद्, राज्य संस्कृत परामर्श मण्डल आदि अनेकों संस्थाओं से सम्बद्ध हैं। आप समाज सेवा में रत सक्रिय शैक्षणिक कार्यकर्ता हैं। अब तक आप लगभग ८० शोध लेख और २० पुस्तकें लिख चुके हैं। आप की खोजें भारतीयता से अनुप्राणित और नूतनतम तुलनात्मक वैज्ञानिक पद्धति पर होती हैं। आप की शैली में प्रवाह, सरलता, और स्पष्टता है।

१९५३ में आप ने भारती मन्दिर अनुसन्धान शाला की स्थापना की। इस मन्दिर का लक्ष्य संस्कृत साहित्य और संस्कृति के अनुसन्धान और अध्ययन का प्रसार, उत्तम, प्रामाणिक, खोजपूर्ण और संग्रहणीय रचनाएं तय्यार करना और प्रकाशित करना है।

भारती मन्दिर अनुसन्धान शाला

डा० सुधीर कुमार गुप्त की कतिपय अन्य रचनाएं

१. ईशोपनिषद्
२. वेदभारती अजिल्द ४–
३. वेदभारती (केन)
४. वेदभारती (अ)
५. शुकनासोपदेशः अजिल्द ४–
६. विश्रुतचरितम् अजिल्द ४–
७. द. च. पू. पी. प्रथम उच्छ्वासः अजिल्द ३–
८. सँस्कृत साहित्य का सुबोध इतिहास
९. वेदलावण्यम्—दो भाग
[इस के अङ्ग पारस्करीयोपनयन सूत्र ४–०० ऋक्सूक्तानि ७–०० इन्द्र सूक्त १–५० पुरुष सूक्त १–५० वाक्सूक्त २–०० प्रजापति सूक्त २–०० अलग-अलग भी मिलते हैं।]
१०. संक्षिप्तदशकुमारचरितम् (पू. पी. १–३, उ. पी.) ६–५०
११. बाण और दण्डी एक अध्ययन ६–००
१२. भारतीय दर्शन के सम्प्रदाय [इतिहास, साहित्य और विहंगम दृष्टि] २–००
१३. भारतीय दर्शन के सम्प्रदाय [संक्षिप्त परिचय, इतिहास और साहित्य] वस्त्रबद्ध ७–५० सजिल्द ६–०० अजिल्द ५–००
१४. मेघदूत की वैदिक पृष्ठभूमि और उस का सांस्कृतिक सन्देश ०–९०
१५. अर्थव्यञ्जकताचित्रम् ०–६०
१६. ऋग्वेद के ऋषि उन का सन्देश और दर्शन (अंग्रेजी अनुवाद सहित) ८–००
१७. रावणभाष्यम् १५–००
१८. Indological Essays 8–50

भारती मन्दिर अनुसन्धान शाखा
आर–२, विश्वविद्यालयपुरी, जयपुर–४ (राजस्थान)